हिन्दी साहित्य का इतिहास

`(आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल एव आधुनिक काल)

डॉ चातक

एव

प्रो राजकुमार शर्मा

कॉलेज बुक डिपो

जयपुर नयी दिल्ली मुंबई

हिन्दी साहित्य का इतिहास

(आदिकाल भक्तिकाल रीतिकाल एवं आधुनिक काल)

•

डॉ चातक • प्रो राजकुमार शर्मा

ISBN 81 85788-49 0

अनुक्रमणिका

1
हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास

भाषा का अर्थ और स्वरूप

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य अपने मन में उठे भावों और विचारों को एक-दूसरे पर प्रकट करना चाहता है। इस चाहत की पूर्ति हेतु उसे भाषा को स्वीकार करना पड़ता है। वस्तुतः भाषा वह साधन है, जिसके सहारे मनुष्य अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करता हुआ दूसरे तक पहुँचाता है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का प्रमुख और महत्त्वपूर्ण साधन या माध्यम है। यही वह साधन है जो मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काम में लेना पड़ता है। इससे मनुष्य की सामाजिकता प्रमाणित होती है।

भाषा विचारों की वाहिका

भाषा विचारों की वाहिका है, इसके बिना किसी व्यक्ति का काम नहीं चल सकता है। जब भाषा नहीं थी तब मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति के लिए निश्चित संकेतों से काम चलाता था। संकेतों का यह प्रयोग ही उस समय भाषा का काम देता था। धीरे धीरे मनुष्य की अभिव्यक्ति में प्रौढ़ता आती गई। एक समय आया जब उसे स्वर का सहारा मिला। अतः यह स्पष्ट है कि भाषा को अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम तो कह सकते हैं, किन्तु एकमात्र माध्यम नहीं क्योंकि प्रायः विभिन्न ध्वनियां, संकेतों, मुद्राओं और आंगिक चेष्टाओं के द्वारा भी मनुष्य अपना मन्तव्य प्रकट करता है। कभी-कभी मौन, भाषण की अपेक्षा अभिव्यक्ति में अधिक सहायक होता है। इससे स्पष्ट है कि भाषा अभिव्यक्ति का समर्थ साधन होते हुए भी सर्वथा पूर्ण नहीं है। यह भाषा क्षमता की सीमा है। आज हमारे पास भाषा और जोरदार भाषा है, जिसका उपयोग करके हम अपना काम चलाते हैं। भाषा के विविध रूप हो सकते हैं। कई बार अपने मनोभावों को हम केवल सिर हिलाकर, हाथ हिलाकर, करतलध्वनि से गहरी दृष्टि से ही व्यक्त कर देते हैं। आज भाषा का समुचित विकास हो गया है, फिर भी कई बार हमें भाषा के स्थान पर संकेतों से काम लेना पड़ता है तथा संकेतों का यह प्रयोग कई बार भाषा से अधिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

भाषा के साधन

भोलानाथ तिवारी ने भाषा के साधनों के कई वर्ग बनाए हैं[1]—

(1) पहले वर्ग में वे साधन आते हैं जिनके द्वारा अभिव्यक्त विचारों का ग्रहण स्पर्श द्वारा होता है जैसे चोरों का हाथ हिलाना।

(2) दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे साधन आते हैं जिनके विचारों को समझने के लिए आँख की आवश्यकता होती है। जैसे हल्दी बाँटना, स्काउटों को हरी झण्डी दिखाना या हाथ हिलाकर संकेत देना।

(3) इस वर्ग के अन्तर्गत सर्वाधिक प्रचलित तथा महत्वपूर्ण साधन आते हैं जिनसे भावों का ग्रहण कानों द्वारा होता है इनका सम्बन्ध ध्वनि से होता है। जैसे करतल-ध्वनि, चुटकी बजाना, तार बाबू का टकटक या गरगट करना या बोलना आदि इसी वर्ग के विचार विनिमय के साधन हैं।

व्यापक अर्थ में ये तीनों ही प्रकार भाषा के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु व्यापक अर्थ की अपेक्षा भाषा का अर्थ सकुचित अर्थ में ही लेना चाहिए।

भाषा की विभिन्न परिभाषाएँ

भाषा विज्ञान की अध्ययन प्रणाली के अन्तर्गत भाषा का सर्वाधिक महत्व है। इसी महत्व के कारण भाषा की परिभाषाएँ की गई हैं। 'भाषा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'भाषा' धातु से मानी गई है जिसका मूलार्थ है—'बोलना' या कहना। भाषा का भाव और विचार से घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। भावों या विचारों को व्यक्त करने वाला साधन भाषा' कहलाता है। यह भाषा सांकेतिक भी हो सकती है और बोली जाने वाली भी। विद्वानों ने भाषा की परिभाषा अपने अपने ढंग से की है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

डॉ भोलानाथ तिवारी—' भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरित मूलतः विश्लेषणीय या दृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान प्रदान करते हैं।"[2]

डॉ बाबूराम सक्सेना— जिन ध्वनि चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।"[3]

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी—' विभिन्न अर्थों में सांकेतिक शब्द समूह ही भाषा है जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।"[4]

डॉ मंगलदेव शास्त्री—इन्होंने लिखा है कि "भाषा मनुष्य की उस चेष्टा या व्यवहार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से किए गए वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।'[5]

डॉ श्यामसुन्दरदास—'मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।"[6]

भाषा की परिभाषा मे कतिपय विदेशी विद्वानो ने भी श्रम किया है। सबसे पहले ए एच गार्डिनर ने 'स्पीच एण्ड लग्वेज' नामक पुस्तक मे भाषा की परिभाषा दी है। उनकी परिभाषा का हिंदी अनुवाद डॉ श्यामसुदरदास ने भाषा रहस्य म किया है। गार्डिनर ने लिखा है—"विचार की अभिव्यक्ति के लिये व्यक्त ध्वनि सकेतो के व्यवहार को भाषा कहते हैं।"[7]

इसी क्रम मे 'हैडरी स्वीट' की परिभाषा भी महत्त्व रखती है। उसने लिखा है—"लैंग्वेज मे बी डिफाइ`ड एज द एक्सप्रेशन ग्राव थोट बाई मी स ग्रॉफ स्पीच साउ`डस।"[8] प्राचीन ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक और सौंदर्य शास्त्री 'प्लेटो' भाषा और विचार मे बहुत सूक्ष्म अन्तर मानते हुए भाषा की परिभाषा बताते हैं—"विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बात चीत है, पर वही जब ध्वनि का रूप धारण कर ओठो से प्रकट होती है, उसे भाषा कहते हैं।" प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक 'वेद्रेज' भाषा की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"भाषा एक तरह का चिह्न है। चिह्न से अभिप्राय उन प्रतीको से है जिनके द्वारा मानव अपने विचार दूसरो पर प्रकट करता है। ये प्रतीक कई प्रकार के होते हैं, जैसे—नेत्रग्राह्य, कर्ण ग्राह्य और स्पर्श ग्राह्य। वस्तुत भाषा की दृष्टि से कर्ण ग्राह्य अर्थात् कानो से सुना जाना प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।"[9]

उपर्युक्त परिभाषाओ के बाद यह आसानी से कहा जा सकता है कि भाषा की परिभाषा करना बडा कठिन है। फिर भी भाषा विज्ञान की दृष्टि से हम भाषा को इस प्रकार परिभाषित कर सकते है—"जिन या दृच्छिक तथा विभिन्न अर्थों मे रूढ ध्वनि सकेतो के द्वारा मनुष्य अपने अपने भावो विचारो को अभिव्यक्त करता है, उन्हे भाषा कहते हैं।" डॉ भोलानाथ तिवारी ने भाषा की मूल बाता पर विचार का जो विश्लेषण किया है, वह उन्ही के अनुसार सक्षेप मे इस प्रकार है[10]—

(1) भाषा विभिन्न मनुष्यो मे पारस्परिक विचार विनिमय का साधन होती है। यह बोलने वाले के विचार और भावो को श्रोता या पाठक तक पहुँचाती है।

(2) भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के उच्चारणावयवा म निसृत ध्वनि समष्टि होती है अर्थात् मनुष्य ध्वनियो द्वारा शब्दो का मुख से उच्चारण करता है।

(3) भाषा म प्रयुक्त ध्वनि समष्टियाँ अर्थात् शब्द सार्थक होते हैं। शब्दो द्वारा व्यक्त किया जान वाला अर्थ स्वाभाविक या प्राकृतिक न होकर आरोपित अर्थात 'माना हुआ' होता है। भिन्न भिन्न देशो मे रहने वाले लोग किसी शब्द का एक विशिष्ट अर्थ मान लेते हैं। यही कारण है कि एक ही वस्तु अथवा क्रिया के लिए ससार की विभिन्न भाषाओ के भिन्न भिन्न शब्दो का प्रयोग होता है।

(4) भाषा मे एक व्यवस्था रहती है। शब्दो का व्यवस्थित रूप मे प्रयोग ही उसमे सार्थकता उत्पन्न कर देता है।

(5) कोई भाषा एक निश्चित देश अथवा प्रदेश की सीमाओं के भीतर ही बोली और समझी जाती है।

भाषा का समाज सापेक्ष रूप ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। किसी भी भाषा का रूप उस समाज की मानसिक स्थिति के अनुरूप होता है जिस समाज मे वह प्रयुक्त होती है। अधिक विकसित और शिक्षित समाज की भाषा उन्नत संस्कृत और प्रत्येक प्रकार के भावो और विचारो को व्यक्त करने मे समर्थ होती है। डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने भाषा का विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि "भाषा समाज मे अर्जित सामाजिक वस्तु है अनुकरण से आती है, परिवर्तनशील है, पैतृक सम्पत्ति नही है, क्लिष्टता से सरलता की ओर बढती है, परम्परागत और उसका कोई एक निर्धारित रूप नही होता। भौगोलिक कारण, सांस्कृतिक कारणों, उच्चारण अवयवो की सुविधा, आलस अशारीरिक रचना की भिन्नता सादृश्य, अज्ञान, अनुकरण की अपूर्णता आदि मनुष्य के वाह्य और अपने भीतर के कारण एव स्वभाव के फलस्वरूप भाषा मे परिवर्तन होते रहते हैं।[10]

हिन्दी शब्द का अर्थ

आधुनिक युग मे भी हिन्दी के क्षेत्र और अर्थ सम्बन्धी कई मान्यताएँ प्रचलित हैं। इनमें से मुख्य ये है—

(1) हिन्दी को जो बहुत व्यापक अर्थ मे लेते हैं वे इसका अर्थ समस्त उत्तर भारत की भाषा से लेते हैं। आज तो यह भी कहा जाता है कि राष्ट्र भाषा होने के कारण सम्पूर्ण भारत की भाषाओ का नाम हिन्दी रखा जाना चाहिए। इसकी इतनी व्यापकता को स्वीकार करने वाले भाषा विज्ञान के अध्येताओ की पुस्तको मे इसी कारण से आधुनिक युग को हिन्दी युग कहते हैं।

(2) हिन्दी का एक-दूसरा अर्थ है उत्तर भारत के मध्यदेश की भाषाएँ और बोलियाँ। इस उत्तर के मध्यदेश की सीमा मे बिहार उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश राजस्थान और हरियाणा प्रान्त हैं। ज्यादातर हिन्दी का यह अर्थ लिया जाता है। यह अर्थ समीचीन और सयमित प्रतीत होता है।

(3) तीसरे अर्थ के आधार पर मध्यदेशीय भाषाओ की एक शाखा 'हिन्दुस्तानी' को भी हिन्दी कहते हैं।

(4) हिन्दी आधुनिक साहित्यिक भाषा है, जिसका विकास दिल्ली और मेरठ के आस पास की जन भाषा खडी बोली से हुआ है। इसे खडी बोली हिन्दी, साधु हिन्दी या उच्च हिन्दी कहते हैं।

भाषा विज्ञान और व्यवहार की दृष्टि से दूसरे मत का औचित्य है। इसके द्वारा हिन्दी के व्यापक कलेवर को अभिव्यक्ति मिल जाती है। इस क्षेत्र मे फैली हुई विभिन्न विभाषाएँ, बोलियाँ और उपबोलियाँ—सब हिन्दी की अपनी विभाषाएँ, बोलियाँ और उपबोलियाँ हैं। इसके साथ ही व्युत्पत्तिमूलक दृष्टि से चौथा मत भी समीचीन और उपयुक्त है। वास्तव मे खडी बोली, जो कि मेरठ के आस पास के

भत्र की जन-भाषा म विकसित हुई है, आज की साहित्यिक भाषा कहलाती है और यह साहित्य आधुनिक युग के हिन्दी साहित्य के नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार इस मत का औचित्य है।

हिन्दी का उद्भव और विकास

जन भाषा की प्राणवत्ता ने ही प्रत्येक युग की युगीन भाषा आवश्यकता को पूरा करने का काय किया है। जन-भाषा जनता के हाथो निरन्तर विकसित और विभाजित होती चली जाती है। इस गतिशील और विकासमान भाषा के दमखम म ही भाषा के नरन्तय और भाषा इतिहास के विकास क्रम की रक्षा की जा सकती है। जिन जन-भाषाओ न वदिक सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश को अस्तित्व प्रदान किया जिसन एक तरफ सक्रान्तिकाल की भाषा अवहट्ठ को रूपाकार प्रदान किया, दूसरी तरफ इसी भाषा ने आधुनिक आय भाषाओं को रूपायित किया, इन्ह जन्म दिया। यह दसवी शताब्दी के आस पास की बात है।

काल विभाजन और विकास

हिन्दी लगभग 10वी शताब्दी तक विकसित हो चुकी थी। धीरे धीरे उसने साहित्यिक रूप ग्रहण किया और आज तक उत्तरोत्तर विकसित होती चली जा रही है। साहित्यिक हिन्दी के इस विकास का अध्ययन हिन्दी साहित्यिक के इतिहास में काल विभाजन पर आधारित इन तीन काल खण्डो म किया जा सकता है—

आदि काल या प्राचीन काल (1500 ई तक)—प्रसिद्ध भाषाविद् डा धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार "यह वह काल ह जब अपभ्रंश तथा प्राकृतो का प्रभाव हिन्दी प्रदेश की उप भाषाओ पर मौजद था तथा साथ ही हिन्दी प्रदेश की उपभाषाओ के निश्चित स्पष्ट रूप विकसित नही हो पाए थे।" प्रवृत्ति के आधार पर इसे सक्रान्तिकाल कह सकते है। इस काल की भाषा प्राचीन रूप से नवीन मे पदापण और सक्रमण कर रही थी तो एक ओर उसमे प्राचीन रूप अवहट्ठ की केंचुली उत्तर रही थी और दूसरी ओर हिन्दी के आदिम रूप उसके नवीन्य और निखार के साथ उभर रहा था। भाषा की दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी युग कहा जा सकता है।

मध्य काल (1500 ई से 1800 ई तक)—इस युग की विशेषता यह थी कि हिन्दी प्रदेश की भाषाओ पर से अपभ्रंश का प्रभाव पूणत समाप्त हो गया था। दूसरी विशेषता यह है कि इस प्रदेश की उपभाषाएँ, विशेषत खडी बोली, ब्रज और अवधी अपन पैरों पर खडी हुई, स्वतन्त्र रूप ग्रहण किया। भाषा के प्राधान्य के आधार पर इस ब्रज भाषा का युग भी कहा जा सकता है।

आधुनिक काल (1800 ई से आज तक)—यह उस परिवतन के साथ प्रारम्भ हुआ जो कि हिन्दी प्रदेश की उपभाषाओ ने मध्यकालीन रूप मे शुरू हुआ। परिवतन की यह प्रक्रिया ही हिन्दी को आधुनिक रूप मे लाने के लिए उत्तरदायी है। साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से इस युग मे खडी बोली ने अन्य उपभाषाओ को

दबा लिया ये महत्वपूर्ण बातें हैं—हिंदी गद्य साहित्य का विकास हुआ, हिंदी को राष्ट्र भाषा और राजभाषा का पद प्राप्त हुआ। भाषा का प्राधान्य इस युग को 'खड़ी बोली युग' कहने को बाध्य करता है।

आदि काल या प्राचीन काल (1500 ई तक)—जिस सामग्री के आधार पर भाषा की दृष्टि से इस युग का अध्ययन किया सकता है, वह इस प्रकार है—

(क) शिलालेख, ताम्रपत्र तथा प्राचीन पत्र आदि।

(ख) अपभ्रंश काव्य।

(ग) चारण काव्य

(घ) हिंदवी अथवा पुरानी खड़ी बोली मे लिखा गया साहित्य।

इस युग में विदेशी लोगो के हाथ मे सत्ता होने के कारण शिलालेख तथा ताम्रपत्र तो नगण्य सख्या मे मिलते हैं। सिद्धा, नाथों, जना का धार्मिक साहित्य, चारणो की वीर गाथाएँ और नीति एव मनोरजन सम्बन्धी जो साहित्य उपलब्ध भी होता है, उसकी प्रामाणिकता सदिग्ध है। सिद्ध रचनाकारो का समय सांस्कृत्यायन और बड़थ्वाल जी 700 स 1300 के बीच मानते हैं, लेकिन आज जिस रूप म इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं, क्या वह इनका मूल्य रूप ह ? निष्पत इस काल की भाषा का पूर्णत वैज्ञानिक अध्ययन विवेचन तो सम्भव नही है, किन्तु सामान्य परिचय प्रस्तुत है। इस काल मे दो भाषाएँ मिलती हैं—

(1) परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ

(2) सिद्धों, नाथा और जनियो के धार्मिक साहित्य मे भाषा का जो रूप मिलता है, उसमें अवहट्ठ से अधिक स्पष्ट रूप जन भाषा का है। गोरखनाथ के अनेक छन्दो की भाषा बिल्कुल हिंदी के समीप है। यह पश्चिमी हिन्दी का प्राचीन रूप कहा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस मिश्रित भाषा को सधुक्कडी कहा है। इस भाषा का विकसित रूप हमे आगे चलकर कबीर के साहित्य में मिलता है।

दूसरी तरफ समान्तर रूप से देशी भाषा चल रही थी। इसके कई रूप भेद और स्तर-भेद थे। इसका एक रूप तो पुरानी हिंदी या हिंदवी की शक्ल म मिलता है। यह प्राचीन हिंदी का एक साहित्यिक रूप है जिसमे फारसी शब्द अपेक्षाकृत अधिक हैं—

> जे हाल मिस्की मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाए बतियाँ।
> कि ताबे हिजरा न दारम ए नाँ न, लेहू काहे लगाय छतियाँ॥
> शबाने हिज्रां दराज चू जुलफ, व रोजे वसलत चु उम्र कोताह।
> सखी पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटूं अँधेरी रतियाँ॥

देशी भाषा का दूसरा रूप अमीर खुसरो की ही रचनाओं—मुकरियां, पहेलियो फुटकर पदो आदि मे मिलता है। इसमे देशी भाषा उस रूप म है जिसे हम खड़ी बोली कह सकते हैं।

इन दो रूपो के अतिरिक्त दो भाषा रूप और भी मिलते हैं—डिंगल और पिंगल। आचार्य शुक्ल ने इनकी विभिन्नता प्रतिपादित करते हुए लिखा है—"प्रादेशिक बोलियो के साथ-साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणो मे पिंगल भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह डिंगल कहलाता था।"

इस युग की समाप्ति के साथ ही हिन्दी का रूप स्पष्ट होकर अर्थात् अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त होकर अपनी बोलियो के साहित्यक रूप मे प्रस्फुटित होने लगा था।

मध्यकाल या ब्रज-भाषा-युग (1500 से 1800 ई तक)—देश मे 1500 ई के आस पास हुई भयानक राजनीतिक उथल पुथल के बीच जो भाषा उभर रही थी, उसके उभार की रेखाएँ 16वी शताब्दी मे स्पष्ट होनी शुरू हो गयी। शक्तिशाली मुगल शासन की शान्ति मे दो मुख्य साहित्यिक भाषाओं अवधी और ब्रज ने काफी प्रगति की, फूली-फली। डॉ धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, "देश मे शान्ति रहने तथा राज्य की ओर से कम उपेक्षा होने के कारण इस काल मे साहित्य की चर्चा भी विशेष हुई। वास्तव मे यह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।"[12]

इस युग के पण्डितो मे सस्कृत, प्राकृत आदि को भी अपेक्षाकृत पसन्द किया जाता था परन्तु भाषा अधिकाधिक लोकप्रिय हो रही थी। महाकवि आचार्य केशवदास जसे पण्डित भी भाषा और जन रुचि के पीछे इतने पागल थे कि उन्हे उसमे काव्य सृजन करने के लिए जडमति होना भी स्वीकार था—

भाषा बोल न जानही जिनके घर के दास।
तापह कविता करत है जडमति केशवदास॥

इस समय की बोलियो मे तीन प्रमुख थी—खडी बोली, अवधी और ब्रज। खडी बोली मुसलमान शासको द्वारा बहुत पहले अपनाली जाने के बावजूद उस काल मे दक्षिण मे जाकर ही साहित्य का मुख्य माध्यम बन सकी। 17वी सदी तक वहा इसमे साहित्य-सृजन होता रहा और 18वी शताब्दी मे वापस उत्तर मे लौट आई।

अवधी और ब्रज के अध्ययन की सुविधा के लिए इस मध्यकाल के दो भाग करने आवश्यक हैं—

(1) पूव मध्यकाल
(2) उत्तर मध्यकाल।

पूव-मध्यकाल के धार्मिक साहित्य की रचना ब्रज और अवधी दोनो म हुई। सूर, तुलसी, जायसी आदि न अपना सन्देश जनता तक पहुँचाया था और इसका माध्यम जनता की भाषा ही हो सकती थी। अवधी के क्षेत्र मे सूफी कवियो जायसी, कुतुवन आदि की भाषा जन भाषा के अधिक निकट है, ठेठ है, अवधी है। तुलसी

ने अवधी मे 'मानस' लिखा, लेकिन उनकी भाषा परिनिष्ठित अवधी है। तुलसीदास ने रामचरितमानस को भाषाबद्ध किया और रामचरित मानस ने अवधी को बद्ध किया। भाषा की इसी परिनिष्ठता और परिष्कृति के कारण गति रुक गयी। साहित्यिक सृजन उस गति और मात्रा म नहीं हुआ और उत्तर माध्यकाल म रचना का मुख्य माध्यम ब्रजभाषा रह गयी।

अवधी और ब्रज के धम क्षेत्र म भी अन्तर रहा। अवधी जहाँ राम काव्य की मुख्य भाषा थी, वहाँ ब्रज कृष्ण काव्य की संस्कृति और दशन को वाणी देने के गुरु काय को सम्पन्न करन के कारण मानस की अवधी संस्कृतनिष्ठ थी लेकिन सूर की भाषा जन भाषा थी, उपेक्षाकृत मधुर और सरल थी। उत्तर मध्यकाल म रीतिवादी और रीतिमुक्त कवियों न ब्रजभाषा को चरम विकास प्रदान किया। देव मतिराम, बिहारी घनानन्द आदि कवियों ने अपनी साधना के पुष्पों स ब्रज भाषा का शृंगार अभिनव रूप म किया। इस काल म ब्रज भाषा म गद्य भी लिखा गया।

इस युग की समाप्ति के साथ साथ ब्रज अवधी का रूप जनमानस से काफी दूर चला गया था।

आधुनिक काल (खडी बोली युग, 1800 ई से)—अठारहवीं शताब्दी के अन्त से ही परिवतन के लक्षण प्रकट हो गए थ। शासनसत्ता अंग्रेजो के हाथ आ जाने से ब्रज भाषा का राजाश्रय तो समाप्त हो ही गया, वह इस काल तक जन भाषा से काफी दूर भी जा चुकी थी। इन कारणो स खडी बोली इसका स्थान लेने लगी। लल्लूलाल, सदल मिश्र और इंशाअल्ला खा आदि ने अपने ढंग से इसके आदश रूप को प्रस्तुत किया। इस सन्दभ मे यह भी उल्लेखनीय है कि विचार प्रधान युग होने के कारण गद्य की आवश्यकता हुई और आवश्यकता को पूरा करने का सशक्त आधार खडी बोली ने प्रस्तुत किया।

इस युग के प्रारम्भ म खडी बोली को दोहरा सघष करना पडा। एक ओर तो प्रचार था और दूसरी ओर काव्य की भाषा ब्रज थी। यह सघष आन्तरिक और बाह्य दोनो स्तरों पर लडा गया। बाहर उसे फारसी और अरबी शब्दों की बाढ के लिए उर्दू से लडना पडा था और आन्तरिक स्तर पर काव्य भाषा ब्रज को अपदस्थ करना था। बाह्य आन्दोलन के मुख्य नायक स्वामी दयानन्द राजा लक्ष्मण सिंह और भारतेन्दु जी थे। आन्तरिक सघष मे खडी बोली के पक्षधर आचाय महावीर प्रसाद द्विवेदी युग तक सारे सघष समाप्त हो गए और गद्य पद्य के क्षेत्र म खडी बोली का एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। छायावाद ने इसका परिष्कार परिमाजन और नई शक्ति प्रदान करने का काय किया। छायावाद के बाद प्रगतिवाद और नई कविता तथा इसके बाद की कविता ने हिन्दी का अभिव्यक्ति की विस्तृत सामर्थ्य दी है उसे इतना बल और रूप प्रदान किया है कि वह विश्व का किसी भी भाषा की तुलना मे हेठी नहीं बैठ सकती।

हिन्दी का साहित्यिक रूप

जिस प्रकार विभिन्न समयो मे भारतीय जन-भाषाओं से विभिन्न साहित्यिक रूप सस्कृत, प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश आदि विकसित हुए हैं, उसी प्रकार हिन्दी से भी विभिन्न साहित्यिक रूपो की उद्भावना हुई है या यूँ कह लीजिए कि हिन्दी को अपनी आज तक की विकास यात्रा पूरी करने मे अनेक रूप धारण करने पड़े। इस विकास और विविधरूपता मे अन्य समानान्तर विकास आदि से भिन्नता यह है कि हिन्दी का यह विकास इतने कम समय मे हुआ कि विकास-क्रम मे आने वाले विभिन्न रूपो का भिन्न भिन्न परिनिष्ठित रूप उतना स्पष्ट नही है। हिन्दी के इन विभिन्न रूपो की अस्पष्टता के साथ ही इन रूपो के सम्बन्ध मे बहुत अधिक विवाद भी हैं। जो भी हो, हिन्दी के इस विकास क्रम मे आने वाले इन विभिन्न रूपो को ही हिन्दी का साहित्यिक रूप कहा गया है। हिन्दी के साहित्यिक रूप के विकास-क्रम में आने वाले विभिन्न रूप इस प्रकार हैं—

(1) हिन्दी
(2) हिन्दवी
(3) दक्खिनी हिन्दी
(4) रेख्ता-रेख्ती
(5) उर्दू
(6) हिन्दुस्तानी

(1) हिन्दी—व्यापक अर्थ मे हिन्दी सम्पूर्ण मध्यप्रदेश की भाषा है लेकिन साहित्यिक हिन्दी वह भाषा है जो दिल्ली और मेरठ के आस पास बोली जाने वाली खड़ी बोली से विकसित हुई है। उत्तर भारत मे यह कई प्रान्तो की भाषा है जिनमे उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हरियाणा आदि प्रमुख हैं। भारतीय सविधान मे यह राजभाषा के रूप मे उल्लेखित है। बहुत से व्यक्ति इसके सम्बन्ध मे इस तरह भी विचार करते हैं कि हिन्दी ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ठीक उसी तरह प्राप्त किया है जिस प्रकार उर्दू ने अरबी और फारसी के आधार पर। व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होने वाले 'हिन्दी' शब्द से इसका अलगाव दर्शाने के लिए इसे खड़ी बोली या नागरी भी कहते हैं। हिन्दी की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

(1) 'आ' पुंविभक्ति लगती है—मीठा, खट्टा, लड़का।
(2) विभक्ति, अव्यय और सर्वनामो के बाद आने वाली 'ही' के 'ह्' का लोप। जैसे-उस 'ही' का उसी, चार ही से चारो आदि।
(3) 'ने' विभक्ति।
(4) कृदन्त क्रियाओं का बाहुल्य।
(5) अनुनासिक शब्दो की बहुलता—गाँव, दाँत, आँत, छींट, बीट आदि।
(6) सस्कृत उपसर्गों से सज्ञा का निर्माण। जैसे सस्कृत उपसर्ग 'प्रति' का 'पुस्तक की एक प्रति' वाक्यांश मे सज्ञा की तरह प्रयोग।

(2) हिन्दवी—पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने इसको दिल्ली और उसके आसपास मे व्यवहृत होने वाली शिक्षित हिन्दू और मुसलमानो की भाषा माना है। डा० चटर्जी के अनुसार—"हिन्दवी, हिन्दी या हिन्दुई प्रथम यवन राज्य की स्थापना के बाद पश्चिमी हिन्दी की बोलियो से विकसित तथा प्रथम भारतीय मुसलमानो की भाषा से प्रभावित एक अवश्य रूप से निर्मित हुई भाषा है।"[13] इसमे सामान्य साहित्य की रचना होती थी। विद्वानो की धारणा है कि आगे चलकर सैयद इंशाअल्ला खाँ ने इसी हिन्दवी मे अपनी 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की है। उन्होने स्वयं अपनी भाषा को हिन्दवी कहा है। वस हिन्दी का शब्दार्थ हिन्दुओ की भाषा होना है। अमीर खुसरो ने इस शब्द का काफी प्रयोग किया था। लेकिन फिर इसे हिन्दुस्तान की भाषा के अर्थ मे इस्तेमाल किया जाने लगा, जाति विशेष की भाषा वाला अर्थ छूट गया।

(3) दक्खिनी भाषा—भारत मे आने के बाद फारसी बोलने वाले मुसलमान जब हिन्दुओ के सम्पर्क मे आए तो उनकी भाषा से प्रभावित होकर दिल्ली की आसपास की बोली मे एक नवीन भाषा विकसित हुई। सम्भवत यह उक्त हिन्दवी थी। तेरहवी शताब्दी मे जब मुसलमान शासक दक्षिण विजय को गए तो बहुत से लोग वही बस गए और शासन करने लगे। उनके साथ जो हिन्दी गई थी वही राजभाषा घोषित हुई क्योकि फारसी की अपेक्षा यह जनता के अधिक निकट थी। यही भाषा दक्खिनी हिन्दी के नाम से अभिहित हुई। दक्खनी अथवा दकनी इसी के रूपान्तर है। आगे चलकर इसमे प्रचुर साहित्य की रचना हुई। ख्वाजा बन्दानवाज, निजामी, गवासी, सनआती आदि इसके प्रमुख साहित्यकार थे। इस तरह डा० उदयनारायण तिवारी के शब्दो मे हम कह सकते है कि, 'दक्खिनी हिन्दी की एक शैली है। इसका यह नाम देशपरक है और इसमे अपेक्षाकृत विदेशी (अरबी फारसी) शब्दो की मात्रा अल्प है।

(4) रेख्ता रेख्ती—सत्रहवी शताब्दी के अन्त मे दिल्ली की भाषा मे फारसी शब्दो का बाहुल्य हुआ। इस तरह की मिश्रित हिन्दी मे फारसी के शब्द छितराए हुए रहते थे। इसी भाषा को 'रेख्ता' कहा जाने लगा। रेख्ता का शब्दार्थ है गिरा अर्थात् बिखराया हुआ या बिखरा हुआ है। श्री पदमसिंह शर्मा के अनुसार 'रेख्ता असल मे उर्दू पद्य की भाषा का नाम था। बोल-चाल की या उर्दू गद्य की भाषा के अर्थ मे इसका प्रयोग नही होता था।' यहा श्री पदमसिंह शर्मा ने इस तथ्य की भी पुष्टि की है। आगे चलकर जब इस रेख्ता मे फारसी शब्दो का बाहुल्य हो गया तो उर्दू के रूप मे इसने स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त किया। इस तरह रेख्ता उर्दू का प्रारम्भिक रूप है। रेख्ता और रेख्ती मे यही फर्क है कि रेख्ता पुरुषो की भाषा थी और रेख्ती स्त्रियो की। रेख्ता का अस्तित्व साहित्यिक भाषा के रूप मे बहुत पहले का सिद्ध होता है और फरीद (12वी 13वी शती) को हम रेख्ता का आदि कवि कह सकते है।

(5) उर्दू—तुरकी भाषा मे उर्दू लश्करया छावनी को कहते हैं। बाबर के समय मे इसका प्रयोग 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अर्थात् महान् शिविर के रूप म हुआ। दरबार तथा शिविर मे एक मिश्रित भाषा का आविर्भाव हुआ जो जबाने उर्दू कहलाई। संक्षिप्तता के लिए जबाने उर्दू को उर्दू कहा गया। उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बडा मतभेद है। ब्रजभाषा, बाजारू या लश्करी भाषा, लाहौर के आसपास की खडी बोली, ठेठ हिन्दुस्तानी आदि अनेक भाषाओं से विभिन्न विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति सिद्ध की है। डॉ चटर्जी उत्तरी भारत की बोल चाल की भाषा हिन्दुस्तानी से इसकी उत्पत्ति मानते है। वास्तव मे यह खडी बोली और अरबी-फारसी के मिश्रण की पैदावार ह। यह दरबार की भाषा थी, शिविर की भाषा थी। इसका विकास दिल्ली मे हुआ था। काव्य भाषा के रूप मे आगे चलकर लखनऊ मे इसका प्रचार व प्रसार हुआ था। दिल्ली और लखनऊ उर्दू के ये दो प्रमुख केन्द्र रहे। इस भाषा मे सर्वप्रथम गद्य की रचनाएँ 1800 ई के पास हुईं। इसकी प्रारम्भिक कृतियो मे 'बागोबहार' है। कुछ लोग इस भ्रम मे रहते हैं कि उर्दू कोई अलग भाषा है। वास्तव मे उर्दू हिन्दी की ही एक साहित्यिक भाषा है जिसकी लिपि फारसी है। बोलचाल के स्तर पर तो इनमे अन्तर नगण्य रह जाता है। इसका साहित्य समृद्ध है और आधुनिकयुगीन साहित्य उच्चकोटि का।

(6) हिन्दुस्तानी—ग्रियर्सन एव अन्य कई विद्वानो की धारणा है कि हिन्दी के रूप को यह नाम यूरोपियनो ने दिया है। इसके लिए कहा जा सकता है कि 17वी शताब्दी मे जब पुर्तगाली लोग भारत मे आए तो उन्होने हमारे यहाँ की भाषा का नाम अपनी सूझ के अनुसार हिन्दोस्तान रखा। इसी से हिन्दुस्तानी बना, किन्तु आधुनिक खोजो के आधार पर पता चलता है कि यह 'फारसी' शब्द है और बाबर के समय इसका प्रयोग मुसलमानो ने किया था। 17वी सदी तक हिन्दुस्तानी दिल्ली और आगरे के आसपास की बोली एक रूप थी जिसमे फारसी के शब्द मिले हुए थे। आगे चलकर 19वी शताब्दी मे फारसी शब्दो के अत्यधिक मिश्रण से इसने एक नया रूप ग्रहण किया जो उर्दू के नाम से जाना जाने लगा। भाषा प्रेम और राजनीतिक भावना के कारण हिन्दुस्तानी को लेकर इधर उर्दू के हिमायतियो और हिन्दी प्रेमियो मे काफी विवाद रहा। हिन्दुस्तानी हिन्दी ही है, हिन्दुस्तानी से हिन्दी और उर्दू दोनो ही विकसित हुई हैं उर्दू हिन्दी से स्वतन्त्र है और हिन्दुस्तानी का विकसित रूप है—आदि धारणाएँ विवाद का विषय रही हैं।

ग्रियर्सन ने इसे गगा के उत्तरी दोआब की भाषा कहा है, जो अन्त प्रान्तीय स्तर पर उत्तर भारत के एक विस्तृत भू भाग की बोलचाल की भाषा रही। ऐतिहासिक दृष्टि से यह साहित्यिक हिन्दी और उर्दू के समान दिल्ली और मेरठ के आसपास की बोली से भी विकसित नही गई है। इसमे साधारण जन के लिए किस्से-कहानियो के रूप मे सस्ता साहित्य लिखा गया है। डॉ कैलाश के अनुसार यह ठेठ हिन्दी है। ठेठ हिन्दी को कुछ लोग ठेठ हिन्दुस्तानी से अलग भी स्वीकार करते हैं। अयोध्यासिह उपाध्याय के ठेठ हिन्दी के ठाठ उन ठाठो से अलग हैं जो

हिंदुस्तानी है। महात्मा गांधी और कांग्रेस ने हिंदी उर्दू विवाद के कारण हिंदुस्तानी को हल के रूप में प्रस्तुत किया।

हिंदी और उर्दू का विवाद और अलगाव कृत्रिम आधारों पर स्थित है। वास्तव में वे एक ही भाषा के दो रूप हैं। अब हम इस कथन की विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

हिंदी और उर्दू ?—तटस्थ द्रष्टा इन भाषाओं को दो अलग अलग भाषाएँ नहीं बताएगा। है भी नहीं। प्रथम दृष्टि में इनमें जो द्वैत की उपस्थिति मालूम पड़ती है, उसके जो कारण हैं, वे कृत्रिम हैं। बहुत से लोग आज भी इन्हें दो भाषाओं के रूप में मानते हैं अतिवादी तो इससे भी आगे बढ़े हुए हैं। उर्दू के अतिवादी हिमायती कहते हैं "हिंदी एक नया और कल्पित नाम है जो हिंदुओं ने उर्दू का बायकाट करने की गरज से गढ़ लिया है। दरअसल हिंदी कोई भाषा नहीं, उर्दू ही इस देश की असली ज़बान है।" इसी तरह बहुत से हिन्दी के पक्षधर कहते सुने जाते हैं। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि 'हिन्दी' उर्दू की अपेक्षा बहुत प्राचीन और सर्वमान्य नाम है।

प्राचीनता—इस प्राचीनता और सर्वमान्यता की पुष्टि इस ऐतिहासिक तथ्य से हो जाती है कि मुहम्मदशाह रंगीला के समय से ही मुसलमान कवि अमीर खुसरो से लेकर वली तक अपने को हिंदी का कवि कहा करते थे लेकिन कालान्तर में दिल्ली के मीर, सौदा और दर्द तथा लखनऊ के नासिख और आतिश ने उस हिंदी से संस्कृत और भारतीय शब्दों को चुन-चुन कर निकाला और उनकी जगह अरबी फारसी के शब्दों को भरा। परिणामतः यह भाषा ही बदल गई, इसका वातावरण ही विदेशी हो गया। डॉ॰ बाहरी के अनुसार, "जिसे उर्दू का नाम दिया गया उस भाषा में भीम और अर्जुन की जगह रुस्तम और सोहराब, प्रेमियों में कैस और फरहाद, कामदेव के स्थान पर यूसुफ धनपतियों में कारूँ, मनु की तरह नूह, गंगा और यमुना के स्थान पर दजला-फरात कोयल और सारिका के स्थान पर बुलबुल, कुमरी चम्पा और जूही के स्थान पर नरगिस और सौसन, हिमालय और विन्ध्याचल की जगह कोहकाफ और तूर प्रयाग और हरिद्वार की जगह मक्का और मदीना, स्वर्ग और नर्क की जगह बहिश्त और दोजख आत्मा और परमात्मा की जगह रूह और खुदा आ गए। उर्दू साहित्य में भारतीय संस्कृति, भारतीय विश्वास, भारतीय मजहब सभी कुछ लुप्त हो गए।"[14]

क्या उर्दू मुसलमानों की सांस्कृतिक भाषा है ?—इसी स्थिति से जुड़ी हुई यह है कि उर्दू को मुसलमानों की सांस्कृतिक भाषा कहते हैं। तथ्य तो यह बात है कि उर्दू हिंदुओं और मुसलमानों की सामान्य भाषा के रूप में विकसित हुई है। लेकिन दूसरी तरफ मुस्लिम एजूकेशन कांफ्रेंस जैसी संस्थाएं मांग करती हैं कि उर्दू की रक्षा और शिक्षा के लिए सरकार कदम उठाए क्योंकि यह महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यकों की भाषा है।

अलगाव—इन सब बातो से और भाषा के विकास-काल का वह खण्ड देखने से जब यहाँ अंग्रेजो का राज्य था, यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अलगाव, हिन्दी और उर्दू का, जो अंग्रेजी शासन काल से प्रारम्भ हुआ, आज भी उन्ही गलत धारणाओ पर, साम्प्रदायिक विचारो पर व चिन्तनगत सकीर्णता पर टिका हुआ है—यह अलगाव और हिन्दी-उर्दू को दो भाषाएँ समझना हर दृष्टि से अनुचित है। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने अपने दिसम्बर, 1965 मे प्रकाशित ग्रन्थ 'राष्ट्रभाषा की समस्या' मे इस हिन्दी उर्दू समस्या को हिन्दी और उर्दू दोनो खेमो के अर्द्ध-सत्य धर्मियो द्वारा उत्पन्न माना है। इस समस्या के सन्दर्भ मे उनके निष्कर्ष द्रष्टव्य हैं—'समूचे हिन्दुस्तानी प्रदेश को ध्यान मे रखते हुए हिन्दी उर्दू समस्या पर विचार किया जाए तो ये परिणाम सामने आते हैं—

(1) जहाँ तक साधारण जनता की बोलचाल का सम्बन्ध है, हिन्दी-उर्दू का कोई भेद नही है।

(2) हिन्दी-उर्दू का भेद, लिखित भाषा के सिलसिले मे उठता है।'[15]

इसी ग्रन्थ मे उन्होंने आगे लिखा है—"उर्दू का बोलचाल वाला रूप वही है या प्राय: वही है जो हिन्दी का है। इस रूप का एक नाम खडी बोली है। इसे बोलने वाले हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई, अनेक धर्मों के लोग हैं। इस रूप को न तो मुसलमानो ने जन्म दिया और न उसे अवध और बिहार मे फैलाने मे एकमात्र उन्होने भाग लिया। फारसी के राजभाषा रहने के कारण इस खडी बोली में फारसी के सैंकडो शब्द आए। फारसी के माध्यम से सैंकडो/अरबी शब्द भी खडी बोली मे आए।"[16]

समानता के आधार—(1) इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उर्दू हिन्दी का ही एक साहित्यिक रूप है, कोई दूसरी भाषा नहीं। व्युत्पत्तिमूलक आधार भी इन दोनो को एक सिद्ध करता है। पहले मेरठ और दिल्ली की जनभाषा से खडी बोली विकसित हुई, फिर हिन्दी। खडी बोली मे दूसरी ओर कृत्रिम रूप से अरबी फारसी शब्दो की भरमार करके उर्दू रूप को विकसित किया गया। उर्दू ने दर्शन, साहित्य, राजनीति आदि के लिए या सभ्य व्यवहार के लिए केवल अरबी, फारसी के शब्द लिए। उसके बोलचाल के रूप मे तो हिन्दी शब्दो की भरमार थी, लेकिन सभ्य व्यवहार के रूपो मे—तशरीफ लाइए, नोश फरमाइए, वाले रूपों मे और साहित्य मे जो नए शब्द आए वे सबके सब अरबी फारसी के थे। इस तरह, निष्पक्ष कहा जा सकता है कि बोलचाल और परम्परा की दृष्टि से यह हिन्दी का ही एक रूप है पर सांस्कृतिक रूप मे ये गुण समाप्त हो गए हैं।

(2) हिन्दी उर्दू के सर्वनाम एक होते हैं—वह, मैं, तू, हम इत्यादि। हिन्दी-उर्दू की क्रियाएँ एक ही हैं—जाना, खाना, सोना, पीना, करना, मरना आदि। आजमाना, गुजरना, लरजना जैसी क्रियाएँ बहुत थोडी हैं, कुल मिला कर एक दजन से ज्यादा नहीं, जो फारसी शब्दो के आधार पर बनी हैं। वास्तविकता

यह है कि वे हिन्दी में भी उपेक्षित नहीं हैं, बोलचाल में और साहित्य में उनका प्रयोग बराबर होता है। उर्दू-हिन्दी के सम्बन्धवाची शब्द—में, पर, से, का आदि वही हैं जो हिन्दी के हैं।

(3) दोनों का मूल शब्द भी है लेकिन यहाँ जैसा कि उपर्युक्त में संकेतित है, बहुत दिनों तक फारसी के राजभाषा रहने से हिन्दी शब्दों के अरबी फारसी पर्यायवाची शब्द प्रचलित हो गए—जैसे देश-मुल्क, आकाश-आसमान, धरती-जमीन, भाषा-जबान, किसान-काश्तकार, नदी-दरिया, रोगी-बीमार इत्यादि। सारांश यह है कि इन दोनों का व्याकरण एक, वाक्य रचना एक-सी, शब्द और क्रियाएँ भी एक सी हैं।

(4) इन दोनों भाषाओं के अंतर को आज वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक आसानी से स्वीकार कर रहे हैं और बिना किसी संकोच और पूर्वाग्रह अपनी इस समझ को व्यक्त कर रहे हैं। कल्पना पत्रिका के अप्रैल, 1966 अंक टिप्पणियाँ स्तम्भ के अन्तर्गत उर्दू के लेखक मिर्ज़ा उसमानी ने 'जबान के तकाजे' शीर्षक में लिखा है— 'आपसी व्यवहार सहूलियत में उत्पन्न हो सके, जरूरत को पूरा करने के लिए जो ज़बान पैदा हुई, उसे उर्दू का नाम दिया गया शुरू-शुरू में उर्दू में 85 फीसदी अलफाज खड़ी बोली के और बमुश्किल 15 फीसद अरबी फारसी के थे। 'इल्मुलल-सानियात' 'भाषाशास्त्र' के माहिरीन में ग्रियर्सन, डॉ सुनीतिकुमार चटर्जी, एहतशाम हुसैन, आ आनन्द और बुखारी शामिल हैं, इस बात से इत्तेफाक किया है कि उर्दू खड़ी बोली का एक है इसका दूसरा रूप हिन्दी है। इल्मुललसानिया जबान और बोली को दो अलहदा अलहदा चीजें मानता है। इन उसूलों के तहत हर आजाद जबान के लिए यह है कि उसकी एक आजाद कवायद हो दूसरी यह कि वह दीगर जबानों से इतना मुख्तलिफ हो कि बाकायदा तालीम के बगैर उसका समझना अजनबियों के लिए मुमकिन न हो। उर्दू और हिन्दी इस लिहाज से दो मुख्तलिफ जबानें नहीं हैं उर्दू और हिन्दी वाले बोलचाल के दर्जे पर एक दूसरे को बहुत आसानी से लेते हैं। इन जबानों की कवायद और सर्फो नहो। पद व्याख्या और भी, चीन्द बेमतलब इख्तलाफात के बावजूद एकसा है। इन ... से ज्यादा पहचान यह है कि उर्दू अपने मिजाज, तारीख़ी ... (विकास) और अल्फाज के लिहाज से खड़ी बोली की बेटी है, फारसी की नहीं। इन उसूलों से जाँचा जाए तो उर्दू एक अलहदा जबान बाकी नहीं रहती, बल्कि एक बोली जाती है।"

इस विवेचन की मुख्य प्रस्थापना भी यही है कि उर्दू और हिन्दी एक हैं। उर्दू भी खड़ी बोली से ही विकसित एक बोली है। अन्त में यह स्मरणीय कि हिन्दी और उर्दू में सबसे पहले लिपिका है। उर्दू फारसी लिपि में और हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। लेकिन ध्यान में रखने की बात यह है लिपि लिखने के काम आती है न कि बोलने में, और फिर यह कोई बुनियादी

नहीं है। उदाहरण के लिए यदि हम हिन्दी के किसी अंश को रोमन लिपि में लिखें तो क्या यह भाषा की दृष्टि से कोई अलग चीज नहीं बन जाएगी ? नहीं।

हिन्दी भाषा और उसके विभिन्न रूप

आधुनिक भाषाओं में हिन्दी अपना विशिष्ट एवं गौरवपूर्ण स्थान रखती है। इसके प्रमुखतः दो रूप हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। प्रथम रूप का विकास शौरसेनी नामक अपभ्रंश से माना जाता है और द्वितीय रूप का अर्द्धमागधी अपभ्रंश से। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत ब्रज भाषा, कन्नौजी, बुन्देली, बांगरू और खड़ी बोली आती हैं और पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधि, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इन भाषाओं में से ब्रजभाषा, खड़ी बोली और अवधी साहित्यिक भाषाएँ हैं, शेष भाषाओं में अभी विशिष्ट साहित्य का निर्माण नहीं हुआ।

इस सम्बन्ध में दो भाषाएँ और भी उल्लेखनीय हैं जिनका सम्बन्ध हिन्दी के साथ है—राजस्थानी और बिहारी। राजस्थानी भाषा शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित है और बिहारी भाषा मागधी अपभ्रंश से। राजस्थानी भाषा के चार प्रमुख रूप हैं—मेवाती, मालवी, मारवाड़ी और जयपुरी। इनमें से मारवाड़ी अर्थात् पश्चिमी राजस्थानी हिन्दी से सम्बद्ध है। भौगोलिक दृष्टि से बिहारी की भाषा के दो रूप हैं—पश्चिमी बिहारी और पूर्वी बिहारी। पश्चिमी बिहारी के तीन उपरूप हैं—मैथिली, मगधी और भोजपुरी। इनमें से मैथिली का प्राचीन साहित्य हिन्दी-भाषा से सम्बद्ध है।

'हिन्दी' शब्द से साधारणतः जो अर्थ लिया जाता है, वह उसका 'खड़ी बोली' नामक रूप है, और यही रूप भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत है पर हिन्दी साहित्य शब्द में हिन्दी का अर्थ पर्याप्त व्यापक है। खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा, अवधी, पश्चिमी राजस्थानी और मैथिली भाषाओं के साहित्य को भी हिन्दी-साहित्य ही कहा जाता है। खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा में रचित सूरदास का सूरसागर, अवधी भाषा में रचित तुलसीदास का रामचरितमानस, पश्चिमी राजस्थानी अर्थात् डिंगल भाषा में रचित चन्दरबरदाई का पृथ्वीराज रासो और मैथिली में रचित विद्यापति की पदावली—ये सभी रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं।

निष्कर्ष यह है कि—

(1) शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित पश्चिमी हिन्दी के दो रूप—ब्रजभाषा और खड़ी बोली साहित्यिक भाषाएँ और शेष तीन रूप—कन्नौजी, बुन्देली और बांगरू अभी ग्रामीण भाषाएँ हैं।

(2) अर्द्धमागधी अपभ्रंश से विकसित पूर्वी हिन्दी के 'अवधी' नामक रूप में साहित्य का निर्माण हुआ है और शेष दो रूपों—बघेली और छत्तीसगढ़ी में उल्लेखनीय साहित्य का निर्माण नहीं हुआ।

(3) मागधी अपभ्रंश से विकसित पूर्वी बिहारी के एक रूप 'मैथिली' का प्राचीन साहित्य हिन्दी भाषा का साहित्य माना जाता है। शेष दो रूपों—मगही और भोजपुरी में उल्लेखनीय साहित्य का निर्माण नहीं हुआ है।

हिन्दी साहित्य का आरम्भ

हिन्दी भाषा में साहित्य का निर्माण कब से प्रारम्भ हुआ, इस प्रश्न का समाधान इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के उपलब्ध प्राचीन ग्रंथों में सर्वप्राचीन ग्रंथ नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' है जिसका रचनाकाल एक प्रति के अनुसार 1073 संवत् माना जाता है[17] और एक अन्य प्रति के अनुसार संवत् 1213।[18] इतिहास के अनुसार बीसलदेव का समय संवत् 1058 माना गया है।[19] अतः बीसलदेव रासो की प्रथम प्रति के अनुसार इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत् 1073 मानना अधिक उपयुक्त है। इसी सम्बन्ध में दलपति विजय कृत 'खुमानरासो' का नाम भी उल्लेखनीय है। चित्तौड़ में, खुमान नाम से तीन राजा हुए हैं। इतिहासकारों ने अनुमान के बल पर उनमें से खुमान द्वितीय को खुमानरासो का चरितनायक माना है। खुमान द्वितीय का समय 9वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है। यदि इस ग्रंथ की रचना खुमान द्वितीय के समय में हुई हो, तो इसे 9वीं शताब्दी की रचना स्वीकार कर लेने से यद्यपि यह ग्रंथ बीसलदेव रासो से पूर्ववर्ती ठहरता है किन्तु इस ग्रंथ की उपलब्ध प्रति में महाराणा प्रताप तक का वर्णन मिल जाता है अतः यह निश्चित है कि इस ग्रंथ को वर्तमान रूप, विक्रम की 17वीं शताब्दी में ही प्राप्त हुआ होगा। इस ग्रंथ का कितना भाग 9वीं शताब्दी में निर्मित हुआ, यदि हुआ हो तो, और कितना भाग बाद में निर्मित हुआ, यह निश्चित कर सकना कठिन है। अतः संदिग्ध आधारों के बल पर बीसलदेव रासो की तुलना में खुमान रासो को ही हिन्दी का प्रथम ग्रंथ मानना समुचित नहीं है।

बीसलदेव रासो की तुलना में चन्दबरदाई प्रणीत 'पृथ्वीराजरासो' को भी रखा जा सकता है। इतिहास प्रसिद्ध पृथ्वीराज का मुहम्मद गोरी के साथ अंतिम युद्ध 'तबकात ए नासिरी' नामक फारसी इतिहास ग्रन्थ के अनुसार हिजरी 588 अर्थात् संवत् 1248 में होना माना गया है। अतः पृथ्वीराज रासो की रचना का आरम्भ बीसलदेव रासो के निर्माणकाल में यदि संवत् 1212 वाली ही तिथि ठीक मानी जाए तो हो चुका होगा, पर इस ग्रन्थ की स्थिति भी खुमानरासो जैसी ही है। इस ग्रन्थ में जैसा कि हम आगे यथास्थान देखेंगे, घटनाएँ पृथ्वीराज के कई शताब्दी परवर्ती शासकों से भी सम्बद्ध हैं। इसमें निर्दिष्ट संवत् प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थों से मेल नहीं खाते। भाषा की दृष्टि से भी ग्रन्थ के कुछ स्थल कई शताब्दी उपरान्त लिखे गये प्रतीत होते हैं। पर इधर बीसलदेव रासो के विषय में विद्वानों का विचार है कि गीतात्मक रहने के कारण इसकी भाषा में अनेक परिवर्तन हुए, पर वे परिवर्तन अभी तक सम्पूर्णतः प्राचीन भाषा का स्वरूप विकृत नहीं कर सके।[20] अतः संवत् 1073 को इसका निर्माणकाल मानने पर इसे ही हिन्दी का आदिग्रन्थ मानना चाहिए। संवत् 1212 के अनुसार भी, जो कि अन्य ग्रन्थों के रचना-काल की अधिक विश्वसनीय है, इसे आदिग्रन्थ स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं चाहिए।

स्वयम्भू और सरहपा की रचना के नमूने हैं। प्रथम उदाहरण और अंतिम दो उदाहरणों की भाषा में परस्पर कितना अन्तर है, यह स्पष्ट हो जायेगा—

(1) र रे हंसा किं गोविज्जइ।
गइ अणुसारें मइ लक्खिज्जइ॥
कइ पइं सिक्खिउ ए गइ-लालस।
सा पइं दिट्ठी जहणभरालस॥ विक्रमोर्वशीय[22]

(2) जइ राम हो तिहुयण उयरि माइ, तो रावण कहिं तिय लेवि जाइ।
अण्णु वि खर दूसण समरि देव, पहु जुज्झइ सुज्झइ भिच्चु केव॥
किह वाणर गिरिवर उव्वहंति, बंधेवि मयरहरु समुत्तरंति।
किह रावणु दहमुहु बीस हत्थु, अमराहिव भुव बंधण समत्थु॥[23]

(3) एत्थु स सुरसरि जमुणा, एत्थु से गंगा साअरु।
एत्थु पआग, वणारसि, एत्थु स चन्द दिवाअरु॥[24]
+ + + +
घोर अँधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ॥[25]

निस्सन्देह 8वीं, 9वीं शताब्दी तथा इसके उपरान्त निर्मित अपभ्रंश साहित्य हिन्दी के अधिक निकट है। यही कारण है कि उक्त दोनों विद्वानों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी यही धारणा प्रस्तुत की है—

(क) मिश्र बन्धुओं ने हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बद्ध अपने ग्रंथ 'मिश्र बन्धु विनोद' में अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया है।

(ख) पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने परवर्ती अपभ्रंश साहित्य की भाषा को पुरानी हिन्दी नाम से अभिहित किया था। उन्हीं के शब्दों में पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली (अपभ्रंश) पुरानी हिन्दी से। अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ प्रारम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन, किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं और पुरानी हिन्दी भी।[26]

(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी सर्वप्रथम अपभ्रंश के परवर्ती साहित्य को हिन्दी-साहित्य का अंग स्वीकृत करते हुए अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में आदिकाल के अन्दर अपभ्रंश रचनाओं की भी गणना की थी परन्तु ग्रन्थ के अग्रिम संस्करण में उन्होंने अपभ्रंश रचनाओं को देशभाषा काव्य अर्थात् हिन्दी काव्य से अलग स्वीकार करते हुए उन्हें अपभ्रंश काल शीर्षक के अन्तर्गत निरूपित किया।

हमारे विचार में वस्तुस्थिति भी यही है जो आचार्य शुक्ल ने बाद में स्वीकृत की है। अपभ्रंश भाषा का साहित्य विक्रम की 7वीं शती से मिलना प्रारम्भ होता है और रचना परम्परा 16वीं शती तक चली जाती है। अपभ्रंश में उपलब्ध मह

ाव्यों के अनुसार इस भाषा का प्रथम कवि पउम चरिउ का कर्ता स्वयम्भू है और न्तिम कवि हरवंश-पुराण का कर्ता श्रुतकीर्ति (16वीं शती)। पर अपभ्रंश साहित्य का मृद्ध युग 8वीं शती से 13वीं शती तक है। इस युग में पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, ायनन्दी, कनकामर, धाहिल आदि अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए हैं। यद्यपि यह युग हिन्दी-साहित्य का लगभग आदिकाल ही है और इस युग की अपभ्रंश भाषा भी, ैसा कि पूर्व निर्देश कर आये हैं, हिन्दी की ओर उन्मुख है, फिर भी आदिकाल के हिन्दी तथा अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों में भाषा की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। भाषा वज्ञान के अनुसार किसी भाषा के मुख्य निर्णायक आधार-तत्त्व दो होते हैं—कारक चिह्न और क्रिया रूप। इन्हीं आधारों के अनुसार आदिकाल के दोनों भाषा रूपों में एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींची जा सकती है। तुलनार्थ इसी काल में प्राप्य अपभ्रंश महाकाव्य 'भविसयत्त कहा' और डिंगल महाकाव्य 'बीसलदेव रासो' से उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(क) दिसा मडल जत्थ णाइ अलक्ख,
पहाय पि जाणिज्जइ जम्मि दुक्ख।

(ख) कुहणी फाटइ कांचुवउ।
पोपरि फाटइ धन को चीर।
जाणे दव दाधी लाकडी।
दूवली हुई झूरक ईम नाह।
डावो हाथ को मूदडउ।
आवण लागो जीवणी बांह ॥[27]

इन दोनों उद्धरणों पर आपाततः एक सामान्य दृष्टिपात करने से पाठक यह मानने को बाध्य हो जाता है कि ये रूप दो विभिन्न भाषाओं के हैं। इनके कारक चिह्न और क्रिया रूप भी इसी तथ्य के अनुमोदक हैं—

प्रथम उद्धरण में 'मण्डल, अलक्ख, पहाय और दुक्ख' में कारक चिह्न संस्कृत भाषा के चिह्नों के समान संश्लिष्ट हैं और द्वितीय उद्धरण में 'धन को, हाथ को' आदि हिन्दी भाषा के चिह्नों के समान विश्लिष्ट। इसी प्रकार प्रथम उद्धरण में 'जाणिज्जइ' क्रिया रूप प्राचीनता का द्योतक है और द्वितीय उद्धरण में 'फाटई, हुई, लागो' आदि क्रिया रूप में नवीनता झलकती है। अतः एक ही काल में दो विभिन्न रूपों में प्राप्त ग्रन्थों को हिन्दी के ही ग्रन्थ मानना युक्तिसंगत नहीं है।

यही एक बात और—निस्सन्देह अपभ्रंश ग्रन्थों में हिन्दी भाषा के और हिन्दी-ग्रन्थों में अपभ्रंश भाषा के व्याकरण सम्मत रूप, भी यत्र-तत्र बिखरे हुए मिल जाते हैं और साहित्य तथा भाषा के उस सन्धिकाल में ऐसा हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था, पर इन रूपों की संख्या अपेक्षाकृत इतनी कम है कि अपभ्रंश और हिन्दी के ग्रन्थों को क्रमशः इन्हीं भाषाओं के ही ग्रन्थ कहा जाएगा, न कि केवल हिन्दी भाषा के अथवा केवल अपभ्रंश भाषा के। अतः भाषाशास्त्र की दृष्टि से स्वयम्भू सरहपा अथवा अन्य अपभ्रंश कवि को हिन्दी का प्रथम कवि

स्वीकार करना समुचित नही है, भले ही इनकी भाषा पूर्ववर्ती अपभ्रंश उदा के असमान पतनोन्मुखी संस्कृत की अपेक्षा विकासोन्मुखी हिन्दी की ओर अधि झुकी हुई भी क्यो न हो। अत हमारे विचार मे नरपति नाल्ह ही हिन्दी प्रथम कवि है।

निष्कर्ष रूप म हम कह सकते है कि हिन्दी साहित्य की आरम्भि शताब्दियो में जिस अपभ्रंश साहित्य का निर्माण हुआ, उसकी भाषा पूर्व अपभ्रंश की भाषा की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है। पर इस अपभ्रं साहित्य की भाषा अपने समकालीन हिन्दी साहित्य की भाषा की तुलना में अ अधिक प्राचीन है, तथा कारक-चिह्नो तथा क्रिया-रूपो के आधार पर वह हि नही कही जा सकती। उसे अपभ्रंश ही कहना चाहिए। अत हिन्दी के ही कि कवि को हिन्दी साहित्य का आदि कवि मानना समुचित है, न कि अपभ्रंश के क को। इसी आधार पर नरपति नाल्ह हिन्दी के प्रथम कवि ठहरते हैं। यह प्र प्रश्न है कि अपनी कतिपय विशिष्टताओ के कारण चन्दबरदाई हिन्दी साहित्य आरम्भिक काल के सर्वश्रेष्ठ एव प्रतिनिधि कवि हैं, पर सभवत वे हिन्दी क आ कवि नही हैं।

सन्दर्भ-सकेत

1 डा भोलानाथ तिवारी हिन्दी भाषा का इतिहास
2 डॉ भोलानाथ तिवारी यथोपरि
3 डॉ बाबूलाल सक्सेना भाषा-विज्ञान
4 आचार्य किशोरीदास वाजपेयी भाषा विवेचन
5 डॉ मगलदेव शास्त्री हिन्दी भाषा विज्ञान
6 डॉ श्यामसुन्दर दास भाषा रहस्य
7 गार्डिनर डॉ श्यामसुन्दर दास द्वारा उद्धृत
8 हेनरी स्वीट यथोपरि
9 वेन्द्रेज प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक का मत उद्धृत डॉ देवेन्द्र शर्मा
10 डॉ भोलानाथ तिवारी भाषा विज्ञान
11 डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय हिन्दी भाषा का इतिहास
12 डॉ धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा
13 डॉ सुनीतिकुमार चटर्जी डॉ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित इतिहास में उद्धृत
14 डॉ हरदेव बाहरी भाषा चिन्तन विषयक लेख स
15 डॉ रामविलास शर्मा राष्ट्रभाषा की समस्याएँ
16 डॉ रामविलास शर्मा यथोपरि
17 श्री गजराज ओझा हिन्दी साहित्य का आ इतिहास, पृ 210

18 बीसलदेव रासो ना प्र सभा
19 श्री गजराज ओझा हिन्दी सा. का ग्रा इतिहास, पृ 208
20 यथोपरि, पृ 208
21 महापंडित राहुल अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 55
22 विक्रमोर्वशीय कालिदास
23 पउम-चरिउ से उद्धृत उदाहरण
24 अपभ्रंश साहित्य, पृ 55 से उद्धृत
25 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास
26 पं चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश साहित्य, भाग 2
27 बीसलदेव रासो नरपति नाल्ह

2
आदिकाल
(साहित्य का इतिहास—लेखन और समस्याएँ)

कोई भी गम्भीर काम करने से पूर्व अनेक समस्याएँ आती हैं। साहित्य के अन्तर्गत तो ऐसी समस्याएँ नित्य प्रति आती ही रहती हैं। हिन्दी साहित्य का इतिहास जिसे हम प्रामाणिक कह सकते हैं, पहले-पहल हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्तुत किया था। यद्यपि शुक्ल जी से पूर्व हिन्दी साहित्य के इतिहास पर कुछ विद्वान् लेखनी चला चुके थे किन्तु साहित्य के इतिहास को पहली बार विधिवत् और व्यवस्थित रूप मे काल-क्रमानुसार प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही प्राप्त है। निश्चय ही शुक्ल जी के सामने भी कुछ समस्याएँ रही होगी, उन्होने उन समस्याओ का हल अपने ढग से निकाला होगा और तब अपना इतिहास लिखा होगा। तब से अब तक हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की एक अबाध परम्परा देखने को मिलती है। सभी प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थो मे अपने अपने ढग से सामग्री सकलन और विवेचन किया गया है और सभी के सामने इतिहास लेखन की कुछ न कुछ समस्याएँ रही है। ऐसी समस्याएँ हिन्दी के वृहद् साहित्यिक इतिहास के सम्पादक डॉ नगेन्द्र के सामने भी थी। अत उन्होंने इन समस्याओ की ओर सकेत किया है। आज तो साहित्य चेतना के विकास और नये शोध परिणामो के सामने आने से हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की चरम आवश्यकता अनुभव हो रही है।

साहित्य-इतिहास लेखन की समस्याएँ

हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखन से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ अनुभव की जाती रही हैं। इन समस्याओ को कैसे हल किया जाय और उनका क्या समाधान हो, यह प्रश्न प्रत्येक इतिहासकार के सामने रहा है। शिवसिंह सेंगर द्वारा लिखित शिवसिंह सरोज के आधार पर हिन्दी साहित्य के लेखन का बहुत कुछ काम हुआ है। आधुनिक युग की तरह पहले व्यवस्थित पुस्तकालय और खोज रिपोर्ट या शोध सस्था नहीं थी। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास मे न केवल अप्रामाणिक

सामग्री समाविष्ट हो गई, अपितु बहुत-कुछ भ्रान्तियाँ भी उत्पन्न हो गईं। आचार्य शुक्ल ने भी पहले शिवसिंह सरोज के इतिहास को ही देखा और उसमे वतमान भ्रान्तियो, त्रुटियो और असगतियो की ओर उन्होने कोई ध्यान नही दिया। आचाय शुक्ल के बाद जितने भी इतिहास लिखे गए हैं, उन सभी मे शुक्ल जी की पद्धति का अनुकरण प्रतीत होता है, अत साहित्य के इतिहास लेखन की मौलिक समस्याएँ यथावत विद्यमान हैं। इन समस्याओ मे से कुछ प्रमुख समस्याओ पर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है—

हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रारम्भ की तिथि—डॉ राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की पहली समस्या हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारम्भ से सम्बन्धित मानी है। इस विषय मे उन्होने लिखा है—"सवप्रथम समस्या यह है कि हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरम्भ कब से माना जाय तथा हिन्दी भाषा के किस रूप को हिन्दी माना जाय। हम सामान्यत हिन्दी के नाम पर हिन्दी के उस रूप को ग्रहण करते हैं, जिसकी प्रवृत्ति सस्कृत की ओर है। अपभ्रश तथा अवहट्ठ रूपो को हिन्दी कहना क्या समीचीन न होगा ? यदि ऐसा है तो अपभ्रश एव अवहट्ठ काल के ग्रथो को हिन्दी की सामग्री के रूप मे स्वीकार करना चाहिए। यही प्रश्न हिन्दी की व्याप्ति के सम्बन्ध मे है। हम किस भू-भाग के ग्रथो को हिन्दी साहित्य की सम्पदा के रूप मे ग्रहण करें ? हम यह तो सोचना ही पडेगा कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय हम किन किन उपभाषाओ मे लिखित सामग्री पर विचार करना चाहिए ? कुछ लोग उर्दू को खडी बोली हिन्दी की मात्र शैली कहते हैं। तब क्या उर्दू म लिखित सामग्री भी हिन्दी साहित्य के इतिहास का अग समझी जाय ? राजनीतिक स्वाथबद्धता के कारण हमारी समस्याएँ अत्यधिक जटिल बन गई है। हम यही नही बता रहे हैं कि हिन्दी का असली स्वरूप क्या है ?"

काल विभाजन की समस्या—हिन्दी साहित्य के काल विभाजन के आधार पर भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या हमारे सामने उपस्थित है। यह माना कि आचाय शुक्ल ने बहुत सोच-समझकर अपनी गम्भीर चिन्तना के निष्कष रूप हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालो मे विभाजित किया था, किन्तु उनके नामकरण, उनकी सीमा और उनमे आने वाले कवि एव उनकी रचनाओ को लेकर आज तरह-तरह के विवाद उठ खडे हुए हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन किस प्रकार किया जाय ? यहाँ यह बता देना अप्रासगिक न होगा कि हिन्दी के प्राय समस्त विद्वान् हिन्दी साहित्य का निर्माण-काल विक्रम सवत् 700 के आसपास स्वीकार करते हैं।

नामकरण की समस्या—आचाय शुक्ल न नामकरण के बिन्दु पर व्यापक दृष्टि स विचार किया है, किन्तु फिर भी हिन्दी साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालो का नामकरण आज भी समस्या बना हुआ है। वीरगाथा काल को कुछ लोग

आदि काल तथा कुछ लोग चारण काल कहते हैं, रीतिकाल को कुछ लोग शृंगार काल कहना अधिक पसन्द करते हैं। आधुनिक काल को शुक्ल जी ने प्रवृति के आधार पर गद्य काल कहा है, परन्तु हमारा मत है कि स्वतन्त्रता-पूर्व काल को गद्य काल तथा स्वतन्त्रता के बाद के काल को आधुनिक काल कहें, तो अधिक उपयुक्त हो, क्योंकि स्वतन्त्रता के बाद की कालावधि मे ही बुद्धिवादी दृष्टिकोण विशेष रूप से पल्लवित हुआ है। कविता के प्रतिमानो के आधार पर भी आधुनिक काल का युग निर्धारण किया जा सकता है। इस प्रकार हमारे सामने आधुनिक काल के विभाजन और नामकरण की समस्या है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की सामान्य समस्याओं की ओर इंगित करते हुए डॉ रामकुमार वर्मा ने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' म सन् 1938 में ही लिखा था कि "हिन्दी साहित्य मे अभी तक बहुत से ऐसे स्थल हैं, जिनके निर्धारण म शक किया जाता है। गोरखनाथ का समय, जटमल का गद्य, सूरदास जी की जन्म तिथि, कबीर का चरित्र आदि विषयो पर अभी तक निश्चित मत नही हो पाया है।"[2] यह समस्या आज भी ज्यो की त्यो बनी हुई है।

साहित्यकारों के चयन की समस्या—हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन म यह भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या रही है कि साहित्य का इतिहास लिखते समय किस कवि को लिया जाय और किसे छोड दिया जाय। जिसे साहित्य के इतिहास मे स्थान दिया जाय, उसके आधार क्या हो और जिसे छोडा जाय, उसके कारण क्या हों। यह स्थिति अथवा समस्या आचार्य शुक्ल के सामने भी रही थी, तभी तो उन्होंने कहीं-कही इतिहास लेखन के दौरान भूलें कर दी हैं। उन्होंने एक ओर तो हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को सवत् 1375 पर समाप्त मान लिया है और दूसरी ओर सवत् 1465 के कवि विद्यापति को प्रारम्भिक काल मे सम्मलित कर लिया है। यदि शुक्ल जी काल की सीमा और साहित्यकार के चयन के कुछ आधार निश्चित कर लेते, तो सम्भव है इस समस्या से छुटकारा मिल जाता। हिन्दी साहित्य के वतमान काल का इतिहास लिखते समय हमने परिनिष्ठित भाषा मे लिखित काव्य को ही लिया है। लोक-साहित्य की उपेक्षा की है। हमे इस ओर भी विचार करना है। लोक साहित्य के अभाव मे काव्य-सम्पदा अधूरी हो मानी जायेगी। हिन्दी साहित्य के वतमान काल का इतिहास लिखते समय एक बहुत बडी समस्या यह सामने आती है कि इतिहास मे किस साहित्यकार को सम्मिलित किया जाय और किसको छोड दिया जाय? इस सन्दम मे अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। हमारे विचार से हमे केवल दिवगत साहित्यकारा पर ही विचार करना चाहिए, जीवित साहित्यकारो को छोड देना चाहिए। साहित्य और साहित्यकार का मूल्यांकन वतमान की अपेक्षा भविष्य अच्छी तरह कर सकता है। कांगडा शली के अनेक चित्रों पर गुरुमुखी लिपि में ब्रजभाषा के अनेक छन्द लिखे मिलते हैं। इनका अध्ययन ब्रजभाषा काव्य के मूल्यांकन में सहायक होगा। हम यह भी देख सकेंगे कि

ब्रजभाषा के कवि कभी भी हाथ पर हाथ रखे नहीं बैठे रहे हैं—वे पुनर्जागरण द्वारा प्रभावित रहे हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में अन्य भाषाओं के साहित्य का समावेश—हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के समय अन्य भाषाओं के साहित्य के समावेश के प्रश्न को लेकर भी समस्या उत्पन्न हो गई है। इस विषय में डॉ नगेन्द्र ने सलाह दी है कि इस विषय में हमें सन्तुलन और व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिए। उन्होंने कहा है कि "हिन्दी साहित्य के इतिहास में उर्दू के समावेश का बरबस प्रयास करना व्यर्थ है, मैथिली और राजस्थानी साहित्य का इतिहास आदिकाल से ही हिन्दी साहित्य के साथ सम्बद्ध रहा है और विद्यापति, चन्द, नरपति नाल्ह, पृथ्वीराज आदि कवियों को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में निरन्तर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता रहा है, परन्तु भाषा की कठिनाई के कारण, साथ ही पर्याप्त शोध-सामग्री का प्रकाशन न होने से, इन भाषाओं के कवि-लेखकों तथा उनकी कृतियों के साथ उचित न्याय नहीं हुआ। परवर्ती शोध के परिणामस्वरूप इन दोनों भाषाओं का समृद्ध साहित्य प्रकाश में आया है। राजस्थानी में रासो, मुक्तक वीरकाव्य तथा नीतिकाव्य की समृद्ध परम्परा तथा गद्य के विविध रूपों के पुष्ट उदाहरण मिलते हैं और उधर मैथिली के गीतिकाव्य का माधुर्य भी अपूर्व है। इसी प्रकार गुरुमुखी में लिपिबद्ध हिन्दी गद्य पद्य का प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है जिससे हिन्दी साहित्य का इतिहासकार या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी की रचनाएँ समझकर उनकी अपेक्षा करता रहा है। इस सम्पूर्ण वाङ्मय का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विवेक पूर्वक उपयोग करना चाहिए क्योंकि हिन्दी की सही परिभाषा के अनुसार यह सब हिन्दी साहित्य का ही अंग है।"[3]

वैज्ञानिक मूल्यांकन की समस्या—डॉ राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ने भावावेशी मूल्यांकन की पद्धति को त्यागकर वैज्ञानिक मूल्यांकन के आधार पर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने की समस्या की ओर संकेत किया है। उन्होंने कहा है कि युग विशेष के ऐतिहासिक एवं सामाजिक सन्दर्भों की सापेक्षता में तत्कालीन युग के काव्य साहित्य एवं कवियों का मूल्यांकन करने का कार्य अभी हुआ ही नहीं है। इससे एकांगी धारणाओं को बल मिला है। लोग कहते हैं कि रीतिकाल का साहित्य जनजीवन से दूर था, किन्तु भक्तिकाल और वीरगाथा काल का साहित्य तो जीवन से और भी दूर था, फिर रीतिकाल की निन्दा और भक्तिकाल की प्रशंसा का रहस्य सिवाय भावावेश के और क्या हो सकता है।

कवि जीवन निर्धारण विषयक समस्याएँ—भक्त माल, वार्ता आदि ग्रन्थों में यद्यपि भक्तों और कवियों के चरित्र वर्णित हैं, तथापि उनमें तिथियों का निर्देशन होने के कारण वे ग्रन्थ इतिहास-लेखन में हमारी विशेष सहायता नहीं कर पाते हैं। हमें कभी लगभग का सहारा लेना पड़ता है, कभी बहिर्साक्ष्य का सहारा लेना पड़ता है, कहीं हम किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर कवि जीवन जानने की

चेष्टा करते हैं, कही उसकी कविता के उद्धरण अथवा इसकी भाषा के सहारे उससे परिचय प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थिति मे काल-विभाजन तथा कवि जीवन निर्धारण सम्बन्धी समस्याएँ ज्यो की त्यो बनी रहती हैं। शोधकर्त्ताओं को साहित्यकारो की प्रमाणिक जीवनी उपलब्ध करने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए तभी हिन्दी साहित्य का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकेगा। डॉ किशोरी लाल गुप्ता प्रणीत सरोज सर्वेक्षण द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन मे समाविष्ट कई त्रुटियाँ प्रकाश मे आई हैं, यथा—एक ही कवि तीन-तीन, चार-चार कवियो के रूप मे उल्लिखित है, अनेक कल्पित कविया के उल्लेख हैं, कई रचनाओं पर गलत रचनाकारो के नाम दे दिये गये हैं, स्त्री कवयित्री पुरुष कवि के रूप मे है, सन्-सवत् की अनक भूलें हैं, इत्यादि।

समस्याओं के आलोक मे प्रारम्भिक युग का मूल्याकन

उपयु क्त समस्याओ के आलोक मे यदि हम प्रारम्भिक काल का विवेचन करें तो स्पष्ट होता ह कि उपयु क्त सभी समस्याएँ हि दी साहित्य के प्रारम्भिक काल म देखी जा सकती हैं। वास्तव मे हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक युग एक प्रकार स सर्वाधिक विवादग्रस्त और समस्यायुक्त काल कहा जा सकता है। इस काल को लेकर जो समस्याएँ सामन आती हैं, व इस प्रकार है—

(1) हि दी साहित्य के प्रारम्भिक काल की पहली समस्या भाषा के स्वरूप स सम्बन्धित है। इस काल म अपभ्र श का प्रभाव था, जो भले ही हि दी की प्रारम्भिक रूप वाली भाषा रही हो, किन्तु साहित्य के इतिहास लेखन के समय अनक समस्याओं को पदा करती है।

(2) प्रारम्भिक काल से सम्बन्धित दूसरी समस्या काल के सीमा निर्धारण की है। इस पर विद्वानो मे अभी तक मतक्य नही हुआ है। कोई इसे सवत् 1400 तक ले जाता है, कोई सवत् 1300 पर समाप्त कर देता है और कुछ लोग इसे सवत् 1375 तक स्वीकार करते हैं या खीच ले जाते है।

(3) हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल के नामकरण की समस्या भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इस प्रारम्भिक काल को मिश्रबन्धुओं ने आदि युग, आचार्य शुक्ल ने वीरगाथा काल, डा रामकुमार वर्मा ने सधिकाल और चारण काल, राहुल न सिद्धसामन्त काल और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल नाम दिया है। समस्या यह है कि इसे किस नाम म पुकारा जाए और इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त नाम क्या हो सकता है ?

(4) हि दी साहित्य के प्रारम्भिक काल मे सम्बन्धित एक समस्या यह भी है कि इसमें किस रस की प्रधानता है ? आचार्य शुक्ल न इस काल म रचित बारह ग्रन्थो को प्रामाणिक और वीर रस का मानकर इसका नाम ही वीरगाथा काल रख दिया है। इसके विपरीत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे धार्मिक भावनाओं अपभ्र श भाषा म निहित ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित साहित्य का काल माना

है। ऐसी स्थिति में शुक्ल जी का वीरगाथा काल नाम भी गलत सिद्ध हो जाता है और वीर रस भी गायब हो जाता है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन से सम्बन्धित आज अनेक समस्याएँ हमारे सामने हैं। उन समस्याओ का समाधान न केवल आवश्यक है, अपितु साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार करते हुए उसका पुन लेखन भी आवश्यक प्रतीत होता है। इस दिशा मे आवश्यक कदम उठाये जाने चाहिए।

हिन्दी का आदिकाल विवादग्रस्त काल

साहित्यक प्रवृत्तियो का निर्माण समाज की जीवन विधि के अनुकूल होता है। यह सतत् विकास की वस्तु है। इसका विभाजन श्रेयस्कर नही, फिर भी बोध सुकरता और अध्ययन की सुविधा के लिए इसे खण्डो, उपखण्डो, शाखाओ, प्रशाखाओ मे विभाजित किया जा सकता है। खण्डो मे विभक्त कर विश्लेषणात्मक वृत्ति से वस्तुओ और सिद्धान्तो का अध्ययन करने की वृत्ति मानव की स्वभावजन्य है। 1050 विक्रमी से 1375 विक्रमी के अन्तराल मे रचित साहित्य को आदिकाल के नाम से अभिहित किया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी कार्य-कारण के अभाव म जन्म नही ले पाता, उसके लिए कार्य-कारण परम्परा आवश्यक है। आदिकालीन साहित्य मे युद्धो की चर्चा अधिक क्या है? श्रृंगार का अतिरंजित वर्णन क्या किया गया है। व्यापक राष्ट्रीयता का अभाव क्या है? कल्पना की उवरा शक्ति का परिचय क्यो विद्यमान है? आदि बातें आदिकाल को विवादग्रस्त बना देती हैं।

हिन्दी का आदिकाल कब आरम्भ होता है—इस सम्बन्ध मे मतभेद है। आचार्य प रामचन्द्र शुक्ल, डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रवृत्ति विद्वानो के मतानुसार हिन्दी साहित्य का आरम्भ सवत् 1050 से होता है, जायसवाल के मतानुसार इसका आरम्भ सवत् 900 से माना जाना चाहिए तथा डॉ रामकुमार वर्मा हिन्दी का आदिकाल सवत् 750 से मानते हैं। मान्यता के आधार मुख्यत दो हैं—1 आदिकाल तब माना जाए, जब हिन्दी ने अपना वतमान रूप ग्रहण कर लिया था, 2 आदिकाल तब माना जाए जब हिन्दी से पूर्व रूप अवहट्ट मे साहित्य रचना की जाने लगी थी। शुक्ल जो ने वीरगाथा काल (सवत् 1050–1675) को ही आदिकाल कहा है। अन्य वग के विद्वानो के मतानुसार वीरगाथा काल के पूर्व की कालावधि सवत् 750 से 1750 तक ही आदिकाल के नाम से अभिहित की जानी चाहिए। जो भी हो, अधिकाँश विद्वानो ने शुक्ल जी द्वारा किये गये काल विभाजन को ही स्वीकार किया है अत हम सवत् 1050 से सवत् 1375 को ही हिन्दी का आदिकाल मानकर विषय का विवेचन करते हैं। आदिकाल को विवादग्रस्त मानने का कोई एक आधार नही है। वास्तविकता यह है कि सर्वाधिक विवादग्रस्त काल होने के कारण इस काल की समस्याएँ भी सबसे अधिक हैं।

विवादग्रस्त काल और समस्याएँ—हिन्दी साहित्य का आदिकाल अनेक कारणों से विवादग्रस्त है। इन कारणों म प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(1) सीमा निर्धारण के प्रश्न का लेकर यह काल सर्वाधिक विवादग्रस्त रहा है। इस काल की सीमा को अनेक विद्वानो ने अपने अपने ढग से स्वीकार किया है जिसकी विवरणिका इस प्रकार है—

इतिहासकार	आरम्भ काल	अन्तिम सीमा
ग्रियसन	770 वि /713 ई	1400 ई /1457 वि
मिश्रबन्धु	643 ई /700 वि	1343 वि /1286 ई
	एव	
	1344 वि /1284 ई	1445 वि /1389 ई
आचाय शुक्ल	स 1050 वि /993 ई	1375 वि /1318 ई
राहुल सास्कृत्यायन	760 ई /817 वि	1300 ई /1357 वि

उपयु क्त विवरण यह सूचित करता है कि सीमा निर्धारण को लेकर हिन्दी साहित्य का आदिकाल पर्याप्त विवादग्रस्त रहा है, फिर भी आचाय शुक्ल द्वारा स्वीकार किया गया समय निर्धारण प्राय सभी को मान्य रहा है। इसी को मानकर साहित्य का विवेचन किया जाता रहा है।

(2) सीमा निर्धारण से जुडा हुआ प्रश्न ही यह है कि हिन्दी का प्रथम कवि कौन है ? कुछ लोग प्रथम कवि के रूप म पुष्प कवि का नाम लेते हैं किन्तु नई खोजो स यह सिद्ध हो गया है कि हिन्दी का पहला कवि सरहपा है। इसका समय 817 सवत् है। डॉ सत्येन्द्र के अनुसार सरहपा की भाषा म ब्रजभाषा का पुट है। सरहप्पा ने दोहे लिखे थे और दोहे हिन्दी की वस्तु है।[5] डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि दोहे की प्रथा बगाल के साहित्य मे कभी नहीं रही। क्योंकि बगला भाषा की प्रकृति दोहो के अनुकूल नहीं है। डॉ सत्येन्द्र की मान्यता है कि सरहप्पा हिन्दी का आदि कवि इसलिए नहीं है कि सातवी आठवी शताब्दी म पहले पहल उसकी भाषा के पालने मे ब्रजभाषा रूप वाली हिन्दी झूल रही थी, बल्कि इसलिए भी है कि सरहप्पा सिद्ध परम्परा के प्रथम सिद्ध हैं और उन्होंने ही सिद्धो की नई परम्परा का सूत्रपात किया है। यही परम्परा आगे चलकर हिन्दी म नाथ सम्प्रदाय से होती हुई सन्तो तक पहुँची।

(3) आदिकाल की विवादग्रस्त स्थिति से जुडा हुआ तीसरा प्रश्न इस काल के नामकरण का है। ग्रियसन ने इस काल को चारण काल कहा है, मिश्रबन्धु इसे आरम्भिक काल कहते हैं, आचाय शुक्ल इस वीरगाथा काल कहते हैं और डॉ रामकुमार वर्मा इसे सन्धि काल नाम देते हैं। इतना ही नहीं राहुल जी ने इसे सिद्ध-सामत-युग कहा है, तो आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी न आदिकाल कहा है। एक ऐसे विद्वान् भी हैं, जो इसे सक्रमण काल कहते हैं। इन विद्वान् का नाम राम खिलावन पाण्डेय

वास्तव म नामकरण की यह विविधता और विचित्रता इस काल को विवादग्रस्त बना देती है।

(4) हिंदी साहित्य का ग्रादिकाल इसलिए भी समस्याग्रस्त रहा है कि पहले जो सामग्री इतिहास लेखकों के सामने थी, उनके ग्राधार पर इतिहास लिख दिया गया, किन्तु ग्रब नित्य प्रति होने वाले शोध के परिणामस्वरूप जो सामग्री सामने ग्रा रही है, उससे इस काल का चित्र ही बदलता जा रहा है। ग्राचार्य शुक्ल ने इस काल में वीर ग्रन्थों की प्रधानता स्वीकार की, तो हजारीप्रसाद द्विवेदी ने न केवल शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट प्रामाणिक ग्रंथों को ग्रप्रामाणिक ग्रौर नोटिस मात्र बतलाया बल्कि इस काल में ग्रपभ्रंश में रचित सिद्ध, जैन ग्रौर नाथ साहित्य के ज्ञान प्रधान व धार्मिक साहित्य की प्रधानता बतलाई है। इस प्रकार यह काल पर्याप्त विवादग्रस्त ग्रौर समस्याग्रस्त हो गया है।

(5) ग्रादिकाल में जो कवि सामने ग्राए हैं, उनमें से कुछ ऐसे हैं जो ग्रब ग्रादिकाल में नहीं माने जाते ग्रौर जो दूसरे कालों की सीमा रेखा पर है, वे ग्रब ग्रादिकाल में प्रविष्ट हो गए है। इस स्थिति से भी ग्रादिकाल विवादग्रस्त हो गया है। रासो ग्रंथों ने भी ग्रादिकाल को विवादग्रस्त बनाया है।

(6) हिन्दी साहित्य का ग्रादिकाल किन सीमाग्रों को पार करता हुग्रा किस-किस विषय ग्रौर ज्ञान के साहित्य को समाहित किए हुए है, यह ग्रब सामने ग्राने लगा है। ऐसी स्थिति में भी ग्रालोच्य काल की विवादग्रस्तता ग्रौर समस्याकुलता बढ़ गई है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के ग्राधार पर यही कहना उचित प्रतीत होता है कि हिन्दी साहित्य का ग्रादिकाल पर्याप्त विवादग्रस्त ग्रौर समस्याग्रस्त रहा है जब तक नये-नये परिणाम ग्रौर शोध कार्य सामने ग्राते रहेंगे, तब-तब इस काल की विवादग्रस्तता बनी रहेगी। ग्राज ग्रावश्यकता इस बात की है कि हिन्दी संस्थान ग्रौर विश्वविद्यालयों के बड़े-बड़े हिन्दी विभाग ग्रादिकाल पर नए सिरे से शोध कराएँ ताकि विवादास्पद स्थितियाँ सुलझ सकें ग्रौर समस्याग्रों की भीड़ एक सीमा तक कम हो सके।

हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन

हिन्दी साहित्य का इतिहास विक्रमी संवत 1050 से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार उसका इतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना ठहरता है। इस दीर्घ कालावधि में ग्रनेक साहित्यकार हुए ग्रौर उन्होंने गद्य पद्य रचनाएँ लिखी। इन रचनाग्रों के ग्रध्ययन के लिए कोई न-कोई सुविधाजनक एवं वैज्ञानिक प्रणाली ग्रावश्यक है। सुचारु ग्रध्ययन एवं साहित्य के क्रमिक विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह ग्रावश्यक है कि हम उक्त विस्तृत कालावधि को विभिन्न कालों (कालावधियों) में विभाजित कर लें।

हिन्दी साहित्य के काल विभाजन की परम्परा

हिंदी साहित्य के इतिहास का लेखन-कार्य लगभग 1000 वर्ष पूर्व ग्रारम्भ हो गया था। फ्रांसीसी लेखक गार्सादतासी तथा भारतीय लेखक शिवसिंह सेंगर ने

सर्वप्रथम इस दिशा मे प्रयत्न किए। वे ही हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम इतिहास
हैं, परन्तु इन्होने काल विभाजन की पद्धति नही अपनाई। काल विभाजन की प
को सर्वप्रथम जॉर्ज ग्रियसन ने ग्रहण किया था और वह स्वय अपने काल विभ
की कमियो के प्रति जागरूक थे। उन्होने विभाजित कालो के शीर्षक इस प्रकार
थे—जायसी की प्रेम कविता, कम्पनी के शासन म हिन्दुस्तान कवि। कहे
आवश्यकता नही है कि ये शीर्षक किसी ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायो जैसे शीर्षक प्र
होते है। जॉर्ज ग्रियसन ने अपभ्रंश की रचनाओ को हिन्दी साहित्य के अन्त
स्पष्ट किया था और इस प्रकार हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ 8वी शताब्दी स
लिया। प्रारम्भ के काल को उन्होने चारण काल कहा था। इसके उपरान्त मि
बन्धुओ द्वारा प्रणीत मिश्रबन्धु विनोद इस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण रचना है। मिश्र ब
ने भी ग्रियसन के समान हिन्दी साहित्य का आरम्भ आठवी सदी से माना और उ
प्रारम्भिक काल, माध्यमिक काल अलकृत काल (शुक्ल जी का रीतिकाल), परिव
काल अर्थात् रीतिकाल का उत्तरार्द्ध और आधुनिक काल हिन्दी साहित्य के इति
का विभाजन कर दिया। कहने की आवश्यकता नही है कि मिश्रबन्धु विनोद
काल विभाजन बहुत कुछ वैज्ञानिक एव यथार्थवादी था।

मिश्रबन्धु विनोद के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित हि
साहित्य का इतिहास सामने आया। शुक्ल जी ने साहित्य की प्रवृत्तिया के आध
पर हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन किया। परवर्ती इतिहासकारो
शुक्ल जी के मानदण्डो को स्वीकार करके विभाजन किया है।

शुक्ल जी का काल-विभाजन—हिन्दी साहित्य का इतिहास के अन्त
हिन्दी साहित्य का काल विभाजन करते समय पहला काम तो शुक्ल जी ने यह कि
कि अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य से अलग कर दिया और उसको केव
हिन्दी साहित्य की पूर्वपीठिका के रूप म ही—वह भी आंशिक रूप से ही स्वीक
किया। उनकी दृष्टि म अपभ्रंश का समस्त साहित्य धार्मिक साहित्य था अ
उसको साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्वीकार नही किया जाना चाहिए
शुक्ल जी ने दूसरा काम यह किया कि उन्होने प्रमुख प्रवृत्ति के आधार
काल खण्ड का नामकरण किया। जिस काल-खण्ड के भीतर किसी विशेष प्रवृ
की सूचक रचनाओ की बहुलता मिली, तो उस काव्य खण्ड का नामकरण उ
प्रवृत्ति विशेष के आधार पर रख दिया। साथ ही उन्होने ग्रन्थो की प्रसिद्धि को
महत्त्व प्रदान किया। काल विभाजन की इस पद्धति के औचित्य के सम्बन्ध
शुक्ल जी का यह कथन द्रष्टव्य है—"इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दि
सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढग की रचना की प्रचुरता
अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढग की रचनाओ म से चाहे किसी एक ढग की रच
हो तो वह परिमाण म प्रथम के बराबर न होगी। दूसरी बात है—ग्रन्थो
प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर एक ही ढग के बहुत अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ चले ज
हैं, उस ढग की रचना इस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जाएगी। प्रसिद्धि

किसी काल की लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। इन दोनो बातो की ग्रोर ध्यान रखकर काल विभाग का नामकरण किया गया है।"[6]

उपयु क्त स्थापना के ग्रनुसार ग्राचाय शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का विभाजन निम्न चार कालो मे किया है—

1 ग्रादिकाल (वीरगाथा काल, सवत् 1050–1375)
2 पूव मध्यकाल (भक्ति काल, सवत् 1375–1700)
3 उत्तर मध्यकाल (रीति काल, सवत् 1700–1900)
4 ग्राधुनिक काल (गद्य काल, सवत् 1900 से)

शुक्ल जी द्वारा किये गये काल-विभाजन मे दो बातें द्रष्टव्य हैं। उन्होने पहले तो प्रत्येक काल की सीमावधि निर्धारित करके उसे काल-खण्डो (ग्रादि काल, पूव मध्य काल, उत्तर मध्य काल एव ग्राधुनिक काल) मे विभाजित कर दिया ह, ग्रौर उसके साथ ही काल खण्ड विशेष की प्रमुख प्रवृत्ति के ग्राधार पर उस काल-खण्ड का नामकरण दिया है। उन्होने प्रत्येक काल का वणन इस प्रकार किया है कि पहले तो उस काल की सामान्य परिस्थितियो का वणन किया है फिर उसकी प्रवृत्ति-सूचक रचनाग्रो का वणन किया है—जो उस काल के लक्षण के ग्रन्तगत होगी ग्रौर तदनन्तर सक्षेप मे उनके ग्रतिरिक्त ग्रन्य प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाग्रो का उल्लेख किया है।

शुक्लोत्तर काल विभाजन—ग्राचार्य शुक्ल के विवेचन से ही प्रेरणा पाकर डा रामकुमार वर्मा न ग्रालोच्य काल की पूववर्ती सीमा 750 निर्धारित की तथा 750–1200 तक की ग्रवधि को सधिकाल ग्रौर 1000—1200 तक को चारण काल कहा है। पुन सधिकाल मे भी 750—1000 तक को सधिकाल ग्रौर 1000—1200 तक को जन-साहित्य काल के नाम से ग्रभिहित किया। ग्राश्चर्य इस बात का है कि ग्रादरणीय वर्मा जी इस ग्रवधि की किसी एक भी प्रामाणिक रचना का नाम नही ले सके हैं, ग्रत इनके नामकरण के गुण स्वय स्पष्ट है। इधर 'वण्य विषय की व्याप्ति' के ग्राधार पर विचार करते हुए श्रद्धेय ग्राचाय विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने इसे वीरगाथा काल न कहकर वीररस-काल का सक्षेप मे वीर काल कहना हानिकर नही मानते हैं।[7] उधर विषय-वस्तु ग्रौर साहित्यिक प्रवृत्तियो के ग्राधार पर इसे सिद्ध-सामन्त-काल के नाम से श्री राहुल सांकृत्यायन जी पुकारते रहे हैं। पूववर्ती नामो की ग्रपेक्षा राहुलजी का नामकरण कही ग्रधिक सटीक बठता है।

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य नामक ग्रपने शोध ग्रन्थ म डॉ पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ ने ग्रादिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल ग्रौर ग्राधुनिक काल के लिए क्रमश ग्रन्धकार काल, कलात्मक उत्कषकाल, साहित्यशास्त्री काल ग्रौर साहित्यिक काल नाम सुझाए हैं। ग्रन्धकार-काल साहित्यिक स्थिति का सूचक तो है ग्रवश्य, किन्तु प्रवृत्ति-निरूपक बिल्कुल नही। इसकी भी वही गति है। ग्राचार्य डॉ हजारी

प्रसाद द्विवेदी जी हिन्दी के सुधी आलोचक हैं। इन्होंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल की विशद चर्चा की है। इस काल का नामकरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन-काल किया था। इसे ही आचार्य डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी कतिपय तर्कों के बाद आदिकाल ही कहना चाहते हैं।'[8]

जिस प्रकार आचार्य शुक्ल को सामग्री की सदिग्धता का आभास हो गया था, आचार्य द्विवेदी जी को भी आदिकाल नाम की अनुपयुक्तता का पता है—"वस्तुत हिन्दी साहित्य का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त काव्य रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग, सचेत कवियों का काल है। यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है।'[9]

आदिकाल के पश्चात है मध्यकाल। आचार्य शुक्ल, डॉ. श्यामसुन्दरदास आदि ने मध्यकाल के दो विभाग किये हैं—पूर्व, मध्यकाल और उत्तरमध्यकाल। मिश्रबन्धुओं ने इसके तीन विभाग किए हैं—पूर्व, प्रौढ़ और अलंकृत। पूर्व मध्यकाल ही भक्तिकाल है तथा उत्तर मध्यकाल रीतिकाल जिसे मिश्रबन्धुओं ने अलंकृतकाल कहा है। भक्तिकाल की सामान्य सीमा आचार्य शुक्ल के संवत 1375–1700 स्वीकार की है। आचार्य शुक्ल ने भक्तिकाल को निर्गुण भक्ति काव्य तथा सगुण भक्ति काव्य एवं निर्गुण भक्ति काव्य को पुनः ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेम मार्गी शाखा एवं सगुण भक्ति काव्य को कृष्ण भक्ति काव्य और राम भक्ति काव्य में विभाजित किया है। इसके बाद भी इन्हें फुटकर खाता खोलना पड़ा। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने कर्त्ता को दृष्टि पथ में रखकर सौर-काल तुलसीकाल आदि जैसा उप विभाग किया है। कर्त्ता के आधार पर नामकरण की प्रवृत्ति अंग्रेजी साहित्य (पूर्व शेक्सपीयर-युग, उत्तर शेक्सपीयर युग) संस्कृत साहित्य (पूर्व कालिदास युग, पर कालीदास युग), हिन्दी साहित्य (भारतेन्दु युग, द्विवेदी-युग) इत्यादि में है। कतिपय इतिहासज्ञों ने शासकों के नाम पर एलिजाबेथन या विक्टोरियन पीरियड के अनुसार अकबर-काल, दयानन्द-काल आदि जैसा भी वर्गीकरण किया है पर साहित्य के इतिहास में राजाओं के नाम पर काल विभाजन का कोई महत्त्व नहीं होता और न इनसे किसी प्रकार की प्रवृत्ति का संकेत ही मिलता है। इसलिए मूलतः आचार्य शुक्ल का विभाजन ही विचारणीय रह जाता है।

विचारने से यह स्पष्ट होता है कि भक्ति काल के अन्तर्गत किये गए उपविभाग भी कतिपय असंगतियों से पूर्ण हैं। भक्ति की सीमा सगुण उपासना तक ही होती है। इसलिए तथाकथित निर्गुणवादियों को भी भक्तिकाव्य के अन्तर्गत ही रखा जाए, यह असंगत ही तो है। दूसरी बात यह है कि निर्गुणवादियों में श्रेष्ठ कबीर जैसा जीव भी जब प्रेम के ढाई अक्षरों में मस्त हो रहा है तो उसकी रचना को ज्ञान मार्गी या ज्ञानाश्रयी कहना कहाँ तक उचित है। सम्भवतः ऐसी ही

विलक्षणता के कारण, कुछ विचारक इस शाखा को ज्ञानाभासाश्रयी कहना ही श्रेयस्कर मानते हैं।

रीति-काल की सामान्य सीमा स 1700–1900 तक मानी जाती है। यह काल भी पूववत् विवादग्रस्त ही है। इसे अलकृत काल (मिश्रबन्धु-आचाय चतुरसेन), शृगार-काल (आचाय विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), रीति-शृगार युग (कतिपय समन्वयवादी) इत्यादि अनेक नामो से अभिहित किया गया है। आचाय शुक्ल ने इसके नामकरण म बहिरग-विधान पर जोर दिया है, यद्यपि उनके द्वारा प्रदत्त अन्य कालो के नाम मे अन्तरग-पक्ष ही प्रति रहा है। यदि बहिरग विधान को ध्यान म रखा जाए, तो रीति काल की अपेक्षा अलकृत काल ही अधिक सटीक लगता ह। अन्तरग पर विचार करने से शृगार काल नाम की श्रेष्ठता सामने आ जाती है। रीति-काल और अलकृत जैसा नामकरण करने पर इस काल के अन्त-विभाजन म बाधाएँ उपस्थित हो गई हैं।

अन्त म विचारणीय है—आधुनिक काल। इसे लोग आधुनिक काल या नवयुग कहते हैं। इस युग मे हिन्दी साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अग विकसित होता है—यह है गद्य-साहित्य। इस युग के पूव गद्य का लगभग अभाव-सा ही है। इसके पूव टीका ग्रन्थ, वार्ताग्रन्थो आदि मे ही गद्य का रूप मिलता था, किन्तु इस काल म यह अपना स्वतन्त्र विकास करता है। वस्तुत आधुनिक युग मे गद्य का बहुमुखी विकास होता है। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना, पत्रकारिता इत्यादि अनेक रूपो मे गद्य विकसित हो चलता है। समस्त गद्य-साहित्य की तुलना मे पद्य साहित्य नही टिक पाता है, किन्तु इसका तात्पय यह नही कि पद्य-साहित्य लिखा ही नही गया। नही, ऐसा कहना भूल होगी। पद्य-साहित्य मे भी महान् परिवतन हुआ है। वस्तुत मात्रा की दृष्टि से गद्य की प्रचुरता अवश्य है। सम्भवत इसी से आचाय शुक्ल ने आधुनिक युग को गद्य काल कहा है। डॉ श्यामसुन्दर दास इस युग को नवीन विकास का युग कहते हैं। डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने भी इसे लगभग गद्य-काल ही कहना चाहा है, किन्तु जसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, इस युग मे पद्य-साहित्य का अभाव नही है। इसलिए गद्यकाल नामकरण से एक भ्रामक धारणा उत्पन्न होती है कि इस युग मे पद्य-साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान नही है। तात्पय यह है कि गद्य-काल नामकरण सटीक नहीं है। इससे बचने के लिए इसे सीधे आधुनिक काल कहना ही श्रेयस्कर है। विचारको ने इस काल को मूलत दो भागो मे विभक्त किया है—गद्य-साहित्य और पद्य-साहित्य। वस्तुत इसी की अपेक्षा भी है, महत्त्व दोनो का समान ही है। यह काल अनेक प्रवृत्तियो से पूर्ण है, जिसका विवेचन एक पृथक् क्रमबद्ध इतिहास की अपेक्षा करता है। इसकी भी पूर्ति अनेक विद्वानो द्वारा समय-समय पर होती रही है।

विवेचन की सुविधा के निमित्त आचाय शुक्ल ने गद्यकाल को तीन उत्थानो मे बाँट दिया है—प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान और तृतीय उत्थान। अधिकांश विद्वानो द्वारा यह विभाग भी अमान्य ही हैं। इसम भी कई भ्रान्तियो के लिए स्थान

रह ही गया है। इन्हीं उत्थानों को कतिपय विचारक क्रमशः भारतेन्दु-युग, द्विवेदी युग और छायावाद का युग कहना चाहते हैं। निश्चय ही यह नामकरण आचार्य शुक्ल के उत्थानों की अपेक्षा अधिक सटीक है और युग विशेष की प्रवृत्तियों को सूचित करने में समर्थ भी है, किन्तु यहाँ भी कतिपय दोष रह ही जाते हैं।

आचार्य चतुरसेन ने अपने इतिहास में इस काल की चर्चा के निमित्त पाँच विभाग किये—पाश्चात्य प्रभाव युग, भारतेन्दु युग, त्रिविध प्रभाव युग, द्विवेदी युग और नवयुग। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें निम्नांकित विभाग में वर्णित किया है—गद्य-युग का प्रारम्भ, भारतेन्दु का उदय और प्रभाव, बहुमुखी उन्नतिकाल, छायावाद और प्रगतिवाद। श्री शम्भूनाथ सिंह ने अपनी पुस्तक छायावाद युग में इन उपविभागों को क्रमशः संक्रांति युग, पुनरुत्थान युग और विद्रोह युग कहना ही उत्तम समझा है। इससे स्पष्ट है कि जितने विचारक प्रायः, सबने अपने अपने ढंग से आधुनिक युग का वर्णन किया है। उपविभाजन में मतैक्य प्रायः नहीं-सा है।

उपयोगी वर्गीकरण और शुक्ल जी के वर्गीकरण की त्रुटियाँ

उपर्युक्त विवेचन इस बात का सूचक है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से किया है। इन सभी विभाजनों में आचार्य शुक्ल का विभाजन अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित प्रतीत होता है, किन्तु उसमें भी कुछ असंगतियाँ हैं, जिनकी ओर बाद के विद्वानों ने संकेत किया है। पहली असंगति तो यह बताई गई है कि शुक्ल जी ने प्रारम्भिक काल की जो सीमा बतलाई है वह सदोष है। दूसरी असंगति आदिकाल के नामकरण से सम्बन्धित है और तीसरी अनेक ग्रंथों की प्रामाणिकता से जुड़ी हुई है। आचार्य शुक्ल ने पूर्व मध्य काल को भक्तिकाल कहा है, जो एक प्रवृत्ति विशेष को सूचित करता है। वास्तव में उस समय भक्ति के साथ-साथ साहित्य की अन्य धाराएँ भी पर्याप्त सक्रिय थीं। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने माध्यकालीन हिन्दी साहित्य की काव्य परम्पराओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—[10]

(1) धर्माश्रय में—(क) सन्त काव्य परम्परा (ख) पौराणिक गीति परम्परा (ग) पौराणिक प्रबन्ध काव्य परम्परा (घ) रसिक भक्ति काव्य परम्परा।

(2) राज्याश्रय में—(क) मैथिली गीति परम्परा, (ख) ऐतिहासिक राम काव्य परम्परा, (ग) ऐतिहासिक चरित काव्य परम्परा, (घ) ऐतिहासिक मुक्तक परम्परा, (च) शास्त्रीय मुक्तक परम्परा।

(3) लोकाश्रय में—(क) रोमांसिक कथा काव्य परम्परा (ग) स्वच्छन्द प्रेम काव्य परम्परा।

हमारी दृष्टि में हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन सुविधा की दृष्टि से इस प्रकार किया जा सकता है—

(1) प्रारम्भिक काल (आदि काल—वि० 1241–1375)
(2) पूर्व मध्य काल (भक्ति काल—वि० 1375–1700)
(3) उत्तर मध्य-काल (रीति काल—वि० 1700–1900)

(4) ग्राधुनिक काल (वि० 1900 से मध्यावधि)
- (अ) पुनर्जागरण काल (भारतेन्दु काल)—(1857 से 1900 ई)
- (ब) जागरण-सुधार-काल (द्विवेदी काल)—(1900 से 1918 ई)
- (स) छायावाद काल—1918 से 1938 ई०
- (द) छायावादोत्तर काल—
  - (क) प्रगति-प्रयोग काल—1900 से 1953 ई०
  - (ख) नवलेखन काल—1953 ई० से ग्रब तक।

ग्रादिकाल नामकरण की समीचीनता

हिन्दी साहित्य के इतिहास म अब ग्रधिकतर विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि स 1050 से 1375 वि तक के काल-खण्डो को 'ग्रादिकाल' नाम से पुकारा जा सकता है। साहित्य मे समय पाकर चली ग्राई प्रवृत्तियो का विकास और ह्रास होता है तथा नई-नई प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव भी होता रहता है। कभी-कभी एक ही प्रवृत्ति बहुत लम्बे समय तक अपना वचस्व बनाये रखती है और उसी के समकक्ष ग्रय प्रवृत्ति भी लोक-मानस मे अपना स्थान बनाये रहती है। जसे रासो तथा वीरगाथात्मक रचनाएँ एक निश्चित काल-खण्ड तक ही सीमित नही रही, वे भूषण के काव्य मे रीति-काल मे भी उपस्थित थी तो ग्राधुनिक काल मे दिनकर ने भी उनको सीचा ग्रौर पुष्ट किया है। यही कारण है कि साहित्य के इतिहास को सवमान्य काल-खण्डो तथा निश्चित प्रवृत्तियो की सीमाओ म आबद्ध नही किया जा सकता। विभिन्न विद्वान् कभी इस प्रश्न पर एकमत नही हो सके। आदिकाल के नाम तथा इसकी पूर्वापर-सीमा के सम्बन्ध के विद्वानो ने ग्रलग-ग्रलग मत व्यक्त किये हैं।

सवप्रथम मिश्र बन्धुग्रो ने ग्रपने 'मिश्र बन्धु विनोद' मे इस काल-खण्ड को ग्रादिकाल नाम दिया ग्रौर इसकी पूव सीमा सवत् 700 तथा उत्तर सीमा सम्वत् 1444 वि निर्धारित की। मिश्र बन्धुओ ने ग्रपभ्रश को भी इसी के ग्रन्तगत समेट लिया। मिश्र बन्धुग्रो द्वारा सकेतित 'ग्रादिकाल' नाम तो मानव स्वभाव एव मनोविज्ञान की तुला पर कुछ उचित प्रतीत होता है किन्तु इसकी काल-सीमा का निर्धारण तक-पुष्ट नहीं है।

आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रादिकाल (स 1050 से 1375 वि.) को वीरगाथाग्रो की प्रमुखता के कारण वीरगाथा काल नाम दिया है। शुक्ल जी ने अपने मत को पुष्ट करते हुए लिखा है —ग्रादिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नही होता है—धम, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहो मे मिलती हैं। इन ग्रनिर्दिष्ट लोक प्रवत्ति के उपरात जब से मुसलमानो के ग्राक्रमणों का ग्रारम्भ होता है, तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप म बधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृंगार ग्रादि के फुटकल दोहे राज सभाग्रो

म सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओ के पराक्रमपूर्ण चरित्र अथवा गाथाओ का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबन्ध परम्परा 'रासा' के नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल का हमने 'वीरगाथा काल' कहा है।

'वीरगाथा काल' के नामकरण का आधार शुक्ल जी ने निम्नलिखित रचनाओ का बताया है—

1 खुमान रासो (दलपत विजय, स 1180–1205)
2 वीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह, स 1292)
3 पृथ्वीराज रासो (चन्दवरदाई स 1225–1249)
4 जयचन्द प्रकाश (भट्ट केदार 1225)
5 जय मयक जस चन्द्रिका (मधुकर कवि, स 1240)
6 परमाल रासो (जगनिक, स 123)
7 खुसरो की पहेलियाँ आदि (अमीर खुसरो, स 1230)
8 विद्यापति पदावली (विद्यापति, स 1460)
9 विजयपाल रासो (नल्लसिंह भट्ट, स 1350)
10 हम्मीर रासो (शारगधर, स 1357)
11 कीर्त्तिलता (विद्यापति, स 1460)
12 कीर्त्तिपताका (विद्यापति स 1460)

इनम अन्तिम चार रचनाएँ तो स्पष्टत अपभ्र श की रचनाएँ ही हैं। उन्हें हिन्दी म कसे सम्मिलित किया जा सकता है। यदि अपभ्र श को भी हिन्दी साहित्य म सम्मिलित करने का आग्रह हो तब तो हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्रारम्भ म 700 वि से भी पूव तक पहुँच जाता है। इन रचनाओ म सिद्धो, नाथो और जन कवियो की रचनाओ को भी स्थान नही है। माना कि सिद्धो और नाथो का काव्य अपभ्र श स हिन्दी म सक्रमण काल का काव्य है किन्तु हिन्दी काव्य का नीव का परिचय तो उसी से हो सकता है। इसी प्रकार इन रचनाओ का काल भी विवाद का विषय है। वीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह का समय मेनारिया जी ने स 1545 वि माना है तथा पृथ्वीराज रासो भी अर्द्ध ऐतिहासिक काव्य है जिसके रचनाकाल के सम्बन्ध म अत्यधिक विवाद है। विद्यापति को 'कीर्त्तिलता' काल और 'कीर्त्तिपताका' का रचना काल स्वय शुक्ल जी ने स 1460 स्वीकार किया है। फिर ये काव्य विवेचित आदिकाल या वीरगाथा काल (स 1050 स 1375) की सीमाओ म कसे आ सकते हैं ? और वीसलदेव रासो वीर गाथात्मक काव्य न होकर शृगारिक विरहकाव्य है उसे वीरगाथा नाम के अन्तगत कसे रखा जा सकता है ? शुक्ल जी ने स्वय अपनी ही मान्यताओ पर अनेक प्रश्न चिह्न अकित कर दिये हैं।

शुक्ल जी के सामने उक्त बारह ग्रन्थो की अत्यन्त सीमित और अल्प सामग्री थी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन तथा डॉ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने नाथो,

सिद्धो तथा बौद्धो की अनेक रचनाओ का पता लगाया है, उस विशाल साहित्य के सामने इस काल की वीर गाथात्मक रचनाएँ बहुत थोडी और नामकरण मे महत्त्व-पूर्ण भूमिका अदा करने म योग्य सिद्ध नही होती हैं। इसके अतिरिक्त सन्देश रासक, पउमचरिअ, पाहुड दोहा, हरिवश पुराण, जसहर चरित्र, भविसयत्त कथा आदि लौकिक प्रेम सम्बन्धी विषयो की सामग्री शुक्ल जी के सामने नही थी। इसलिए उन्होंने इस काल को वीरगाथा काल नाम देकर काम चलाया। उन्होंने स्वय इस नाम की सीमित अर्थाभिव्यक्ति पर असन्तोष व्यक्त किया था। अत शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित 'वीरगाथा काल' नाम इस काल की साहित्यिक उपलब्धियो को समग्र रूप से सस्पष्ट नही करता।

डॉ रामकुमार वर्मा न अपने आलोचनात्मक इतिहास मे स 1000 से 1375 वि तक के काल को चारण काल नाम दिया है। आचार्य शुक्ल ने अपनी वीरगाथाओ की सूची के आधार पर यह मत व्यक्त किया था कि इस काल के अधिकाश कवि चारण थे। डॉ वर्मा ने इसी आधार पर इस काल को चारण काल नाम दे दिया, जबकि इस काल के कवियो म चारण-कवियो की सख्या नगण्य है। स्वय डॉ वर्मा ने इस काल के चारण-कवियो का विवरण अपने इतिहास म नही दिया। इससे स्पष्ट है कि यह नाम इसके लिए सवथा अनुपयुक्त और भ्रामक है।

महापण्डित राहुल सास्कृत्यायन ने इस काल को 'सिद्ध-सामन्त युग नाम से अभिहित किया है। वे इस काल की पूर्वापर सीमाएँ आठवी शती से तेरहवी शती तक मानते हैं। उनकी दृष्टि मे इस काल म सिद्धो की वाणियाँ तथा सामन्तो की स्तुतियाँ-- यही दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख थी। सिद्धो की वाणियाँ निवृत्तिमूलक, रूक्ष तथा उपदेशमूलक हैं जिनमे जन कवियो की आध्यात्मिकता और धार्मिकता को नही मिलाया जा सकता। सिद्ध सामन्त युग नाम से इस काल के साहित्य का व्यापक बोध नही होता। राहुल जी ने पुरानी हिन्दी और अपभ्रश को एक ही बताया है, जो तर्क पूर्ण दृष्टि से सिद्ध नही होता है।

आचाय महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को 'बीजवपन काल कहा है। इस नाम से ऐसा भ्रम होता है, मानो हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ ही यही से हो जबकि सत्य यह है कि यह साहित्य एक चली आई परम्परा का विकास मात्र है। इस काल के कवि एव साहित्यकार कोई नौसिखिया नही थे, अपितु, उनकी कला प्रौढ और विकसित है। अत ऐसा नाम साहित्य की परम्परा और इतिहास को नकारने का प्रयत्न लगता है।

आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मिश्र बन्धुओ द्वारा स्थापित 'आदिकाल' नाम को ही स्वीकारना श्रेयस्कर समझा है। वे किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर किसी काल के नामकरण को उचित नही समझते। वे यह भी कहते हैं कि वस्तुत हिन्दी साहित्य का 'आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त मे यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई

आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त काव्य-रूढ़ियों से अछूत साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग, सचेतन कवियों का काल है। यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं।[11]

इससे स्पष्ट है कि अनेक नामों में से यदि अधिक संगत और सर्व स्वीकृत कोई नाम हो सकता है तो वह है 'आदि काल'। इस नाम में अन्य नामों की अपेक्षा कम असंगतियाँ हैं तथा इसके समर्थन में दिए गए तर्क भी अधिक ठोस एवं प्रामाणिक हैं। ऐसी दशा में 'आदि काल' नाम इस युग को दिया जा सकता है तथा इसकी पूर्वापर सीमाएँ 1050 वि० से 1375 वि० ही ठीक दिखाई देती हैं। यद्यपि राहुल जी ने अपभ्रंश से अलगाव लेती भाषाओं का काल 12वीं–13वीं शती माना है, सुनीतिकुमार चटर्जी ने 13वीं–14वीं शती में हिंदी के दर्शन किए हैं। उदय नारायण तिवाड़ी इस काल को 13वीं से 15वीं शती तक बाँधते हैं। इस दिशा में शुक्ल जी का काल निर्धारण, 1050 वि० से 1375 वि० तक, ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

आदिकालीन साहित्य युगीन परिवेश

'साहित्य समाज का दर्पण' होता है—इस उक्ति की सार्थकता प्रत्येक युग के साहित्य में देखी जा सकती है। आदिकालीन साहित्य का जो रूप, विस्तार और आयाम उपलब्ध होता है, वह सब अपने काल की परिस्थितियों से प्रेरित है। साहित्य में युग विशेष की धड़कनें, उसकी आशाएँ आकांक्षाएँ मान्यताएं, स्थापनाएं प्रेरणाएँ, घटनाएँ आदि का अन्तः बाह्य स्फोट होती हैं। आदिकाल का साहित्य भी तत्सामयिक परिस्थितियों की सफल अभिव्यक्ति है जो उसके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक युगीन परिवेश एवं परिदृश्य के स्थितिगत चित्रण में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

सामाजिक परिवेश—यह युग भारतीय इतिहास में अशान्ति युद्ध, धर्मान्धता का युग रहा है। जब धर्म और राजनीति केवल अपनी ही चिन्ता में लीन हो जाते हैं, तब समाज भी विकारों का शिकार हो जाता है। दसवीं ग्यारहवीं शती और उससे पूर्व ही भारतीय समाज वर्ग के आधार पर जातियों की कठोर व्यवस्था में जकड़ने लग गया था। तब व्यक्ति के गुण कर्म का महत्त्व नहीं था अपितु जाति की उच्चता ही मनुष्य की उच्चता का प्रमाण थी। जातियों का वर्ण भेद बढ़ता जा रहा था। अनेक उपजातियाँ नित्यप्रति पनप रही थीं। छुआछूत की सड़ांध में समाज का मस्तिष्क विकृत हो रहा था। हिन्दू समाज की पाचन शक्ति प्रायः नष्ट हो चुकी थी। एक बार जो हिन्दू समाज से बहिष्कृत हो गया वह पुनः अपने निज धर्म में नहीं आ सकता था। धर्म की तरह समाज भी रूढ़ियों में ग्रस्त था। सामन्तों की वीरता और उच्चता का दम्भ समाज को नष्ट किए जा रहा था। राजपूतों में वीरता और बलिदान की परम्परा निर्वाह की होड़ थी। नारियाँ भी आत्म-बलिदान और शौर्य प्रदर्शन में पुरुषों से पीछे नहीं थी। नारियों के विवाह के लिए स्वयंवरों का आयोजन होता था। इन स्वयंवरों के अवसर पर भी वीरता और

सम्मान के नाम पर अपहरण र ण्ड होते थे, जिनके कारण मांगलिक अवसर पर भी रक्तपात हो जाना सामान्य बात थी। राजपूत सामन्त वीर, दृढव्रती, स्वामिभक्त और सत्यनिष्ठ तो थे, किन्तु उनमें कूटनीति का अभाव था। एक ओर उनमें कर्त्तव्यनिष्ठा तथा शौर्य का अजस्र-प्रवाह था तो दूसरी ओर भोग विलास तथा रंगरेलियाँ मनाने की विलासी मनोवृत्ति थी। समाज के सामान्यजन मनोबलहीन तथा पतनोन्मुख थे। राजागण बहु विवाह को अधिकार समझते थे। उनके अन्तःपुर में रानियाँ तथा रखैलों की भीड़ लगी रहती थी। राजकुमारों को राजनीति, व्याकरण, तर्कशास्त्र, काव्य नाटक, गणित आदि के साथ साथ कामशास्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी। स्त्री के प्रति समाज में हीन दृष्टिकोण पनप रहा था। उसे केवल 'भोग्या' ही समझा जाने लगा था। युद्धों की पृष्ठभूमि में पलने वाले समाज की आर्थिक दशा भी विपन्न हो गई थी। व्यवसाय तथा कृषि में अस्थिरता के कारण धन-धान्य का उतना प्राचुर्य अब नहीं था। युद्धों के बाद विजेताओं ने निर्मम होकर समाज को लूटा था, जिससे साधारण आदमी के विश्वास हिल गए थे।

धार्मिक परिवेश—इस काल में धर्म के क्षेत्र में भी अराजकता और स्वच्छाचार का बोलबाला था। वैदिक और पौराणिक धर्म के विकार आने पर जिन जैन और बौद्ध धर्मों ने शुद्धता और श्रेष्ठता का दावा किया था, उनमें भी अनेक बुराइयों ने प्रवेश पा लिया था। आठवीं-नवीं शती में शंकराचार्य के प्रबल प्रहारों ने बौद्ध धर्म को क्षत विक्षत कर दिया था। बौद्ध धर्म अब आध्यात्मिक उच्चता के स्थान पर जप, मन्त्र, तन्त्र के जाल में बुरी तरह उलझ गया था। बौद्ध धर्म हीनयान, महायान, वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान आदि विचित्र कर्मकाण्ड प्रधान सम्प्रदायों में से विभक्त होकर इस देश में अंतिम साँसें ले रहा था। अलौकिक शक्तियों और सिद्धियों की प्रगति के लिए बौद्धों के ये विभिन्न सम्प्रदाय गुप्त मन्त्रों का जाप, आचारविहीन गुप्त क्रियाएँ, नारी सम्भोग और सुरापान करते थे। चमत्कार प्रदर्शन द्वारा भोली जनता को धूर्त बौद्ध संन्यासी ठगते थे। धर्म के आवरण में अधर्म पल रहा था।

बौद्धों के अनुकरण पर ही वैष्णव सम्प्रदायों में भी वैसी ही पूजा-विधि का प्रचार प्रसार बढ़ रहा था। पाँचरात्र, शैव, कालमुख, कापालिक आदि वाम मार्ग की ओर उन्मुख हो रहे थे। शाक्त-सम्प्रदाय आनन्द भैरवी, त्रिपुरी सुन्दरी को रिझाने में लगा हुआ था। जैन सम्प्रदाय भी इस वाममार्गी उपासना पद्धति से अछूता न रह सका। तात्पर्य यह है कि बौद्ध, जैन तथा वैष्णव सभी सम्प्रदायों ने धर्म के विकृत रूप को अत्यधिक उत्साह के साथ स्वीकारना शुरू कर दिया था। समाज का निम्न वर्ग इन वामाचारियों के चंगुल में अधिक उलझा हुआ था। नाथ योगियों ने भी वज्रयानी बौद्धों की तान्त्रिक उपासना को अपना लिया था। उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप आगे चलकर नाथ सम्प्रदाय में संयम, नियम और आचार की प्रतिष्ठा हुई थी।

आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग, सचेतन कवियों का काल है। यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहे तो यह नाम बुरा नहीं।[11]

इससे स्पष्ट है कि अनेक नामों में से यदि अधिक संगत और सर्व स्वीकृत कोई नाम हो सकता है तो वह है 'आदि काल'। इस नाम में अन्य नामों की अपेक्षा कम असंगतियाँ हैं तथा इसके समर्थन में दिए गए तर्क भी अधिक ठोस एवं प्रामाणिक हैं। ऐसी दशा में 'आदि काल' नाम इस युग को दिया जा सकता है तथा इसकी पूर्वापर सीमाएँ 1050 वि० से 1375 वि० ही ठीक दिखाई देती है। यद्यपि राहुल जी ने अपभ्रंश से अलगाव लेती भाषाओं का काल 12वीं–13वीं शती माना है, सुनीतिकुमार चटर्जी ने 13वीं–14वीं शती में हिन्दी के दर्शन किए हैं। उदय नारायण तिवारी इस काल को 13वीं से 15वीं शती तक बाँधते है। इस दिशा में शुक्ल जी का काल निर्धारण, 1050 वि० से 1375 वि० तक, ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

आदिकालीन साहित्य युगीन परिवेश

'साहित्य समाज का दर्पण' होता है—इस उक्ति की सार्थकता प्रत्येक युग के साहित्य में देखी जा सकती है। आदिकालीन साहित्य का जो रूप, विस्तार और आयाम उपलब्ध होता है, वह सब अपने काल की परिस्थितियों से प्रेरित है। साहित्य में युग विशेष की धड़कनें, उसकी आशाएँ आकांक्षाएँ मान्यताएं, स्थापनाएँ, प्रेरणाएँ, घटनाएँ आदि का अन्त बाह्य स्फोट होती हैं। आदिकाल का साहित्य भी तत्सामयिक परिस्थितियों की सफल अभिव्यक्ति है जो उसके सामाजिक धार्मिक राजनीतिक एवं साहित्यिक युगीन परिवेश एवं परिदृश्य के स्थितिगत चित्रण में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

सामाजिक परिवेश—यह युग भारतीय इतिहास में अशान्ति, युद्ध, धर्मान्धता का युग रहा है। जब धर्म और राजनीति केवल अपनी ही चिन्ता में लीन हो जाते हैं, तब समाज भी विकारों का शिकार हो जाता है। दसवीं ग्यारहवीं शती और उससे पूर्व ही भारतीय समाज वर्ण के आधार पर जातियों की कठोर व्यवस्था में जकड़ने लग गया था। तब व्यक्ति के गुण-कर्म का महत्त्व नहीं था अपितु जाति की उच्चता ही मनुष्य की उच्चता का प्रमाण थी। जातियों का वर्ण भेद बढ़ता जा रहा था। अनेक उपजातियाँ नित्यप्रति पनप रही थी। छुआछूत की सड़ाँध में समाज का मस्तिष्क विकृत हो रहा था। हिन्दू समाज की पाचन शक्ति प्रायः नष्ट हो चुकी थी। एक बार जो हिन्दू समाज से बहिष्कृत हो गया वह पुनः अपने निज धर्म में नहीं आ सकता था। धर्म की तरह समाज भी रूढ़ियों में ग्रस्त था। सामन्तों की वीरता और उच्चता का दम्भ समाज को नष्ट किए जा रहा था। राजपूतों में वीरता और बलिदान की परम्परा निर्वाह की होड़ थी। नारियाँ भी आत्म-बलिदान और साथ प्रदान में पुरुषों से पीछे नहीं थीं। नारियों के विवाह के लिए स्वयंवरों का आयोजन होता था। इन स्वयंवरों के अवसर पर भी वीरता और

सम्मान के नाम पर अपहरण काण्ड होते थे, जिनके कारण मांगलिक अवसर पर भी रक्तपात हो जाना सामान्य बात थी। राजपूत सामन्त वीर, दृढव्रती, स्वामिभक्त और सत्यनिष्ठ तो थे, किन्तु उनमें कूटनीति का अभाव था। एक ओर उनमें कर्त्तव्यनिष्ठा तथा शौर्य का अजस्र-प्रवाह था तो दूसरी ओर भोग विलास तथा रंगरेलियाँ मनाने की विलासी मनोवृत्ति थी। समाज के सामान्यजन मनोबलहीन तथा पतनोन्मुख थे। राजागण बहु विवाह को अधिकार समझते थे। उनके अन्तःपुर में रानियाँ तथा रखैलों की भीड़ लगी रहती थी। राजकुमारों को राजनीति, व्याकरण, तर्कशास्त्र, काव्य, नाटक, गणित आदि के साथ साथ कामशास्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी। स्त्री के प्रति समाज में हीन दृष्टिकोण पनप रहा था। उसे केवल 'भोग्या' ही समझा जाने लगा था। युद्धों की पृष्ठभूमि में पलने वाले समाज की आर्थिक दशा भी विपन्न ही थी। व्यवसाय तथा कृषि में अस्थिरता के कारण धन धान्य का उतना प्राचुर्य अब नहीं था। युद्धों के बाद विजेताओं ने निर्मम होकर समाज को लूटा था, जिससे साधारण आदमी के विश्वास हिल गए थे।

धार्मिक परिवेश—इस काल में धर्म के क्षेत्र में भी अराजकता और स्वेच्छाचार का बोलबाला था। वैदिक और पौराणिक धर्म के विकार आने पर जिन जैन और बौद्ध धर्मों ने शुद्धता और श्रेष्ठता का दावा किया था, उनमें भी अनेक बुराइयों ने प्रवेश पा लिया था। आठवीं-नवीं शती में शंकराचार्य के प्रबल प्रहारों ने बौद्ध धर्म को क्षत विक्षत कर दिया था। बौद्ध धर्म अब आध्यात्मिक उच्चता के स्थान पर जन्त्र, मन्त्र, तन्त्र के जाल में बुरी तरह उलझ गया था। बौद्ध धर्म हीनयान, महायान, वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान आदि विचित्र कर्मकाण्ड प्रधान सम्प्रदायों में से विभक्त होकर इस देश में अन्तिम साँसें ले रहा था। अलौकिक शक्तियों और सिद्धियों की प्राप्ति के लिए बौद्धों के ये विभिन्न सम्प्रदाय गुप्त मन्त्रों का जाप, आचारविहीन गुप्त क्रियाएँ, नारी सम्भोग और सुरापान करते थे। चमत्कार-प्रदर्शन द्वारा भोली जनता को धूर्त बौद्ध संन्यासी ठगते थे। धर्म के आवरण में अधर्म पल रहा था।

बौद्धों के अनुकरण पर ही वैष्णव सम्प्रदायों में भी वैसी ही पूजा विधि का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा था। पाँचरात्र, शैव, कालमुख, कापालिक आदि वाम-मार्ग की ओर उन्मुख हो रहे थे। शाक्त-सम्प्रदाय आनन्द भैरवी, त्रिपुरी सुन्दरी को रिझाने में लगा हुआ था। जैन सम्प्रदाय भी इस वाममार्गी उपासना पद्धति से अछूता न रह सका। तात्पर्य यह है कि बौद्ध, जैन तथा वैष्णव सभी सम्प्रदायों ने धर्म के विकृत रूप को अत्यधिक उत्साह के साथ स्वीकारना शुरू कर दिया था। समाज का निम्न वर्ग इन वामाचारियों के चंगुल में अधिक उलझा हुआ था। नाथ योगियों ने भी वज्रयानी बौद्धों की तान्त्रिक उपासना को अपना लिया था। उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप आगे चलकर नाथ सम्प्रदाय में संयम, नियम और आचार की प्रतिष्ठा हुई थी।

प्रादिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त काव्य रूढ़ियों से अछूत साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग, सचेतन कवियों का काल है। यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं।[11]

इससे स्पष्ट है कि अनेक नामों में से यदि अधिक संगत और सर्व स्वीकृत कोई नाम हो सकता है तो वह है 'आदि काल'। इस नाम में अन्य नामों की अपेक्षा कम असंगतियाँ हैं तथा इसके समर्थन में दिए गए तर्क भी अधिक ठोस एवं प्रामाणिक हैं। ऐसी दशा में 'आदि काल' नाम इस युग को दिया जा सकता है तथा इसकी पूर्वापर सीमाएँ 1050 वि० से 1375 वि० ही ठीक दिखाई देती हैं। यद्यपि राहुल जी ने अपभ्रंश से अलगाव लेती भाषाओं का काल 12वीं–13वीं शती माना है, सुनीतिकुमार चटर्जी ने 13वीं–14वीं शती में हिन्दी के दर्शन किए हैं। [illegible] नारायण तिवारी इस काल को 13वीं से 15वीं शती तक बाँधते हैं। इस दिशा [illegible] शुक्ल जी का काल निर्धारण, 1050 वि० से 1375 वि० तक, ही उपयुक्त प्र[illegible] होता है।

आदिकालीन साहित्य युगीन परिवेश

'साहित्य समाज का दर्पण होता है'—इस उक्ति की सार्थकता [illegible] के साहित्य में देखी जा सकती है। आदिकालीन साहित्य का जो रूप, [illegible] आयाम उपलब्ध होता है, वह सब अपने काल की परिस्थितियों [illegible] साहित्य में युग विशेष की धड़कनें, उनकी आशाएँ-आकांक्षाएँ मान्यत[illegible] प्रेरणाएँ, घटनाएँ आदि का अन्त बाह्य स्फोट होती हैं। आदिक[illegible] भी तत्कालिक परिस्थितियों की सफल अभिव्यक्ति है जो उनके स[illegible] राजनीतिक एवं साहित्यिक युगीन परिवेश एवं परिदृश्य के रि[illegible] स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

सामाजिक परिवेश—यह युग भारतीय इतिहास [illegible] धर्मान्धता का युग रहा है। जब धर्म और राजनीति केवल अपन[illegible] हो जाते हैं तब समाज भी विकारों का शिकार हो जाता है। द[illegible] और उससे पूर्व ही भारतीय समाज वर्ग के आधार पर जातियों [illegible] में जकड़न लग गया था। तब व्यक्ति के गुण-कर्म का महत्त्व नहीं [illegible] की उच्चता ही मनुष्य की उच्चता का प्रमाण थी। जातियाँ [illegible] जा रहा था। अनेक उपजातियाँ नित्यप्रति पनप रही थीं। छुआछूत [illegible] समाज का मस्तिष्क विकृत हो रहा था। हिन्दू समाज की पावन शक्ति [illegible] हो चुकी थी। एक बार जो हिन्दू समाज से बहिष्कृत हो गया वह पुन[illegible] धर्म में नहीं आ सकता था। धर्म की तरह समाज भी रूढ़ियों में ग्र[illegible] सामन्तों की वीरता और उच्चता का दम्भ समाज को नष्ट किए जा रह[illegible] राजपूतों में वीरता और बलिदान की परम्परा निर्वाह की होड़ थी। नारि[illegible] आत्म बलिदान और शौर्य प्रदर्शन में पुरुषों से पीछे नहीं थीं। नारियों के विवा[illegible] लिए स्वयंवरों का आयोजन होता था। इन स्वयंवरों के अवसर पर भी वीरता

मे गहड़वाल राजाग्रो के शक्तिशाली राज्य थे। ग्रजमेर के वीसलदेव चौहान ने समस्त उत्तर-पश्चिमी भारत म अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था।

गजनी के तुर्कों को परास्त करके मोहम्मद गौरी ने भारत विजय के सपन देखे। उसने भारत पर कई आक्रमण किए। बार-बार पराजित होकर भी वह भारत-विजय के प्रति लालायित रहा। अजमेर के राजा पृथ्वीराज ने गौरी को एक के बाद एक पराजय दी। किन्तु जब पृथ्वीराज जागरूक न रहा तथा वह राजा परमार्‍ के साथ युद्ध मे उलझ गया और कन्नौज के राजा जयचन्द के कलह का शिकार हो गया, तब मोहम्मद गौरी ने अचानक आक्रमण करके अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर दिया। पृथ्वीराज की पराजय के साथ ही भारत मे विदेशी साम्राज्य की नीव पड गई। गौरी ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। परिणाम यह निकला कि धीरे धीरे मुस्लिम साम्राज्य की पताका समस्त उत्तर भारत म फहराने लगी।

इन समस्त राजनीतिक घटनाओ और परिस्थितिया का मूल्याकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दुओ मे राज्य प्राप्ति और विस्तार की लालसा तो थी किन्तु आपस में लडते रहने के कारण विदेशी आक्रमण के समय एक दूसरे का सहयोग देने की भावना नही थी जिसके कारण वे सभी एक के बाद एक परास्त होते गए और विदेशियो के हाथो अपनी स्वतन्त्रता खो बठे। वे दस पाँच गाँवो मे शासन को ही अपना राष्ट्र समझते थे और केवल उसी सकुचित राष्ट्र के लिए मर मिटने को तयार रहते थे। व्यक्तिगत वीरता होते हुए भी व्यापक राष्ट्रीयता के अभाव मे उन्हे पराजय का मुह देखना पडा था। राजा को सर्वोपरि सत्ता समझना, अन्तकलह, ईर्ष्या, द्वेष आदि इस काल की राजनीतिक विवशताएँ थी।

साहित्यिक परिवेश—यद्यपि यह युग अन्तकलह और बाह्य सघर्षों का था, फिर भी इस युग मे साहित्य अपने सृजन पथ पर आगे बढ रहा था। सस्कृत साहित्य का अपनी परम्परा मे विकास हो रहा था। ज्योतिष, दशन तथा स्मृतिया की टीकाएँ-प्रटीकाएँ लिखी जा रही थी। भवभूति और राजशेखर ने नाटक तथा काव्य के क्षेत्र मे मानदण्ड स्थापित किए थे किन्तु अब पांडित्य-प्रदशन तथा चमत्कार वृत्ति साहित्यकारो का धम बनते जा रहे थे। बारहवी शताब्दी मे लिखे गए श्री हर्ष के 'नषध चरित' मे इसके प्रमाण देखे जा सकते हैं। धारानगरी के राजा भोज ने स्वय 'सरस्वती कण्ठाभरण' तथा 'शृ गार प्रकाश' का सृजन करके अपने पांडित्य और कवित्व का परिचय दिया था। राजा भोज की सभा मे पद्म गुप्त व धनिक जसे विद्वान् रहते थे। इसी काल मे जयदेव, कुन्तक, हेमचन्द्र विश्वनाथ, सोमदेव जसे विद्वान् आचाय और कवि मौजूद थे। कल्हण की राजतरगिनि इसी समय लिखी गई। इस काल मे सस्कृत-साहित्य नए आयामो से सम्पन्न था, किन्तु उनमे पतन के लक्षण भी दिखाई देने लगे थे। धीरे धीरे सस्कृत साहित्य समाज और जीवन से विच्छिन्न होने लग गया था। यह एक सक्रान्ति और बहुमुखी प्रवृत्तियो का काल था। इसी समय नाथो, सिद्धो, जना तथा चारण भाटो ने निवृत्तिमूलक

इसी समय म धम का वितण्डावाद स बचाने के लिए ग्राचार्यों ने उसके दशन-पुष्ट रूप को सामन रखा । शकर, रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने अपने अपने दार्शनिक मतो का प्रतिपादन किया और लाक के निए शिव तथा नारायण की उपासना के द्वार खोल दिए गए । नष्ठिक हिन्दू और जना म वाममाग के प्रति उपेक्षा और अनादर का भाव जागन लगा । चौरासी सिद्धो और नाथो के साहित्य से इन वाममार्गी सम्प्रदायो का विकृति का पर्दाफाश होता है ।

इसी समय आक्रमणकारी इस्लाम धम भी तलवार के जोर पर पनपने लगा था । कुल मिलाकर हम यही कह सकते हैं कि आदिकाल की धार्मिक परिस्थितियाँ किसी भी प्रकार धम स मेल नही खाती थी ।

राजनीतिक परिवेश—भारत का सामान्य इतिहास इस युग की राजनीतिक दुरवस्था, अस्त व्यस्तता तथा विक्षोभ को प्रकट कर देता है । यह युग राजनीतिक पराजय और गृह-कलह का युग था । एक ओर विदेशी आक्रमणो की निरन्तर चलन वाली भीषण आँधियाँ थी, जिनम हम कभी स्थिर न रह सके, तो दूसरी ओर राजाओ और सामन्तो की आपसी फूट देश को खोखला किए जा रही थी । ईसा की सातवी शती मे हर्षवधन की मृत्यु के पश्चात् देश म केन्द्रीय शक्ति का सदा क लिए विलोप हो गया था । उत्तरी भारत म मिहिर भोज ने राज शक्ति के बिखरे सूत्रो को एकत्र करन का प्रयास किया, दक्षिण म राष्ट्रकूट सम्राटो ने इस दायित्व को सम्भालने मे प्राणपण लगा दिए । उधर मध्य एशिया और पश्चिम को रौंदता हुआ इस्लाम का धावा भारत के पश्चिमी द्वार पर दस्तक देन लगा था । अभी वह अफगानिस्तान के आगे बढन म सफल नही हुआ था । इस्लाम के प्रथम आक्रान्ता मोहम्मद बिन कासिम ने जब आठवी शती के प्रारम्भ म सिन्ध पर आक्रमण किया तब ब्राह्मण राजा दाहिर ने घरेलू फूट और कलह के बावजूद घमासान युद्ध किया और अपना उत्सग कर दिया । विजय के मद म मस्त होकर जब अरब सना ने कच्छ, मारवाड, उज्जन और उत्तरी गुजरात पर आक्रमण किया तो चालुक्य सेना ने उसे पूरी तरह ध्वस्त कर दिया । नवी शती तक मुसलमान सिन्ध से आगे भारत मे प्रवेश नही कर सके थे ।

दसवी-ग्यारहवी शती मे उत्तरी भारत म अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गए थे जिनम चेदि, मालवा, गुजरात साभर, गोड आदि प्रसिद्ध थे । काबुल के हिन्दू राजा इस्लाम के निरन्तर आक्रमणो स भयभीत होकर ओहिन्द तक सीमित हो गए । दसवी शताब्दी म गजनी के सुल्तान मुहम्मद गजनवी न इन उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के राज्यो को जीत लिया तथा उसने मथुरा, कन्नौज, ग्वालियर, कालिजर को जीतकर सोमनाथ के मन्दिर की अपार धनराशि लूट ली । दक्षिण का चोलराजा राजेन्द्र इस समय बगाल तक अपने साम्राज्य के विस्तार म लगा रहा, उसने महमूद गजनवी को उखाडने मे अन्य राजाओ को कोई सहयोग नही दिया । ग्यारहवीं बारहवीं शती मे अजमेर म चौहान दिल्ली मे तोमर, कन्नौज

मे गहड़वाल राजाओं के शक्तिशाली राज्य थ। अजमेर के वीसलदेव चौहान ने समस्त उत्तर पश्चिमी भारत मे अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था।

गजनी के तुर्कों को परास्त करके मोहम्मद गौरी ने भारत विजय के सपन देखे। उसने भारत पर कई आक्रमण किए। बार-बार पराजित होकर भी वह भारत-विजय के प्रति लालायित रहा। अजमेर के राजा पृथ्वीराज ने गौरी को एक के बाद एक पराजय दी। किन्तु जब पृथ्वीराज जागरूक न रहा तथा वह राजा परमार के साथ युद्ध मे उलझ गया और कन्नौज के राजा जयचन्द के कलह का शिकार हो गया, तब मोहम्मद गौरी ने अचानक आक्रमण करके अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर दिया। पृथ्वीराज की पराजय के साथ ही भारत मे विदेशी साम्राज्य की नींव पड़ गई। गौरी ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। परिणाम यह निकला कि धीरे धीरे मुस्लिम साम्राज्य की पताका समस्त उत्तर भारत म फहराने लगी।

इन समस्त राजनीतिक घटनाओ और परिस्थितियो का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दुओ मे राज्य-प्राप्ति और विस्तार की लालसा तो थी किन्तु आपस मे लड़ते रहने के कारण विदेशी आक्रमण के समय एक दूसरे को सहयोग देने की भावना नही थी जिसके कारण वे सभी एक के बाद एक परास्त होते गए और विदेशियो के हाथो अपनी स्वतन्त्रता खो बठे। वे दस पाँच गाँवो में शासन को ही अपना राष्ट्र समझते थे और केवल उसी सकुचित राष्ट्र के लिए मर-मिटने को तयार रहते थे। व्यक्तिगत वीरता होते हुए भी व्यापक राष्ट्रीयता के अभाव मे उन्ह पराजय का मुह देखना पडा था। राजा को सर्वोपरि सत्ता समझना, अन्तकलह, ईर्ष्या, द्वेष आदि इस काल की राजनीतिक विवशताएँ थी।

साहित्यिक परिवेश—यद्यपि यह युग अन्तक्लह और वाह्य सघर्षों का था, फिर भी इस युग मे साहित्य अपने सृजन पथ पर आगे बढ रहा था। सस्कृत साहित्य का अपनी परम्परा मे विकास हो रहा था। ज्योतिष, दर्शन तथा स्मृतियो की टीकाएँ-प्रटीकाएँ लिखी जा रही थी। भवभूति और राजशेखर ने नाटक तथा काव्य के क्षेत्र मे मानदण्ड स्थापित किए थे किन्तु अब पांडित्य-प्रदर्शन तथा चमत्कार वृत्ति साहित्यकारो का धर्म बनते जा रहे थे। बारहवी शताब्दी मे लिखे गए श्री हर्ष के 'नैषध चरित' मे इसके प्रमाण देखे जा सकते हैं। धारानगरी के राजा भोज न स्वय 'सरस्वती कण्ठाभरण' तथा 'शृगार-प्रकाश' का सृजन करके अपने पांडित्य और कवित्व का परिचय दिया था। राजा भोज की सभा मे पद्म गुप्त व धनिक जसे विद्वान् रहते थे। इसी काल मे जयदेव, कुन्तक, हेमचन्द्र विश्वनाथ, सोमदेव जसे विद्वान् आचार्य और कवि मौजूद थे। कल्हण की राजतरंगिणि इसी समय लिखी गई। इस काल मे सस्कृत-साहित्य नए आयामो से सम्पन्न था, किन्तु उनम पतन के लक्षण भी दिखाई देने लगे थे। धीरे-धीरे सस्कृत साहित्य समाज और जीवन से विच्छिन्न होने लग गया था। यह एक सक्रान्ति और बहुमुखी प्रवृत्तियों का काल था। इसी समय नाथो, सिद्धो, जैनो तथा चारण भाटो ने निवृत्तिमूलक

श्रौर शृ गार–वीर भाव की रचनाश्रों से साहित्य को समृद्ध करने का श्रीगणेश किया था।

आदिकालीन साहित्य का वर्गीकरण

आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा करने के लिए निम्नलिखित रचनाओं को आधार बनाया जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों को आधार बनाया था, उनमे अपभ्रंश की रचनाएँ भी सम्मिलित थी—

(1) पृथ्वीराज रासो, (2) परमाल रासो या आल्हा खण्ड, (3) विद्यापति पदावली, (4) कीर्तिलता, (5) कीर्तिपताका, (6) सन्देश रासक, (7) पउम चरिउ, (8) भविसयत्त कहा, (9) परमात्मा प्रकाश, (10) बौद्ध गान और दोहा, (11) स्वयभू छन्द, (12) प्राकृत पैंगलम्।

इन रचनाओं से आदिकालीन साहित्य की मुख्य पाँच प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होती हैं—

(1) सिद्ध साहित्य
(2) जैन साहित्य
(3) जन साहित्य
(4) वीर गाथा साहित्य
(5) भक्ति, शृ गार तथा अन्य भाव सम्बन्धी रचनाएँ

सिद्ध साहित्य

वैदिक धर्म के कर्म-काण्ड और बाह्याचारों के विरोध में बौद्ध धर्म का उदय हुआ था। कालान्तर मे स्वय बौद्ध मत उन अनेक बुराइयो और विवादो का शिकार हो गया, जिनके विरुद्ध इसने मोर्चा लिया था। ईसा की प्रथम शताब्दि मे बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो शाखाओं मे बँट गया था। हीनयान बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो के प्रति आस्थावान रहा, जबकि महायान व्यवहार पक्ष को महत्व देने लगा। हीनयान मे केवल विरक्तो और सन्यासियो को ही आश्रय दिया गया और महायान गृहस्थो, सन्यासियो छोटे-बडो सबको मोक्ष दिलाने का दावा करने लगा। बौद्ध धर्म अपनी चरम उन्नति के शिखर से गिरने लगा। गुप्त सम्राटो ने हिन्दू धर्म में अपनी आस्था व्यक्त करके बौद्ध धर्म को धक्का पहुँचाया। रही सही शक्ति को कुमारिल भट्ट और शकराचार्य ने नष्ट कर दिया। यह धर्म भारत से निर्वासित हो गया। इसे तिब्बत, नेपाल और जापान मे ही शरण मिल सकी। शकर के शैव मत से प्रभावित होकर इस धर्म ने जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तन्त्र-मन्त्र और अभिचार का मार्ग अपनाया। कर्मकाण्डो का विरोधी धर्म स्वयं सामाधि, मन्त्र-तन्त्र डाकिनी शाकिनी भैरवी चक्र मद्य मथुन में उलझ गया और सदाचार से हाथ धो बैठा। नास्तिक धर्म ने बुद्ध को भगवान रूप मे पूजा प्रारम्भ कर दी। इस धर्म मे निवृत्ति का स्थान प्रवृत्ति ने ले लिया तथा सयम के स्थान पर सुख प्राप्ति लक्ष्य बन गया। महायान शाखा मन्त्रयान मे बदल गई तथा मन्त्रयान से तथा सहजयान का प्रादुर्भाव हुआ। वज्रयान और सहजयान मे पाण्डित्य

का कोई स्थान नही रहा। डॉ रामकुमार वर्मा का मत है—"बाद मे जब मन्त्रयान मे मद्य और मैथुन का प्रवेश हुआ तो वही वज्रयान मे परिवर्तित होता है। इस प्रकार वज्रयान मे मन्त्रयान के मन्त्र और हठयोग के साथ मद्य और मथुन भी जोड दिए गए और महायान अपने 800 वष के जीवन क्रम म वज्रयान होकर सदाचार से हाथ धो बठा।"[12]

मन्त्रो द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले बौद्ध तान्त्रिक 'सिद्धि' कहलाए। इन बौद्ध तान्त्रिको मे वामाचार चरम सीमा पर पहुँच गया था। श्री पवत सिद्धो का प्रधान केन्द्र था। बग और बिहार इन सिद्धो के प्रभाव क्षेत्र थे। ये सिद्ध नास्तिकता से आस्तिकता की ओर बढ रहे थे। जीवन के सामान्य भोगो की इन्होने उपेक्षा नही की। स्त्री सवन को इन्होने ससार-विष की औषधि बताया।

चौरासी सिद्धो मे से चौदह सिद्धो की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। ये सिद्ध प्राय अशिक्षित और छोटी जातियो के थे। इनकी साधिकाएँ भी कापाली, डोम्बी आदि हीन जातियो की ही थी। वे अपनी सन्ध्या भाषा मे अधकचरे दशन का प्रतिपादन करते थे। उनकी प्रतीकात्मकता गुप्तागो को प्रकट करने का शिष्ट तरीका था। सिद्धो की रचनाएँ अपभ्रश या अद्ध-मागधी म हैं जिसे सन्ध्या भाषा कहना ज्यादा उचित है। सिद्धा मे सबसे प्रसिद्ध सरहपा 'लुईपा' विरूपा, कण्हपा आदि प्रसिद्ध हैं।

सिद्ध साहित्य को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—(1) नीति या आचार सम्बन्धी रचनाएँ, (2) उपदेशपरक रचनाएँ, (3) साधना सम्बन्धी या रहस्यवादी रचनाएँ।

नीति या आचार—

रागदेस मोह लाइऊ छार। परम मोख लवए मुत्तिहार॥

उपदेश—

भाव न होइ अभाव ण जाइ। अइस सबोहे को पति आइ?

साधना—

जेहि वन पवन न सचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि घट चित्त विसाम कर, सरहा कहिय उवेस॥

सिद्ध साहित्य की विशेषताएँ—सिद्ध-साहित्य के अनुशीलन से उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं—

(1) तान्त्रिक साधना मे सिद्धान्त पक्ष के स्थान पर आचरण पक्ष पर अधिक बल दिया गया।
(2) इन सम्प्रदायो मे देवता मन्त्र व तत्त्व निरूपण की शब्दावली भिन्न है किन्तु सबकी साधना पद्धति समान है।
(3) इस साधना पद्धति मे शिव और शक्ति की मिथुनरत्व युगबद्धता की स्वीकृति है। ये गुह्याचारो पर विश्वास करत हैं।

(4) उपनिषदों में ब्रह्मानन्द को सहवास सुख से सौ गुना कहा गया है जबकि सिद्धों ने उसे सहवास सुख के समान बताया है।
(5) इन सम्प्रदायों में योग साधना पर बल दिया गया है। ब्रह्माण्ड में जो शिव और शक्ति है वही शरीर में सहस्रधार कुण्डलिनी है।
(6) इन्होंने ब्राह्मण धर्म तथा वैदिक धर्म का खण्डन किया है।
(7) तन्त्र-मन्त्र के द्वारा ये चमत्कार उत्पन्न करके लोगों को प्रभावित करना चाहते थे।
(8) ये सिद्ध मृत्यु-पर्यन्त मोक्ष प्राप्त करने की अपेक्षा जीवन में सिद्धियाँ प्राप्त करना श्रेयस्कर समझते थे।
(9) इन सम्प्रदायों में जाति पाँति और वर्ण-भेद का विरोध किया गया है।

सिद्ध साहित्य का प्रभाव—

(1) यह हमारी सदियों पुरानी धार्मिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है।
(2) कृष्ण साहित्य की गोपी लीलाओं और अभिसार में सिद्ध साहित्य की साधना के दर्शन होते हैं।
(3) सिद्धों की वाणी ने भाषा सम्बन्धी नेतृत्व प्रदान किया। यही सन्ध्या भाषा नाथों की वाणी से पुष्ट होकर कबीर की उलट बाँसियों में प्रवाहित होती हुई नानक, दादू व मलूकदास में संतवाणी के रूप में विकसित हुई। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट घोषणा की है—"जो जनता नरेशों की स्वेच्छाचारिता, पराजय या पतन से त्रस्त होकर निराशावाद के गर्त में गिरी हुई थी, उसके लिए इन सिद्धों की वाणी ने संजीवनी का कार्य किया।"[13]
(4) सिद्ध-साहित्य का प्रभाव भावी साहित्य पर गहरे रूप में पड़ा है। इनके चर्यागीत, जो विविध रागों में लिखे गए थे, आगे चलकर जयदेव विद्यापति और सूरदास के गीति काव्यों को पूर्णता प्रदान करने के आधार बन हैं।
(5) इनके दोहा, चौपाई आदि छन्द इतने लोकप्रिय हुए कि जायसी और तुलसी ने अपने महाकाव्यों की रचना इन्हीं छन्दों में की। कबीर ने दोहों में ही अपनी अटपटी वाणी को प्रकट किया।
(6) संत-साहित्य का बीज इसी सिद्ध-साहित्य में निहित है।

नाथ-साहित्य और उसकी विशेषताएँ—नाथ सम्प्रदाय का विकास बौद्धों की वज्रयान-सहजयान शाखा से ही हुआ है। स्वयं गोरखनाथ का चौरासी सिद्धों में गोरक्षपा नाम से स्थान दिया गया है। सिद्धों की परम्परा से हटकर गोरखनाथ ने अपने स्वतन्त्र नाथ पंथ का प्रचार प्रसार किया। वज्रयान की अश्लीलता तथा वीभत्स विधानों से दूर रहने वाले हिन्दू योगियों ने नाथ पंथ का प्रवर्तन किया। नाथ पंथ शैवमत का पोषक है। यह पंथ सिद्धों और संतों के बीच की कड़ी है। के मार्ग पर तो ये लोग चले नहीं किन्तु उसमें पर्याप्त संशोधन करके नाथों ने

अपनाया जिससे संतों के लिए राजमार्ग तैयार हो गया। नाथ सम्प्रदाय पर कौल सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है, कौलों की अष्टांग योग पद्धति को नाथों ने विशेष महत्त्व दिया है। किन्तु उनकी अभिचार पद्धति के ये विरोधी रहे हैं। सिद्धों का प्रभाव भारत के पूर्वी भाग पर था किन्तु नाथों का प्रभाव क्षेत्र भारत का पश्चिमी भाग—राजस्थान, पंजाब रहा है।

नाथ पंथ के अनुयायी सैद्धान्तिक रूप से शैवमत के अनुयायी थे और व्यवहार में हठयोग से प्रभावित। इनकी ईश्वर सम्बन्धी भावना शून्यवाद में है जो वज्रयान से ली गई है। कबीर इसी शून्य को सहज सुन्न-सहस्रदल आदि नामों से पुकारते हैं। नाथों ने निवृत्ति पर अधिक बल दिया था। वैराग्य को ही ये मुक्ति का साधन मानते थे। वैराग्य गुरु द्वारा ही प्राप्त होता है। अतः इस सम्प्रदाय में गुरु का बहुत महत्त्व है। इनके आध्यात्मिक संकेत रहस्यात्मक शैली में हैं। उलट बाँसिया, प्रतीकों और रूपकों से नाथों ने अपने रहस्य संकेत दिए हैं जिन्हें समझना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है। इन्द्रिय निग्रह की साधना के लिए गोरखनाथ तथा अन्य नाथों ने नारी से दूर रहने का उपदेश दिया है। कबीर का नारी निन्दा प्रकरण इन्हीं नाथों के प्रभाव की देन है। इन्द्रिय निग्रह से आगे प्राण साधना और उससे भी आगे मन साधना इनका लक्ष्य था। बाह्य जगत् से खींचकर मन को अन्तजगत् की ओर प्रवृत्त करना ही मन सधाना है। इसके लिए नाथों ने कुछ साधन बताए हैं जैसे—नाड़ी-साधन, कुण्डलिनी, इगला, पिंगला और सुषम्ना को जगाना, षटचक्र, सुरत योग, अनहद नाद आदि। शिव और शक्ति को मूल तत्त्व मानकर नाथों ने बाह्याचारों व आडम्बरों का खण्डन किया है।

जिस प्रकार चौरासी सिद्ध प्रसिद्ध है उसी प्रकार नौ नाथ प्रसिद्ध है जिनमें आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिणीनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, भरतृहरिनाथ, गोपीचन्दनाथ आदि प्रसिद्ध है। आज भी कनफटा जोगी हमें देखने को मिलते हैं, वे गोरखनाथ की वाणी का बयान करते हैं और अपने आपको उन्हीं का शिष्य मानते हैं।

नाथ साहित्य का प्रभाव

(1) *नाथ सम्प्रदाय ने भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल आचरण करके आज* तक जन जीवन में अपना स्थान बना रखा है।

(2) नास्तिक बौद्ध धर्म के अवशेषों पर ईश्वरवाद की आस्था का प्रचार करने से आने वाले सभी सम्प्रदायों पर इनका प्रभाव है।

(3) विकृत और अनाचारी जीवन के प्रति वितृष्णा का भाव भरकर नाथों ने जीवन में सदाचार की प्रतिष्ठा की है।

(4) आचार्य हजारी प्रसाद जी के अनुसार—"इसने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। जिन सन्त साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है उन्हें बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी।"[14]

(5) नीरस और रूखा होने पर भी अपने रूढ़ स्वर से समस्त उत्तर भारत के वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में सहायक हुआ।

जैन साहित्य और उसकी विशेषताएँ—भगवान बुद्ध ने जिस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया था उसी प्रकार भगवान महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन का प्रचार प्रसार किया था। जैन धर्म हिन्दू धर्म के अधिक समीप है। जैन धर्म के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व तो है किन्तु वह सृष्टि का नियामक नहीं है। मनुष्य अपने कर्मों से ही साधना द्वारा स्वयं परमात्मा बन सकता है। इस धर्म ने जीवन के प्रति आस्था और दृढ़ता का भाव जगाया। अहिंसा, करुणा, दया, त्याग, तपस्या का प्रचार प्रसार किया। उपवास व्रत तथा कृच्छ साधना पर अधिक बल दिया गया है। कर्मकाण्ड से परे, जाति वर्ण भेद से परे सबको मुक्ति का अधिकार प्राप्त करने का संदेश जैन धर्म देता है। यों तो उत्तर भारत में जैन धर्म के अनुयायी अवश्य हैं किन्तु आठवीं से तेरहवीं शती तक गुजरात में जैन धर्म का व्यापक प्रभाव था। जैन मुनियों ने अपभ्रंश में अपनी रचनाएँ लिखी थीं जो अधिकतर धार्मिक हैं। अहिंसा, कष्ट सहिष्णुता, विरक्ति और सदाचार इनका कथ्य है। कुछ गृहस्थ जैन कवियों ने व्याकरण आदि ग्रन्थों की रचना की जिनमें साहित्यिक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। हिन्दू पुराणों और महाकाव्यों के नायक राम-कृष्ण को अपने सिद्धान्तों के अनुरूप बनाकर इन जैन कवियों ने प्रस्तुत किया है। लोक प्रचलित विश्वासों और आख्यानों को भी जैन धर्म के रंग में रंगकर इन कवियों ने प्रस्तुत किया है। ये जैन कवि सामान्यतः उच्च वर्ग के थे, अतः इनमें किसी वर्ग के प्रति कटुता का भाव नहीं है। जैन कवियों में स्वयंभू बहुत प्रसिद्ध हैं जिन्होंने पउम चरिउ (पद्म चरित्र) यानी राम कथा का सृजन किया। पुष्पदन्त ने नागकुमार चरित्र तथा यशोधर चरित्र की रचना की। धनपाल ने भविसयत्त कथा, रामसिंह ने पाहुड़ दोहा, हेमचन्द्र सूरि ने सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन आदि ग्रन्थों की रचना करके आदिकाल की साहित्य सम्पन्नता में वृद्धि की।

वीरगाथात्मक साहित्य और उसकी विशेषताएँ—यह काल भारतीय इतिहास में युद्ध और अशान्ति का काल था। राजनीतिक दृष्टि से पतनोन्मुख सामाजिक रूप से दीन हीन तथा धार्मिक दृष्टि से अवनति का काल था। सिद्ध नाथ और जैन कवियों की धार्मिक आध्यात्मिक रचनाओं के साथ राजस्थान में चारण कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की वीरता का गुणगान करने के लिए वीरगाथाओं की रचना की। यह समय भी ऐसा था जिसमें वीरगाथाएँ ही जन रुचि तथा देश की पृष्ठभूमि के अनुकूल प्रश्रय पा सकती थीं। ये वीरगाथाएँ फुटकल और प्रबन्ध दोनों रूपों में उपलब्ध होती हैं। यूरोप में भी वीरगाथाओं का विषय 'युद्ध और प्रेम' रहा है। भारत में भी इन गाथाओं का कथ्य शृंगार और वीर रस का उत्कर्ष ही रहा है। किसी राजकन्या के सौंदर्य का समाचार पाकर ससैन्य आक्रमण द्वारा सुंदरी का अपहरण करना, रक्तपात करना और फिर विजित वस्तु की तरह सौंदर्य का उपभोग करना। शृंगार के लिए वीर भाव की सृष्टि इन

काव्या मे है। एक ग्रोर विदेशी ग्राक्रमणो के कारण राजनीतिक युद्ध होते थे तो दूसरी ग्रार प्रेम शृगार के लिए कल्पित गाथाएँ भी इस काल के कवि गढते रहते थे।

ये वीर गाथाएँ दा रूपो म मिलती हैं प्रब ध रूप मे ग्रौर वीर गीता के रूप मे। खुमान रासो (दलपित विजयकृत), पृथ्वीराज रासो (चन्दवरदाईकृत), हम्मीर रासो (शारगधर कृत), जयचन्द्र प्रकाश (भट्ट केदार कृत), जयमयक जस चद्रिका (मधुकर कविकृत), आदि प्रब ध रूप म हैं तथा ग्राल्हाखण्ड या परमाल रासो (जगनिककृत), बीसलदेव रासो(नरपति नाल्हा कृत)वीर गीतो से मुक्त मुक्तक रूप म है।

ग्रादिकाल की प्रमुख विशेषताएँ

आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल को वीरगाथा काल के नाम स अभिहित किया ह। इस काल मे वीरगाथात्मक रचनाआ का इतना प्राचुय एव प्रभाव था कि ये काव्य जन मानस म सम्मान के साथ प्रतिष्ठित हो गए। इस काल की वीर-गाथाओ का अध्ययन करने से कतिपय सामा य गुणो के सकेत मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(1) प्रामाणिकता सदिग्ध—वीरगाथात्मक जितनी भी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे सदिग्ध हैं। उनके रचनाकार और समस्त रचना की प्रामाणिकता पर सन्देह के प्रश्न चिह्न उभर हुए हैं। हम्मीर रासो (शांगधर कृत) को अपभ्र श की रचनाओ म स्थान दिया जाता है तो भी पृथ्वीराज रासा, खुमान रासो, बीसलदेव रासो तथा परमाल रासो—य चार रचनाएँ वीरग थाआ स युक्त मिलती हैं। इन चारो काव्या की भाषा, शली तथा विषय वस्तु की छानबीन करने से ज्ञात होता है कि इनम शताब्दियो तक परिवतन और परिवद्धन होता रहा है। ये प्रब ध किसी एक कवि के नही अपितु अनेक कवियो द्वारा अनेक पीढिया मे पूरे किए गए हैं। इनम इतना परिवतन हुग्रा कि सारे काव्य ही क्षेपक दिखाई देत है। इसका रचना काल भी सदिग्ध है। खुमान रासा मे सोलहवी शती तक की सामग्री का उपयोग किया गया है। परमाल मे तो 18वी शती तक की भाषा का प्रयोग है और पृथ्वीराज रासो मे तो इतनी अधिक मिलावट है कि स्वय शुक्ल जी ने उस जाली और ग्रप्रामाणिक कह दिया था। इसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता को लेकर विद्वानो के दो दल हो गए ह। दोना ही दल इस काव्य की सामग्री के आधार पर सशक्त तर्कों द्वारा इसे प्रामाणिक या ग्रप्रामाणिक सिद्ध करते हैं। तात्पय यह है कि ये वीर-गाथात्मक रचनाएँ प्रामाणिकता की दृष्टि से स दिग्ध हैं।

(2) इतिहास विरुद्ध—इन काव्यो मे जिन ऐतिहासिक घटनाग्रो और महा-पुरुषो का चित्रण किया गया है, उनका वणन इतिहास ग्रन्थो से मेल नहीं खाता है। इन काव्यो मे जो सन, सवत् या तिथियाँ दी गई हैं, वे भी इतिहासो मे उपलब्ध तिथिया से भिन्न हैं। इतिहास के नामो का मनमाना प्रयोग करके इन काव्यो की

सच्चाई और ऐतिहासिकता पर अनेक प्रश्न खड़े कर दिए हैं। ऐतिहासिक ।।।
को कथ्य बनाते समय जिस सावधानी और एतिहासिक दृष्टि की अपेक्षा होती
वह इन कवियों को प्राप्त नहीं थी। समस्त कथानक और विवरण अतिशयोक्ति
म हैं। लोक-स्वीकृत विश्वासा पर भी इन कविया ने आघात किया है।
आश्रयदाताओ की प्रशसा इतनी अधिक की है कि वे अविश्वसनीय अथवा
दिखाई देते हैं। कई स्थाना पर तो ये लौकिक आश्रयदाता राम कृष्ण, अर्जु
भीम से भी अधिक वीर और गुणवान रूप म प्रस्तुत किए गए है। इतिहास को
कवियों ने नगण्य समझा। इतना ही नहीं, ऐतिहासिक काल क्रम तक को छिन्
दिया। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज द्वारा उन राजाओ को जीतने का वर्णन क
जो उससे पूर्व हो चुके थे अथवा जो उसके बाद म हुए, हास्यास्पद लगता है
आदर्शवादिता के चक्कर मे पडे तथा इतिहास ज्ञान से शून्य कवियो ने इन
की ऐतिहासिकता को छिन्न भिन्न कर दिया।

(3) **वीर और शृगार का उत्कर्ष**—इन सभी वीरगाथाओ म
के साथ-साथ शृगार रस का भी पूर्ण उद्रेक हुआ है। वीर रस तो इन कवियो
मुख्य लक्ष्य ही था किन्तु शृगार के साहचर्य मे उसका रूप भी ओजपूर्ण हो ग
है। वातावरण भी वीर रस के अनुकूल ही था। चारो ओर युद्धो की विभीषि
थी। सर्वत्र युद्धोत्साह मे सजे वीरो की स्तुतिया करने म कविगण व्यस्त थ
राज्य प्राप्ति और विस्तार के लिए भी युद्ध किए गए किन्तु नारी के कारण भी
काल के राजाओ ने बहुत से युद्ध किए। नारी की पायल के साथ वीरो की
भी झनकार करती रहीं। नारी के सौन्दर्य का चित्रण, नख शिख और विलास
वासना के अनेक चित्र इन कविया ने मासल दृष्टि स प्रस्तुत किए है। इनमे प्रेम
सूक्ष्म-अशरीरी सौन्दर्य कहीं भी नहीं है। नारी के रूप के लोभ म उसे
करके भोगने की चाह इस शृगार-काव्य म उपलब्ध है। वीर और शृगार
विरोधी रसों को अपनी प्रतिभा से इन काव्यो म सम्मिश्रित करके इन कवियो
अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। दोनो भावो के उत्कर्ष के
प्रस्तुत हैं—

वीर रस—

> बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहो दिस।
> सकल सूर सामन्त समरि बल जत्र मन्त्र तिस ॥
> उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
> कढत तेग मनवेग लगत मनो बीजु भट्ट घट ॥
> थकि रहे कौतिक गगन रगन मगन भइ श्रोन धर।
> हरि हरिष वीर जग्गे हुलसि हुरेउ रग नव रत्त वर ॥

शृगार रस—

> मनहु कला ससभान कला सालभ सो बिन्निय।
> बाल वैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय ॥

विगसि कमलस्रिग, भमर, वेनु, खजन मृग लुट्टिय ।
हीर, कीर, अरु बिंब मोति नखसिख अहिघुट्टिय ॥

(4) युद्धो का उत्साहवर्द्धक चित्रण—इन वीरगाथात्मक रचनाम्रो मे युद्धो का अत्यन्त सजीव भ्रौर फडकाने वाला चित्रण किया गया है । युद्ध-कौशल भ्रौर युद्ध के दृश्यो के चित्रण मे ये काव्य इतने सम्पूर्ण हैं कि इस क्षेत्र मे इनकी बराबरी करने वाले अन्य काव्य दिखाई ही नही देते । युद्धो की विभीषिका, शस्त्र-झकार, वीरो का उत्साह, गति त्वरा, भ्रोज, रक्तपात तथा कौशल का ऐसा बिम्बग्राही चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है । इसका कारण यह है कि इन काव्यो के रचयिता प्राय चारण कवि थे । ये चारण कवि केवल कलम के सिपाही ही नही थे, अपितु तलवार के भी धनी थे । वे अपने आश्रयदाता राजाम्रो की प्रशसा करने मे सिद्धहस्त थे तो वीर-काव्य के द्वारा उन्हे युद्ध-धर्म के निर्वाह की प्रेरणा भी देते थे और स्वय भी तलवार हाथ मे लेकर युद्ध-क्षेत्र मे वीरता का प्रदर्शन करते थे । इस प्रकार उनकी वीर भावनाएँ अनुभूत सत्य बनकर काव्यो में उतरी हैं जिससे वे भ्रधिक वास्तविक, विश्वसनीय भ्रौर प्रभावकारी हो गई हैं । भ्राचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं— लडने वालो की सख्या कम थी, क्योकि लडाई भी जाति विशेष का पेशा मान ली गई थी । देश रक्षा या धर्म के लिए समूची जनता के सनद्ध हो जाने का विचार ही नही उठता था । लोग क्रमश जातियो उपजातियो, सम्प्रदायो भ्रौर उपसम्प्रदायो मे विभक्त होते जा रहे थे । लडने वाली जाति के लिए सचमुच चन से रहना भ्रसम्भव हो गया था क्योकि उत्तर पूर्व, दक्षिण पश्चिम सब ओर से भ्राक्रमण की सम्भावना थी । निरन्तर प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग भ्रावश्यक हो गया था । चारण इसी श्रेणी के लोग हैं । उनका कर्म ही था हर प्रसग मे आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना योजना का भ्राविष्कार ।'[15] फिर ये लोग तो उस समय स्वय भी युद्ध मे भाग लेते थे अत इनके द्वारा रचे गए इन काव्यो मे युद्धो का सजीव चित्रण उपलब्ध होता है । युद्धोत्साह का यह सजीव नमूना दृश्य देखते ही बनता है—

बारह बरस लौं कूकर जीयें, औ तेरह लौं जिये सियार ।
बरिस भ्रठारह छत्री जीयें, भ्रागे जीवन को धिक्कार ॥

(5) सकुचित राष्ट्रीयता—वीरगाथाम्रो के रचयिता चारण कवि थे । इन्होने भ्रपने भ्राश्रयदाता की भ्रतिरजनापूर्ण प्रशसा की है । भ्रपने भ्राश्रयदाता की प्रशसा मे इन्होने उचित भ्रनुचित का विचार भी नहीं किया । छोटे-छोटे राजाम्रो सामन्तों भ्रौर भ्रनधिकारी व्यक्तियो को भी इन्होने सूर्य के समान प्रतापी चित्रित किया है । इतिहास म जिस जयचन्द को देशद्रोही कहा जाता है, मधुकर कवि तथ भट्ट केदार जसे कवियो ने उसकी प्रशसा मे जमीन भ्रासमान एक कर दिया था । उस समय 'राष्ट्र' शब्द अत्यन्त सीमित भ्रौर सकुचित भ्रर्थ में प्रयुक्त होता था । दस-पाच गाँवो का समूह ही इनके लिए राष्ट्र भ्रौर भ्राश्रयदाता ही राष्ट्रपुरुष था । दिल्ली, भ्रजमेर कन्नोज कालिजर भिन्न भिन्न राष्ट्र थे भ्रौर ये कवि इन राजाम्रो को एक

दूसरे से युद्ध करने के लिए भडकाते थे। यह देश का दुर्भाग्य ही था कि राष्ट्र इतने सकुचित अर्थों मे ग्रहण किया गया। यही कारण था कि जब कोई विदेशी आक्रान्ता एक राजा पर आक्रमण करता तो दूसरा यह जानकर शान्त बैठा रहता कि मेरा राष्ट्र तो सुरक्षित है। यह स्वय भी पडोसी राजा की पराजय पर प्रसन्नता का अनुभव करता था। परिणामस्वरूप विदेशियो ने एक के बाद एक राज्य हस्तगत कर लिया। इस काल के सभी वीरकाव्य इसी प्रकार की सकुचित राष्ट्रीयता का बोध कराने वाले है।

(6) जनता से अलग थलग—इन गाथाओ मे सामन्तो, राजाओ, रनिवासो और उनके आचार-व्यवहार, ऐश्वर्य-वैभव का चित्रण है। सामान्य मनुष्य को कोई महत्त्व नही दिया गया है। अत इनमे तत्कालीन समाज की वस्तुस्थिति का लेखा जोखा नही है। राजाओ और सामन्तो को समाज का मुखिया तो माना जा सकता है किन्तु उनके तौर तरीको से आम जनता के जीवन स्तर और व्यवहार को नही आँका जा सकता। इन काव्यो मे जन जीवन के विशद चित्र उपलब्ध नही होते। ये तो 'स्वामिन सुखाय' की लक्ष्य सिद्धि के लिए लिखे गये थे।

(7) प्रकृति-चित्रण—चारण कवियो ने युद्धो के अवसर पर, सेनाओ के प्रयाण पथो पर तथा नारी के शृंगारी-सकेत स्थलो पर प्रकृति को निकटता से देखा था। अत इन कवियो ने प्रकृति के आलम्बनगत तथा उद्दीपनगत चित्र बडी कुछ व्यापक पृष्ठभूमि पर अकित किए हैं। नगर नदी वन पर्वत, उद्यान आदि के चित्र बहुत सुन्दर बन पडे है। यद्यपि इन प्रकृति चित्रणो मे बधी बधाई परिपाटी का अनुसरण किया गया है, फिर भी वे विशद है। उनमे स्वतन्त्र प्रकृति के प्रति मानसिक अनुराग का अभाव खटकता है। कही कही तो प्रकृति चित्रण के नाम पर प्राकृतिक पदार्थों की सूची मात्र दे दी गई है, जिससे उसमे इतिवृत्तात्मक नीरसता आ गई है।

(8) काव्य-रूप—ये वीरगाथाएँ प्राय प्रबन्ध और मुक्तक, दोनो काव्य रूपो मे उपलब्ध हैं। प्रबन्ध काव्य का श्रेष्ठ उदाहरण चन्दवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो है तथा मुक्तक काव्य की मधुरता से वलयित बीसलदेव रासो है। काव्य रूपो मे विविधता का अभाव है। दृश्य-काव्य तथा गद्य-काव्य का उस काल मे सर्वथा अभाव दिखाई देता है। परमाल रासो मे वीरगीत हैं जो मुक्तक काव्य के ही अन्तर्गत आते हैं। युद्धो तथा राजाओ के विवाहो के कारण नित्यप्रति घटनाएँ इन्ही घरो मे घिरी हुई थीं। अत केवल प्रबन्ध या मुक्तक काव्य रूपो का निर्वाह शायद उनकी विवशता थी।

(9) छन्दो का वैविध्य—इस काल मे वीरगाथा काव्यो मे छन्दो का विविधमुखी प्रयोग किया गया था। एक प्रकार से यह काल छन्द-क्रान्ति का काल था जिसमे अनेक छन्दो का प्रौढ प्रयोग किया गया और उन्हे भाव प्रकाशन की सामर्थ्य शक्ति प्रदान की गई। सिद्धो, नाथो तथा जैन कवियो ने काव्य मे प्रयुक्त

सभी छन्दो के अलावा कुछ ऐसे छन्दा का विशेष प्रयोग किया गया जो वीर रस की अभिव्यक्ति म सर्वाधिक सहायक प्रमाणित हुए और आगे के कालो मे भी जिह वीर रम के लिए सुरक्षित कर दिया गया। दोहा, सोरठा, तोटक, तोमर, गाथा, गाहा, पद्धरि आर्या, रोला, उल्लाला, कुण्डलिया आदि अनक छन्दा के उचित प्रयोग से इन काव्यो ने छदो के क्षेत्र मे नेतृत्व किया है। छ दो के प्रयोग के पीछे केशव की भाँति चमत्कार या पाण्डित्य प्रदशन की लालमा नही है, अपितु भाव-द्योतन म सहयोग की पराकाष्ठा है। इस सम्ब ध मे आचाय हजारी प्रसाद जी का मत द्रष्टव्य है—"रासो के छ द जब बदलते है तो श्रोता के चित्त मे प्रसगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करत है।"

(10) रासो ग्रथो का सृजन—आदिकाल म 'रासो' नामक ग्रन्था की रचना पर्याप्त मात्रा म हुई। अनेक ग्रन्थो के नाम के अन्त मे 'रासो' शब्द जुडा हुआ है। जसे—पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, परमाल रासो, हम्मीर रासा, खुमान रासो आदि। इस रासो शब्द की व्युत्पत्ति के बारे मे भी विभिन्न मत प्रतिपादित किए गए हैं।

फ्रांसीसी विद्वान् तासी ने रासो' शब्द का सम्बन्ध राजसूय शब्द से लगाया है जबकि इस काल मे राजसूय का उल्लेख तक किसी काव्य मे नही है। कुछ विद्वान् इस शब्द को 'रासक' शब्द से बना हुआ बतात हैं जो मूल रूप मे 'रासक' छन्द का ही रूपान्तर है। स देश रासक' इसका प्रमाण है। 'रासक' शब्द के ध्वनि, क्रीडा, गजन, विलास आदि अनक अथ होते है। आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'रायण शब्द से स्वीकार की ह जा कालान्तर म विकृत होकर रासो हो गया। कुछ लोग इसे 'रहस्य' शब्द से निर्मित मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इस शब्द का अथ राजस्थानी और ब्रजभाषा के रासो' शब्द से जोडकर करते हैं जिसका अथ लडाई झगडा होता है। कि तु इन 'रासो' ग्रथो मे युद्धा के समकक्ष ही प्रेम शृ गार का भी चित्रण किया गया है अत यह विचार भी उचित प्रतीत नही होता।

नरोत्तम स्वामी रासो' शब्द की व्युत्पत्ति 'रसिक' शब्द से मानते हैं। रसिक से रासउ, रासो शब्द बने हैं। राजस्थानी मे ये कथा काव्य के अथ मे प्रचलित हैं। आचाय चन्द्रावली पाण्डेय इस शब्द को सस्कृत के 'रासक' शब्द की देन मानते हैं। सस्कृत साहित्य मे रासक की गणना रूपक या उपरूपक मे हुई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'रासक' नामक छ द तथा काव्य भेद के आधार पर 'रासक' शब्द से 'रासो' की व्युत्पत्ति मानते हैं।

'सन्देस रासक' के अनुसार डॉ शिव कुमार शर्मा इस शब्द को तत्कालीन 29 मात्रा के एक छद 'रासक' से ही इसकी व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं। ये रासो ग्रन्थ 'रासक छन्द' प्रधान काव्य हैं इसलिए इन्हे रासो कहा गया है। आगे चलकर ये रासक छन्द गायन प्रधान हो गए और रास-काव्य के आधार बने। इनमे वीर और शृ गार भाव की गाथाएँ गाई जाने लगी। अपभ्र श के आचार्यों ने रास

काव्यो का उल्लेख किया है जिनमे कोमल और पुरुष भावो की अभिव्यक्ति हुई है। जिणदत्त सूरि ने तो 'उपदेश रसायन रास' जसे धम प्रधान काव्य की रचना करे रास' शब्द को व्यापक आयाम प्रदान किए हैं।

इन मतो से अलग एक मत यह हो सकता है कि 'रासो' शब्द राजस्थान म प्रचलित 'रासो' शब्द का ही प्रयोग है जिसका अथ बात, घटना या कथा होता है। राजस्थान म प्राय घटनाओ के कुतूहलपूण स्मरण मे सभी कहते है—'यो कां रासो छ' अर्थात् यह क्या बात है, या क्या कथा ह या क्या काण्ड है। यह मत अधिक उपयुक्त और समीचीन है क्योकि इन रासो ग्रन्थो का प्रणयन राजस्थानी परम्परा के भाता चारण कवियो ने ही अधिक किया ह। साथ ही ये सभी ग्रन्थ कथा काव्य भी है जो राजस्थानी भाषा मे प्रचलित 'रासो' शब्द के अथ से मल खाते है।

(11) डिंगल और पिंगल—इन काव्यो की एक बडी विशेषता यह भी रही है कि इनमे डिंगल भाषा तथा पिंगल भाषा का प्रयोग किया गया है। डिंगल तत्कालीन राजस्थानी भाषा का ही नाम है। डिंगल भाषा वीरता, ओज, पौरुष तथा तेजस्विता की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा थी इसीलिए राजस्थान के चारण कवियो ने कथ्य और भाव के अनुरूप डिंगल भाषा का प्रयोग किया। उस समय राजस्थानी भाषा के लिए डिंगल तथा अपभ्रंश या मिश्रित ब्रजभाषा के लिए पिंगल शब्द का प्रयोग होता था। डिंगल भाषा की यह परम्परा आगे पृथ्वीराज दुरसा, वांकीदास, सूयमल्ल मिश्रण, नारायणसिंह भाटी तक चल रही है। डिंगल भाषा वीर रस के प्रकाशन के लिए अद्वितीय है। अतिरंजनापूर्ण शब्द चयन तथा अलकार योजना के कारण इस भाषा के बोध से इतिहास दब सा गया है। फिर भी डिंगल-भाषा म राजस्थानी सस्कृति, परम्परा तथा मान मर्यादा आज तक सुरक्षित है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर डिंगल के भाव सौंदय से अभिभूत होकर एक स्थान पर लिखत हैं—"राजपूताने के कवियो ने जीवन की कठोर वास्तविकताओ का स्वय सामना करते हुए युद्ध के नक्कारो की ध्वनि के साथ स्वाभाविक काव्य गान किया। उन्होंने अपने सामने साक्षात शिव के ताण्डव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा था। मगर कोई कल्पना के द्वारा उस कोटि के काव्य की कल्पना कर सकता है? राजस्थानी भाषा के प्रत्येक दोहे म जो वीरत्व की भावना और उमग है वह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवष के गौरव का विषय है।

यह डिंगल भाषा अपभ्रंश के विकास का अगला चरण है। डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध म भी विद्वानो ने भिन्न भिन्न मत दिए। डा टसिटरी पिंगल शब्द के आधार पर बने डिंगल शब्द का अर्थ गवारू अथ से जोडते हैं। श्री हर प्रसाद शास्त्री इस प्रारम्भिक भाषा डिगल स जोडते है। बाद म पिंगल से तुक मिलने हेतु यह डिंगल म बदल गया। गजराज ओझा इस भाषा म प्राप्त डकार' वर्णो की बहुलता के कारण इस भाषा को डिंगल' नाम देन का विचार व्यक्त करते हैं। पुरुषोत्तम स्वामी डिंगल शब्द को 'डिम्+गल शब्दो स बना हुआ

मानते हैं। डम का अर्थ है डमरू और गल का अर्थ है गला हुआ अर्थात् डमरू बजाने वाले साक्षात् शिव की वाणी है। डिंगल की व्युत्पत्ति डिम्+गल भी की जाती है जिसका अर्थ है बालक की भाषा। श्यामसुन्दर दास तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी डिंगल शब्द को अर्थहीन और पिंगल के अनुकरण पर बना हुआ शब्द मानते है। मोतीलाल मेनारिया इसे 'डावल' यानी डींग (दर्पोक्ति) से सम्बन्धित मानते हैं। इन सब विभिन्न मतों से स्पष्ट होता है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति के बारे मे कोई निश्चित मत व्यक्त नही किया जा सकता। डिंगल राजस्थानी भाषा मे ही समरूप होकर सम्बद्ध है। यह राजस्थान के चारण-कवियो की विशेषता से युक्त भाषा है।

इसी प्रकार 'पिंगल' शब्द के बारे मे भी विद्वान् एकमत नही हैं। श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पिंगल को एक भाषा मानते है जो उस काल की बोलियो मे नियमबद्ध तथा परिमार्जित थी। डॉ राजकुमार वर्मा भी ब्रजभाषा का प्रारम्भिक नाम 'पिंगल' ही मानते हैं। मुन्शी देवी प्रसाद डिंगल का ऊँची और पिंगल को पगु लूली-लगडी भाषा के अर्थ मे स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वान् पिंगल को वीरगाथा काल की साहित्यिक भाषा मानते है जिसका मौलिक छन्दशास्त्र भी था। सस्कृत मे पिंगल छन्दशास्त्र भी था। डिंगल का कोई छन्दशास्त्र नही था। सस्कृत मे पिंगल छन्दशास्त्र को कहते है। जिस प्रकार डिंगल राजस्थान की शैली विशेष है, उसी प्रकार पिंगल ब्रजभाषा की ही एक विशेष शैली मात्र है। इस काल मे डिंगल और पिंगल भाषा शैलिया प्रचलित थी।

रासो काव्य परम्परा और पृथ्वीराज रासो का स्थान

साहित्य का निर्माण परम्परागत ही होता है। कोई भी कवि किसी न किसी परम्परा का सहारा लेकर काव्य रचना मे प्रवृत्त होता है। हिन्दी साहित्य मे प्रत्येक युग किसी न किसी परम्परा का सहारा लेकर निर्मित हुआ है। रासो काव्य-परम्परा भी इसका अपवाद नही है। रासो की परम्पराएँ हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल से प्रारम्भ हुई और निरन्तर निर्बाध रूप से विकसित होती रही। इस परम्परा के बीच-बीच मे कतिपय परिवर्तन भी हुए किन्तु वे परिवर्तन ऐसे नही थे, जिन्हे मौलिक और विशिष्ट परिवर्तन कहा जा सके।

हिन्दी परम्परा के आदि कवि—कवि चन्द वरदाई का जन्म हिन्दी साहित्य मे एक अभूतपूर्व घटना है। उनके आविर्भाव का समय न केवल सघर्षमय था, बल्कि भारी उथल पुथल और परिवर्तनो का भी समय था। चन्दवरदाई हिन्दी की परम्परा के आदि कवि और अपभ्रंश परम्परा के अन्तिम कवि थे। रासो का विकास अपभ्रंश परम्परा मे हुआ और उसकी परम्परा आधुनिक युग तक बराबर चली आ रही हैं। हिन्दी का जो रासो परम्परा प्राप्त हुई, वह गुजराती से आई है। रासो परम्परा मे प्रथम रासो ग्रन्थ सन्देश रासक है, जिसकी रचना अब्दुल रहमान ने की बताई गई है।

सन्देश रासक—रासो साहित्य के शोधकर्त्ताओ और प्राचीन साहित्य के समीक्षको की धारणा रही है कि रासो परम्परा का श्रीगणेश अब्दुल रहमान की

कृति से हुआ है। विद्वानों की मान्यता है कि रासो परम्परा में प्रथम प्रामाणिक कृति सन्देश रासक ही है। राहुल सांस्कृत्यायन ने इसका रचनाकाल वि० सं० 11वीं शताब्दी माना है। मुनि जिन विजय के अनुसार इसकी रचना 12वीं शता० के उत्तरार्द्ध और 13वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्वीकार की है। इस ग्रन्थ की कहानी बड़ी सरस और मार्मिक है। इसमें प्रोषितपतिका नायिका के विरह का मार्मिक वर्णन मिलता है। इसकी नायिका पथिक के माध्यम से अपने पति के पास प्रेम सन्देश भेजती है। सन्देश रासक का ऋतु वर्णन बड़ा ही मार्मिक है।

मंजु रास—डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी की मान्यता है कि सन्देश रासक से पूर्व मंजुरास नामक ग्रन्थ मिलता है। इसमें मालवा के शासक मंजु और कर्नाटक के तैलप की बहिन मृणालवती के प्रेम का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के कतिपय छन्द 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' और मेरुतुंग के प्रबन्ध चिन्तामणि में भी प्राप्त होते हैं।

भरतेश्वर बाहुबली रास—शालिभद्र द्वारा रचित भरतेश्वर बाहुबली रास भी एक महत्त्वपूर्ण रचना के रूप में प्राप्त होता है। यह रासो वीर रसात्मक है। इसमें ऋषभ के भरतेश्वर और बाहुबली दो पुत्रों के युद्धों का वर्णन किया गया है। इसका रचनाकाल संवत् 1241 स्वीकार किया गया है। शालिभद्र ने ही बुद्धिरास भी लिखा। इसी समय लिखे गए रासो काव्यों में कवि आसगु कृत जीवदया रास, तथा चन्दनबाला रास कवि देल्हणकृत गयसुकुमाल रास, जीवधन कृत मुक्तावलि रास व उपदेश रसायन रास के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

उपदेश रसायन रास—रासो प्रायः वीर रसात्मक रहे हैं किन्तु अपवादिक रूप से कतिपय ऐसे रासो ग्रन्थ भी लिखे गए हैं, जो वीरभावेतर पद्धति पर लिखे गए हैं। जिनदत्तसूरि ने उपदेश रसायन की रचना की है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस कृति को वीर काव्य परम्परा की कोटि में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका कारण इस ग्रन्थ की नीति काव्य शैली में लिखा होना है। नीति काव्य शैली के साथ साथ इसमें जन धर्म सम्बन्धी सामग्री की प्रधानता है।

डिंगल में रासो ग्रन्थ—इस परम्परा में जो रासो ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें प्रायः चरित्र की ही प्रधानता रही है। इस परम्परा में आने वाली रचनाओं में ऐतिहासिक तत्त्वों की रक्षा नहीं की गई है। इनके आकार प्रकार, विषय वस्तु और वर्णन शैली में पर्याप्त विभिन्नता है। 12वीं शताब्दी से लेकर 15वीं शताब्दी के बीच रासो परम्परा का पर्याप्त विकास हुआ है। इस अवधि में लिखे गए रासो या रास ग्रन्थ अप्रकाशित हैं—1 बीसलदेव रासो 2 जम्बू स्वामी रास, 3 रेवन्तगिरि रास, 4 कच्छुलि रास, 5 गौतम रास 6 दशार्ण भद्र रास, 7 वस्तुपाल तेजपाल रास, 8 श्रेणिक रास 9 पपड रास 10 समरसिंह रास 11 सप्तक्षेत्रि रास, 12 चन्दनबाला रास। इन सभी रासो का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

बीसलदेव रासो—बीसलदेव रासो परम्परा का प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता नरपति नाल्ह माने जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार यह ग्रन्थ वीरगीति के रूप में सबसे प्राचीन है। इसमें समयानुसार भाषा

के परिवर्तन का आभास भी मिलता है। कतिपय विद्वानों की दृढ़ धारणा है कि इसको वीर काव्य परम्परा का ग्रंथ न मानकर प्रेम गीत परम्परा का ही मानना चाहिए। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें वीर भावों का चित्रण नहीं के बराबर है। डॉ॰ हरिहरनाथ टण्डन के शब्दों में, "इस ग्रंथ में कवि ने प्रेम और विरह के मधुर चित्र खींचे हैं। वियोग का चित्रण अत्यन्त मार्मिक है। कवि की सहायता और भावुकता का दिग्दर्शन राजमति का विरह ही है। कलापक्ष का निर्वाह कवि ने अच्छी तरह नहीं किया है। छन्द दोषों का तो बाहुल्य है।"[18]

17वीं–18वीं शताब्दी के रासो ग्रन्थ का पता उस समय लगा जबकि पण्डित मोतीलाल मेनारिया, नरोत्तम स्वामी और डॉ॰ दशरथ शर्मा व श्री अगरचन्द्र नाहटा ने हस्तलिखित प्रतियों का खोज निकाला। 17वीं शती के रासो ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है—1 कुमारपाल रास रचयिता ऋषभदास, 2 राम रासो रचयिता माधोदास, 3 विनोद रासो रचयिता सुमतिहंस। अठारहवीं शताब्दी के रासो ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—1 छत्रसाल रासो रचयिता डूंगर सी 2 रूगतसिंह रासो रचयिता गिरिधर चारण, 3 खुम्माण रासो रचयिता दलपति विजय। 19वीं शताब्दी में जिन रासो ग्रन्थों का पता चला है उनमें श्रीपाल रास विशेष उल्लेखनीय रचना है। 18वीं शताब्दी के रासो ग्रन्थों में खुम्मान रासो को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

खुम्मान रासो—इस रासो के रचयिता के रूप में दलपति विजय का नाम प्रसिद्ध है। इन्हें दौलत विजय भी कहा जा सकता है। इस ग्रंथ में मेवाड़ के खुमाण अथवा सूर्यवंश की महत्ता का वर्णन किया गया है—

कवि दीज कमला कन्त जाण कवित जुगति।
सूरजि वंश तणी सुजस, वरणन करूँ विगति॥

यह एक भावात्मक रचना है अतः रसोत्कर्ष की व्यंजना के आधार पर इस रासो को कोमल एवं मधुर भाव-परम्परा में ही स्थान प्राप्त हो सकता है। इसके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि 'यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमान रासो मिलता है, उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराजा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में अब यह ग्रंथ मिलता है, वह उसे वि॰ स॰ 17वीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। यह नहीं कहा जा सकता है कि दलपति विजय असली खुमान रासो का रचयिता था अथवा उसके परिशिष्ट का।"[19] श्री मोतीलाल मेनारिया का कथन है कि "इस ग्रंथ की प्रामाणिकता पर विचार किया जाए तो यही तथ्य सामने आते हैं कि दलपति तपागच्छीय जैन साधु शान्ति विजय के शिष्य थे और दीक्षा के बाद उन्होंने अपना नाम दौलत विजय रख लिया था। यह ग्रंथ आठ खण्डों में विभक्त है। इसकी भाषा पिंगल है।"[20]

हास्य मिश्रित रासो ग्रंथ—रासो काव्य परम्परा में हास्य-मिश्रित रासो ग्रंथों को भी नहीं भुलाया जा सकता है। इस वर्ग में आने वाले ग्रंथों में गाँड़ रासो,

ऊँदर रासो, खींचड रासा और गोपा रामा आदि हैं। ये सभी रासो ग्रंथ डिंगल भाषा म लिखे गए हैं।

पिंगल या ब्रजभाषा के रासो ग्रंथ – डिंगल के रासो ग्रंथो की जो परम्परा मिलती है वसी ही परम्परा पिंगल के ग्रंथो की भी मिलती है। पिंगल या ब्रजभाषा मे लिखे गये रासो ग्रंथो की नामावली इस प्रकार है—1 हम्मीर रासा (शारंगधर कृत), 2 परमाल रासो (जगनिक कृत), 3 विजयपाल रासो (नल्लहसिंह भट्ट कृत), 4 कलहिया को रासा (गुलाब कृत कवि), 5. कायम रासो (जानकवि कृत), 6 रतन रासो (जाधराज कृत), 7 बुद्धि रासो (जल्हकवि कृत), 8 राउजतसी री रासो (अज्ञात)। इन रासो ग्रंथो का विशेष महत्त्व है—हम्मीर रासो, परमाल रासो और विजयपाल रासो। इनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

हम्मीर रासो—यह ग्रंथ देशी भाषा का वीरगाथात्मक महाकाव्य बताया गया है। यह अनुपलब्ध है—इसके विषय म आचार्य शुक्ल का यह अभिमत है—"प्राकृत पिंगल सूत्र म कुछ पद्य असली हम्मीर रासा के है।"

परमाल रासो—जगनिक को इसका रचयिता स्वीकार किया गया है। य कालिंजर के राजा परमाल के चारण और राजकवि थे। यह ग्रंथ आल्हाखण्ड नाम से भी प्रसिद्ध है। लोक वीरगाथा के रूप म इसका विकास लोकगायको द्वारा होता रहा है। सन् 1882 ई मे सर चार्ल्स इलियट न अनेक भाटो की सहायता से इसका सम्पादन करवाया था। यह वीर रसात्मक काव्य है, इसकी कथा का आधार पृथ्वीराज रासो का महोबा समय ह। डॉ श्याम सुन्दरदास की मान्यता है कि जिन प्रतियो के आधार पर यह सस्करण सम्पादित हुआ है उनम यह नाम नही है। उनम इसको चन्द्रकृत पृथ्वीराज रासो का महोबा खण्ड लिया गया है किन्तु वास्तव मे यह पृथ्वीराज रासो का महोबा खण्ड नही है, वरन् उसमे वर्णित घटनाओ को लेकर मुख्यत पृथ्वीराज रासो म दिए हुए एक वर्णन के आधार पर लिखा हुआ एक स्वतन्त्र ग्रंथ है। यद्यपि इस ग्रंथ का नाम मूल प्रतियो मे पृथ्वीराज रासो दिया हुआ है, पर इस नाम से इसे प्रकाशित करना लोगो को भ्रम म डालना है। अतएव मैंने इसे परमाल रासो नाम देने का साहस किया है। खैर,इस ग्रंथ की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता की बात यदि छोड दी जाये तो यह बात निस्सकोच भाव से स्वीकार की जा सकती है कि इसमे कवि की हृदयस्पर्शी भावधारा अजस्र गति से प्रवाहित होकर आज तक रसिको के मन को आप्लावित करती आई है—कवि के लिए यह कम महत्त्व की बात नही है।"

विजयपाल रासो—इस ग्रंथ के रचयिता नल्लसिंह भट्ट माने जाते ह जो विजयपाल के दरबारी कवि थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखको ने इसका रचनाकाल वि 1100 (सन् 1043) माना है। इतने पर भी यह सच लगता है कि अपने वर्तमान रूप मे यह 16वी शताब्दी की रचना प्रतीत होती है। इस ग्रंथ मे विजयपाल की विजय यात्राओ का वर्णन है। यह वीर रसात्मक रचना है।

यो तो इसके 42 छन्द उपलब्ध हैं फिर भी इसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

यही रासो काव्यों की परम्परा है। इस पर विचार करते हुए डॉ माताप्रसाद गुप्त ने निम्नांकित महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दिए हैं—

(1) रास तथा रासो नाम में कोई भेद नहीं है। दोनों नाम एकार्थक हैं और कभी कभी एक ही रचना में एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।

(2) रासो के अन्तर्गत प्रबन्ध की दो धाराएँ—दो विभिन्न परम्पराएँ आती हैं। एक तो गीत नृत्यपरक है और दूसरी छन्द वैविध्यपरक। पहली का उद्भव कदाचित नाट्य रासकों से हुआ है और दूसरी का रासक या रासा बंध से। दोनों परम्पराओं को मिलाया नहीं जा सकता है।

(3) गीत नृत्य-परक परम्परा की रचनाएँ आकार में प्राय छोटी होती हैं क्योंकि उन्हें स्मरण करना पड़ता है, जबकि छन्द वैविध्यपरक परम्परा में रचनाएँ छोटी-बड़ी सभी आकारों की हैं।

(4) गीत-नृत्य-परक परम्परा का प्रचार जैन धर्मावलम्बियों में अधिक रहा है। उनके रचे हुए प्राय समस्त रासो इसी परम्परा में हैं। दूसरी परम्परा का प्रचार जैनेतर समाज में विशेष रहा है। अब यह प्रमाणित हो चुका है कि इनका भी अभिनयात्मक गायन होता रहा है।

(5) जैन रचनाओं की भाषा बहुत पीछे तक अपभ्रंश बहुला रही है, जबकि अन्य रचनाओं की भाषायुगीन बातचीत की भाषा हो गई थी।

(6) गीत नृत्यपरक रासो रचनाएं प्राय पश्चिमी राजस्थान और गुजरात में ही लिखी गई थी, जबकि छन्द वैविध्यपरक रासकों की रचना सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में हुई है।

(7) काव्य का दृष्टिकोण दूसरी ही परम्परा में प्रधान रहा है, प्रथम में नहीं और इसी कारण शुद्ध साहित्य की दृष्टि से दूसरी परम्परा अधिक महत्त्व रखती है। इसी कारण तो आचार्य शुक्ल ने उन्हें वीरगाथात्मक कहकर वीरगाथा काल के अन्तर्गत गिनाया है।

(8) चरित्र तथा काव्य धाराओं के समान ही यह रासो काव्यधारा भी साहित्य की एक समृद्ध काव्यधारा रही है और इसका गम्भीर अध्ययन नितान्त अपेक्षित है और हमेशा रहेगा।

यही रासो-काव्य परम्परा के ग्रंथों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यही रासो काव्यों की परम्परा है और यही परम्परा निर्बाध रूप से एक सुदीर्घ की अवधि तक गतिमान रही है।

पृथ्वीराज रासो का स्थान—यह तो निर्विवाद सत्य है कि रासो काव्य-परम्परा में पृथ्वीराज रासो का स्थान और महत्त्व सर्वोपरि है। एक प्रकार से कृष्ण भक्तिधारा में जो स्थान सूरदास के सूरसागर का है, राम-भक्तिधारा में जो महत्त्व तुलसी के रामचरितमानस को प्राप्त है, वही महत्त्व रासो काव्य परम्परा में पृथ्वीराज

रासो को प्राप्त है। अनेक विद्वानों ने इस कृति को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल ने इसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना है तो स्वर्गीय गुलाबराय ने स्वाभाविक विकसनशील महाकाव्य माना है और मोतीलाल मेनारिया ने इसमें महाकाव्य की भव्यता और दृश्य-काव्य की सजीवता देखी है। डॉ विपिनविहारी ने कतिपय त्रुटियों के होते हुए भी हिन्दी के इस प्रबन्ध-काव्य को निर्विवाद रूप से महाकाव्य सिद्ध करने मे कुछ उठा नही रखा है।

इसके विपरीत डा श्याम सुन्दर दास ने इसे महाकाव्य नही माना है। उनका मत है कि इसमें न तो कोई प्रधान युद्ध है और न किसी महान् परिणाम का उल्लेख ही है। सबसे प्रधान बात तो यह है कि इस रासो मे घटनाएँ एक दूसरे से असम्बद्ध है तथा कथानक भी शिथिल और अनियमित है महाकाव्यो की भांति न तो किसी एक आदर्श मे घटनाओं का सक्रमण होता है और न अनेक कथानकों की एकरूपता ही प्रतिष्ठित होती है। डॉ उदयनारायण तिवारी ने इसे महाकाव्य नही माना है— रासो को एक विशालकाय और वीर काव्य ग्रंथ कहना ही उचित है। स्थान स्थान पर इसके कथानक मे शिथिलता है। पृथ्वीराज रासो की महत्ता और विशिष्टता के अनेक कारण है जो इस प्रकार है—

1 पृथ्वीराज रासो में अथ वस्तु-वर्णन आकर्षक है। उनमें विविधता, विभिन्नता और सरलता है।

2 रासो मे प्रकृति-चित्रण की छटा भी पूरी अद्वितीयता से संयुक्त है।

3 पृथ्वीराज रासो वीर काव्य है फिर भी उसमें यथावसर वीर रूप के साथ ही रौद्र, भयानक और वीभत्स रस का चित्रण तो मिलता ही है शृगार को भी चित्रित किया गया है।

4 कलात्मकता की दृष्टि से भी पृथ्वीराज रासो अप्रतिम कृति है। उसकी भाषा मिश्रित है, उसकी अलंकार योजना विशिष्ट है। रसानुकूल अलंकारों का प्रयोग कृति को अत्यधिक आकर्षक बनाने मे सफल हुआ है।

5 यों तो विद्वानों ने चन्द कवि को छप्पय का सम्राट माना है। यह तो सच ही है कि कवि के छप्पय जितने परम स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हैं उतने अन्य किसी वीर काव्य में नही है। पृथ्वीराज रासो में 72 छन्दों का प्रयोग कवि की प्रतिभा को उदाहृत करता है।

यद्यपि रासो की परम्परा में पृथ्वीराज रासो सर्वोपरि है तथापि उसकी प्रामाणिकता अप्रामाणिकता को लेकर पर्याप्त विवाद हिन्दी जगत में रहा है। यदि इस प्रश्न को उपेक्षित कर दिया जाए तो इसके काव्य सौष्ठव के आधार पर ही इस ग्रंथ के महत्त्व को आंका जा सकता है। वस्तुत यह ग्रंथ कवि की प्रौढ़ अनुभूति और उर्वर कल्पना शक्ति का प्रमाण है। इतिहास और कल्पना के मणि कांचन योग से सम्मुन्नत यह ग्रंथ उत्कृष्टता का द्योतक है। डॉ द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने इस ग्रंथ के महत्त्व और रासो परम्परा में योगदान का इन शब्दों के माध्यम से स्पष्ट किया है— यह ग्रन्थ राष्ट्रीय भावों को उद्बुद्ध करने तथा वीर भावनाओं को

जाग्रत करने की महती प्रेरणा में लिखा गया है इसलिए इस महाकाव्य की महत्ता अक्षुण्ण है। इसका गौरव चिरस्थायी है, इसका प्रभाव शाश्वत है—और इन सभी विशेषताओं का मूल कारण इसका अद्वितीय काव्य सौष्ठव है जो अत्यन्त उन्नत और उच्च कोटि का है।" अधिकांश समीक्षकों ने इसकी महत्ता को खुले मन से स्वीकार किया है।

सिद्ध साहित्य की प्रमुख विशेषतायें और हिन्दी के परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

दसवीं शताब्दी से पूर्व ही बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा का प्रचार भारत के पूर्वी भागों में बहुत अधिक था। ये बिहार से आसाम तक फैले थे और चौरासी सिद्ध इन्हीं में से हुए हैं, जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है। ये बौद्ध तांत्रिक होते थे और अपने अलौकिक चमत्कारों से जनता को आतंकित किए हुए थे। सिद्धों से तात्पर्य वज्रयानी परम्परा के सिद्धाचार्यों से है। ये विभिन्न प्रकार के साधनाओं में निष्णात, अलौकिक सिद्धियों से सम्पन्न और चमत्कारपूर्ण अति प्राकृतिक शक्ति से पूर्ण थे। इनकी साधना कृच्छ्राचार की साधना थी। वस्तुत बौद्ध धर्म अंतिम दिनों में मन्त्र-तन्त्र की साधना में बदल गया था। इन सिद्धों ने जनता में अपने मत के प्रचार के लिए संस्कृत के अतिरिक्त अपभ्रंश मिश्रित देशभाषा में भी रचनाएँ की। इनकी रचनाओं में रहस्यमार्गी एवं योग की प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह म. म. प. हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध गान और दोहा से नाम के बंगाक्षरों में प्रकाशित कराया। पूर्वी प्रयोगों की अधिकता देखकर उन्होंने इसकी भाषा को पुरानी बंगला कहा है। वस्तुत यह साहित्यिक अपभ्रंश भाषा है। राहुल जी ने अपनी हिन्दी काव्यधारा में इन सिद्धों की रचनाओं को प्रकाशित करके हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट किया। सिद्धों में सबसे पुराने सरह हैं (इनका सरोजवज्र नाम भी है) जिनका समय राहुल जी के अनुसार संवत 817 है। डा. विनयतोष भट्टाचार्य ने इनका समय सं. 690 निश्चित किया है। राहुल जी ने इन सिद्धों की भाषा को लोकभाषा के अधिक समीप देखकर इसे हिन्दी का प्राचीन रूप माना है। इसी मत के आधार पर काशीप्रसाद जायसवाल ने सिद्ध सरहपा को हिन्दी का प्रथम लेखक मान लिया है। इस समय सरहपा के अतिरिक्त शबरपा, भूसुकपा लुइपा, विरुपा डोंबिपा दारिकपा, गुंडरिपा कुकुरिपा कमरिपा, कण्हपा, गोरक्षपा, तिलोपा शांतिपा इत्यादि सिद्धों की रचनाएँ प्राप्त हैं। इनमें से अधिकांश सिद्ध लगभग 9वीं शताब्दी में हुए।

सिद्ध साहित्य से तात्पर्य सिद्धों द्वारा रचित साहित्य से ही है। इस साहित्य का सर्वप्रथम पता सन 1907 ई. में श्री हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल में मिला था। इसके पश्चात श्री राहुल दास श्री प्रबोध चन्द्र बागची, श्री विधुशेखर शास्त्री, श्री राहुल सांस्कृत्यायन, श्री सुकुमार सेन, श्री धर्मवीर भारती इत्यादि ने सिद्ध साहित्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। सिद्ध साहित्य मूलत दो काव्य रूपों में

उपलब्ध है—दोहा कोश और चर्यापद। प्रथम में दोहा से युक्त चतुष्पदियों की पद्धड़ शैली मिलती है और द्वितीय में तान्त्रिक चर्या के समय गाए जाने वाले पद प्राप्त होते हैं। सरपा, कण्हपा, तिलोपा आदि के दोहा ग्रन्थ प्राप्त हैं। चर्या पदों का संग्रह एकत्र रूप में प्राप्त है। इसमें विभिन्न सिद्धाचार्यों की रचनाएं संगृहीत हैं। चर्यापदों का संकलन मुनिदत्त ने किया था, इसकी पुष्टि तिब्बती अनुवाद से भी होती है। सिद्ध साहित्य में सामान्य रूप से महासुख सहजमृत, स्वसंविति इत्यादि के साम्प्रदायिक उपदेश ही अधिक दिए गए हैं। इन लोगों ने प्रज्ञा और उपाय के योग से ही महासुख की प्राप्ति स्वीकृत की है। इसी से निर्वाण के शून्य, विज्ञान और महासुख—ये तीन विभाग ठहराए गये हैं। इन्होंने निर्वाण सुख का सहवास के ही समानान्तर बताया है। इन्होंने शक्तिसहित देवताओं के युगनद्ध की कल्पना की। यत्र-तत्र अश्लील मुद्राओं की मूर्तियों की स्थिति आज भी मिलती है। रहस्यात्मक प्रवृत्ति की वृद्धि होने के कारण साधकों का समाज धीसमाज कहा गया और भरवीचक्र की श्रीवृद्धि-साधना चल पड़ी। इस सिद्धि के लिए किसी नीच नारी (स्त्री) का सहवास आवश्यक मान लिया गया। इस प्रकार धर्म के नाम पर दुराचार पनपने लगा। ये लोग रहस्यमयी प्रवृत्ति के अनुसार काआ तरुतर पंच विडाल। चचल चीए पइट्ठा काल और गंगा जउना माझे वहइ रे नाई का कथन कर चले। शून्य और विज्ञान के भी वचन इन्होंने कहे हैं—

शून्य-मूल लई खरे सातें उजाअ। सरहा भनइ गअणे समाअ।
विज्ञान भाव ण होइ अभाव ण जाइ। अइस संबोहे को पतिआइ।

—सरहपा,

लुई भणइ बढ दुलख विणाणा, तिधातुए, विलइ ऊह लागेणा।

—लुईपा

सिद्ध साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—सिद्धों की रचनाओं के देखने से पता चलता है कि इनकी शैली सन्ध्या या उलटवासी शैली है। ऊपर से इन रचनाओं का बड़ा कुत्सित अर्थ निकलता है किन्तु सम्प्रदाय के जानकार उसके मूल एवं साधनात्मक अर्थ को समझ सकते हैं। इनकी रचनाओं में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—

(1) अन्तस्साधना पर जोर तथा पण्डितों को फटकार—

पंडित सअल सत्त वक्खाणई। देहहि बुद्ध वसंत ण जाणइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउ पंडिअ।

—सरहपा

(2) दक्षिण मार्ग छोड़कर वाममार्ग का उपदेश—ये सिद्ध वाममार्गी प्रवृत्तियों को प्रश्रय देते थे और उन्हीं का प्रचार करते थे। वाममार्ग का उपदेश देखिए—

नाद न बिंदु न रवि न शशि मण्डल। चिअराअ सहावे मूलक॥
उजु रे उजु छाडि मा लहु रे बंक। निअहि बोहि मा जाहु रे लंक॥ (सरहपा)

(3) वारुणी प्रेरित अन्तर्मुख साधना पर जोर—इन सिद्धों ने लोक विरुद्ध ार विचार बना रखे थे। ये अपने मार्ग में वारुणी का तथा अन्तर्मुख-साधना महत्त्व वर्णन करते हैं—

सहजे थिर करि वारुणी साध। जेअजराम होई दिट काध।
दशमि दुआरत चिह्न देखइया। आइल गराहक अपणे वहिआ॥
चउशिठ वडिए देह पसारा। पइडल गराहक नाहि निसारा॥ (विरूपा)

(4) रहस्यमार्गियों की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी ो को पहली या उलटबाँसी के रूप में रखते थे। ये अपनी वाणियों के सांकेतिक भी बताया करते थे। इनकी वाणी को अटपटी वाणी कह सकते हैं। यही ी आगे चलकर निर्गुण मार्गी सन्तों ने अपनाई। कबीर ने इसे उलटबाँसी कहा इसका रूप सूरदास में दृष्टकूटों में भी देखने को मिल जाता है। इस प्रकार देकाल की प्रवृत्तियों का परवर्ती साहित्य में विकास हुआ है। उस अटपटी वाणी एक उदाहरण लीजिए—

बेंग ससार बाडहिल जाअ। दुहिल दूधकि बेंटे समाअ।
बदल बिआएल गविआ बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे।
जो सो बुज्झी मा धनि बुधी। जा सा चोर सोई सीधी।
निते निते पिआला पिहेषम जजूझ, ढेढणाएर गीत विरले बूझग।

(तातिपा)

(5) इन सिद्धों की योग-तन्त्र की साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों के विशेषत मिनी रजनी, आदि के अबाध सेवन ने महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। एक ाहरण देखिए—

गंगा जउँना माझे रे वहइ नाई।
ताहि बुडिलि मातंगि पोइआ लीले पार करइ।
पाहतु डाबी, वाहलो, डाबी बाट त भइल उछारा।
सद्गुरु पाअ-पए जाइब पुणु जिणउरा॥ (कण्हपा)

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में बौद्ध धर्म के तान्त्रिक एवं भ्रष्ट रूप का वेचन इस प्रकार किया है— बौद्ध धर्म ने जब तान्त्रिक रूप धारण किया तब उसमें पाँच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वों की ावना की गई, जो सृष्टि का परिचालन करते हैं। वज्रयान में आकर 'महा-सुखवाद' का प्रवर्तन हुआ। प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुख की दशा की प्ति मानी गई। इसे आनन्द स्वरूप ईश्वरत्व ही समझिए। निर्वाण के तीन वयव ठहराए गए—शून्य विज्ञान और महासुख। वज्रयान में निर्वाण के सुख ा स्वरूप ही सहवास के समान बताया गया। शक्तियों सहित देवताओं के ुगनद्ध स्वरूप की भावना चली और उनकी नग्न मूर्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील द्राओं में बनने लगीं, जो कहीं कहीं अब भी मिलती हैं। रहस्य या गुह्य की वृत्ति बढ़ती गई और गुह्य समाज या श्री समाज स्थान-स्थान पर होने लगे। ीचे नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ वीभत्स विधान

वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिए स्त्री (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था। कहने का तात्पर्य यह है कि वज्रयान ने धर्म के नाम पर बड़ा दुराचार फैलाया।

(6) इस साहित्य में मूलतः शान्त और शृंगार रस की रचनाएँ ही मिलती है। काव्य की कसौटी पर कसने में निराशा ही हाथ आती है। सर्वत्र उपदेश प्रमुख है। हिन्दी का सन्त साहित्य इस साहित्य से अधिक प्रभावित हुआ है। ... की तरह ही ये सिद्ध भी शास्त्रागम की निन्दा करते थे और शास्त्रज्ञानियों को ... बताते थे—

सत्यागम बहु पढ़ सुण बड कि णिण जाएइ। —कण्हपा

(7) सिद्धों के अधिकांश उपदेश जीवन की सामान्य सारणियाँ, मानव ऋजुता के विरोधी हैं इसी से ये साहित्य ... में ... ग्रहीत नहीं हैं हाँ, भाषा की दृष्टि से इस साहित्य का महत्त्व अवश्य है। भाव की तरह ही इस साहित्य की भाषा भी कुतूहलजनक और चाकचिक्य उत्पन्न करने वाली है। सीधी जनता पर प्रभाव जमाने के लिए इन्होंने अटपटी भाषा का सहारा लिया है। यह भाषा मन्त्र ... वाली गुह्य और प्रतीकात्मक थी। यह सिन्धी भाषा के नाम से विख्यात है। ... में यह भी विवादग्रस्त ही था कि यह भाषा 'संधा भाषा' है अथवा 'सन्ध्या भाषा'। श्री हरप्रसाद शास्त्री और श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने इसे सन्ध्या भाषा माना। इसका अर्थ, सन्ध्या के समान अस्पष्ट भाषा (आलो आँधरी भाषा) किया। ... प्रकार, इस अन्धकार और प्रकाश के बीच थोड़ा स्पष्ट और थोड़ा अस्पष्ट बनाने का काम बहुत दिनों तक चलता रहा।

(8) प्रतीक मूलतः अर्थसाम्यगत साधर्म्यमूलक और चर्यागत होते हैं। औपम्यमूलक प्रतीकों से विभिन्न रूपकों की योजना होती है और विरोधमूलक प्रतीकों का पर्यवसान उलटवासियों में मिलता है। सन्त साहित्य में उलटवाँसियाँ ... मिलती है।

हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—सिद्ध साहित्य न केवल महत्त्वपूर्ण रहा, अपितु उसका प्रभाव परवर्ती साहित्य पर भी पड़ा। सिद्धों का प्रभाव स्पष्ट रूप से सन्त साहित्य के प्रादुर्भाव पर देखा जा सकता है। कबीर इस साहित्य से प्रभावित थे। कर्मकाण्ड की निन्दा, आचरण की शुद्धता, सन्ध्या भाषा, उलटवाँसियाँ, रहस्यमयी उक्तियाँ, रूपक और प्रतीक प्रधान शब्दावली कबीर को सिद्धों से ही मिली थी। ... के दृष्टकूट पर भी इसी प्रभाव के सूचक है। दोहा और गीत शैली भक्तिकाल में और बाद में भी खूब फली फूली। यह सब आदिकालीन साहित्य की ही देन हैं। सिद्धों के चर्यागीतों से गेय पद शैली का विकास हुआ। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, भारतेन्दु ने गेय पदों की भरपूर रचना की है। इस क्रम में डॉ. शिवकुमार शर्मा ने लिखा है कि चारण साहित्य तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है परन्तु यह सिद्ध साहित्य सदियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का ... स्पष्ट उल्लेख है। इसने हमारे धार्मिक विश्वास की शृंखला को और भी मजबूत ...

या है। आगे पूव मध्यकाल एव उत्तर मध्यकाल मे जो गोपी लीला एव अभिसार वणन मिलते हैं, सिद्ध साहित्य म उसका पूव रूप देखा जा सकता है। सिद्धो की भी हुई उक्तिया को कबीर की उलटबासियो का प्रेरक समझना चाहिए।"[21]

भाषा की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूण है। सन्त साहित्य आदि इन सिद्धो को, मध्य नाथपथिया को और पूण विकास कबीर से प्रारम्भ ने वाली सन्त परम्परा मे नानक, दादू और मलूक आदि को मानना चाहिए। ों के अवतारवाद पर महायान शाखा का विशेष प्रभाव ह। डॉ हजारी प्रसाद कहना ह कि भक्तिवाद पर सिद्धा का प्रभाव है, ईसाई मत का कोई प्रभाव नही। सिद्ध साहित्य का मूल्याकन करते हुए हिन्दी के एक प्रसिद्ध विद्वान् आलोचक न खा है—"जो जनता नरेशो की स्वेच्छाचारिता, पराजय या पतन से त्रस्त होकर राशावाद के गत म गिरी हुई थी, उनके लिए इन सिद्धो की वाणी ने सजीवनी काय किया। निराशवाद के भीतर से आशावाद का सन्देश देना ससार की णिकता मे उसके वैचित्र्य का इन्द्रधनुषी चित्र खीचना इन सिद्धा की कविता का ण था और उसका आदश था। जीवन की भयानक वास्तविकता की अग्नि से निकाल र मनुष्य को महासुख के शीतल सरोवर म अवगाहन कराना।" डॉ रामकुमार र्मा के विचार इस सम्बन्ध म अवलोकनीय हैं—'सिद्ध साहित्य का महत्त्व इस बात बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढग प्राप्त होती है। चारणकालीन साहित्य तो केवल मात्र तत्कालीन राजनीतिक ीवन की प्रतिच्छाया है। यह सिद्ध साहित्य शताब्दियो से आने वाली धार्मिक और ास्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी यह ाहित्य एक महत्त्वपूण काल है।"[22]

प्रमुख कृतिकार और कृतिया

हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे अनक कवि और रचनाकार हुए हैं। इनम वसे पहले अपभ्र श के कविया को स्थान प्राप्त है फिर चारण कवियो का और दन्तर अन्य कवियो को। यहाँ इसी क्रम मे इस काल के कृतिकारो का सक्षिप्त रिचय दिया जा रहा है—

अपभ्र श के प्रमुख कवि

विक्रम की सातवी-आठवी शताब्दी से सोलहवी शताब्दी तक अपभ्र श मे ाहित्य की रचना होती रही है। यदि भाषा-शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाए ो इसे हिन्दी साहित्य का इतिहास नही माना जा सकता किन्तु वण्यविषय और ला की दृष्टि से इस साहित्य ने हिन्दी साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है अत से उपेक्षित नही किया जा सकता है। अपभ्र श साहित्य ने हिन्दी को जो कुछ दिया ह तो अनुपेक्षणीय है ही, इस भाषा के कतिपय कवियो का योगदान तो हिन्दी के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल का अध्ययन करते समय अपभ्र श के कतिपय कवियो का परिचय आवश्यक प्रतीत होता है।

सरहपा—सिद्ध परम्परा में सरहपा का प्रथम स्थान है। विनयतोष भट्टाचार्य इनका समय संवत् 690 मानते हैं और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन संवत् 817 से स्वीकार करते हैं। सरहपा जन्म से ब्राह्मण थे। ये संस्कृत के भी पण्डित थे। सिद्ध भिक्षु बनकर बहुत समय नालन्दा में भी रहे। राहुल भद्र और सरोजवज्र भी इनके नाम बताये जाते हैं। इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ ये हैं—कायाकोष अमृतवज्र गीति, चित्तकोष-अज-वज्र-गीति, डाकिनी-गुह्य वज्र-गीति, दोहा-कोष, तत्वोपदेशशिखर, उपदेशगीति, भावनाफल दृष्टचर्या, वसततिलक, चर्यागीत, महामुद्रोपदेश और सरहपादगीतिका।

इन ग्रन्थों के वर्ण्य विषय ये हैं—रहस्यवाद, कर्मकाण्ड की निन्दा, मन्त्र, देवतादि की व्यर्थता, सहज मार्ग, योग से निर्वाण और गुरु-महिमा। इधर हिन्दी साहित्य में कबीर, दादू, पल्टू, मलूकदास आदि सन्तों के विषय भी प्रायः यही हैं। सरहपा की भाषा तथा विचारधारा के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

कर्मकाण्ड के विरोध में—

> ब्रह्महि म जाणन्त हि भेउ। चवइ पढिअउ ए चउवेउ ॥
> मट्टि पाणि कुस लई पढन्त। घरही बइसी अग्नि हुणन्त ॥
> कज्जे विरहइ हुअवह होमे। अक्खि डहाविअ कडुएँ धूमे ॥

भोग में योग की साधना—

> खाअन्त पिअन्ते सुहहि रमन्ते। णित्त पुण्णु चक्का वि भरन्ते।
> अइस धम्म सिज्झइ पर लोहअ। णाह पाए दलीउ भअलोअह।

गुरु की महत्ता—

> गुरु उवएसे अमिअ रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
> बहु-सत्थत्थ मरुत्थलहि, तिसिए मरिअउ तेहि ॥

कण्हपा—कण्हपा के दो नाम सुनने में आते हैं—कण्ह पा और कृष्ण पा। कर्णाटक निवासी होने के कारण पहला नाम और कृष्ण वर्ण होने से दूसरा नाम रूढ़ बताया जाता है। राहुल जी ने इन्हें ब्राह्मण कुलोत्पन्न कहा है। महाराज देवपाल के समय ये एक ब्राह्मण भिक्षु थे और बाद में जालन्धरपाद के शिष्य हुये।

श्री राहुल जी ने आपके दर्शनशास्त्र पर लिखे छः और तन्त्रशास्त्र पर लिखे चौहत्तर ग्रन्थों की सूचना दी है। कुछ रचनाओं के नाम ये हैं—कन्हपादगीतिका, महाढुण्ढनमूल, वसततिलक, असम्बन्धदृष्टि, वज्र-गति, दोहाकोष आदि।

कबीर आदि सन्तों के साहित्य में जिस सहजसाधना की चर्चा की जाती है उसका मूल सिद्ध साहित्य में मिल जाता है। कण्हपा के एक पद्य से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। यथा—

> जइ पवण गमण दुआरे दिढ़ तालावि दिज्जइ।
> जइ तसु घोरान्धारें, मण दिवहो किज्जइ ॥
> जिण रअण उअरें जइ, सो वरु अम्बरु छुप्पइ।
> भणइ काण्ह भव भुञ्जन्ते, णिव्वाणे वि सिज्झइ ॥

कण्हपा ने राग भैरवी, मल्हारी, मालती आदि गेय पद भी लिखे हैं। यही पद-रचना परम्परा भक्तिकाल तक ग्रक्षुण्ण रूप से चली ग्राई है।

स्वयम्भू—स्वयम्भू प्राकृत ग्रौर ग्रपभ्रंश के पण्डित थे। इनके पिता का नाम मारुत ग्रौर माता का नाम पद्मिनी था। कवि त्रिभुवन इन्हीं के पुत्र थे। इनकी चार रचनाएँ उपलब्ध हैं—पउम-चरिउ, रिट्ठणेमि-चरिउ, स्वम्भू छन्द, पचमी-चरिउ ग्रौर व्याकरण। इनका समय सवत् 700 वि के पश्चात् माना गया है। इनकी पउम-चरिउ रचना रामकथा प्रसग पर ग्राधारित है। सस्कृत और प्राकृत के पश्चात् स्वयम्भू ने इस ग्रन्थ के द्वारा ग्रपभ्रंश साहित्य को विशेष योगदान दिया है। इस कृति मे पाँच काण्ड हैं—विद्याधर काण्ड, ग्रयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्ध-काण्ड ग्रौर उत्तरकाण्ड। डॉ सत्यदेव चौधरी का मत है कि इस रचना मे सभी महाकाव्योचित विशेषताएँ मिलती हैं। वस्तु वर्णन के ग्रन्तर्गत ऋतु वर्णन, जल-क्रीडा, सध्या, समुद्र, वन ग्रौर युद्ध ग्रादि के प्रसग बडे सुन्दर बन पडे हैं। इनमे वीर शृंगार, करुण ग्रौर शान्त रस का सफल परिपाक हुग्रा है। भाषा प्रसगानुसार सुगठित, सानुप्रास ग्रौर प्रवाहपूर्ण है।"[23]

पुष्पदन्त—पुष्पदन्त मान्यखेट के प्रतापी राजा कृष्ण के महामात्य भरत के सभाकवि कहे जाते हैं। इनका विक्रम दसवी शताब्दी के ग्रासपास समय माना जाता है। इनके ग्रन्थ महापुराण से विदित होता है कि ये कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं—'तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालकारु' पुष्पदन्त की प्रसिद्ध रचना है। इसको महापुराण भी कहते हैं। यह महाकाव्य है। 'जसहरचरिउ' एक खण्डकाव्य है।

कनकामर—कनकामर की प्रसिद्ध रचना 'करकडुचरिउ' ग्रपभ्रंश का खण्ड-काव्य है। इस ग्रन्थ का समय सवत् 1122 माना जाता है। इस काव्य मे 10 सन्धियाँ हैं। इसमे सभी पात्रो के विकासशील चरित्रो का निरूपण हुग्रा है। करकडु मे धीरता, वीरता, स्वाभिमान, उत्साह ग्रादि गुणो का यथेष्ट विकास है। शीलगुप्त मुनि मे जैन साधुग्रो के योग्य सभी गुण विद्यमान हैं। पद्मावती मे नारी के सहज स्वभाव के विपरीत वात्सल्य ग्रौर नारीत्व-भावना से पलायन-वृत्ति ग्रधिक चित्रित हुई है।

सोमप्रभ सूरि—इन्होंने सवत् 1241 मे 'कुमारपाल' प्रतिबोध नामक एक सस्कृत प्राकृत काव्य लिखा था। इसमे कुछ प्राचीन ग्रपभ्रंश काव्य के नमूने और कुछ उनके ही बनाए हुए दोहों के नमूने मिलते हैं।

जैनाचार्य मेरुतुग—इन्होने सवत् 1361 मे 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक एक ग्रन्थ लिखा था जिससे बहुत से प्राचीन राजाग्रो की कथाएँ सकलित हैं। इन कथाग्रो के ग्रन्तर्गत भोज के चाचा मुंज के कहे हुए बहुत से दोहे मिलते हैं उनमे से उदाहरणार्थ एक दोहा नीचे दिया जा रहा है—

जा मति पच्छइ, सपजइ, सा मति पहिली होई।
मुंज भणइ मृणालवइ, विघन न वेढइ कोई॥

अर्थात् जो बुद्धि घटना के पीछे प्राप्त होती है वह यदि पहले ही हो तो मर कहता है कि हे मृणालवती ! किसी का विघ्न न धरे।

शांगधर—चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण म लिखित इसका 'शांगधर पद्धति' नामक सुभाषित ग्र थ बहुत प्रसिद्ध है। यह भी कहा जाता है कि इन्होने हम्मीर रासो नामक एक वीरगाथा काव्य की रचना भी की थी जो आजकल उपलब्ध नही है।

धनपाल—धनपाल धक्कड वश्य कुल म उत्पन्न हुए थ। इनके पिता का नाम माहेश्वर तथा माता का नाम धनश्री था। वश्यकुलोत्पन्न होन पर भी अपनी विद्वता पर बद्धमूल आत्मविश्वास से इन्होने अपने आपको सरस्वती-पुत्र कहा है। इनका समय निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। डॉ याकोबी ने इसे 10वी सदी का माना है। श्री दलाल तथा श्री गुणे इसे हेमचन्द्र स पूर्व का कवि मानते हैं। श्री भायाणी इसे स्वयम्भू के बाद का कवि मानते हैं। धनपाल रचित 'भविसत्त कहा' अपभ्र श का महाकाव्य है। इनका मूल उद्देश्य श्रुतपचमी व्रत का महात्म्य प्रतिपादन करना मालूम पडता है। इसका कथानक लौकिक है। कथानक म घटना बाहुल्य है। इस जगत के पात्रो के साथ दिव्य पात्रो का सम्बन्ध-स्थापना कवियो म चिरकाल से रूढ चला आ रहा है। इस ग्रन्थ मे भी चरितनायक भविष्यदत्त का यक्ष की सहायता मिलती है। इस काव्य म वस्तु-वर्णन हृदयग्राही है। इसके अलग अलग खण्डो म शृ गार वीर और शान्त रस की प्रधानता है। भाषा साहित्यिक अपभ्र श है। उसम लोकोक्तिया और मुहावरा का यथेष्ट प्रयोग दीख पडता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, विरोधाभास, अतिशयोक्ति आदि के प्रयोग बहुलता से किय गय हैं भुजगप्रयात, लक्ष्मीधर मदार, चामर, शखनारी, पज्झटिका, अडिल्ला, काव्य, प्लवगम, सिंहावलोकन, कलहस आदि वर्णित तथा मात्रिक छन्दो का प्रयोग इसम हुआ है।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र का जन्म वि सवत् 1145 म गुजरात के जैन परिवार म हुआ। इनका सम्बन्ध गुजरात के सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल नामक दो बडे राजाओ से बताया जाता है। आप जेठमल के अधीश भी रहे। चौरासी वर्ष की अवस्था म सवत् 129 म इन्होने शरीर त्याग किया। इनका नाम जन्म से चगदेव था। जैन धर्म म दीक्षित होने पर इनका नाम हेमचन्द्र पडा और सूरि (जैन साधु) बनने पर ये 'हेमचन्द्र सूरि' नाम से प्रसिद्ध हुए। हमारे सामने हेमचन्द्र दो रूपो मे आते हैं—'हेमचन्द्र शब्दानुशासन' तथा 'छन्दोनुशासन' लिखकर आचार्य के रूप मे और कुमारपालचरित लिखकर कवि के रूप म। इनके शब्दानुशासन के अन्तिम अध्याय के अतिम भाग म अपभ्र श के नियम निरूपित हैं। छन्दानुशासन मे कुछ पद्य अपभ्र श के भी मिल जाते हैं। इन अपभ्र श पद्यो के विषय सयोग, वियोग, वीर, उत्साह हास्य, अन्योक्ति नीति, प्राचीन कथानक-निर्देश, सुभाषित आदि हैं। हेमचन्द्र की तीसरी रचना 'कुमारपालचरित' है। इसम कुमारपाल के चरिताख्यान के साथ-साथ कवि का ध्यान व्याकरणसम्मत शुद्ध रूपो का प्रतिपादन

करना भी है। इस दोहरे उद्देश्य के कारण इन ग्रंथो भी 'द्वयाश्रय काव्य' भी कहा जाता है। इस काव्य के 28 सर्ग हैं। ग्रन्तिम सग के 14 से 82 तक के पद्य ग्रपभ्रंश भाषा मे रचित हैं। इन पद्या म धार्मिक उपदेश भावना का प्राधान्य है। इनके व्याकरण से कुछ उदाहरण लीजिए—

प्रियसगमि कउ निद्दडी पिग्रहो परोक्खहोकेम्व।
मइ विन्नि वि विन्नासिग्रा निद् न एम्व न तेम्व।
जइ ससणेही तो मुग्रइ ग्रर जीवइ निन्नेह।
विहिं वि पयारेहिं गइग्र धण कि गज्जहि खल मेह॥
ग्रायहिं जम्महि ग्रन्नहि वि गोरी सु दिज्जहि कन्तु।
गय मत्तह चत्त कुसह जो ग्रब्भिडइ हसन्तु॥

महेश्वर सूरि—महेश्वर सूरि कृत 'सयममजरी' नामक ग्रन्थ मुक्तक दोहो का सग्रह है। 'कालकाचार्य' कथानक भी इसी कर्त्ता के नाम से प्रसिद्ध है। इनका रचनाकाल विक्रम की 14वी शती है। उक्त दोनो पुस्तकें जन धम से सम्बद्ध हैं। सयम मजरी का प्रधान विषय जन धम की शिक्षा देना है। उदाहरणार्थ—सयम से रहने से मोक्ष मिल सकता है। मनुष्य को मनोदण्ड, वाग्दण्ड, जिह्वादण्ड से बचना चाहिए, हिंसा, ग्रसत्य, चोरी, मैथुन ग्रौर परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

प्रमुख चारण कवि

चारण काव्य ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही महत्त्व न रखता हो किन्तु कवित्व की दृष्टि से इसमे रोचक सामग्री प्राप्त होती है। यह वह काव्य है जो तत्कालीन सकुचित राष्ट्रीय भावना को सकेतित करता है। इसमे वीर रस की प्रधानता है ग्रौर उसके साथ ही उसी के पोषक रसो म रौद्र, वीभत्स, भयानक व शृगार रस को भी स्वीकार किया गया है। चारण काव्य दो रूपो मे उपलब्ध है—प्रबन्धात्मक रूप मे ग्रौर वीर गीतो के रूप मे। इस काव्य की भाषा प्राय डिंगल ग्रथवा राजस्थानी रही है। *इस चारण काव्य के प्रमुख कृतिकार निम्नाकित है—*

दलपत विजय—'खुमान रासो का मूल लेखक कौन है?'—यह प्रश्न ग्रभी एक समस्या बना हुग्रा है। शिवसिंह सेंगर इसके रचयिता के विषय मे मौन है। हस्तलिखित ग्रन्था की खोज मे खुमानरासो की जो प्रतियाँ मिलती हैं, उनमे से कुछ प्रतियो मे लेखक का नाम 'दलपत विजय' लिखा है। पर ग्रभी तक यह निश्चित नही हो सका कि दलपत विजय रचना का मूल लेखक है ग्रथवा उसका उद्धर्ता है।

राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक जनरल टाड ने चित्तौड के खुम्मान नाम के तीन शासको का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ मे जिस खुम्मान का चरित्र है वह ग्रनुमानत खुम्मान द्वितीय है क्योकि इस रचना मे बगदाद के खलीफा का उल्लेख है। इस खलीफा ने चित्तौड पर ग्राक्रमण किया था ग्रौर जिस खुम्मान ने उसे परास्त किया था, वह खुम्मान द्वितीय ही हो सकता है क्योकि उक्त खलीफा सवत् 870 से 890 तक ग्रालमामूँ बकदाद के धम गुरु रहे ग्रौर खुम्मान द्वितीय

का शासनकाल भी अनुमानत 870 के 900 तक माना जाता है। इस अनुमान से खुमानरासो का चरितनायक खुम्मान द्वितीय ही हो सकता है। पर चूंकि इस ग्रंथ में प्रताप तक का वर्णन है अतः इसे परवर्ती अर्थात् 17वीं शताब्दी की रचना मानने को बाध्य होना पड़ता है। अनुमान यह भी है कि दलपत विजय खुमानरासो का मूल लेखक रहा होगा। वह या तो खुम्मान द्वितीय का समकालीन होगा या कुछ काल परवर्ती। मोतीलाल मेनारिया ने दलपत विजय के सम्बन्ध में लिखा है कि दलपत विजय तपागच्छीय जैन साधु शान्तिलाल के शिष्य थे। जैन दीक्षा लेने के बाद इसका नाम दौलत विजय पड़ा।

नरपति नाल्ह—आदिकाल के गेय साहित्य में नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। गेय साहित्य होने के कारण वस्तुतः बीसलदेव रासो ही 'रासो' कहने योग्य है। अन्य पृथ्वीराज रासो आदि ग्रन्थों में रासो शब्द का व्यवहार रूढ़ अर्थ में किया जाता है। आदिकालीन अन्य ग्रन्थों की भांति इस ग्रन्थ के भी रचयिता, रचना-काल और चरितनायक के सम्बन्ध में सभी इतिहासकार एकमत नहीं हैं।

केदार भट्ट और मधुकर—जयचन्द के दरबारी कवि केदार भट्ट तथा मधुकर द्वारा रचित 'जयचन्द प्रकाश' और 'जसमयकजस चन्द्रिका' नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है। इन रचनाओं की सूचना सिंघायच दयालदास की 'राठौरां री ख्यात' से मिली है, पर ये रचनायें अभी तक नहीं मिली। 'पृथ्वीराज रासो' में भी एक स्थान पर चन्द तथा केदार भट्ट- के संवाद का प्रसंग आया है। शिवसिंह सेंगर ने केदार को गौरी का दरबारी कवि माना है। इस कथन का आधार 'भट्टभणत' के सवये की यह पंक्ति बताई जाती है—

'चन्द चौहान के केदार गौरी साहजू के गंग अकबर के बखान गुनगाव हैं।' यह 'केदार' वही है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं या इससे भिन्न ? इसका निर्णय कर सकना कठिन है। यह माना जाता है कि गजनी में महमूद से पहले ब्राह्मण का शासन था। हो सकता है कि ब्राह्मण नरेश के आश्रय टूट जाने पर कवि ने नए शासक का आश्रय लिया हो और गजनी चलकर कवि ने कन्नौज में आश्रय पाया हो। पर इस धारणा को सिद्ध करने के लिए प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

चन्दवरदाई—पृथ्वीराज रासो जैसे लोक प्रसिद्ध ग्रन्थ के रचनाकार ने लोक प्रसिद्ध, इतिहास-प्रसिद्ध कवि चन्दवरदाई के जीवन वृत्त के बारे में अनेक सन्देह उत्पन्न कर दिये हैं। यह आश्चर्य की बात है कि पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर तो प्रश्न चिह्न लगाए ही गये हैं साथ ही चन्दवरदाई के ऐतिहासिक अस्तित्व और पृथ्वीराज के समय में उसकी उपस्थिति को भी नकारने का दुस्साहस किया जा रहा है।

ऐसा प्रसिद्ध है कि चन्दवरदायी अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान का दरबारी कवि था और मित्र भी। उसका जन्म पृथ्वीराज के साथ वि स

1206 में हुआ। रासो में 'एक घन जनम, एक थल मरण निधान' का अन्त-साक्ष्य उपलब्ध है। ये जागा या भट्ट ब्राह्मण थे। लाहौर में इनका जन्म हुआ था तथा जालंधरी देवी इनकी इष्ट थी। ये 'षट्भाषा पुराणं च, कुरानं कथितम् मया' के अनुसार छः भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंद शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक और कुरान के विद्वान् थे। ये महाराज पृथ्वीराज के निकटस्थ सखा थे जो युद्ध, आखेट, यात्रा आदि अवसरों पर सदा उनके साथ रहते थे। पृथ्वीराज जब अंतिम युद्ध में पराजित हो गये और गोरी उन्हें बन्दी बनाकर गजनी ले गया तब चन्द भी रासो का लेखन कार्य अपने पुत्र जल्हण को देकर चला गया। इसका उल्लेख रासो काव्य में इस प्रकार आया है—

"पुस्तक जल्हन हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।"

वास्तव में चन्दवरदाई न केवल कवि थे अपितु तलवार के भी कुशल चालक और बहादुर व्यक्ति थे। इसका प्रमाण अनेक स्थलों पर मिलता है। उन्होंने *शब्द भेदी बाण से गोरी का वध करने की योजना बनाई थी। लोक में यह दोहा* उस प्रसंग के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—

आठ बांस चोबीस गज, अंगुल अष्ट प्रमान।
ता ऊपर सुल्तान है, मत चूके चौहान॥

चन्द के इसी संकेत पर पृथ्वीराज ने अपने शब्द-भेदी बाण से सुल्तान का काम तमाम कर दिया था और फिर चन्द और पृथ्वीराज ने कटार से स्वयं भी आत्मोत्सर्ग कर लिया था।

कई विद्वान् चन्द को मगध का निवासी बताते हैं जो पृथ्वीराज के पिता महाराज सोमेश्वर के दरबार में आया था और बाद में पृथ्वीराज का सखा, मन्त्री और राजकवि बन गया था। पृथ्वीराज ने जब नागौर बसाया था तब चन्द को बहुत सी जमीन दी थी। आज भी नागौर में चन्द के वंशज रहते हैं।

'बूलर' आदि विद्वान् चन्द के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। जयानक नामक एक कवि ने अपने संस्कृत-काव्य पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज की राज सभा का वर्णन किया है। उसमें चन्द का कहीं नाम नहीं है। इस ग्रंथ के आधार पर चन्द्रराज या चन्द्रक नामक कवि की सूचना मात्र मिलती है। कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र *ने भी चन्द्रक नाम का ही समर्थन किया है। 15वीं शती में लिखे हम्मीर महाकाव्य* में भी चन्द का कहीं उल्लेख नहीं है जिसमें चौहान वंश का परिचय दिया गया है।

किन्तु लोक में प्रचलित शताब्दियों के विश्वास और पृथ्वीराज रासो की उपलब्ध प्रतियों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि चन्द का अस्तित्व ही नहीं था। जयानक के पृथ्वीराज विजय तथा हम्मीर रासो में उल्लेख न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि चन्दवरदाई का अस्तित्व ही नहीं था। इस सम्बन्ध में मुनि श्री जिन विजय का स्पष्ट मत है कि—'चन्द कवि निश्चयतः एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और उसका

सम्मानित राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देशव्यापी प्राकृत भाषा में एक काव्य-रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

विशाल महाकाव्य पृथ्वीराज रासो—पृथ्वीराज रासो एक विशाल महाकाव्य है जिसकी कई नई पुरानी प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। श्री नरोत्तम स्वामी से प्राप्त प्रतियों के आधार पर इसके चार रूपान्तर निश्चित किये गये हैं—

(1) **वृहत रूपान्तर**—इस रूपान्तर का आधार संवत् 1750 के बाद लिपिबद्ध की गई रचनाएँ हैं। इसमें 69 समय (अध्याय) और 16306 छन्द हैं।

(2) **मध्यम रूपान्तर**—इसका आधार 1723 से 1739–40 तक लिपिबद्ध प्रतियाँ हैं। इसमें अध्यायों का नाम 'प्रस्ताव' है। इसमें सात हजार छन्द हैं। इसकी प्रति अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित है।

(3) **लघु रूपान्तर**—सत्रहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध रचनाओं के आधार पर इसका निश्चय किया गया है। यह बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसमें 19 सर्ग और 3500 छन्द हैं।

(4) **लघुतम रूपान्तर**—इसमें अध्याय-रहित केवल 1300 छन्द हैं। इसे अगरचन्द नाहटा ने खोजा है।

रासो का कथानक—उपरिलिखित रूपान्तरों तथा अन्य प्राप्त प्रतियों का अन्वेषण करने से प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज रासो में कथा सूत्रों की भरमार है। इसमें चौहान वंश की उत्पत्ति और पृथ्वीराज के जीवन की विस्तृत झाँकी है। समस्त कथानक को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) **पृथ्वीराज के शौर्य की कथा**—इसमें शाहबुद्दीन गौरी के साथ अनेक युद्धों, उसका शौर्य, उदारता, आदर्श, क्षमा का चित्रण है। अन्य अनेक राजाओं को परास्त करना, हुसैन को शरण देना आदि कथाएँ हैं।

(2) **पृथ्वीराज के विवाह**—इच्छावती, पद्मावती शशिवृता, इन्द्रावती, हंसवती, संयोगिता आदि से विवाह।

(3) **पृथ्वीराज के आखेट।**

(4) **पृथ्वीराज के विलास**—होली और दीपमालिका उत्सवों का आयोजन आदि।

समस्त कथा का तारतम्य इस प्रकार है—अजमेर के राजा अर्णोराज के पुत्र सोमेश्वर थे जिनका विवाह दिल्ली के तोमरवंशी राजा अनंगपाल की पुत्री कमला के साथ हुआ था। पृथ्वीराज इन्हीं सोमेश्वर और कमला के पुत्र थे। कमला की एक बहिन थी—सुन्दरी जिसका विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल से हुआ था। जयचन्द इन्हीं विजयपाल का पुत्र था। अनंगपाल ने पृथ्वीराज को गोद ले लिया। इस प्रकार दिल्ली और अजमेर एक ही साम्राज्य के अन्तर्गत हो गए। जयचन्द को यह बात बुरी लगी। उसने अपना गौरव जताने के लिए राजसूय यज्ञ का आयोजन

किया जिसमे सयोगिता का स्वयवर भी रचा गया। पृथ्वीराज उस स्वयवर मे से सयोगिता का हरण कर लाया और उससे गधव विवाह मे बँध गया। मार्ग मे जयचन्द की सेना को परास्त किया। दिल्ली आकर वह सयोगिता के साथ विलास मे डूब गया।

इसी समय शाहबुद्दीन गोरी अपने पठान सरदार हुसन खाँ की प्रेमिका चित्ररेखा पर मुग्ध हो गया। हुसैन खाँ भागकर पृथ्वीराज की शरण मे आ गया। गोरी के साथ युद्ध ठन गया। अनेक बार गोरी परास्त हुआ। हर बार पृथ्वीराज उसे क्षमा करके मुक्त कर देता था। सत्रहवी बार पृथ्वीराज पराजित हुआ। गोरी उस बन्दी बनाकर गजनी ले गया, जहाँ उसकी आँखे निकाल ली। चन्द न वहाँ पहुँचकर शब्दभेदी बाण से गोरी का अन्त कराया। अत म दोनो साथी एक-दूसरे पर प्रहार करके स्वग सिधार गये।

रासो की काव्य सौन्दयगत विशिष्टता—पृथ्वीराज रासा की प्रामाणिकता के सम्बन्ध म भले ही विवाद रहा हो, किन्तु इसके काव्य सौन्दय की सभी समालोचको ने मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। रासा एक सफल विशाल आकार का महाकाव्य है, जो साहित्यिक मूल्यांकन की कसौटी पर प्रत्येक दृष्टि से खरा उतरता है। इसम वीर और श्रृगार दोनो रसा का परिपाक देखन को मिलता है। पृथ्वीराज के सौन्दय तथा शारीरिक सुघड़ता के साथ साथ उसके अपराजेय व्यक्तित्व का कवि ने अत्यन्त कुशलता स चित्रण किया है। कवि चन्द वरदाई ने पुरुष और नारी के सौन्दर्यांकन मे अपनी कल्पना शक्ति और रसानुभूति का सुन्दर प्रयोग किया है। प्रकृति के सौन्दर्य की शत शत धाराओ का इस काव्य मे उचित स्थान मिला है। साथ ही मनुष्य के विभिन्न चरित्रो को भी रेखांकित किया गया है। पृथ्वीराज के अतिरिक्त उसके सामन्तो की शक्ति और उदारता का भी उत्साहवद्धक चित्रण इस महाकाव्य मे है।

श्रृगार रस रसा मे राजा की पदवी से विभूषित है। कवि न अनेक ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओ का सयोजन इस प्रकार किया है कि अवसर मिलते ही श्रृगार और वीर रस का स्वाभाविक उद्रेक हो जाता है। युद्धो का मूल कारण नारी ही है। नारी के सौन्दय, नखशिख, आशा उल्लास असूया, ईर्ष्या द्वेष आदि का जीवन चित्रण इस काव्य मे है। इसमे वर्णना की भी भरमार है जिससे अनेक स्थान शुष्क इतिवृत्तात्मक हो गए हैं किन्तु भावपूर्ण मार्मिक स्थलो का भी पुष्कल भण्डार है।

भाव व्यजना की दृष्टि से वीर और श्रृगार रसो की अभिव्यजना देखन ही योग्य है।

श्रृगार रस

कुट्टिल केस सुदेस पाह, परिचियत पिक्क सद।
क्रमल गध, वयसध हसगति चलित मद मद॥
सेत वस्त्र सोहे सरीर, नष स्वाति बूद जस।
भमर भवहि भुल्लहि, सुभाव मकरन्द वास रस॥

वीर रस

> थकि रहे सूर कौतिक गगन, रगन मगन भइ श्रोन धर।
> हरि हरषि वीर जग्गे हुलसि, हुरेउ रग नव रत्त वर॥

वीर और शृंगार के अतिरिक्त युद्ध प्रसगों में रौद्र और भयानक रसों का भी मिश्रण है। कहीं-कहीं हास्य रस के छींटे भी हैं। शान्त रस का प्राय अभाव है। भाव-सौन्दर्य की उत्कृष्टता के साथ साथ रासो में कलागत सौन्दर्य भी उत्कृष्ट है। अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलकार भाव सौन्दर्य में अभिवृद्धि करते हैं। रासो में 68 प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं कहीं छन्द-परिवर्तन भी मिलता है। इस परिवर्तन में भी सौन्दर्य है। पृथ्वीराज रासो सभी काव्य मर्यादाओं से मण्डित है। इसमें समकालीन युग का सांस्कृतिक इतिहास है। विभिन्न मतों, दर्शनों तथा रीति नीति परम्परा और मर्यादा का अक्षुण्ण प्रवाह है। यह उत्तर भारत के समग्र मानचित्र जैसा महाकाव्य है।

रासो सम्बन्धी विवाद प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता—पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता को लेकर हिन्दी समालोचक दो दलों में विभक्त हैं। कुछ विद्वानों ने इसे प्रामाणिक माना है और कुछ ने अप्रामाणिक। इसी ग्रन्थ के अन्त साक्ष्य के आधार पर, इसमें दी हुई तिथियों, घटनाओं तथा नामों के आधार पर कई विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त किया है। डॉ बूलर को 1875 ई में कश्मीर में जयानक रचित सस्कृत काव्य 'पृथ्वीराज विजय' की एक खण्डित प्रति मिली थी और उसके बाद इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न खड़े कर दिए गए सामान्यत इसकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता को लेकर विद्वान् चार खेमों में विभक्त हैं—

(1) कविराज श्यामलदास गौरीशकर हीराचन्द ओझा, डॉ बूलर, मुशी देवीप्रसाद, अमृतलाल शील, रामचन्द्र शुक्ल डॉ रामकुमार वर्मा आदि विद्वान् चन्द के अस्तित्व तथा उसके पृथ्वीराज के समकालीन होने को नहीं मानते।

(2) डॉ श्यामसुन्दर दास, मथुराप्रसाद दीक्षित, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, मिश्रबन्धु, मोतीलाल मेनारिया आदि रासो के वर्तमान रूप को प्रामाणिक कवि चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं।

(3) डॉ सुनीतिकुमार चटर्जी, मुनि श्री जिनविजय, अगरचन्द नाहटा दशरथ शर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद आदि कवि चन्द के तत्कालीन अस्तित्व को स्वीकार करते हैं किन्तु रासो के वर्तमान उपलब्ध रूप को मूल का विकृत रूप मानते हैं।

(4) नरोत्तम स्वामी चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं किन्तु उसने प्रबन्ध रूप में रासो की रचना नहीं की।

इन चार खेमों में बँटे हुए विद्वानों ने प्रामाणिकता अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में अपने तर्क-पुष्ट प्रमाण दिए हैं।

रासो की अप्रामाणिकता के पक्ष में तर्क

(1) **घटना विरोध**—रासो मे प्राप्त अनेक घटनाएँ और नाम इतिहास से मेल नही खाते हैं। जैसे—रासो मे परमार, चालुक्य और चौहानो को अग्निवशी बताया गया है जबकि प्राचीन ग्रथो और शिलालेखो मे वे सूयवशी अकित हैं। पृथ्वीराज की माता, वश, पुत्र आदि के नाम पृथ्वीराज विजय के नामो से भिन्न हैं। ओझा जी के अनुसार सयोगिता स्वयवर की बात इतिहास-सिद्ध नही है। इतिहास के अनुसार अनगपाल दिल्ली का राजा नही था तथा पृथ्वीराज की माँ का नाम कमला न होकर कपूरी देवी था। गौरी को शब्द भेदी बाण से मारने की घटना भी कल्पना प्रसूत है। पृथ्वीराज के विवाहो की बात भी इतिहास से भिन्न है।

(2) **काल विरोध**—कनल टॉड के अनुसार रासो मे दी गई तिथिया इतिहास की तिथियो से मेल नही खाती। रासो मे पृथ्वीराज की मृत्यु स 1158 म हुई किन्तु इतिहास के अनुसार 1148 वि मे। पृथ्वीराज का जन्म भी रासो के अनुसार स 1115 है जबकि इतिहास मे स 1220 वि । आबू पर चालुक्य के आक्रमण की तिथियाँ भी अशुद्ध हैं। स 1160 के आसपास रचित हम्मीर महाकाव्य मे पृथ्वीराज के गोद जाने, सयोगिता स्वयवर आदि का कही उल्लेख नही है। रासो मे गौरी की मृत्यु 1249 वि मे पृथ्वीराज द्वारा बताई गई है, जब कि इतिहास के अनुसार उसकी मृत्यु स 1263 वि मे गक्खरो द्वारा हुई।

(3) **भाषा विरोध**—रासो मे अरबी फारसी शब्दो का इतना प्राचुय है कि चन्द के समय इतने भारी भारी अरबी फारसी के शब्दो का मुक्त प्रयोग असभव था। रासो की भाषा चन्द के समय की न होकर सोलहवी शती की है। इसकी अव्यवस्थित भाषा से खीजकर ही आचार्य शुक्ल ने इस ग्रथ को इतिहास और साहित्य जिज्ञासुओ दोनो के लिए अनुपयुक्त बताया है।

इस विवेचन के आधार पर रासो को एक जाली ग्रन्थ ठहराया जाता है। यदि चन्दवरदाई पृथ्वीराज का समकालीन कवि होता और रासो चन्द के द्वारा ही प्रणीत होता तो घटना, काल तथा भाषा सम्बन्धी ये विसगतियाँ नही होती।

रासो की प्रामाणिकता के पक्ष मे विचार—रासो जसे साहित्यिक श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य को एकदम जाली और अप्रामाणिक नही ठहराया जा सकता। इसमे बहुत-कुछ प्रक्षिप्त अश हैं। इसका मूल रूप साहित्य और भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके लघुतम सस्करण मे प्रक्षिप्त अश नगण्य हैं। मुनि श्री जिनविजय रासो को मूल रूप मे छोटा-सा काव्य ही मानते हैं। 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' म ऐसे चार छन्द मिले हैं जो रासो की लघुतम प्रतियो मे भी उपलब्ध होते हैं। आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि—"इन पद्यो के प्रकाशन के बाद अब इस विषय म किसी को सन्देह नही रह गया है कि चन्द नामक कवि पृथ्वीराज के दरबार म अवश्य थे और उन्होने ग्रन्थ भी लिखा है।"

इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे विद्वानो ने भिन्न भिन्न मत व्यक्त किए हैं—

(1) डॉ दशरथ शर्मा उन सन्देहों का निराकरण करते हुए लिखते हैं कि मूल रासो न तो जाली ग्रन्थ है और न सोलहवीं शती का। लघुतम प्रतियों के आधार पर घटना, काल तथा भाषा सम्बन्धी विषमता का निराकरण हो जाता है। इस प्रति में चौहानों की अग्नि कुण्ड से उत्पत्ति का भी वर्णन नहीं है। पृथ्वीराज विजय और लघुतम प्रति के नामों में भी बहुत कम अन्तर है। लघुतम प्रति में केवल इच्छावती के विवाह का ही चित्रण है। इसमें पृथ्वीराज पद्मावती के विवाह का प्रसंग भी नहीं है। लघुतम प्रति में कमास वध का चित्रण है जो पृथ्वीराज विजय में भी उल्लिखित है। इन आधारों पर डॉ दशरथ शर्मा का कहना है कि रासो की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है।

(2) काल विरोध के सम्बन्ध में मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने अपना अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उस समय अनन्द सवत् का प्रचलन था। चन्द ने उसी अनन्द सवत् के अनुसार तिथियाँ दी हैं जिसमें 90 जोड़ने से विक्रम सवत् बन जाता है। सभी तिथियों में 90 वर्ष का अन्तर इस कथन की पुष्टि करता है। जयानक कवि ने अपने पृथ्वीराज विजय में ईर्ष्या वश ही चन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया होगा। संस्कृत कवि प्रायः उस समय भाषा कवियों को महत्व नहीं देते थे।

(3) डा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे अर्द्ध प्रामाणिक माना है। उनका कथन है कि रासो के काव्य रूप में दसवीं शती के काव्य रूप से समानता है। इसकी सवाद शैली अन्य रासो ग्रन्थों तथा सन्देश रासक से मिलती-जुलती है। रासो में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की काव्य रूढ़ियाँ उपलब्ध होती हैं। इसमें बारहवीं शती की भाषागत प्रवृत्ति मिलती है। यह शुद्ध इतिहास न होकर काव्य ग्रन्थ है इसलिए इसमें काव्य कल्पना का भी यत्र तत्र उपयोग किया गया है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में तथ्यों और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण है। उसी का अनुसरण रासो में है। रासो के वे अंश प्रामाणिक हैं जिनका प्रारम्भ शुकशुकी सवाद से होता है शेष प्रक्षिप्त अंश हैं। जैसे—प्रारम्भिक अंश इच्छिनी विवाह, शशिव्रता विवाह, तोमर द्वारा शाहबुद्दीन को पकड़ना, सयोगिता विवाह, कमास-वध गौरी वध, आदि अंश प्रामाणिक हैं। डा नामवर सिंह भी इस मत का समर्थन करते हैं।

(4) रासो की भाषा विसंगतियों का निराकरण करते हुए पक्षधर विद्वानों का मत है कि चन्द लाहौर के निवासी थे जहाँ मुस्लिम आक्रमण बहुत पहले ही शुरू हो गए थे और फारसी शब्दों से लाहौर के निवासियों का गहरा परिचय हो गया था।

इस प्रकार रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के पक्ष विपक्ष में विद्वानों ने अपने अपने तर्क दिए हैं। इन तर्कों के आधार पर पृथ्वीराज रासो को जाली नहीं ठहराया जा सकता। हाँ, कालान्तर में उसमें मिलावट बहुत हुई

जिससे उसका मूल रूप धूमिल हो गया। घटना काल तथा भाषा सम्बन्धी जो त्रिसगतियाँ पाई जाती है, वे सब इसी कारण से हैं। किन्तु परम्परा, काव्य रूप, काव्य रूढ़ियाँ, शैली, भाषा, इतिहास, लोक श्रुति आदि अनेक प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि पृथ्वीराज रासो अपने मूल रूप में प्रामाणिक रचना है जिसमें अब प्राप्त रूपों में अनेक प्रक्षिप्त अंश भी जुड़ गए हैं।

जगनिक—जगनिक कालिंजर के राजा परमर्दिदेव का भाट कहा जाता है। परमर्दिदेव कन्नौज नरेश जयचन्द के सामन्त या अधीनस्थ कोई राजा थे। जब-जब जयचन्द को युद्ध में उतरना पड़ता था तब तब परमर्दिदेव उनकी सहायता के लिये पहुँचते थे। किसी ब्याज से पृथ्वीराज ने चन्देल राज्य पर आक्रमण भी किया था जिसमें आल्हा, ऊदल नामक दो वीर वीरगति को प्राप्त हुए थे। ये 'बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। परमर्दिदेव के दरबारी कवि जगनिक ने इन्हीं दो वीरों की गाथा को लेकर गय काव्य लिखा होगा पर उसकी उस समय की लिखी या बाद में लिखी कोई रचना नहीं मिली। केवल श्रुति परम्परा से चली आ रही वह अब कन्नौज साम्राज्य के आसपास लोकगीत सम्पदा बनकर रह गयी है।

इतनी लम्बी काल यात्रा करती हुई गेय रचना ने जिसका बाद में 'आल्हा-खण्ड' नाम पड़ा नाना कण्ठों में उतरने से अपनी मूल सरसता खो दी है। नाना मस्तिष्कों से टकराकर अपना मूल कथानक भी बदल लिया है फिर भी इतने सुदीर्घकाल से जगनिक की हृदयस्पर्शी भावधारा अजस्र बहती चली आ रही है। कवि के लिये यह कम महत्त्व की बात नहीं है। फर्रुखाबाद के डिप्टी कमिश्नर मि. चार्ल्स इलियट ने सन् 1867 में इस रचना का लोकगीतों से संग्रह कर छपवाया था। यह 'आल्हा खण्ड' आज भी वर्षा ऋतु में गाया जाता है। संभवतः इन गीतों को 'आल्हा-रासो' कहा जाता हो क्योंकि उस समय गेय साहित्य को 'रासो' ही कहा जाता था।

आदिकाल के अन्य कवि

अमीर खुसरो—अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अबुलहसन था पर इनका उपनाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि असली नाम लुप्त प्राय हो गया। इनका जन्म सन 1255 में पटियाली, जिला एटा में हुआ। इनका अधिकांश जीवन शासकीय सेवा में ही बीता। इन्होंने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान तथा तुगलक वंश का आरम्भ देखा। इनके समय में दिल्ली के तख्त पर ग्यारह तुगलक वंश के सुल्तान बैठे जिनमें से सात की इन्होंने सेवा की थी। ये बड़े प्रसन्नचित्त, मिलनसार और उदार थे। सुलतानों और सरदारों से जो कुछ धन आदि मिलता था, वे उसे बाँट देते थे। सल्तनत के अमीर होने पर और कवि सम्राट की पदवी मिलने पर भी ये अमीर और दरिद्र सभी के बराबर मिलते थे। इनमें अन्य मुसलमानों की तरह धार्मिक कट्टरपन नाम को भी नहीं था। इनके ग्रंथों से ज्ञात होता है कि इनके एक पुत्री और तीन पुत्र थे।

खुसरो अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी भाषाओं के पूरे विद्वान् थे और संस्कृत का भी कुछ ज्ञान रखते थे। ये फारसी के प्रतिभाशाली कवि थे। इन्होंने

कविता की 99 पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें कई लाख के लगभग शेर थे, पर अब उनके केवल 20–22 ग्रन्थ प्राप्य हैं। इन्हीं ग्रन्थों में 'किस्सा चहार दरवेश' और 'खालिक बारी' विशेषत उल्लेखनीय हैं। दूसरा ग्रन्थ तुरकी, अरबी, फारसी और हिन्दी का पर्याय कोष है। एक उदाहरण लीजिए—

खालिक बारी सिरजनहार।
वाहिद एक बिदा कर्तार॥
मुश्क काफर अम्बर कस्तूरी कपूर।
हिंदवी आनन्द शादी औ सरूर॥
मूश चूहा गुर्ब बिल्ली मार नाग।
सोजनो रिश्त बहिन्दी सुई ताग॥
गंदुम गेहूँ नखूद चना शाली है धान।
जरत जोन्हरी अदस मसूर बर्ग है पान॥

कहा जाता है कि खुसरो ने फारसी से कहीं अधिक हिन्दी भाषा में कविता की थी पर अब कुछ पहेलियों मुकरियों और फुटकर गीतों को छोडकर और सब अप्राप्य है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

बूझ पहेली पाँचो का सिर काट लिया, ना मारा न खून किया। —नाखून
बिन बूझ पहेली खेत में उपजे सब कोई खाय।
घर में उपजे घर को खाय॥ —फूट
दो सुखने पान सड़ा क्यों? घोड़ा अड़ा क्यों? —फेरा न था।
अनार क्यों न चखा? वजीर क्यों न रखा? —दाना न था।
मुकरी वह आवे तब शादी होय, उस बिन दूजा और न कोय।
मीठे लागें वाके बोल, का सखि साजन, ना सखि ढोल॥
अनमेलियाँ या खीर बनाई जतन से चर्खा दिया जला।
ढकोसला आया कुत्ता खा गया बैठी ढोल बजा।
ला पानी पिला॥
भादों पक्की पीपली झड़ झड़ पड़े कपास।
बी मेहतरानी दाल पकाओगी या नंगा सो रहूँ॥

इतने बहुकण्ठ होने पर भी इनकी रचना का स्वरूप स्थिर रह गया होगा, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। हो सकता है कि प्राप्य हिन्दी रचनाओं में कुछेक खुसरो के नाम पर प्रसिद्ध कर दी गयी हों फिर भी खुसरो को खड़ी बोली का प्रथम कवि स्वीकृत किया जाता है।

इसके अतिरिक्त खुसरो ने फारसी के साथ कथा भिड़ाकर ब्रजभाषा में भी रचना की है जो कि उनकी विनोदी प्रकृति की परिचायक है—

चूँ शमा सोजाँ चू जर्रा हैराँ हमेशा गिरियाँ बइश्के-आमह।
न नींद नैना न अंग चैना न आप आवें न भेजें पतियाँ।
बहक्के रोजे विसाले दिलबर कि दाद मारा फरेब खुसरो।
सपीत मन दुराय राखूं जो जान पाऊँ पिया की घतियाँ॥

इस प्रकार खुसरो को खड़ी बोली और ब्रजभाषा के मनोरंजक लोक-साहित्य प्रथम निर्माता के रूप में बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है। खुसरो प्रसिद्ध ये भी थे। ध्रुपद के स्थान पर कौल या कव्वाली बनाकर इन्होंने बहुत से नये ग निकाले थे जो अब तक प्रचलित हैं। कहा जाता है कि वीन को घटा कर इन्होंने तार बनाया था। सन् 1324 में जब इनके गुरु निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु ई तब उन दिनों ये दिल्ली के प्रसिद्ध तुगलक सुलतान गियासुद्दीन के साथ बंगाल ए हुए थे। उनकी मृत्यु का समाचार पाते ही ये झट से वहाँ से चल दिये। कहा ता है कि जब ये उनकी कब्र के पास पहुँचे तब यह दोहा पढ़कर बेहोश होकर र पड़े—

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

इनके पास जो कुछ था इन्होंने सब लुटा दिया और वे स्वयं उनके मजार र जा बैठे। अन्त में कुछ ही दिनों में उसी वर्ष उनकी मृत्यु हो गयी। ये अपने र की कब्र में नीचे की ओर पास ही गाड़े गये। सन् 1606 ई० में ताहिर बेग ामक अमीर ने यहाँ पर मकबरा बनवा दिया।

विद्यापति—विद्यापति का जन्म संवत् 1425 में बिहार के दरभंगा जिला के बिसपी गाँव में हुआ था। ये तिरहुत के महाराज शिवसिंह के आश्रय में रहते थे। हाराज शिवसिंह के अतिरिक्त उनकी रानी लखिमा देवी भी उनकी बड़ी भक्त थीं। वद्यापति ने 'कीर्तिलता' और 'कीर्ति पताका' में अपने आश्रयदाता शिवसिंह और ीर्तिसिंह की वीरता का बड़े ही ओजस्वी और प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है।

विद्यापति की प्रसिद्ध रचना है—पदावली। इसमें उन्होंने राधा कृष्ण की णय लीलाओं का बड़ा ही हृदय स्पर्शी चित्रण किया है। बंगाली लोग प्रायः अत्यन्त ावुक भक्त होते थे। जयदेव और चण्डीदास के साथ विद्यापति के गीतों को भी वे ाग सैकड़ों वर्षों से गाते चले आ रहे हैं। पूर्वी बंगाली और बिहारी भाषाएँ भी हुत अंशों तक आपस में मिल जुल जाती हैं। फिर, गेय गीत तो स्थान भेद और काल भेद से रूपान्तरित होते ही रहते हैं। इसीलिए बंगालियों द्वारा गाये जाने वाले विद्यापति के अधिकतर गीत बंगला रूप ग्रहण कर गये। फलतः विगत शताब्दी तक बहुत से विद्वान विद्यापति को भी चण्डीदास के समान बंगाली ही मानते रहे पर अब यह भ्रम दूर हो गया है और सर्वसम्मति से मान लिया गया है कि विद्यापति बंगाली नहीं प्रत्युत बिहारी थे और इनकी पदावली की भाषा बंगला न होकर मैथिली है।

विद्यापति कृष्णोपासक नहीं अपितु शैव थे। अतः भक्ति भाव से प्रेरित होकर इन्होंने केवल शिव सम्बन्धी रचनाएँ लिखीं। शैव धर्म के योग प्रधान होने के कारण उसमें विलासिता या प्रेम की प्रवृत्तियों के लिये कहीं स्थान नहीं है। अतः प्रेमपूर्ण हृदयोद्‌गार प्रकट करने के लिये उन्होंने जयदेव के 'गीत गोविन्द' के आधार पर राधा कृष्ण को नायक नायिका मानकर अपने गीतों या पदों की रचना की। प्रमुखतः इसी आधार पर कहा जाता है कि इनकी पदावली भक्ति की अपेक्षा शृंगार

रस प्रधान है। विद्यापति के आदर्श कवि जयदेव रहे है। उनकी शब्दी भावो को तो इन्होने अनेक स्थानो पर अपनाया ही है साथ ही इनकी निरूपण शैली भी जयदेव से मिल जाती है। इसी कारण विद्यापति के गीत भी जयदेव के समान अत्यधिक सुकोमल और भावपूर्ण बन पडे हैं। देखिये—

विद्यापति—नन्दक नन्दन कदम्बक तरु तरे धिरे धिरे मुरली बजाव।
समय सकेत-निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव॥

जयदेव—नामसमेत कृत सकेत वादयते इह वणुम्।

कहने को तो पदावली म विद्यापति ने शृंगार के दोनो रूपो-सयोग और वियोग का यथोचित रूप म चित्रण किया है किन्तु इसम भी व सयोग के ही प्रमुख रूप से गायक थे। सयोग शृंगार का चित्रण करने म उनकी तूलिका तन्मय हो गई है। पाठक उन हृदयहारी दृश्यो को देखते देखते कुछ क्षणो के लिये दिव्य आनन्द लोक मे विहार करन लगता है। भाषा का माधुर्य और भावो का सौकुमार्य इन दोनो का एक अलौकिक सगम इस रचना मे मिलता है। देखिए—

सहजहि आनन सुन्दर रे, भौंह सुरेखलि आँखि।
पकज मधु पिबि मधुकर रे, उडए पसारल पाँखि॥

सद्य स्नाता का एक नयनाभिराम चित्र देखिए—

कामिनी करए सनान।
हेरतहि हृदय हनए पँचबाने॥
चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख-ससि उर रोमए अँधारा॥

राधा को देख लेने पर कामदेव के प्रति कृष्ण का एक उपालम्भ सुनिए—

मनमथ तोहे की कहब अनेक
दिठि अपराध परान पए पीडसि
ते तुम कौन बिबेक॥

राधा का नखशिख सौन्दर्य भी दर्शनीय है—

चाँद-सार लए मुख घटना करू लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि दह दिसि भेजऊँजो रे॥

इस प्रकार राधा कृष्ण के विरह और मिलन का तथा नख शिख सौन्दर्य का सर्वांगपूर्ण, सरस सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण हिन्दी म सर्वप्रथम विद्यापति ने प्रस्तुत किया है।

विद्यापति वस्तुत सक्रमण-काल के कवि थ। एक ओर वे वीरगाथाकाल का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर वे हिन्दी मे भक्ति और शृंगार परम्परा के प्रवर्तक माने जाते ह। कीर्तिलता और कीर्तिपताका म व पूर्णत वीरकवि प्रतीत होत ह। अपनी शिवभक्ति सम्बन्धी रचनाओ—'शव सर्वस्वसार आदि" म वे भक्तिभाव म झूमते दिखाई देत हैं और पदावली म वे शृंगार और प्रणय के रस में आकण्ठ मग्न हैं। इस प्रकार विद्यापति का आप वीरकवि भक्त कवि या शृंगारी

कवि जिस भी रूप से देखें, वे उसी में परिपूर्ण दिखाई देते हैं। एक ओर उनकी 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' चारणकाव्य की वीरगाथाओं की स्मृति दिलाती है तो दूसरी ओर इनकी पदावली कृष्ण कवियों तथा विशेषतः रीतिकालीन कवियों की शृंगारपरक सुकोमल भाव-सामग्री की मूल प्रेरक सिद्ध हो जाती है। पदावली, कीर्तिपताका और कीर्तिलता के अतिरिक्त संस्कृत में उनकी ग्यारह पुस्तकें मिलती हैं—शैव सर्वस्वसार, शैव सर्वस्वसार-प्रमाण-भूत-पुराण-संग्रह, भूपरिक्रमा, पुरुष-परीक्षा, लिखनावली, गंगा वाक्यावली, दान-वाक्यावली, विभाग-सार, गयापत्तलक, वर्षकृत्य और दुर्गाभक्ति-तरंगिणी। विषय की दृष्टि से ये रचनाएँ भक्ति, सामयिक समाज तथा शृंगार इन तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं।

गोरखनाथ—इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाओं में सिद्धों के स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध संयम तथा सदाचार तथा हठयोग का, जो एक प्रकार से पतंजलि के योग का शव रूप था, प्रतिपादन हुआ है। कबीर पर इनकी रचनाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। इनके योग की घोर शुष्कता का सूर ने कुछ शृंगारिक सरसता के साथ और तुलसी ने मर्यादा और थोड़े अक्खड़पन के साथ खण्डन किया है—"तुलसी अलखहिं का लखै, रामनाम जपु नीच"। इन्होंने गद्य और पद्य दोनों ही लिखे हैं। इनके चालीस ग्रन्थ बताये गये हैं, किन्तु उनमें अधिकांश उनके नाम से उनके शिष्यों द्वारा लिखे हुए हैं। साहित्य सम्मेलन से इनकी वाणी का संग्रह प्रकाशित हो गया है।

सूर्यमल्ल मिश्रण—इनका जन्म संवत् 1772 में हुआ। ये बूँदी के रहने वाले थे। इनका मुख्य ग्रन्थ 'वंश भास्कर' है जिसमें राजपूतों और विशेषकर बूँदी के राजाओं का इतिहास है। इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक अंश में कुछ विद्वान् अत्युक्तियाँ बतलाते हैं। इनकी 'वीर सतसई' वीर रस का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। देखिये—

अठ सुजस प्रभुता उठ, अवसर मरिया आय।
मरणौ घार माँझियाँ, जमनरका लै जाय॥

अर्थात् जो अवसर पर अर्थात् देश की रक्षा में मारे जाते हैं, उनके लिए यहाँ सुयश और परलोक में प्रभुता है, और जो घर पर मारे जाते हैं उनको यमराज नरक में ले जाते हैं।

संदर्भ-संकेत

1 डॉ राजेश्वर चतुर्वेदी हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास
2 डॉ रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
3 डॉ नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास
4 डॉ किशोरीलाल गुप्त सरोज सर्वेक्षण
5 डॉ सत्येन्द्र का मत हिन्दी साहित्य का आदिकाल लेख
6 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास

7 आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हिन्दी साहित्य का अतीत
8 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल
9 —वही— —वही—
10 डॉ गणपतिचन्द्र गुप्त हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
11 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल
12 डॉ रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
13 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का इतिहास
14 —वही— —वही—
15 —वही— —वही—
16 डॉ शिवकुमार शर्मा हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ
17 रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत डॉ कन्हैयालाल सहल द्वारा उद्धृत
18 डॉ हरिहरनाथ टंडन पद्मावती समय की भूमिका से
19 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास
20 डॉ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य
21 डॉ शिवकुमार शर्मा हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ
22 डॉ रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
23 डॉ सत्यदेव चौधरी हिन्दी वाङ्मय का इतिहास

———

3

पूर्व मध्यकाल : भक्तिकाल

(सवत् 1375 से 1700 तक)

भक्तिकाल की प्रेरक परिस्थितियाँ

राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ—हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल लगभग तीन सौ वर्ष का सुदीर्घ काल है। भारतीय राजनीतिक इतिहास के अनुसार इस काल को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—सवत् 1377 से 1583 तक और 1583 से 1700 तक। प्रथम भाग मे दिल्ली पर तुगलक और लोधी वश के पठान शासको ने राज्य किया और द्वितीय भाग मे मुगल वश के बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने। शाहजहाँ के शासन-काल मे ही रीतिकाल का प्रारम्भ हो जाता है क्योकि रीति-काव्य के प्रवतक चिन्तामणि का रचना काल सवत् 1700 माना गया है। इस काल के अधिकाँश भाग का राजनीतिक वातावरण समूची प्रजा के लिए विशेषत हिन्दुओ के लिए अशान्त है, पर इधर इन भक्तो की वाणी धर्मप्रधान एव शान्ति-प्रधान है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की दृष्टि से मुस्लिम राज्यकाल की प्रमुख घटना है हिन्दुओ पर अत्याचार। मुस्लिम शासको पर तत्कालीन उलमा का पर्याप्त प्रभाव रहा। इन्ही उलमा के बताए आदेशो पर चलकर सर्वप्रथम फिरोज तुगलक ने जिम्मी (मुसलिमेतर जाति) होने के रूप मे हिन्दुओ पर 'जजिया' लगाया, जिससे उनके जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा की जा सके। इसी बादशाह ने बहुत से मन्दिर भी तोडे और एक ब्राह्मण को तो अपने महल के सामने जीवित ही जलवा दिया।[1] उसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने के प्रलोभन भी दिए तथा यह नियम बना दिया कि जो हिन्दू इस्लाम धर्म स्वीकार करेगा उसे राज्य में नौकरी दी जाएगी। अनेक मुसलमान शासको ने नये मन्दिरो के निर्माण कराने पर प्रतिबन्ध तथा पुरानो की मरम्मत पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था। सिकन्दर लोधी ने मथुरा के मन्दिरो को नष्ट करके उनके स्थान पर सराय और मस्जिदे बनाने की आज्ञा दी। उनके अत्याचारो को लक्ष्य म रखकर गुरु नानक का उन्हे कोसना इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य है।

इन अत्याचारो के पीछे मुस्लिम शासको की धर्मान्धता एव सकीर्ण भावना थी, पर मुस्लिम प्रजा भी विशेष सुखी रही हो—यह भी निश्चित रूप से नही कहा

जा सकता । मुसलमानों की हिन्दुओं के प्रति द्वेष एवं वैर की भावना बहुत थी, पर मुसलमानों में भी परस्पर वह भावना कम न थी । धर्म के आधार पर और शिया मुसलमानों में तो झगड़ा रहता ही था, साथ ही विदेशीयता के आ पर भी द्वेष की आग सुलगती रहती थी । अरबी, ईरानी, अफगान, तुर्क मुसलमान आपस में एक दूसरे से जलते रहते थे । यों भी अकबर, जहाँगीर, शाह के समय (सन् 1555–1658) को छोड़कर मुस्लिम-काल का शेष सारा पूर्व मारकाट, गृह-कलह विदेशी आक्रमणों के आतंक तथा युद्ध का काल रहा चंगेजखाँ से लेकर बाबर के आगमन तक मुगलों के आतंक ने सभी शासकों भयभीत कर रखा था । अलाउद्दीन के शासनकाल में कुतलग ख्वाजा के नेतृत्व दो लाख मुगल दिल्ली पर चढ़ आए थे । इधर तैमूरलंग के रक्तपात और खसोट ने शासन व्यवस्था और प्रजा की बची खुची सुविधा को नष्ट कर दिया शेरशाह के भय से हुमायूं जैसा शासक 15 वर्ष तक लाहौर से ईरान तक इधर-उ भटकता रहा ।

इसके अतिरिक्त स्वयं सभी शासक राज्य विस्तार की लिप्सा के वशी होकर इधर राजस्थान, गुजरात, मालवा, महाराष्ट्र तथा बंगाल और उधर सु दक्षिण तक की रियासतों को हथियाने के विचार से भयंकर युद्धों में लिप्त रहे । सब रियासतें जी-जी कर मरती और मर मर के फिर जी उठती और दिल्ली मुस्लिम शासक इन्हें फिर मारने के लिए इन पर धावा बोल देते थे । इन शासक में राजसिंहासन-प्राप्ति की लालसा भी कितनी प्रबल रही होगी, यह इस तथ्य स्पष्ट है कि अधिकतर पठान शासकों का राज्यारोहण अपने निकटतर सम्ब अथवा वास्तविक राज्याधिकारी की निर्मम हत्या अथवा प्रवंचना की भित्ति प अवस्थित है । अल्तमश के सिर पर आरामशाह का खून है । सुल्तान रजिया औ नासिरुद्दीन ये दोनों बहन भाई अपने भाइयों को पद वंचित करके राज्यसिंहासन प आ बैठे । स्वयं रजिया और उसका प्रेमी भी षड्यन्त्र का शिकार बने और उनक वध कर दिया गया । अलाउद्दीन खिलजी अपने चाचा जलालुद्दीन को मार मुहम्म तुगलक अपने पिता गियासुद्दीन तुगलक की हत्या करके सिंहासनारूढ़ हुए । स्वयं अलाउद्दीन खिलजी को उसके सेनापति तथा मुख्यमन्त्री मलिक काफूर ने (जो मूलतः गुजरात का हिन्दू था और बाद में मुसलमान बन गया था) विष प्रयोग द्वारा धीरे धीरे मृत्यु के समीप पहुँचा दिया था । इसी प्रकार राज्यशासन की बागडोर सम्हालते ही सिकन्दर लोधी को अपने भाई बारबक को ठिकाने लगाना पड़ा । यहाँ तक ही क्या, इस काल के मुगल सम्राटों में भी खुर्रम को जावर की सन्तान के सब पुरुषों की गुप्त रूप से हत्या करानी पड़ी । इतना ही नहीं उसके श्वसुर ने भाई शहरयार की आँखें निकलवा दीं । इतना करने के बाद खुर्रम शाहजहाँ की उपाधि से अलंकृत हो पाया । तात्पर्य यह है कि देश की भयंकर स्थिति में सम्पूर्ण प्रजा चाहे वह हिन्दू रही हो अथवा मुसलमान, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से दुखी और विपन्न थी ।

पूरे मुस्लिम शासन-काल मे जब भी कभी हिन्दू रियासतो को अवसर मिला, वे स्वतन्त्र हो बैठी। दास, खिलजी, तुगलक, लोधी और मुगल वश के सभी शासक बार-बार राजपूतो को सिकस्त देते रहे किन्तु राजपूत मौका पाकर हर बार फिर उठ खडे हुए। आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी हिन्दुओ की यही जीवन्त शक्ति देखने को मिलती है। इसमे कोई सन्देह नही कि विपरीत और विषम परिस्थितियो मे भी यह जाति अपना अस्तित्व बनाए रही। शकराचार्य रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, निम्बार्क रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य जैसे सभी धार्मिक आचार्य मुस्लिम युग की ही देन हैं। इसे गुण कहा जाए अथवा अवगुण, ये भारतीय आचार्य देश की राजनैतिक परिस्थितियो से हमेशा निर्लिप्त रहे। ये लोग अपने मे डूबे हुए राजनैतिक परिवेश से मुख मोडकर अपना काम करते रहे। वस्तुत यह आवश्यक नही है कि किसी काल की प्रत्येक रचना पर उसकी राजनैतिक परिस्थिति का प्रभाव पडे ही। भक्त कवियो की रचनाएँ इसी प्रकार की रही हैं। कबीर और तुलसी मूलत रामानन्द से प्रभावित रहे हैं। जायसी के काव्य पर परम्परागत सूफी सम्प्रदाय का प्रभाव है और सूर काव्य वल्लभाचार्य का अनुगामी रहा है। इस प्रकार यह भक्तिधारा लौकिक प्रभाव से शून्य रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी का भक्ति-साहित्य धर्म-प्रधान देश भारत की परम्परागत, दर्शन प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा का अभिनव रूप है।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि भक्तिकालीन हिन्दू जनता पर मुसलमान शासको ने अत्याचार किए अवश्य, किन्तु निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि अहिन्दू जनता की स्थिति विशेष अच्छी थी। भक्तिकाल का भक्ति साहित्य प्राचीन दर्शन प्रवाह की अटूट धारा है न कि मुस्लिम अत्याचार से उत्पन्न दुरवस्था की प्रतिक्रिया। यह अलग प्रश्न है कि हिन्दुओ को इस भक्ति साहित्य के श्रवण श्रावण से उस युग मे सान्त्वना मिलती रही हो।

साहित्यिक परिस्थितियाँ

भक्तिकाल की तीन शताब्दियो मे उत्तर भारत मे हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त सस्कृत तथा फारसी भाषा का साहित्य भी निर्मित हुआ। पर इन दोनो प्रकार के साहित्य का इस काल के हिन्दी साहित्य पर किसी भी रूप मे प्रभाव नही पडा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधिकाश सस्कृत साहित्य लोक निरपेक्ष है और अधिकाश फारसी साहित्य उस युग का इतिहास प्रस्तुत करता है। सस्कृत के लेखको मे मल्लिनाथ, सायण, भट्टोजि दीक्षित रामचन्द्र और जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है। और फारसी मे मुगलकाल पूववर्ती इतिहास लेखको मे अलबेरूनी मिनहाज सिराज, जियाउद्दीन बर्नी और अफीफ का, तथा मुगलकालीन इतिहास लेखको मे जौहर अब्दुल फजल बदाँउनी, निजामुद्दीन अहमद, फजी, अब्दुल हमीद, अमीन और इनायतखाँ का। इनके अतिरिक्त मुगलकाल मे अनेक सस्कृत ग्रन्थो का फारसी मे भी अनुवाद हुआ। भक्तिकाल मे वीर रस प्रधान काव्य की रचना नही हुई है। हाँ, उसका प्रासगिक रूप से अन्य रसो के साथ वर्णन अवश्य हुआ है। राजस्थानी की

कुछ वचनिकाओं में तथा ब्रज भाषा की वार्ताओं तथा टीकाओं में गद्य का प्रयोग मिलता है किन्तु पद्य का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।
ही भक्ति साहित्य अधिक रचा गया है। डॉ शिवकुमार शर्मा का मत है भक्ति साहित्य में भारतीय संस्कृति और आचार विचार की पूर्णत रक्षा हुई है। भक्ति-काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है, वहीं उसमें उच्च काव्य के दर्शन भी होते हैं। इसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन स्रोत रस है उसका शरीर मानवीय है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है। एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है। यही साहित्य तथा परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। अतः इसे पराजित मनोवृत्ति परिणाम कहना नितान्त भूल होगी।"[2]

धार्मिक परिस्थितियाँ

भक्तिकाल जिस धार्मिक परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ है, वह एक की अथवा दो तीन दशकों की उपज नहीं है, बल्कि दो-तीन शताब्दियाँ सकी है। इस धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव आदिकालीन हिन्दी साहित्य पर लक्षित नहीं हो रहा—ऐसा पहले लिख आए हैं उसका प्रभाव भक्ति साहित्य पर असाक्षात् रूप से ही सही आकर पड़ा है, अतः इतिहासकार के लिए यह हो जाता है कि वह दो-तीन शताब्दियाँ पीछे हटकर उन धार्मिक परिस्थितियों विचार करे। तत्कालीन भारतीय धार्मिक परिस्थिति को दो रूपों में विभक्त आए हैं—बौद्ध धर्म की विकृत परिस्थिति और वैष्णव धर्म की परम्परा परिस्थिति। इनके अतिरिक्त एक तीसरी विदेशीय धार्मिक परिस्थिति ने भी में स्थान बनाया, जिसे हम सूफी धर्म कहते हैं।

महात्मा बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया—हीनयान और महायान। हीनयान में सिद्धान्त पक्ष की दार्शनिक जटिलता थी अतः कम लोगों की आस्था उस पर टिक सकी। महायान में सिद्धान्त के स्थान पर व्यवहार पक्ष की प्रधानता थी। उसमें आचार सम्बन्धी पवित्रता को ही का साधन माना गया और उसमें सभी वर्गों के लोगों का सम्मिलित होने की मिली। हीनयान अधिक कट्टरता के कारण संकुचित होता चला गया महायान अधिक उदारता के कारण विकृत। इसके साथ वाम मार्ग भी था जिसमें स्त्रियों को वश में करने के लिए नाना प्रकार के तन्त्र मन्त्र, आदि का प्रयोग किया जाता था। मन्त्रयान ने वाम मार्ग की मद्य, मांस मैथुन मुद्रा आदि अनेक मुद्राओं को अपना लिया। उसने महा-सुखवाद के स्थान पर साधना ने ले लिया। इसके लिए गुह्य बढ़ता जन गर्हित उपचारों का प्रयोग किया गया और नारी के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध को साधना का आवश्यक अंग समझ लिया गया। मन्त्रयान से वज्रयान निकला और उसमें चौरासी सिद्ध दीक्षित हुए सिद्धान्त तन्त्र-मन्त्रों को अपनाते हुए भी उसमें क्रान्ति मूलक परिवर्तन किए।

नाथ सम्प्रदाय का सिद्धों का एक बढ़ा हुआ परिष्कृत रूप समझना चाहिए। सिद्धों और नाथों के मुख्य मुख्य सिद्धांत ये—कर्मकाण्ड कुछ नहीं। वर्ण व्यवस्था अनावश्यक है। मोक्ष के लिए गुरु की परम आवश्यकता है। ईश्वर एक निराकारी तथा घट-घट व्यापक है। भक्ति की लहर दक्षिण से आई। शंकराचार्य से बहुत पहले दक्षिण देश में आलवार संतों में भक्ति का प्रसार एवं प्रचार हुआ। शंकराचार्य ने बौद्धधर्म के विरोध में अद्वैतवाद का प्रचार किया। इसकी प्रतिक्रिया में अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय चल निकले जिनमें नारायण की भक्ति पर विशेष जोर दिया गया और जनता को भक्ति का स्थूल आश्रय मिला। उनमें विष्णु के अवतारों—राम और कृष्ण की कल्पना हुई।

इधर भारत में मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व ही इन सूफियों ने यहाँ इस्लामी वातावरण तैयार कर लिया था और कुछ सम्प्रदाय भी खड़े कर लिए थे। इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद को अपने ढंग से अपनाया और प्रेम-स्वरूप निराकार ईश्वर का प्रचार किया। इन पर योग का प्रभाव भी स्पष्ट है। ये लोग इस्लाम को छोड़े बिना यहाँ के नाथ सम्प्रदाय तथा एकेश्वरवादी विचारों को अपनाते हुए समन्वय करने में अग्रसर हुए तथा हिन्दू मुस्लिम हृदयों के अजनबीपन को मिटाया।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

भक्तिकाल के प्रेरक बिन्दुओं में तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण भी पर्याप्त महत्त्व रखता है। भारतीय संस्कृति में यदि कोई सबसे बड़ी विशेषता मिलती है तो वह समन्वय की भावना है। पुराणों में इस समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति को पुनर्जाग्रत किया गया है। उनमें पूजा, उपासना और कर्म काण्ड के अन्तर्गत दार्शनिकता मिलती है। मूर्ति पूजा, तीर्थ यात्रा, धर्म-शास्त्रों का सम्मान कर्म फल में विश्वास, अवतारवाद तथा गौ और ब्राह्मण की पूजा पुराण धर्म की उल्लेखनीय विशेषताएँ रही हैं। इन विशेषताओं को हम भक्तिकाल में रचित सगुणवादी साहित्य में देख सकते हैं। बादरायण द्वारा रचित 'ब्रह्मसूत्र' एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें अनेक उपनिषदों में फैले हुए विभिन्न मतों के मध्य समन्वय करने का प्रयास किया गया है। शंकर का भाष्य ऐसा ही ग्रन्थ है जो भक्तिकाल के सभी सम्प्रदायों और मतों के लिए प्रेरणा स्रोत रहा है। तत्कालीन वातावरण में योग का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। इस प्रभाव के कारण ही भक्तिकालीन रचनाओं में भक्ति ज्ञान और कर्म के साथ योग शब्द को जोड़ दिया गया है। राम और शिव भगवती दुर्गा और वैष्णवी में भी समन्वय का प्रयास किया गया है जिसे हम तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में भी देख सकते हैं।

डॉ॰ शिवकुमार शर्मा ने लिखा है कि "समन्वयात्मकता की उक्त प्रवृत्ति धर्म के समान मूर्ति एवं वास्तुकलाओं में भी देखी जा सकती है। एलोरा के समीप कैलाश मन्दिर में शिव की मूर्ति के सिर के ऊपर बोधिवृक्ष स्थित है। चम्बानरेश अजय पाल के शासन काल में उत्कीर्ण कराए ब्रह्मा और शिव के साथ बुद्ध भी

है। खजुराहो से उपलब्ध कोक्कल के वद्यनाथ मन्दिर वाले शिलालेख म ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है। भक्ति आन्दोलन कदाचित इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है। इसी काल म हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट आई। संगीत, चित्र तथा भवन निर्माण कलाओं म दोनो संस्कृतियों के उपकरणों मे समन्वय प्रारम्भ हो गया। दोनों जातियों के साहित्य व शैलियाँ यत्किंचित रूप म एक दूसरे को प्रभावित करने लगी। ताजमहल और लाल किला भारतीय तथा ईरानी वास्तुकलाओं के सम्मिश्रण के उत्तम निदर्शन हैं। नायक-नायिकाओं के नयनाभिराम चित्रों तथा विविध कलमों के रूप म दोनों जातियों की चित्र कलाओं का समागम दर्शनीय है। भारतीय व ईरानी संगीत कलाओं का भी इस काल मे अद्भुत मणिकांचन योग हुआ। काव्यों म भी राग रागनियों का प्रयोग किया जाने लगा। आदि ग्रन्थ इसका उदाहरण है।'[3]

भक्ति-आन्दोलन का क्रमिक विकास

भक्तिकाल को पूर्व मध्यकाल के नाम से भी जाना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे यही नाम देना उचित समझा है। इस काल की पूर्वापर सीमाएँ सं० 1375 से 1700 तक मानी जाती हैं। भक्ति के प्रादुर्भाव के मूल म आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दुओं की चरम निराशा को मानते हैं। वे लिखते हैं—"देश म मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय म गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मन्दिर गिराए जाने लगे थे, देव-मूर्तियाँ तोड़ी जाती थी और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नही कर सकते थे। ऐसी दशा म अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नही रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[4]

बाबू गुलाबराय का मत है कि 'मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृत्ति म दो बातें सम्भव हैं। या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग विलास म पड़कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल म लोगों म प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई।[5] पाश्चात्य विद्वान् वेबर, कीथ ग्रियर्सन तथा विलसन आदि ने भक्ति को ईसाई धर्म की देन बताया है। वेबर महोदय ने महाभारत म वर्णित 'श्वेत द्वीप' को अन्य गौरांग जातियों का निवास स्थान करते हुए तथा जयन्तियाँ मनाने की प्रथा का सम्बन्ध ईसाईयत से स्थापित करते हुए भारतीय भक्ति भावना को ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आचार्य ग्रियर्सन का कहना है कि ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी म कुछ ईसाई मद्रास म आकर बस गए थे जिसके प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ। प्रो० विलसन ने भक्ति

को अर्वाचीन युग की वस्तु सिद्ध करते हुए कहा कि विभिन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् ने कृष्ण को क्राइस्ट का रूपान्तर कहकर अपनी कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। कहने वाले ने तो (डॉ ताराचन्द हुमायूं कबीर तथा डा आबिद हुसन) यहाँ तक भी साहस कर दिया कि समूचे का समूचा भारतीय भक्ति आन्दोलन मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क की देन है। और शंकराचार्य निम्बार्क, रामानुज रामानन्द, वल्लभाचार्य आलवार मत तथा वीरशैव और लिंगायत आदि सब सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं पर मुस्लिम प्रभाव है।

पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं के आलोक में डा शिवकुमार शर्मा ने दो टूक बात कही है। उनकी यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है— 'इन उपयुक्त लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों के विचारों को देखकर ऐसा लगता है जैसे कि भारत की सकल दार्शनिक विचारधारा का मूल आधार इस्लाम ही हो और मुस्लिम सम्पर्क से पूर्व जैसे कि भारत देश का निजी कोई दर्शन ही नहीं था। अस्तु इस विषय में हमें दृढता से स्मरण रखना होगा कि शंकर के अद्वैतवाद और मुसलमानों के एकेश्वरवाद में वृहत अन्तर है तथा अन्य धर्माचार्यों की दार्शनिक सरणि भी मुस्लिम सम्पर्क की प्रतिक्रिया से जन्य नहीं है। ऐसी धाराओं का प्रचार तथाकथित हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा राष्ट्रीयता के प्रचार के उद्देश्य से किया गया लगता है। इस प्रकार के अतिरंजक कथन नितांत भ्रामक और अविश्वास्य हैं। हमारा ऐसे विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि सत्य के अपलाप की कीमत पर तथाकथित राष्ट्रीय एकता का प्रचार वांछनीय नहीं है।'[6] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बाबू गुलाबराय के मत का खण्डन किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि भक्तिकाल का साहित्य प्राचीन दर्शन प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा है। हिन्दुओं की शोचनीय स्थिति का चित्र प्रस्तुत करते हुए आचार्य द्विवेदी जी ने लिखा है कि 'इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पर पड़ी हुई बहुत सारी जातियाँ छूट गई और बहुत दिनों तक न हिन्दू न मुसलमान बनी रही। बहुत सी पाशुपत मत को मानने वाली और न्यायान से गृहस्थ बनी जातियाँ धीरे-धीरे मुसलमान होने लगी। इस प्रकार की जुलाहा जाति नाथ मत को मानने वाली थी जो निरन्तर उपेक्षित रहने के कारण क्रमशः मुसलमान होती गई। इस जाति में मध्यकाल में स्वाधीनचेता संत कबीर उत्पन्न हुए।'[7]

भक्ति आन्दोलन ईसाई प्रभाव से भी युक्त है और दक्षिण भारत के आलवार भक्तों की भक्ति-धारा में भी गतिशील हुआ है। आलवार भक्त संख्या में बारह माने गए हैं। इन बारह भक्तों में अनेक ऐसे हैं जो इतिहास प्रसिद्ध हुए हैं। ऐसे भक्तों में आन्दाल नाम की एक भक्तिन हुई है। इस भक्तिन का विशेष महत्त्व रहा है। यह एक ऐसी भक्तिन थी जो मीरां के समान ही कृष्ण को अपना पति मानती थी और जीवन भर कृष्ण की भक्ति और साधना करते हुए अन्त में कृष्णमय हो गई। इन भक्तों का समय ईसा की प्रथम शताब्दी बल्कि इससे कुछ पूर्व से लेकर 8वीं–9वीं शताब्दी तक आंका गया है। इन भक्तों में भक्ति का व्यावहारिक पक्ष है। अनुमान

है कि भक्ति का सिद्धान्त-पक्ष बहुत पहले से चला आ रहा होगा। 10वीं-11वीं शताब्दी में आचार्य नाथ मुनि हुए, जिन्होंने वैष्णवों का संगठन, आलवारों के भक्तिपूर्ण गीतों का संग्रह, मन्दिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या आदि महत्त्वपूर्ण कार्य किए जिनसे भक्ति परम्परा को एक नया बल मिला। इन के उत्तराधिकारियों में रामानुजाचार्य हुए। इन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की। उन्होंने भगवान विष्णु की उपासना पर बल देते हुए दास्य भाव की भक्ति का प्रचार किया। इसी परम्परा में रामानन्द हुए, जिन्होंने राम को अवतार मानकर उत्तरी भारत में राम भक्ति का प्रवर्तन किया। आगे चलकर इसी सम्प्रदाय में महाकवि तुलसीदास हुए जिन्होंने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की कल्पना करके उसमें शील, शक्ति एवं सौन्दर्य का समन्वय किया। आगे चलकर इसी भक्ति शाखा में कृष्ण भक्ति की-सी रसिकता का समावेश हुआ और राम रसिक-सम्प्रदाय चल निकला।

भक्ति-आन्दोलन के उदय और विकास के सम्बन्ध में विद्वानों के मत अपने अपने ढंग से नया रूप लिए हुए हैं। वास्तविकता यह है कि यदि सभी विद्वानों के मतों पर दृष्टिपात किया जाए तो एक तत्त्व यह अवश्य स्पष्ट होता है कि भक्ति का उदय तत्कालीन परिस्थितियों में अनिवार्यता थी। सम्पूर्ण समाज, धर्म, राजनीतिक जीवन और सांस्कृतिक परिवेश ऐसा निराश, खिन्न और उदास हो गया था कि कहीं कोई रास्ता ही नहीं दिखलाई दे रहा था। भक्ति-भावना आस्था पर टिकी हुई है अतः वही एक मात्र मार्ग बचा था जो भक्ति परक साहित्य की प्रेरणा भूमि बन सकता था। इसी भूमिका पर भक्तों ने अपने कदम बढ़ाए और सफलता प्राप्त की।

भक्ति काल में भक्ति के बहुमुखी आयाम और उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति की प्रचुरता दिखाई देती है। हिन्दी साहित्य की श्री-वृद्धि में इस काल में भक्तों, सन्तों और रसिकों ने अपनी रचनाओं से भरपूर योग दिया है। भक्तिकालीन साहित्य अपने गुणात्मक और परिमाणात्मक रूप में युगों तक हिन्दी को गौरव प्रदान करता रहेगा। भक्तिकाल की राजनीतिक पृष्ठभूमि का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। वस्तुतः ये राजनीतिक परिस्थितियाँ ही भक्ति साहित्य की प्रेरणा के मूल में हैं। इन्हीं की सूक्ष्म प्रेरणाएँ अन्तर को भिगोती रहीं और एक दिन स्वतः ही अनेक भावुक तथा विकसित लोगों के कण्ठों से उस अनन्त शक्ति का सहयोग और उसकी अनुकम्पा पाने के लिए काव्य फूट पड़ा। हिन्दू लोग आर्थिक दृष्टि से हीन थे। अधिकांश हिन्दू निर्धनता, अभावों से पीड़ित और आजीविका के लिए निरन्तर संघर्षरत थे। उनका रहन-सहन भी निम्न कोटि का था। मुसलमान भी शिया-सुन्नी के झगड़ों में व्यस्त ही रहते थे और आपस में लड़ते झगड़ते थे। कई क्षेत्रों में हिन्दू मुसलमानों में सहयोग के आधार भी तैयार हो रहे थे। वास्तुकला, चित्रकला, धर्म और साहित्य के क्षेत्र में आदान प्रदान प्रारम्भ हो गया था। भवनों और चित्रों में राजपूत शैली और मुसलमानी शैली का प्रयोग होने लगा था।

आदिकाल में वज्रयानी सिद्धो और कापालिका ने देश के पूर्वी भाग म और नाथपथी योगियो ने पश्चिमी भाग मे अपनी अटपटी वाणी का प्रचार प्रसार कर दिया था। जनता की सच्ची धम भावना का ह्रास हो रहा था। बौद्ध धम की विकृतियाँ सारे धम क्षेत्र को विकृत कर रही थी। इन बौद्धा और नाथो ने बाहरी विधि विधानो, तीर्थाटन, पवस्नान आदि की निस्सारता का प्रतिपादन किया था, किन्तु कम के लोक कल्याणकारी स्वरूप से साक्षात्कार नही कराया था जिसके कारण धम पगु हो गया था। दूसरी ओर भक्ति आन्दोलन न अपना विस्तार किया। आचाय शुक्ल के शब्दो मे— क्रमश भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट मे केवल हिन्दू जनता ही नही देश मे बसने वाले सहृदय मुसलमानो में से भी न जान कितने आ गए थे। प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कविया ने हिन्दुओ और मुसलमान दोना ही को मनुष्य के सामान्य रूप म दिखाया और भेदभाव के दृश्यो को हटाकर पीछे कर दिया।"[8] भक्ति की यह लहर दक्षिण से आई थी। शकराचाय ने बहुत पहले अपने अद्वैत का प्रतिपादन कर हिन्दू-धम म आस्था का पुन बीजारोपण किया था। दक्षिण के आलवार भक्तो ने भक्ति का प्रचार प्रसार किया था। उत्तर भारत मे भी दक्षिण के आचार्यो और पण्डितो ने भक्ति का विस्तार किया था। रामानुजाचाय (स 1073) न शास्त्रीय पद्धति से सगुण भक्ति का निरूपण किया था, जिसकी ओर जनता का आकषण दिन प्रतिदिन बढ रहा था।

शकर के अद्वैत की प्रतिक्रिया मे कई दाशनिक मत उभरे जिन्होने सगुण भक्ति का पुष्ट किया। रामानुजाचाय ने विशिष्टाद्वैत का दाशनिक मण्डन किया। गुजरात के मध्वाचाय (स 1254 से 1333) ने द्वैतवाद का प्रवतन किया। वल्लभाचाय ने सोलहवी शत म शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया जिसम भगवान श्रीकृष्ण और राधा की भक्ति का विधान है। कृष्ण-भक्ति शाखा का विकास शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैतवाद के प्रभाव म हुआ। दूसरी ओर 15वी शताब्दी म रामानुजाचाय की शिष्य परम्परा मे रामानन्द हुए जिन्होने विष्णु के अवतार राम की भक्ति के द्वार सबके लिए खोल दिए। रामानन्द ने राम भक्ति शाखा तथा तुलसीदास के लिए पृष्ठभूमि तयार कर दी।

इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तो की परम्परा का विकास प्रारम्भ हुआ। हिन्दी काव्य को प्रौढता तक पहुँचाने का श्रेय इन्ही राम और कृष्ण भक्ति शाखाओं के कवियो को प्राप्त है। एक ओर सगुण भक्ति के लिए भूमि तयार हो रही थी दूसरी ओर मुसलमान भी अब अपने आपको यहाँ का निवासी मानने लग थ। नई परिस्थितियो म हिन्दुओ और मुसलमानो दोनो के लिए सामान्य भक्ति माग का विकास होने लगा था। सिद्धो और नाथो की अन्त साधना से कुछ मुसलमान भी प्रभावित हुए थ और उ हिन्दू मुसलमान के भेद से ऊपर उठ रहे थ। मुस्लिम आक्रमण से पूव यहाँ सूफियो का आना जाना था। उनके कुछ सम्प्रदाय [illegible] वातावरण का निर्माण कर रहे थ। सूफी भारतीय अद्वैतवाद के सम्पक म आय

और इन्होंने अद्वैतवाद के ढंग पर प्रेम स्वरूप निराकार ईश्वर का प्रचार किया। इस्लाम के अनुयायी रहकर भी इन्होंने नाथ सम्प्रदाय तथा एकेश्वरवाद को अपनाते हुए हिन्दू-मुसलमानों के हृदयों के अजनबीपन को मिटाया। भक्तिकाल के प्रेम मार्ग का विकास इन्हीं सूफियों से हुआ।

भक्ति का उदय और हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—भक्ति एक आन्दोलन है, जिसका प्रादुर्भाव तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की प्रेरणा से ही हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस्लाम की विजय और हिन्दुओं की पराजित वृत्ति को इसका कारण स्वीकार किया है। दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वान् वेबर, कीथ, ग्रियर्सन आदि भक्ति को ईसाई धर्म की देन मानते हैं। ग्रियर्सन का विश्वास है कि ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी में ईसाई लोग मद्रास में आकर बस गए थे तथा उनके भक्ति गीतों के प्रभाव से दक्षिण में भक्ति का विकास हुआ। एक अन्य विद्वान् ने तो कृष्ण को क्राइस्ट का ही विकृत रूप बताने का प्रयत्न किया है। डॉ. ताराचन्द, हुमायूं कबीर आदि ने समूचे भक्ति आन्दोलन को मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क का परिणाम बताया है। वे शंकराचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, वीर शैव, लिंगायत आदि दार्शनिक मतों तथा सम्प्रदायों पर भी मुस्लिम प्रभाव को देखते हैं। इससे ऐसा लगता है मानो दार्शनिक उपलब्धि के क्षेत्र में भारत अति प्राचीनकाल से ही दरिद्र था, जिसने मुसलमानों से ही दर्शन सीखा हो। यह मत कतई भ्रामक है क्योंकि अद्वैतवाद और मुस्लिम एकेश्वरवाद में जमीन-आसमान का अन्तर है। भक्ति आन्दोलन का भक्त कवियों पर प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि सभी भक्त कवि भक्ति आन्दोलन की धारा में आकण्ठ निमग्न हो गए। वास्तविकता यह थी कि भक्ति आन्दोलन जिस प्रकार प्रारम्भ हुआ था, उसी तरह बड़ी तीव्रता से विकसित होता हुआ चला गया। यह आन्दोलन की प्रतिक्रिया किसी की भी रही हो और इस पर किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा हो, किन्तु इसकी गति की तीव्रता ने कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे अनेक कवियों को समेट लिया। सूरदास और तुलसीदास इस भक्ति आन्दोलन की छाया में ही अपने काव्य का सृजन और चिन्तन कर सके हैं। सूरदास का पुष्टि सम्प्रदाय में विकसित होना और तुलसी का राम भक्ति की ओर उन्मुख होना भक्ति आन्दोलन की ही देन कही जा सकती है। हम यह मानते हैं कि हिन्दू आशावादी और आस्थावादी रहे इसी आस्था का बल देने का काम भक्ति आन्दोलन ने किया जिसका परिणाम सूर व तुलसी जैसी विभूतियाँ तथा कबीर जैसा क्रान्तिकारी भक्त हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुआ। एक प्रकार से भक्ति आन्दोलन प्रभाव की दृष्टि से भी पर्याप्त सशक्त रहा है। भक्ति आन्दोलन के प्रभाव की प्रक्रिया उसके उदय की ही भाँति तीव्र और शक्तिशाली रूप लेकर समूचे भक्तिकाल में व्याप्त रही है। यह अलग बात है कि भक्ति आन्दोलन का लोग तरह-तरह की प्रतिक्रियाओं और प्रभावों की छाया में देखने के आदी हो गए हैं। इस दृष्टि से अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किए हैं।

कुछ भारतीय विद्वान् तिलक आयगर, राय चौधरी आदि इसे भारतीय दशन का ही उपजीव मान्ते हैं। आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी से भी असहमति व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'यदि भक्ति पराजित मनोवृत्ति की देन होती तो उसका जन्म और विकास दक्षिण म न हुआ होता। उत्तर भारत म भी राजपूत शासक मुस्लिम आक्रान्ताओ से प्राणपण से उत्साहपूवक जूझते रहे थे। निराशा उनम भी नही थी। हिन्दू सदा से आशावादी रहे हैं। विषम परिस्थितियो म जीवित रहने की उनम शक्ति है।'[9] शकर, रामानुज, वल्लभ, रामानन्द आदि सब विषम और विपरीत परिस्थितिया मे ही पदा हुए थ। कबीर, नानक सूर तुलसी भी एसी विषम परिस्थितिया की देन ह।

बाबू गुलाबराय भी इसे मुस्लिम राज्य की प्रतिक्रिया नही मानते। वे भक्ति काव्य मे भारतीय सस्कृति और आचार विचार की रक्षा मानत है। यह साहित्य हृदय मन और आत्मा को तृप्त करने वाला है। भक्ति-आन्दोलन ने हिन्दुओ मे आशावादी दृष्टिकोण का विकास किया है। मुसलमानो के सम्पक मे आने पर हिन्दुओ की पाचन शक्ति नष्ट हुई तथा उसम जात पात की सकीणता विकसित हुई। स्वय मुसलमानो म जाति-भेद नही था। अत इस भक्ति आन्दोलन को किसी भी प्रकार मुस्लिम प्रभाव की दन नही कहा जा सकता।

आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति आन्दोलन पर ईसाई प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखा है—"इस प्रकार के अवतारवाद का जो रूप ह, इस पर महायान सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नही कि प्राचीन हिन्दू चिन्तन के साथ उनका सम्बन्ध एकदम है ही नही पर सूरदास तुलसीदास आदि भक्तो मे उसका जो स्वरूप पाया जाता है वह प्राचीन चिन्तनो स कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने मे ग्रियसन केनेडी आदि पण्डितो न उसमे ईसाईपन का आभास पाया था। उनकी समझ म नही आ सका कि ईसाई धम के सिवाय इस प्रकार के भाव और कहीं स मिल सकते ह। लेकिन आज की शोध की दुनियाँ बदल गई है। ईसाई धम म जो भक्तिवाद ह वह महायानियो की देन सिद्ध होने को चला ह क्योंकि एसे बौद्धो का अस्तित्व एशिया की पश्चिमी सीमा म सिद्ध हो चुका है और कुछ पण्डित तो इस प्रकार म प्रमाण पान का दावा करन लगे हैं कि स्वय ईसा मसीह भारत के उत्तरी प्रदेश म आये और बौद्ध धम मे दीक्षित भी हुए तथा यहाँ शिक्षा ग्रहण की।[10]

डा रामरतन भटनागर भक्ति आन्दोलन को पौराणिक धम का पुनरुत्थान मानत हैं। डा भण्डारकर अवतारवाद को वैदिक साहित्य म ही ढूढ लेते हैं। डा सत्येन्द्र भक्ति का उद्‌भव द्राविडो से मानत हैं दक्षिण के वष्णव भक्तो म नही। भक्ति द्राविडी उपजी, लाए रामानन्द इस उक्ति क अनुसार भक्ति की उत्पत्ति द्राविडो म हुई थी किन्तु हडप्पा और मोहनजोदडो की सभ्यता का अन्वेषण करने से ज्ञात होता है कि द्राविड तो स्वय एकेश्वरवादी थ।

गीता और महाभारत म भक्ति का स्पष्ट प्रतिपादन मिलता ह। पौराणिक धम म भक्ति की भावना का प्रमुख स्थान था। उसम जन और बौद्ध धम की स्पर्धा म टिकन की शक्ति अवतारवाद की कल्पना से प्राप्त हुई। नारद भक्ति-सूत्र म भक्ति का सागोपांगी विवेचन मिलता है। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र म भी भक्ति का विवेचन है। भक्ति के व्यावहारिक स्वरूप का विकास पुराण साहित्य म हुआ। आठवी-नवी शती म दक्षिण मे पौराणिक धम का विकास हो चुका था। दसवी ग्यारहवी शती म नाथ मुनि ने वष्णवो का सगठन किया, आलवारो के भक्ति गीतो का सग्रह किया, मदिरो म कीतनो की व्यवस्था तथा वष्णव सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा की जिससे भक्ति परम्परा को नया आयाम मिला। विशिष्टताद्वत के प्रवतक रामानुज की परम्परा म रामानन्द हुए जिन्होन राम-भक्ति शाखा का प्रवतन किया। महाकवि तुलसीदास उसी परम्परा म हुए जिन्होन राम के शील, शक्ति और सौन्दय का आधार मानकर भक्ति साधना की।

दूसरी ओर द्वतवाद क प्रवतक मध्वाचाय, द्वताद्वत के निम्बार्काचाय तथा शुद्धाद्वत क प्रवतक वल्लभाचाय हुए। मध्वाचाय न शकर के मायावाद का खण्डन किया। निम्बाक न लक्ष्मी और विष्णु क स्थान पर राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया तथा वल्लभाचाय न बाल कृष्ण की उपासना पर विशेष बल दिया। वल्लभाचाय की उपासना पद्धति पुष्टि माग के नाम स जानी जाती ह। कृष्ण भक्ति क उपासक चतन्य महाप्रभु, स्वामी हरिदास का सखी सम्प्रदाय तथा हितहरि वश का राधावल्लभ सम्प्रदाय आदि हुए। कृष्ण-भक्ति म माधुय भाव की प्रतिष्ठा क साथ उसम घोर शृगारिकता आ गई।

बौद्ध सिद्धो ने तथा नाथो न धम म जाति पाति तथा बाह्य बधनो को स्वीकार नही किया। व ईश्वर को घट के भीतर बतात थे। योग के द्वारा नाडी-साधन और इन्द्रिय निग्रह को सिद्ध व नाथो न श्रेयस्कर समझा। फलस्वरूप सन्त मत के लिए भूमि तयार हो गई। इसम मुसलमानो न भी अपन समाज की अनुकूलता दखी। फलत हिन्दू और मुसलमान दोनो इस प्रकार की निगुण भक्ति धारा म आ गय। कबीर नानक दादू आदि सन्त भी भक्ति के उन्नायक रह हैं।

इसी समय कुछ सूफी मुसलमान हिन्दू घरो की प्रेम कहानियाँ लेकर ईश्वर क प्रेमस्वरूप का दिग्दशन करा रह थे। य हिन्दू मुसलमानो का भावात्मक एकता क सूत्र म बाध रह थ। दक्षिण भारत का भक्ति आन्दोलन उत्तर भारत के पौराणिक धम स जब मिला तो उसम दुगुनी शक्ति आ गई। ईश्वर के साथ वयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करक उसम अवतारवाद की कल्पना जोडकर सगुण भक्ति धारा का उन्नयन हुआ। यह भक्ति धारा आकस्मिक नही जन्मी वरन लम्ब समय तक विचार मथन परम्परा और विश्वासो का दोहन करन स प्राप्त हुई है। इस भक्ति साहित्य म जीवन के समस्त विषाद और निराशाएँ बह जाती है। यह जीवन की आस्था स वष्टित है। यह साहित्य मनुष्य जीवन क एक लक्ष्य को लेकर चला है, यह लक्ष्य

ब्रह्म की उपासना पर बल देने के कारण हिंदू मुसलमान दोनों के लिए जो सामान्य भक्ति मार्ग प्रस्तुत किया गया, उसके प्रस्तुतकर्ता संत (निर्गुण) कहलाये। पूर्व मध्यकाल के अन्तर्गत जिन कवियों और उपदेशकों ने ईश्वर के निः काव्य में स्थान दिया, वे भक्तिवादी तो थे किन्तु ज्ञानमार्गी सन्त कहलाए। पं रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति की इस धारा को ज्ञानाश्रयी शाखा कहा है श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी उसे ज्ञानाश्रयी निर्गुण शाखा ही माना है, डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे निर्गुण भक्ति साहित्य कहते हैं और डा रामकुमार वर्मा के शब्दों में वह 'सन्तकाव्य परम्परा' है। इस सन्दर्भ में एक बात समझ लेना आवश्यक है कि ज्ञानाश्रयी शब्द से सामान्यतः यह भ्रान्ति होती है कि इस धारा के कवियों ने 'ज्ञान तत्त्व' को अधिक महत्त्व दिया है, जबकि वस्तुस्थिति यह है। इन्होंने प्रेम के ढाई अक्षरों के सामने संसार के समस्त ज्ञान को तुच्छ कहा है अतएव इस काव्यधारा को ज्ञानाश्रयी निर्गुण धारा कहने की अपेक्षा सन्त-काव्य अथवा संत परम्परा' कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

संत-काव्य का स्वरूप

सन्त काव्य का स्वरूप क्या रहा है, इसे स्पष्ट करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि संत शब्द का क्या अर्थ है? इसी आधार पर यहाँ पहले सन्त का अर्थ विश्लेषण किया जा रहा है।

संत शब्द का अर्थ विश्लेषण—सन्त शब्द सत् धातु से बना है व्यापक अर्थ में हम किसी भी ईश्वरोन्मुखी सज्जन पुरुष को संत कह सकते हैं। संत शब्द का पारम्परिक अर्थ महात्मा, सज्जन, त्यागी, सिद्ध या कभी कभी भक्त का भी द्योतन करता है। परन्तु कुछ समय से मध्यकालीन हिंदी काव्य की निर्गुण धारा के लिए सन्त काव्य और निर्गुण धारा के कवि के लिए संत-कवि शब्द प्रचलित हो गए हैं। भक्ति का आलम्बन सगुण ईश्वर अधिक उपयुक्त है। निर्गुण भक्ति नाम, कतिपय विद्वानों की दृष्टि में अपने आप में एक असंगति करता है। वस्तुतः इस काव्यधारा के कवियों का एक दृष्टिकोण है, जो संत द्वारा व्यंजित होता है। इस सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों ने संत शब्द की व्या विभिन्न प्रकार से की है। डा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने सन्त शब्द की व्युत्पत्ति 'शान्त' शब्द से मानते हुए इसका अर्थ निवृत्ति मार्गी या वैरागी किया है। परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार सन्त' शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है, जिसने सत् रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो जो सत्यस्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो, अर्थात् अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो, वही संत है। डॉ विनयमोहन शर्मा ने व्यावहारिक दृष्टि से सन्त का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है—'जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलनभाव को साध्य मानकर लोक मंगल की कामना करता है, वह सन्त है।"

हमारे विचार से इस शब्द की व्याख्या सम्बन्धी अधिक उहापोह अनावश्यक है। व्यापक एव व्यावहारिक अथ मे हम किसी भी ईश्वरोन्मुखी अथवा सज्जन व्यक्ति को सन्त कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के अन्तगत सन्तो के जो लक्षण दिए हैं, वे इसी व्यापक अथ को लक्ष्य करके लिखे गए हैं— सन्त' समागम हरि-भजन, तुलसी दुलभ दोय' तथा—"जड चेतन गुण मय विश्व कीह्न करतार। सत-हस पयगुन गहहिं परिहरि बारि बिकार" इत्यादि। सकुचित या रूढ अथ मे केवल निगुणो पासको को ही सन्त कहा जाता है तथा सगुणोपासको को भक्त कहा जाता है। यद्यपि व्यापक अथ म सन्त और भक्त समानार्थी हैं तथापि सन्तकाव्य से कबीर, दादू आदि के काव्य का बोध होता है तथा तुलसी, सूर आदि के काव्य को भक्ति काव्य कहा जाता है।

सत और सतकाव्य शब्दा का प्रयोग बहुत प्राचीन है। इसका सवप्रथम प्रयोग कालिदास मे मिलता है। महाकवि लिखत हैं—"सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढ पर प्रत्ययनेय बुद्धि ।" यहाँ सत शब्द का प्रयाग ठीक इसी अथ मे हुआ है, जिस अथ मे आज वह हिन्दी के निगुणियाँ कवियो के लिए प्रयुक्त होता है। सत उन्हीं महात्माओ को कहा गया है जो जीवन म सत्यखडा का स्वय साक्षात्कार करते थे। वे जीवन की प्रयोगशाला मे सत्य का अनुसधान करते थे तथा सत्य और असत्य का निणय करके सत्य का साक्षात्कार करते थे। साक्षात्कार किये हुए सत्य-खण्डो की अभिव्यक्ति को कबीर ने 'साखी' कहा है—साखी आँखो ज्ञान की, यथा—तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आँखिन की देखी। कबीर ने स्पष्ट घोषित किया है—

साई यहै बिचारिया साखी कहै कबीर।
भव सागर मे बीच मे, काई पकडे तीर ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास ने सत के जिन लक्षणो के प्रति सकेत दिया, वे निगुणिया सतो के प्रधान गुण थे। कबीर का यह कथन द्रष्टव्य है—

निरबैरी निहिकामना साई सेती नेह।
विपया सूँ न्यारा रहे सतन का अग एह ॥

सतों ने वैष्णव भक्ति के कई तत्वो को ग्रहण किया है। सवप्रथम तो उन्होने इश्वर के पर्यायवाची के रूप मे राम गोविन्द, हरि आदि शब्दो का प्रयोग किया है। दूसरे उन्होंने सगुण साधको के समान अपनी आत्मा को परमात्मा की अपेक्षा किंचित हीन माना है। महाराष्ट्रीय सतो ने प्रेमासक्ति व तन्मयता ग्रहण की है। अस्तु परन्तु फिर भी सत और भक्त दो भिन्न अभिधान हैं। यद्यपि तत्वत निगुणमार्गी साधनामूलक चिन्तन मे कोई अतर नही है तथापि इसमे कुछ व्यावहारिक भेद अवश्य हैं, जिसकी अपेक्षा नही की जा सकती है। "निर्गुण कहे सगुण बिन सो गुरू तुलसीदास' कहने वाले गोस्वामी तुलसीदास ने श्रेष्ठ सत का वणन करते समय सत की प्रधान विशेषता सगुणोपासना बतलाई है। यह बात दूसरी है कि सगुणोपासको के अतिरिक्त वे महात्मा भी सत पद के अधिकारी हैं जो वर्णाश्रम व्यवस्था मे आस्था रखते हुए द्विजपद प्रेम साधक हैं—

सगुण उपासक परहित, निरत नीति दृढ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विजपद प्रेम॥

सगुण धारा के भक्तो और निर्गुण धारा के मध्य अन्तर करने के लिए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन पर्याप्त होना चाहिए, "सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारो को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियो अर्थात् नाथ पंथियो के निर्गुण ब्रह्म को। प्रथम ने हिन्दू जाति के बाह्याचार की शुष्कता को दूर करने का प्रयास किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का, एक ने श्रद्धा को पथ प्रदर्शक माना दूसरी ने ज्ञान को, एक ने सगुण भगवान को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण राम को। सगुण भाव के भक्तो की महिमा उनके प्रशान्त धैर्य और अध्यवसाय मे है किन्तु निर्गुण श्रेणी के भक्तो की महिमा उनके उत्कट साहस मे है। एक ने सब कुछ स्वीकार करने का अद्भुत साहस दिखाया और दूसरी ने सब कुछ छोड देने का असीम साहस।" 'सत' शब्द का प्रयोग निर्गुण और सगुण दोनो प्रकार की भक्ति की धाराओ के अन्तर्गत किया गया है, परन्तु धीरे धीरे यह शब्द निर्गुणिये कवियो के अर्थ मे रूढ हो गया है।

सत मत की पृष्ठभूमि—भारतीय साहित्य का मध्ययुग दो सशक्त संस्कृतियो के सघर्षपूर्ण संगम की अत्यन्त करुण गाथा है। रक्त के प्यासे और धर्मान्ध मुसलमान आक्रमणकारियो के प्रहार और शोषण ने समक्ष सीना तानकर पहाड की भाँति डटे जाने वाली हिन्दू जाति के मर मिट कर भी अपने धर्म की रक्षा की सफलता की यह कुतूहलपूर्ण कहानी है। इस सक्रान्ति काल मे अनेक राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए जिसने तत्कालीन अध्यात्म चिन्तन और साधनामूलक आचार को बहुत व्यापक रूप मे प्रभावित किया। इस कोलाहलपूर्ण वातावरण मे हमारे सत भक्त धार्मिक वातावरण को किस प्रकार बनाये रहे यह एक विचित्र किन्तु सत्य गाथा है। ईसा की सातवी आठवी शताब्दी तक आते आते बौद्ध धर्म वज्रयान मे तन्त्रवादी रूप धारण कर चुका था। सिद्ध और योगी बौद्ध धर्म के ध्वसावशेषो के रूप मे तारा, कुरया आदि की तान्त्रिक पूजा के द्वारा जनता को प्रभावित कर रहे थे। समाज मे अन्धविश्वासो का साम्राज्य था। इन तान्त्रिको का विरोध करने के लिए साधक महात्माओ—सरहपा, लुहिपा, कण्हपा, करेडिया आदि का एक बडा दल सामने आया जिन्होने अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का बीजारोपण किया। इन्हे हिन्दी का आदि कवि माना जाता है। इन्होने परम्परागत काव्य भाषा-संस्कृत और पालि को त्यागकर अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी जनभाषा देशिल बयना मे अपनी वाणी मुखरित की। इसी परम्परा का किंचित विकसित रूप गोरखनाथ के नाथ सम्प्रदाय मे प्रकट हुआ और इसी परम्परा मे आगे चलकर सत साहित्य की रचना हुई।

सत मत के प्रेरक तत्त्व—उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा या सत काव्य के विकास मे योग देने वाले प्रमुख प्रेरक तत्त्व अथवा सत काव्य के प्रमुख स्रोत अग्र प्रकार हैं—

अपभ्रंश साहित्य—अपभ्रंश के सिद्ध जैन मुनियों के उपदेशपरक मुक्तक-काव्य की अनेक विशेषताओं का प्रभाव संत-कवियों पर पड़ा, जैसे परम्परागत व्यवस्था का विरोध, बाह्य पद्धतियों का खण्डन, स्वानुभूतियों की व्यंजना, रूपक उलटवासियों एवं प्रतीकों का प्रयोग, मुक्तक पद-शैली का प्रयोग, जनभाषा को अपनाना आदि। इतना अवश्य है कि सिद्धों ने अपनी साधना-पद्धति के अन्तर्गत स्थूल शृंगारिकता को स्थान दिया था, जबकि संतों ने उसको परिष्कृत करके सूक्ष्म प्रणयानुभूतियों के रूप में ग्रहण किया। वस्तुतः साहित्यिक विषयों, रस, शैली एवं विभिन्न प्रवृत्तियों की दृष्टि से संत-काव्य का सिद्धों एवं जैन मुनियों की अपभ्रंश की रचनाओं के साथ गहरा सम्बन्ध है।

नाथ पंथ—साधारणतः गुरु गोरखनाथ को नाथ पंथ का प्रवर्तक माना जाता है। इस पंथ के अनुयायी शिव के उपासक हैं और इनकी साधना-पद्धति में तन्त्र-मन्त्र एवं योग साधना को बहुत महत्त्व दिया जाता है। नाथपंथी योगियों के चमत्कारों का जनता पर गहरा प्रभाव था। इनके कारण भक्ति के सच्चे स्वरूप के प्रचार में बाधा पड़ती थी। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए संतों ने एक अभिनव मार्ग, अपनाया। उन्होंने एक ओर तो पिंगला, इड़ा, सुषुम्ना, ब्रह्म-रन्ध्र, कुण्डलिनी आदि की नये ढंग से व्याख्या की तथा दूसरी ओर यौगिक समाधियों के स्थान पर सहज-प्रेम की तन्मयता का प्रतिपादन किया। इस प्रकार संत-कवियों ने अप्रत्यक्ष रूप से नाथ पंथ का खण्डन किया। नाथ पंथ की साधना में प्रचलित शब्दों के प्रयोग द्वारा उन्होंने नाथ-पंथियों को उन्हीं के दाँव पर परास्त किया था, यथा—

अवधू अच्छर है सो न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा॥
× × ×
गगना-पवना दोनों बिनसैं, कहाँ गया जोग तुम्हारा।

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन—संत मत के प्रवर्तन काल तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द आदि कई वैष्णव आचार्यों द्वारा भक्ति आन्दोलन का प्रचार-प्रसार किया जा चुका था। संत कवियों ने वैष्णव भक्ति के अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया, यथा—ईश्वर के पर्यायवाची शब्द—राम, गोविन्द, हरि आदि तथा उनकी प्रेम लक्षणा भक्ति। कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर, रविदास, सेना, पीपा अनेक संत कवि स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। संतों ने प्रेम तत्त्व वैष्णवों से ग्रहण किया था, अथवा सूफियों से, इसका उत्तर यह है कि संतों ने वैष्णवों के प्रति तो श्रद्धा व्यक्त की, यथा—

मेरे संगी दो जणाँ, एक वैष्णो एक राम
वो है दाता मुकति का, जे सुमिरावैं राम

और सूफी दरवेशों के प्रति इन्होंने उपेक्षा की अभिव्यक्ति की, यथा—

पुस सबूरी बाहिरा, क्या हज काबे जाइ।
जिनका दिल स्याबित नहीं, तिनकौं कहा-खुदाइ ?

महाराष्ट्रीय संत सम्प्रदाय—हिन्दी प्रदेश अथवा उत्तर भारत में संत प्रचार होने से पूर्व उसका विकास महाराष्ट्र में हो चुका था। महाराष्ट्र में ब तेरहवीं शताब्दी में महानुभाव सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय आदि की स्थापन जिनकी साधना-पद्धति और अभिव्यंजना शैली का संत मत एवं संत काव्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस संदर्भ में संत ज्ञानेश्वर का नाम विशेष महत्त्वपू इन्होंने सन् 1197 में वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना की। ज्ञानेश्वर की प में निवृत्तिनाथ, मुक्ताबाई, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि हुए। इनमें अनेक ने हिन्दी में भी काव्य रचना की। भगवान के प्रति दृढ़ अनुराग मिलनाकांक्षा, निवेदन, अद्वैत-दर्शन का प्रतिपादन, गुरु का महत्त्व, मूर्ति-पूजा व जाति व्यवस्था का विरोध, योग-साधना का खण्डन, हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रति आदि बातें महाराष्ट्र के संतों और उत्तर भारत के हिन्दी संत कवियों में समान से पाई जाती हैं।

इस्लाम धर्म—संत मत में निर्गुणोपासना, वर्ण-व्यवस्था एवं मूर्ति-पूजा विरोधी जैसी बातें देखकर कुछ लोग यह कह देते हैं कि संत मत इस्लाम की है अथवा उसकी ये बातें इस्लाम के प्रभावस्वरूप हैं। हमारा निवेदन है कि मत की प्रवृत्तियाँ इस्लाम के बहुत पूर्व प्रचलित थीं और फिर संत लोगों ने मूर्ति पूजा और तीर्थ-स्नान आदि का विरोध किया है तो उन्होंने रोजा, नमा मस्जिद आदि की भर्त्सना की है। इसके अलावा वे ईश्वर का गुणगान करते स राम अथवा गोविन्द का नाम लेते हैं, अल्लाह या खुदा का नहीं। विधि निषेधों चर्चा करते समय संतों ने हिन्दू शास्त्रों का आभार स्वीकार किया है, कुर का नहीं। वस्तुतः संत मत के खण्डनात्मक पक्ष तक ही इस्लाम का प्रभ सीमित है, उसका मण्डनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू-दर्शन के ही तत्त्वों परिपूर्ण है।

संत काव्य का प्रवर्तन—संत मत का उदय आकस्मिक नहीं था। संत म के अस्तित्व का आभास हमें कालिदास के समय से उपलब्ध होता है। फिर भ मत मत का प्रवर्तन सर्वप्रथम महाराष्ट्र के संतों द्वारा किया गया। महाराष्ट्र के संतों में नामदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनकी विचारधारा में संत मत के प्राणभूत तत्त्व सवलित थे। नामदेव की विचारधारा के प्रचार में संत त्रिलोचन, सदन, वेणी आदि ने अपना योग प्रदान किया। आचार्य रामानन्दजी ने संत मत के बीजाणु इन्हीं से ग्रहण किए थे और उन्हें अपने व्यक्तित्व की छाप के साथ कबीर को अर्पित किए। निम्नलिखित दोहा हमारे उक्त कथन का सारांश प्रस्तुत करता है—

> भक्ति द्राविड़ी ऊपजी लाये रामानन्द।
> परगट किया कबीर ने सप्तदीप नवखंड॥

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट है कि संत मत एवं संत काव्य विदेशी साहित्य अथवा आग्नेय धर्म-साधना के प्रभाव से विकसित सम्प्रदाय एवं साहित्य

नही है। वह तत्कालीन भक्ति आन्दोलन द्वारा प्रभावित अपभ्रंश की काव्य धारा विशेष का विकसित रूप है जो महाराष्ट्र मे होता हुआ हिन्दी-प्रदेश मे पहुँचा और जिसका नेतृत्व कबीर ने किया।

यद्यपि नामदेव सतकाव्य परम्परा के प्रवतक थे तथापि अधिकाँश विचारक कबीर को ही उत्तर भारत मे सत काव्य का प्रवतक मानते हैं। इसका मूल कारण है, नामदेव का व्यक्तित्व कोमल था और वह अपने किसी सघष या वाग्युद्ध मे प्रवृत्त नही हुए। कबीर का व्यक्तित्व प्रखण्ड था। उन्होने काशी के पण्डितो को ललकारा और अपनी युक्तियो से उनके मुह बन्द कर दिए। उन्होने अपनी प्रखर प्रतिभा, सुदृढ व्यक्तित्व, प्रौढ चिन्तन एव कवि-सुलभ सहृदयता एव मार्मिक व्यजना शली के बल पर सत मत और सत काव्य का प्रचार शीघ्र ही सम्पूर्ण उत्तरी भारत म कर दिया। डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार "कबीर साधना के क्षेत्र म युग गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र मे भविष्य स्रष्टा।"

सत काव्य की प्रमुख विशेषताओं का निरूपण

सत काव्य हिन्दी साहित्य को आदिकाल की समाप्ति के मोड पर अपना पथ सधान करता हुआ दिखाई देता है। इस काव्य मे सतो की सहज, अकृत्रिम तथा आध्यात्मिक वाणी का प्रकाशन हुआ है। इसकी अनुभूतियाँ सीधी जन जीवन से जुडी हुई हैं। अनेक सम्प्रदायो को आत्मसात करने वाली इस धारा मे धम व सम्प्रदाय की शास्त्रीय विवेचना नहीं है। यह तो अनुभूत सत्यों की नीव पर खडा सशक्त काव्य है, जो अपनी अलकारहीनता, भाषा सौष्ठव और सामाजिक साधन शाश्वत मूल्यो से युक्त है। यह काव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सामाजिक साधन का पथ पकड कर चला है। इसकी समग्र विशेषताओ को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(1) **ईश्वर विश्वास**—सत कवियो ने एक ही ईश्वर म विश्वास किया है। वह एक है, न उसका रूप है और न आकार। वह निर्गुण-सगुण से परे है। वह ससार के प्रत्येक कण मे है वह अनिवचनीय है, केवल अनुभव गम्य है। वह ज्योति-स्वरूप तथा अलख और निरजन है। भक्ति और योग स ही वह प्राप्त हो सकता है। उसका नाम अक्षय पुरुष या सत्पुरुष है। यह ससार उसी से उत्पन्न हुआ है और उसी मे विलीन हो जाता है। गुरु की कृपा से ही उसका साक्षात्कार सम्भव है। घट-घट मे व्यापी उस राम को बाहर नहीं ढूढा जा सकता—

> मेरा साहिब एक है दूजा कहा न जाय।
> साहिब दूजा जो कहूँ साहब खरा रिसाय॥
> जाके मुख म था नहीं, नाहि रूप कुरूप।
> पुहुप वास के पातरा एसा तत्त अनूप॥
> पारब्रह्म के तेज क कसा है उनमान।
> कहिबे कू सोभा नहा, देख्याँ ही परवान॥

(2) माया—यह सत्य पुरुष से उत्पन्न और सृष्टि की सृजन शक्ति है। माया और मिथ्या माया इसके दो रूप हैं। माया का सत्य रूप ईश्वर की सहायक और मिथ्या रूप बाधक है। सन्त काव्य में मिथ्या माया का ही चित्रण मिलता है। वह त्रिगुणात्मक है और ब्रह्मा, विष्णु महेश को भी अपने में किए हुए है। खाँड की तरह मीठी माया प्रभाव विषयुक्त है। वह महाठगिनी है। कनक और कामिनी उसी के रूप हैं—

माया की झल जग जल्या कनक कामिणी लागि ।
कहुधौं केहि विधि राखिये, रूई लपेटी आगि ॥
कबीर माया पापणी फंद ले बैठी हाटि ।
सब जग तो फंदे पड्या, गयो कबीरा काटि ॥

(3) बहुदेववाद और अवतारवाद का विरोध—जब ये सन्त अपनी साधना-वाणी का प्रचार कर रहे थे उस समय राजनीतिक परिस्थितियाँ ... थी। मुसलमानों का एकेश्वरवादी धर्म अपना बलात् प्रचार-प्रसार कर रहा उधर इन सन्तों पर शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव भी था। नाथों और सिद्धों भी अवतारवाद और बहुदेववाद के विरुद्ध भूमि तैयार कर दी थी। इन सन्तों युगानुरूप बहुदेववाद का विरोध किया। ये अवतारवाद के भी समर्थक नहीं थे। राम को सत्य पुरुष का पर्याय मानते थे न कि अवतार—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना ।
रामनाम का मरम है आना ॥ (कबीर)
यह सिर नावे राम कू नाही गिरियो टूट ।
आन देव नही परसिये, यह तन जायगो छूट ॥ (चरनदास)

(4) गुरु का महत्त्व—सन्त कवियों ने सद्गुरु को ईश्वर प्राप्ति से अधि महत्त्व दिया है। इन सन्तों का विश्वास है कि गुरु कृपा बिना राम से साक्षात्का नहीं हो सकता। सन्त कवियों ने गुरु को परमेश्वर के समान ही मान दिया है। सगुण भक्त कवियों ने भी गुरु को महत्त्व दिया है किन्तु ये निर्गुण सन्त इस क्षे में कहीं आगे हैं—

सतगुरु साँचा सूरमाँ सबद जु बाह्या एक ।
देखत ही मैं मिलि गया पड्या कलेजा छेक ॥
गुरु गोविन्द दोऊ खड़े का के लागूँ पाँय ।
बलिहारी गुरु आपकी जिन गोविन्द दियो बताय ॥

(5) हठयोग—इन्द्रिय निग्रह और श्वास क्रिया उचित संचालन करते हुए मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप में लीन होने की क्रिया हठयोग है। ऐसा करने से आत्मा समाधिस्थ हो जाती है। हठयोग का तात्पर्य बलपूर्वक ब्रह्म के साक्षात्कार करने की दृढ़ इच्छा और तदनुकूल क्रिया से है। इसमें 84 आसनों का विधान है। ईश्वरीय चिन्तन के अनुकूल शरीर को ढालने की यह विधा है जिसमें

प्राणायाम, यम, नियम, रेचक, कुम्भक आदि प्रयोगो से पटचक्र विधि से कुण्डलिनी को चतन्य करना और सहस्रार कमल का अमृत पिलाना है। मेरुदण्ड के समानान्तर सुषुम्ना नाडी के विस्तार मे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र को पार कर कुण्डलिनी ब्रह्माण्ड मे स्थित सहस्रदल कमल का स्पश करती है जिससे अनहदनाद की ध्वनि सुनाई पडती है। सहस्रदल कमल मे स्थित चन्द्र से गगा रूप पिंगला नाडी मे अमृत का प्रवाह होता है और मूलाधार चन्द्र मे स्थित सूय से यमुना रूप इडा नाडी मे विष का प्रवाह होता है। शरीर मे गगा और यमुना के सहारे अमृत और विष का प्रवाह निरन्तर होता रहता है। जो योगी हैं वे विष का प्रवाह रोक कर अपने शरीर को अमृतमय कर लेते हैं। पच प्राणो की साधना मे कुण्डलिनी मुख्य शक्ति है जो मूलाधार चक्र मे सोई रहती है। हठयोग द्वारा इसी शक्ति को जगाया जाता है—

उलटे पवन चक्र पट बेधा सुन्नि सुरति लै लागी ।
अमर न मरै मर नहिं जीवै, ताहि खोजि बरागी ॥

(6) **जाति-पाँति-विरोध**—इन सन्त कवियो ने समाज म व्याप्त जाति-भेद तथा वग और वण-भेद का विरोध किया है। ये मानव-धम मे विश्वास रखने वाले थे। अधिकतर ये सन्त कवि स्वय निम्न वर्ग और जातियो के थे। जैसे कबीर जुलाहे थे, रदास चमार थे। इसके साथ ही हिन्दू मुसलमानो तथा सभी जातियो मे परस्पर प्रेम स्थापित करना भी इनका उद्देश्य था। भेद-भाव को निमूल करने मे इनका स्वर तीखा भी था—

जाति पाँति पूछै नहिं कोई ।
हरि को भजै सो हरि का होई ॥

जो तू बामन बँभनी जाया, आन बाट ह्वै क्यो नही आया ।
जो तू तुरक तुरकिनी जाया भीतर खतना क्यो न कराया ॥

(7) **रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध**—ये सभी सन्त कवि बाह्याचारो और आडम्बरो तथा रूढियो के विरोधी थे। अन्धविश्वास के प्रति उपेक्षा के भाव इन्होंने व्यक्त किए हैं। सिद्धो और नाथो का प्रभाव इन पर सूक्ष्म स्तर तक पडा है। उस समय नाना प्रकार की रूढ़ियाँ, आडम्बर और बाह्याचार धम तथा रीति रिवाज के नाम पर प्रचलित थे। पशु-बलि, तीथ, व्रत, छापा, तिलक, रोजा, नमाज, हज आदि आडम्बरों और कमकाण्डो तथा पाखण्डो का इन्होने खण्डन किया था। हिन्दू और मुसलमान दोनो को इन्होन फटकारा था। इस खण्डनात्मक प्रवृत्ति के कारण कबीर को सिकन्दर लोदी का कोप-भाजन बनना पडा था—

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार ।
तातें यह चाकी भली पीस खाय ससार ॥
कॉकर पात्थर जोरि करि मसजिद लइ चिनाई ।
ता चढि मुल्ला बाँग दे बहिरा हुआ खुदाई ॥

(8) रहस्यवाद—सन्तों ने अद्वैतवाद और सूफीमत के मिश्रण से अपने रहस्यवाद की सृष्टि की थी। कबीर इस रहस्यवाद के प्रवर्तक थे। इसमें आत्मा और परमात्मा मिलकर एकाकार होते हैं। इस रहस्यवाद में प्रेम भाव प्रधान है। यह प्रेम पति पत्नी-सम्बन्ध में पूर्णता प्राप्त करता है। स्त्री-रूपी आत्मा परमात्मा को पति रूप में प्राप्त करना चाहती है। उसके विरह में वह संतप्त रहती है। परमात्मा से मिलन होता है तो विवाहिता पत्नी की तरह उसका उल्लास देखने योग्य ही होता है। सन्त काव्य के विरह और मिलन के पदों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति मुखरित होती देखी जा सकती है—

> बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारा राम।
> जिव तरसै तुम मिलन को मन नहीं विश्राम॥
> दुलहिनि गावहु मंगलाचार।
> हम घरि आए हो राजा राम भरतार॥

(9) भजन तथा नाम स्मरण—सन्त काव्य में ईश्वर के भजन और नाम स्मरण का महत्त्व प्रतिपादित है। रामानन्द ने नामस्मरण का प्रचार किया था। ईश्वर-प्राप्ति के लिए भजन और नाम स्मरण ही साधन हैं, वेद शास्त्र ज्ञान निरर्थक हैं—

> केसो कहि कहि कूकिये ना सोइय असरार।
> रात दिवस के कूकणे कबहुँ लगे गुहार॥
> निर्गुण राम जपहु रे भाई।
> अविगत की गति लखी न जाई॥

(10) नारी के प्रति उपेक्षा भाव—सन्त कवियों ने नारी को माया के रूप में देखा था और उससे दूर रहने का उपदेश दिया था। उनकी दृष्टि में नारी मनुष्य के साधना मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। 'कनक और कामिनी' दुर्गम घाटियां है। इन्होंने नारी के मातृ और सती रूप की वन्दना की है किन्तु कामिनी रूप की भर्त्सना की है। सती में अनन्य और असीम प्रेम, त्याग, साहस और बलिदान की भावनाएँ होती हैं, अतः सती रूप वन्दनीय है। कामिनी पुरुष के सब सुखों को नष्ट करने वाली होती है।

> नारी की झांई पर अन्धा होत भुजंग।
> कबिरा तिनकी कौन गति जे नित नारी संग॥

(11) सूफी मत का प्रभाव—सन्त काव्य पर सूफी भावधारा का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है। सूफी मत में माया का स्थान शैतान की तरह है जो बन्दे को भुलावा देकर कुमार्ग पर ले जाता है। खुदा से मिलन के लिए चार दशाएँ सूफी मत ने निश्चित की हैं—शरीअत, तरीकत हकीकत और मारफत। इनमें मारफत प्रेमदशा का नाम है। इश्क' के बिना जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं। आत्मा इसी मार्ग से अनलहक की स्थिति को प्राप्त करती है। सन्तों ने प्रेम-पंथ का विधान किया है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय॥

(12) विप्रलम्भ शृंगार की मार्मिक उक्तियाँ—सन्तों ने शृंगार का चित्रण किसी लौकिक प्रवृत्ति को उभारने के लिए अथवा अपनी वासना-शान्ति के लिए नहीं किया था, अपितु उनकी अनन्त विरह सन्तप्त आत्मा उस पुरुष से मिलने को छटपटाती रहती है और जब उससे मिल पाती है तो उल्लसित होती है। प्रेम और विरह की अनेक मार्मिक उक्तियाँ कबीर आदि सन्तों में अत्यन्त आनन्ददायक रूप में दिखाई देती हैं। संयोग पक्ष में आगत-पतिका का उल्लास, मिलन-उत्कण्ठा, स्वाधीन पतिका का गर्व, अभिसारिका का साहस, झूला आदि भाव तथा वियोग में विरह जनित काम-दशाओं की पीड़ा, सन्देश प्रेषण आदि की अभिव्यंजना अत्यन्त मार्मिक ढंग से की गई है—

नयनन की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै, पिय को लिया रिझाय॥
आई न सकौं तुझ पै, सकौं न तुझे बुलाय।
जियरा यूं ही लेहुगे, विरह तपाय तपाय॥
कै विरहन को मीचु दै, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मोसे सहा न जाइ॥

(13) समाज-सुधार की भावना—सन्त कवि एक ओर आध्यात्मिक सात्विक जीवन के प्रचारक थे तो दूसरी ओर इन्हें समाज को बुराइयों से रहित करके उसे अच्छा बनाने की लालसा भी थी। वे सन्त थे, कवि थे और समाज-सुधारक भी थे। वे नाथ योगियों की तरह घर-बार छोड़कर साधना-तपस्या करने वाले नहीं थे, अपितु घरबारी गृहस्थ थे। इसीलिए इनकी वाणियों में जीवन के अनुभूत सत्यों की सम्पूर्णता है, इनकी साधना वैयक्तिक एकाकिता के स्थान पर सामाजिक हित-कामना अधिक है। इनकी आत्म शुद्धि सारे समाज के परिप्रेक्ष्य में ही देखी जा सकती है। इनकी साधना नाथों की तरह न तो व्यक्तिगत थी, न शास्त्रीय ही। ये तो समाज में जीते थे, उसकी अच्छाई-बुराई का निकट से अनुभव करते थे और बुराइयों को निकाल बाहर करने के लिए समाज को ललकारते थे, फटकारते थे। कबीर तो अपने युग के गाँधी थे जो समाज और राजनीति को परिष्कृत देखना चाहते थे। सन्त-काव्य में लोक-संग्रह, समाज-सुधार के प्रयत्न दिखाई देते हैं। वे नवयुग के प्रथम समाज-सुधारक थे। उन्होंने हिन्दुओं की धर्म-भीरुता, जाति-पाँति-बन्धन, छुआछूत, पाखण्ड-आडम्बर, अन्धविश्वास आदि बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। मुसलमानों की कट्टरता, हिंसा आदि का भी फटकारा। वे हिन्दू-मुसलमानों को एक दृष्टि से—मानव दृष्टि से—देखते थे—

कहै हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरक कहै रहिमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मूये, मरम न काऊ जाना॥

(14) भाषा-शैली—संत कवियो ने प्राय गेय मुक्तक शली मे अपने विचार प्रकट किए थे। इनकी वाणी मे गीति काव्य की भावात्मकता, सगीतात्मकता वैयक्तिकता और कोमलता है। साखी, दोहा और चौपाई शैली, जो सिद्धों और नाथों की देन थी, इन्होने अपनाई।

प्राय ये सन्त कवि अशिक्षित थे। 'मसि कागद तो छुयो नहीं, कलम गही नहि हाथ' से यह स्पष्ट होता है। इन्होने बोलचाल की भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। ये सन्त यहाँ-वहाँ घूमते रहते थे, अत इनकी भाषा म अवधी, ब्रज, खडी बोली पूर्वी हिन्दी, अरबी-फारसी, राजस्थानी, पजाबी भाषाओ के शब्द मिले हुए हैं जिससे यह खिचडी भाषा हो गई है। उपदेशो से सम्पन्न इस खिचडी भाषा को सधुक्कडी भी कहा जाता है।

सन्तो ने अपनी गहन अनुभूतियो को रूपको के द्वारा प्रकट किया है। ये रूपक कई बार दुर्बोध हो जाते हैं। कबीर मे य रूपक उलटबाँसियो के रूप म मिलते हैं। कबीर के ये रूपक पशु जगत् और जुलाहा कम से सम्बन्धित हैं।

निष्कर्ष—इस प्रकार सन्त काव्य सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता के इस युग मे सन्तो ने ज्ञान और कम की मशाल जलाई थी। इन्होंने धम के सहज स्वाभाविक तथा निश्चित रूप का सकेत किया तथा अपनी सहजानुभूतियो को सरल भाषा मे लोगों के सामने रखा। इन कवियो ने साहित्य म सत्य, शिव, सुन्दरम का अनुष्ठान किया था।

प्रमुख सन्त कवियो का परिचय

1 कबीर (सवत् 1455–1575)—इस महात्मा के जन्म के किंवदन्ती है कि एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से एक महात्मा (रामानन्दजी) के आशीर्वाद के फलस्वरूप ये उत्पन्न हुए थे। लोकलाज वश इनकी माता ने नवजात शिशु का परित्याग कर दिया था और इसके बाद नीरू नाम के जुलाहे ने दयावश इनको पाल लिया। पीछे स यही बालक कबीर कहलाया। इनकी शादी लोई नाम की एक स्त्री से हुई थी और उनके 'कमाल' और 'कमाली' नाम के दो बच्चे भी थे। ये अपने को जुलाहा मानते थे और अपने अक्खडपन के कारण जुलाहा होने का गव भी रखते थे—

"तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा, बूझहु मोर गियाना।"

इनको अपने घर का काम करना पडता था किन्तु उसम विशेष रुचि न थी। ये प्रारम्भ से ही भावुक और भक्त थे, और बडी युक्ति के साथ इन्होंने श्री रामानन्दजी से दीक्षा प्राप्त की थी—

"काशी मे हम प्रकट भये हैं, रामानन्द चेताये।'

मुसलमान लोग इनको शेख तकी का शिष्य बतलाते हैं किन्तु जिस प्रकार से उन्होंने अपनी कवियता म शेख तकी को सम्बोधित किया है, उससे इस तथ्य म

सन्देह होता है। कुछ लोग इनको रामानन्द का भी शिष्य होने मे आपत्ति करते है और उपयु क्त पक्ति को प्रक्षिप्त बतलाते हैं। कबीर पर रामानन्दजी के अतिरिक्त शकराचार्य तथा नाथपथी साधुओ एव सूफियो का भी प्रभाव था। रामानन्द से उन्होंने मास भक्षण निषेध और वष्णवी दया का भाव प्राप्त किया। नाथ-पथिया से हठयोग के सिद्धान्त ग्रहण किए, शकराचार्य से मायावाद और अद्वतवाद के विचार को अपनाया, सूफी फकीरो से प्रेम की साधना ली और मुसलमानी शरीयत के मानने वालो से मूर्ति और तीर्थ का खण्डन-मण्डन सीखा। नाथ पथियो म भी समता का भाव था, किन्तु वे मुसलमानो से प्रभावित हुए।

ये महात्मा बडी स्वतन्त्र प्रकृति के थे। ये रूढिवाद के कट्टर विरोधी थे, इसीलिए इन्होने हिन्दू और मुसलमान, दोना सम्प्रदायो की खूब हँसी उडाई है—'इन दोउन राह न पाई।" ये अपढ़ होते हुए भी बहुश्रुत थे। इनके वचनो मे हठयोग तथा वेदान्त की अच्छी झलक मिलती है। इन्होने कही-कही प्रभावोत्पादन के लिए बहुत से विरोधात्मक भाव भी लिखे हैं—जसे, 'नया मे नदिया डूबी जाए।" रूढिवाद के विरोध मे ही कबीर न काशी छोडकर मगहर मे शरीर त्याग किया था—"जो काशी तन तज कबीरा, राम कौन निहोरा।" धर्मदास इनके शिष्य थे। ये जाति के वश्य थे और इनके बाद ये ही इनकी गद्दी पर बठे।

इनके ईश्वर सम्बन्धी विचार बहुत ऊँचे हैं। इन पर शांकरवाद का पूरा प्रभाव था और ये जीव-ब्रह्म की पूर्ण एकता मे विश्वास रखते थे—"हेरत हेरत हेरिया रहा कबीरा हिराय, बुन्द समानी समुद्र मे सो कत हेरी जाय। इनकी वाणी मे रहस्यवाद भी पर्याप्त मात्रा मे दिखलाई देता है। हिन्दू प्रथा के अनुसार इन्होने जीव को दुलहिन माना है और परमात्मा को प्रियतम बताया है। जीव का विरह वर्णन बडी सरसता के साथ किया है। दुलहिन सदा दूल्हा से मिलने के लिए उत्सुक रहती है। इन्होन अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है। इनके सिद्धान्त निगु णवाद के हैं, फिर भी लोगो को समझाने के लिए और शुष्कता मे सरसता लाने के निमित्त इन्होने थोडा शृ गार का भी पुट दे दिया है किन्तु उनकी 'झीनी-झीनी चदरिया' मे उनका निगु णवाद छिपाए नही छिपता। सेज' अवश्य रहती है किन्तु वह होती शून्य की है, इसीलिए वह प्राय सूनी ही रहती है। उपासना मे इन्होने राम की महत्ता स्वीकार की है, किन्तु वे दशरथी राम के उपासक न थे—दशरथ सुत तिहु लोक बखाना, राम की मरम काहू नहिं जाना।" ये निराकार रूप के उपासक थे, और एक ही रूप को सारे ससार म देखते थ—

'साधो एक रूप सब माँही,
अपने मन विचार क देखो, कोई दूसरा नाही॥"

कबीर ने अपने परमात्मा को अपने आप मे ही देखा है और हठयोग की साधना मे ब्रह्माण्ड और परमात्मा को शरीर के भीतर ही पाया है।

अपने धार्मिक सिद्धान्तो के अनुरूप उन्होंने नीति सम्बन्धी दोहे भी अच्छे कहे हैं। कबीर मे केवल ज्ञान पिपासा ही न थी वरन् धर्म प्रचार की भी इच्छा थी।

इस इच्छा को वे अपनी कविता मे दबा नही सके। इन्होने समता भाव का प्रचार करके शूद्रो की स्थिति को सुधारा था। इस सम्बन्ध मे वे अपने समय से आगे थे।

कबीर की वाणी 'बीजक' नामक ग्रन्थ मे सग्रहीत है। इसके तीन भाग हैं— रमैनी, सबद और साखी। इनकी भाषा मे खडी बोली, अवधी, पूर्वी आदि कई बोलियो का सम्मिश्रण है। क्रिया पदो के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के है। कारक चिह्नो मे 'से', 'कं', 'सन', 'कर' आदि अवधी के हैं। 'को' ब्रज का है, 'थे' राजस्थानी का। इन्होने शब्दो को तोडा मरोडा भी बहुत है। यत्र-तत्र ब्रजभाषा का समावेश है और पजाबी शब्दो की भी कमी नही है। भाषा जोरदार है जो कि उनकी तीव्र अनुभूति का परिचय देती है। उसमे कविता की रूढियो और अलकारो के आडम्बर का अभाव-सा है, किन्तु जहाँ पर स्वाभाविक रूप से भाषा के प्रभाव मे अलकार आ जाते हैं, वहाँ पर उनका चमत्कार पूरी तरह से दिखाई पडता है। ईश्वरीय सम्बन्ध की रहस्यमयता मे थोड़े प्रकाश की झलक लाने के लिए उन्होने रूपको और अन्योक्तियो से काम लिया है। इनको छन्द-शास्त्र के नियमो का कम ज्ञान था। इनके दोहे पिंगल की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते। इनकी कविता का चमत्कार काव्य के ऊपरी नियमो से नही, वरन् इनके हृदय की सच्चाई और तीव्र अनुभूति से है। रहस्यवाद के अनुकूल रूपक, अन्योक्ति आदि अलकारो का भी समावेश हो गया है। क्योकि रहस्यवाद को 'गूंगे का गुड' के से आनन्द को 'सना बना' द्वारा ही अर्थात् अन्योक्तियो, रूपको आदि के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

गुरु गोविन्द तो एक हैं, दूजा यह आकार।
आप मेट जीवित मरे, तो पावे करतार॥
कबीर पढना दूर करि, पुस्तक देइ बहाइ।
बावन आखर सोधि करि ररै ममै चित लाइ॥
कबीर माला मन की और ससारी भेष।
माला पहिरया हरि मिले तो अरहट गलि देख॥

× × ×

दुलहिन गावा मगलाचार, हमारे घर आए राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करिहौं, पाचो तत्त बराती॥
राम देव मोहि ब्याहन आए, मैं जीवन मदमाती।
सरीर सरोवर वेदी करिहौं, ब्रह्मा वेद उचारा।
राम देव सग भाँवरि लहा, धन धन भाग हमारा॥
सुर तेतीसौं कौतिक आए, मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर मोहि ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी॥

2 धर्मदास (जन्म स 1475–1600 के बीच)—ये कबीरदास के सम्प्रदाय के उत्तराधिकारी थे। इनका स्वर्गवास कबीर के स्वर्गवास के 15 वर्ष

बाद अनुमानत स 1600 मे हुआ होगा। ये जाति के वश्य थे, और बाँधोगढ म रहते थे—'धमदास बघो के बासी।' इन्होंने कबीर-पथ मे प्रवेश करन पर अपना सारा धन लुटा दिया था। इनकी गद्दी छत्तीसगढ म है। 'सुख निधान' इनके प्राचीन ग्रन्थो मे है। ये पहले सगुणोपासक थे, तीथ-यात्रा भी करते थ किन्तु पीछे से इन्होंने निगुण पथ म दीक्षा ली थी। कबीर की भाँति इन्होंने भी आध्यात्मिक विरह के छन्द लिखे हैं। इनकी भाषा म पूर्वी भाषा का अधिक प्रभाव ह—

> सूतिल रहलौ मैं सखिया, तो विप कर आगर हो।
> सतगुरु दिहलै जगाइ, पायौ सुख सागर हो॥
> जब रहली जननी के ओदर, परन सम्हारल हो।
> तब लौं तन मे प्रान, न तोहि बिसराइल हो॥

एक पद भी लीजिए—

झरि लाग महलिया गगन घहराय।
खन गरज, खन बिजली चमक, लहर उठे शोभा बरनि न जाए।
सुन महल से अमृत बरस, प्रेम मगन ह्वै साधु नहाय॥
खुली किवरिया, मिटी ग्रधिरिया, धनि सतगुर जिन दिया लखाय।
धरमदास बिनव कर जोर, सतगुरु चरन म रहत समाय॥

3 **रैदास**—कबीर के सामयिक सन्तो मे रदास का नाम बडे आदर से लिया जाता है। य जाति के चमार और रामान द के शिष्य थे। इनके विषय मे धन्ना भगत ने कहा है कि इन्होंने नित्य प्रति ढोरो का व्यवसाय करते हुए भी माया का परित्याग कर दिया और भगवान का दशन करने मे सफलता प्राप्त की। रदास के एक पद से स्पष्ट है कि गण्यमान्य पण्डित भी इन्ह वीतराग महात्मा मानकर इन्ह साष्टांग दण्डवत् करते थे—

> जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवत
> फिरहिं अजहूँ बानारसी आसपासा।
> आचार सहित विप्र करहिं डडउति
> तिन तन रविदास दासानुदासा॥

उक्त पद्य स स्पष्ट है कि इनका निवास स्थान काशी था। सन्त रविदास की शिक्षा आदि के सम्बन्ध मे अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हुआ। सम्भावना यही है कि ये अशिक्षित रहे होंगे। 'ग्रन्थ साहब' अथवा अन्य कई सग्रहो मे इनके अनक पद बिखरे हुए मिलते हैं। कहा जाता ह इनकी बहुत-सी रचनाएँ राजस्थान मे अभी तक हस्तलिखित रूप म पडी हुई ह। इनकी कुछ फुटकर रचनाओ का सग्रह 'रदासजी की बानी' के नाम स प्रकाशित हो चुका ह।

सन्त रविदास के विचार अत्यन्त उदात्त और उदार थे। तक और वितक द्वारा प्राप्त कोरे ज्ञान के स्थान पर सत्य की पूण अनुभूति ही इनके लिए महत्त्वपूण थी। इस साधन से ही मनुष्य राम का परिचय पाकर दुविधा से मुक्त होता है और

पिंड का रहस्य जानकर जल के ऊपर तूम्बे की भाँति सदा विश्व में विचरण करता है। रविदास ने इस सत्य को अनुपम रूप म कहा है—

जस हरि कहिए तस हरि नाही, है अस जस कुछ तसा।

किन्तु फिर भी इस सत्य का आभास दृश्यमान प्राकृतिक वैभव मे इस प्रकार मिलता है जिस प्रकार जलराशि मे उसकी वीचियाँ। रैदास की भक्ति 'प्रेम भगति' कही जाती है। इसका मूलाधार है अहकार की निवृत्ति। अह की भावना साधक के पथ की सबसे बडी बाधा है। कबीर का माधुर्य भाव (ब्रह्म और आत्मा म पति पत्नी-सम्बन्ध) इन्हे भी अभीष्ट है। इन्होंने स्पष्ट कहा है कि यथार्थ परिचय प्राप्त करने का सच्चा रहस्य केवल सच्ची 'सोहागिन' जानती है जो अपना मन प्राण सब कुछ अर्पण कर देती है और अहकार कर रच मात्र भी अपने मन मे नही आने देती और न ही किसी भेदभाव को प्रश्रय देती है। अपने पति से एकनिष्ठ प्रेम न करने वाली स्त्री सदा दुखिनी व दुहागिन हुआ करती है। इन्होंने ईश्वर-विषयक जो नाम प्रयुक्त किए हैं, वे सगुणात्मक हैं परन्तु उनका सकेत निस्सन्देह निर्गुण ब्रह्म की ओर ही है।

रैदास की कविता बहुत सरल और सुगम है। इसमे भाषा का प्रचलित रूप अपनाया गया है। अरबी और फारसी शब्दो की बहुलता भी इसकी एक विशेषता है। नीचे के पद मे विदेशी शब्दो की अविच्छिन्न शृखला कौतूहल वर्धक बन पडी है—

खालिक सिकस्ता मैं तेरा
दे दीदार उमेदगार, बेकार जिव मेरा।
औवल आखिर इलाह, आदम फरिस्ता बन्दा,
जिस की पनह पीर पैगम्बर, मैं गरीब क्या गन्दा॥

'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास के अनुसार "इन्होंने सदाचार के जिन नियमो के उपदेश दिये थे, व वेदशास्त्रादि के विरुद्ध न थे और उन्हे नीर-क्षीर विवेक वाले महात्मा भी अपनाते थे।" सन्त रविदास की विमल वाणी सन्देह की गुत्थियों को सुलझाने म परम सहायक है। सन्त रैदास के नाम पर रविदासी या रैदासी सम्प्रदाय भी प्रचलित है। इनके अनुयायी प्रतिवर्ष इनकी जयन्ती मनाया करते हैं। आज के हरिजनो के पूज्य पैगम्बर आप ही हैं। भारत सरकार ने इनके जन्म दिवस पर सार्वजनिक अवकाश घोषित करके इनके सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव पर राजकीय स्वीकृति की मोहर लगा दी है। सन्त रविदास वास्तव म इसी प्रतिष्ठा के पात्र हैं।

4 नानकदेव—सिखमत के आदि गुरु [illegible] का जन्म कार्तिक सुदी पूर्णिमा सम्वत् 1526 विक्रमी मे तलवडी न[illegible] हुआ था जिसे आजकल 'ननकाना साहिब' कहते [illegible] विभाज[illegible] [illegible] कस्तान मे रह गया है। इनके पिता का नाम [illegible] और [illegible] था। [illegible] पिता साधारण [illegible] वृत्ति [illegible]

यकाल मे इनका पठन-पाठन प ब्रजनाथ शर्मा तथा मौलाना कुतुबुद्दीन के यहाँ
। । इनका विवाह पक्खो निवासी मूलचन्द खत्री की कन्या सुलक्षणा से हुआ ।
के दो पुत्र हुए श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द । इनम श्रीचन्द उदासीन सम्प्रदाय के
वाय हुए । गुरु नानक ने दो बार विदेश यात्रा की । काशी के प्रसिद्ध विद्वान्
द्रदेव शास्त्री से इनकी ज्ञानचर्चा की बात एक प्रसिद्ध घटना है । रैदास, नामदेव
भी इनकी भेंट बताई जाती है । कबीर-नानक भेंट की बात भी बड़ी ही प्रसिद्ध है
यह कहाँ तक सत्य है निश्चयपूर्वक कहा नही जा सकता ।

गुरु नानक ने अपने सिद्धान्तो म सस्कारवाद के विरोध, देवतावाद की
स्वीकृति ऊँच नीच के भेद-भाव के निवारण, सत्य की स्थापना और अकाल पुरुष
उपासना आदि का उपदेश दिया । गुरु नानकदेव की वाणियो का सचय गुरु
ङ्गदेव जी ने किया, और ये प्रतिमा सचिखाए कहलाई । गुरु अर्जुनदेव जी ने
म चार गुरुओ की सचिखाएँ अपनी रचनाएँ तथा अन्य अनेक सन्तो की वाणियाँ
कर एक सग्रह तयार किया जिसका नाम आदिग्रन्थ रखा । ऐसा कहा जाता है
उक्त सचिखाएँ सवप्रथम देवनागरी लिपि म लिखी गयी थी । इनकी भाषा
घुक्कडी है । इसमे ब्रजभाषा और पजाबी का अद्भुत मिश्रण है । देखिये —

साकु अति होइ सन्माई ।
हरिबिनु होर रासि है कूडी, चलदियाँ नालि न जाई ।
हरि मरा धनु मेरे साथ चाले जहाँ हो जाऊँ तहँ जाई ।।
सो झूठा जो झूठ लाग झूठ करम कमाई ।
कहै नानकु हरि का भाणा होआ कहणा कछु न जाई ।।

5 दादूदयाल—दादूपथ के अनुयायियो के अनुसार दादूदयाल का जन्म
जगत प्रदेश के अहमदाबाद नगर म हुआ था । कहा जाता है कि दादूदयाल एक
ोट से बालक के रूप म साबरमती नदी म बहते हुए किसी ब्राह्मण को मिले थे ।
नका जन्म फाल्गुन सुदी 2, बहस्पतिवार वि सवत 1601 को हुआ । इनकी शिक्षा
सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक विवरण नही मिलता, किन्तु इनकी रचनाओ मे निहित
म्भीर भावनाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह निरक्षर साधक थे ।
नकी साधना का आधार भी कबीर और गुरुनानक की भाँति स्वानुभूति और सत्सग
ा । बुड्ढन बाबा अथवा वृद्धानन्द नाम के कोई साधु इनके गुरु बताये जाते हैं ।
वत 1630 मे साँभर म आपन अपने पथ परब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की ।
ाज यह पथ दादूपथ' नाम स प्रसिद्ध है । सवत् 1643 म सीकरी नामक स्थान
र अकबर बादशाह से आपकी भेंट हुई थी । इनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित
ोकर अकबर न अपनी मुद्राओ पर एक ओर अल्लाहो अकबर' और दूसरी ओर
जल्ल जल्लालहु' कीलित करवाया था । साँभर के निकट नराना की एक गुफा मे जेठ
दी 8 सवत् 1660 मे आपन अपना शरीर त्याग किया था ।

दादूदयाल की रचनाओ की सख्या प्राय बीस सहस्र कही जाती है । इनम
इनके पद, साखियाँ और अन्य सगृहीत बानियाँ भी सम्मिलित हैं । फिर भी इतनी

बडी सख्या की प्रामाणिकता सदिग्ध है। सभव है यह सख्या उनके पदो की
दादू की बानी कबीर की साखी से पर्याप्त सादृश्य रखती है। इनकी भाषा राजस्
मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। अरबी और फारसी के शब्दो का भी इनकी कवि
बहुत प्रयोग हुआ है कबीर जैसा वाग्वदग्ध्य न होते हुए भी इनकी उक्तियो मे सर
और गम्भीरता काफी है। इनकी वाणी के विषय वही हैं जो प्राय सभी सन्त
कथनो मे हम उपलब्ध हैं—ईश्वर की व्यापकता, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, सतगुरु
महात्म्य, जात पात का खडन, आत्मज्ञान, नश्वर विश्व की निस्सारता आ
इनकी कविता बडी प्रभावशालिनी है। सुबोध और सहज होते हुए भी वह
आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि कर देती है। इनका पथ सर्वसुलभ है।" नि
लिखित पद मे शायद इसी ओर सकेत हुआ है—

भाई रे ऐसा पथ हमारा
द्वै पख रहित पथ गह पूरा अवरन एक अधारा।
बादबिवाद काहू सो नाही मैं हूँ जग थे न्यारा।
समदृष्टि सू भाई सहज मे आप हि आप बिचारा।
मैं, त, मेरी यह मति नाही निरबरी निरविकारा।
काम कल्पना कदे न कीजे पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहज सभारा॥

6 सुन्दरदास (स 1653–1746)—इनका जन्म जयपुर राज्यान्त
दोसा नगरी मे हुआ था। ये जाति के खण्डेलवाल वैश्य थे और नामानुरूप इन
शरीर सुडौल और सुन्दर भी था। ये दादूदयाल से अधिक प्रभावित थे। अन्य स
कवियो की तरह ये अपढ या कुपढ नही थे। इनका विधिवत विद्याभ्यास हुआ प्रत
होता है। ये काव्य रीति से भी परिचित थे। इन्होने सवयै अच्छे लिखे हैं। 'सु
विलास' इनका प्रधान ग्रन्थ है। इनकी रचना साहित्यिक और सरस है, भाषा
परिमार्जित ब्रजभाषा है। इन्होने ज्ञान के अतिरिक्त नीति सम्बन्धी छन्द भी लि
हैं। इनकी रचना कवित्त, सवयो मे अधिक हुई है। इनकी कविता मे यमक औ
अनुप्रास, शब्दालकार और उत्तमोत्तम अर्थालकार भी मिलते है। इन्होंने चित्र काव्
छन्द-बन्ध, नागबन्ध आदि भी लिखे हैं। इनकी कविताओ के कुछ उदाहरण नी
दिये जा रहे हैं—

बोलिए तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होइ,
न तो मुखमौन गहि चुप होइ रहिए।
जोरिए तो जब जब जोरिबे की रीति जान,
तुक छद, अरथ, अनूप जाभ लहिए।
गाइए तो तब-तब गाइबे को कण्ठ होय,
स्त्रोन के सुनत ही मन जाहि गहिए।
तुकभग, छन्दभग, अरथ मिले न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहि कहिए।
× × × ×

पुरुष प्रकृति सयोग जगत उपजत हैं ऐसे,
रवि-दपरण दृष्टान्त अग्नि उपजत हैं तसे।
सुई होय चतय यथा चुम्बक के सगा,
यथा पवन सयोग उदधि मे उठहि तरगा।
अरु यथा सूत सयोग पुनि, चक्षु रूप को गहत है,
यो जडचेतन सयोग से सृष्टि उपजती कहत है।

× × ×

वेद थके कहि, तन्त्र थके कहि, ग्रन्थ थके निसि बासरगात।
शेष थके, शिव इन्द्र थके, पुनि पोख कियो, बहुभाँति विधात॥
पीर थके और मीर थके पुनि, धीर थके बहु बोलि गिरात।
सुन्दर मौन गही शिव साधक, कौन कहै उसका सुख गात॥

7 अर्जुनदास—गुरु अर्जुनदेव जी का जन्म गुरु रामदास के घर वशाख कृष्णा 7, सवत् 1620 मगलवार को हुआ था। गुरु अमरदास जी की पुत्री बीबी भानी इनकी माता थी। 18 वर्ष की आयु मे आपको गुरु-पदवी मिली। जहाँगीर ने किसी के बहकावे मे आकर विद्रोही खुसरो की सहायता के अपराध मे गुरुजी को बन्दी बना लिया और उन पर दो लाख का दण्ड किया तथा 'गुरु ग्रन्थ साहिब' से यह पक्ति निकालने की आज्ञा दी—

मिट्टी मुसलमान दी पेडे पई कुभार

गुरुजी ने दोनो आज्ञाएँ अस्वीकार कर दीं। फलत जेठ सुदी 4 सवत् 1663 मे आप निरकारी जोत मे लीन हुए। सिख मत मे गुरु अर्जुनदेव का विशेष स्थान है। इसके कई कारण हैं—

(1) आपको आदि-ग्रन्थ के सकलन का श्रेय प्राप्त है। इनके प्रधान शिष्य भाई गुरुदास ने गुरुजी के निर्देशानुसार सवत 1661 मे इसका सग्रह किया था। इसमे पहले पाँच गुरुओ की रचनाएँ सगृहीत हैं जिनकी पदसख्या निम्नलिखित है—

श्री गुरु नानकदेव 976, श्री गुरु अगददेव 61, श्री गुरु अमरदास 907, श्री गुरु रामदास 679, श्री गुरु अर्जुनदेव 2216 और भाटो के 123 पद तथा सोलह अन्य सन्तो के न्यूनाधिक पद भी उसमे सगृहीत हैं।

(2) इन्होने अमृतसर में 'हर मण्डल' (स्वर्ण मन्दिर) नामक सिख तीर्थ सम्पूर्ण करवाया।

(3) सिखो में भक्ति के साथ-साथ शक्ति का भाव जाग्रत किया।

(4) यही से गुरु-पदवी वशानुगत चली।

गुरुजी की रचनाएँ ये हैं—बारहमासा, बावन-अक्खरी, सुखमनी साहब। आपकी रचना मे शान्तरसपूर्ण भक्ति का अमन्द सन्दोह बह रहा है। इनकी रचनाओ मे हरि, नारायण, राम, गोविन्द आदि पदो को देखकर यह भ्रम नही करना चाहिए कि ये सगुणभक्त हैं क्योकि इनके प्रेमरस सिंचित ज्ञान मार्ग के पद इतने गम्भीर हैं कि उनमे भारतीय दर्शन तथा सन्तमत सभी मन्तव्यो का विशद व्याख्यान मिल

जाता है। गुरु अर्जुनदेव जी की भाषा ठेठ ब्रज है और उधर गुरु नानकदेव जी की भाषा सधुक्कड़ी कही जाती है। वस्तुतः गुरु नानक जी से लेकर गुरु अर्जुनदेव जी तक पूज्य गुरुजनों की भाषा का ब्रजपन उत्तरोत्तर निखरता गया है। गुरु अर्जुनदेव की भाषा का नमूना देखिए—

> जाकी राम नाम लिव लागी।
> सजनु सुहृद सुहेला सहजे सो कहिए बडभागी।
> रहित बिकार अलिप माया त अहं बुधि बिख त्यागी।
> दरस प्यास आस एक ही की टेक हिये प्रिय पागी।
> अचिंत सोई जागनु उठि बसनु अचित हसत बरागी।
> कहु नानक जिनि जगतु ठगाना सुमाया हरिजन ठागी।

8 मूलकदास—मूलकदास नाम से कई महात्मा उत्तर भारत में प्रसिद्ध हो चुके हैं। आलसिया का यह वेदमन्त्र—

> अजगर करे न चाकरी, पछी करे न काम।
> दास मलूका कह गये सब के दाता राम॥

भी किसी मलूकदास से सम्बद्ध किया जाता है। सम्भवतः संत मलूकदास इनसे भिन्न व्यक्ति हैं। इन्होंने अपना मलूक पंथ चलाया था। इस पंथ के अनुयायियों के अनुसार इनका जन्म वैशाख बदी 5, सं 1631 को इलाहाबाद जिले के कड़ा नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता सुन्दरलाल जी जाति के खत्री थे और कक्कड़ उनकी उपाधि थी। साधु सत्सग की इन्हें प्रबल कामना रहती थी और इसी के परिणामस्वरूप आध्यात्मिक वृत्ति का इनके हृदय में पूर्ण विकास हुआ। कहते हैं कि किसी मुरारि स्वामी नाम के महापुरुष से इन्हें ज्ञान-प्राप्ति हुई थी और अध्यात्म साधना की वास्तविक दीक्षा भी मिली थी। दीक्षित होकर भी इन्होंने गृहस्थ जीवन से मुह नहीं मोड़ा और कड़ा गाँव में ही रहकर जीवन के सुख-संतोषमय क्षणों का यापन करते हुए वैशाख कृष्ण चतुर्दशी सं 1739 में इन्होंने अपना नश्वर शरीर छोड़ा। इस समय उनकी अवस्था 108 वर्ष की थी।

मलूकदास की शिक्षा के विषय में बहुत कम ज्ञात हो सका है। उनकी प्राप्त रचनाओं से यह संकेत अवश्य मिलता है कि वे बहुश्रुत महात्मा थे। निम्नलिखित नौ रचनाएँ इनसे सम्बद्ध की जाती हैं—(1) ज्ञानबोध, (2) रतनखान, (3) ज्ञान बचछावली (4) भक्त विरुदावली, (5) पुरुष विलास, (6) दस रत्न ग्रंथ (7) गुरु प्रताप, (8) अलख बानी और (9) रामावतार लीला। इनका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ और पूर्ण आलोचनात्मक तथा परस्पर तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में यह कहना कठिन है कि इनमें कितनी मलूक की प्रतिभा की प्रसूति है और कितनी यूँ ही इनके नाम से सम्बद्ध हैं। हाँ, इनके चुने हुए पदों और साखियों का एक संग्रह 'मलूकदास जी की बानी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इससे मलूकदास के मन्तव्यों का कुछ ज्ञान हो सकता है।

सन्त मलूकदास ने 'सतगुरु' और 'भगवान' को एक कहा है। सतगुरु नितात अनिवचनीय है। इसकी महिमा का वणन करना सुई के मुख से सुमेरु को पार करने की चेष्टा करना है। इनके मत मे मुक्ति यही है कि अपना आपा खोजो जिससे भ्रांति का नाश हो और तीना लोको का मम ज्ञात हो। आत्म ज्ञान इनके मत का सार है।

ईश्वर के अस्तित्व मे सन्त मलूकदास का विश्वास इतना दृढ़ और एकनिष्ठ था कि वह प्रतिक्षण उसके सानिध्य की अनुभूति करते हुए उसे अपना आत्मीय ममभत थे। निम्नलिखित सवया मे भगवान के प्रति उनका विनम्र द यमय निवेदन है—

दीनदयाल सुनी जब त तब त हिय मे कछु ऐसी बसी है,
तेरो कहाय के जाऊँ कहा, मैं तेरे हित की पट खैंच कसी है।
तेरो ई एक भरोस मलक को, तेरो समान न दूजो जसी है,
एहो मुरारी पुकारि कहौं, अब मेरी हँसी नही तेरी हँसी है॥

कितना अनन्य भावमयपूण और आत्म-समपण ह। यही कारण है कि अब उनका सुख दुख अथवा हास-उपहास उनका नही प्रभु का है और उसकी टक प्रभु को रखनी ह। अधोलिखित दोहे मे यह आत्म समर्पण पूर्ण विनय की सीमा तक पहुँच गया है—

माला जपो न कर जपो, जिभ्या कहौं न राम।
सुमरिन मेरा हरि करैं, मैं पाया विसराम॥

अरबी और फारसी शब्दो का प्राचुय होते हुए भी उनकी भाषा सरल, सुव्यवस्थित और स्वाभाविक है। कही-कही तो पदविन्यास अच्छे कवियो की रचनाओ से टक्कर लेता है। उपदेश और उद्बोधन के पदा मे इनकी भाषा मे ओजस्विता आ गई है जो प्रसगानुरूप भी है। कुछ पद बिल्कुल खडी बोली मे हैं। एक उदाहरण देखिए —

अबतो अजपा जपु मन मेरे।
सुर नर असुर टहलुवा जाके मुनि गन्धर्व हैं जाके चेरे।
दस औतार देखि मत भूलो, ऐसे रूप घनेरे।
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तैं नैननि हेरे।
कह मलूक तू चेत अचेता काल न आवै नेरे॥

9 अन्य कवि—इन कविया के अतिरिक्त रज्जबजी (सवत् 1624 क आस-पास) दादूदयाल के पुत्र गरीबदास (सवत् 1632), निश्चलदास, जगजीवनदास (सवत 1775), दूलनदास, यारी साहब, बुल्ला साहब, सहजो बाई (सवत् (1800), दयाबाई (सवत् 1750 के लगभग), तुलसी साहब (सवत् 1845), पलटूदास आदि अनक सत कवि हुए हैं जिन्होने अपनी मधुर वाणी से हिन्दी साहित्य का भण्डार भरा है। इन कविया मे निश्चलदास जो का वेदात सम्बन्धी ग्रथ 'विचार सागर' बडा पाण्डित्यपूर्ण है। उसमे वेदान्त का शास्त्रीय ढग से विवेचन

हुआ है। इसकी टीका भी लिखी गई है। संत-काव्य के अन्तर्गत जितने भी इसके रचयिता कवि हुए हैं, उन सभी ने आचरण की शुद्धता, रूढ़ियों का विरोध और मानव धर्म आदि बातों का विशेष ध्यान रखा है। ये वे कवि थे जिन्होंने जाति-पाँति धर्म-सम्प्रदाय के सभी भेदभाव भुलाकर एकता, समानता, भक्ति, आचरण की शुद्धता और वैचारिक स्पष्टता पर जोर देकर समूचे समाज को एकसूत्र में बाँधते हुए एक मानव संस्कृति की स्थापना पर विशेष बल दिया।

सूफी मत का उद्भव और विकास

भारत में मुसलमानी शासन स्थापित होने के साथ ही साथ धार्मिक सं को बल मिला। इतिहास बताता है कि एक नहीं अनेक बार हिन्दुओं को इस्ला और मृत्यु में से एक को चुनना पड़ा। इस प्रकार की परिस्थितियों में कुछ लोग ऐ भी थे जो दोनों धर्मों को एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे। शेरशाह ने हिन्दु के प्रति उदारता और सहिष्णुता का भाव अपनाया। अनेक साधारण मुसलमा ऐसे थे जो एक ओर तो सूफी धर्म में विश्वास जमा बैठे थे और साथ ही हिन्दू ध को विश्वास की निगाहों से देखते थे। प्रेम-काव्य उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा निर्मि हुआ। सूफी मत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित मत प्रचलित हैं—

(1) 'सूफ' शब्द 'सफ' से निकला है जिसका अर्थ अग्रिम पंक्ति होता है। कयामत के अवसर पर जो सदाचार पवित्रता में अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करता है, वही उस अग्रिम पंक्ति में बैठता है और अग्रिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति सूफी कहलाते हैं।

(2) सूफी वस्तुतः स्वच्छ और पवित्र होते हैं और सफा होने के कारण सूफी कहलाते हैं।

(3) कुछ लोगों का विश्वास है कि मदीना में मस्जिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था, उसी पर जो लोग बैठते थे वे सूफी कहलाए।

(4) एक विद्वानों का मत है कि सूफी शब्द सोफिया या ज्ञान का रूपान्तर है। ज्ञानातिरेक के कारण ही ये लोग सूफी कहलाए।

(5) एक मत और भी है और वह मत यह है कि सूफी शब्द का सम्बन्ध ऊन से है। कहा जाता है कि पहले सूफी लोग मोटा कपड़ा पहनते थे जो सूफी यानी ऊन कहलाता था। यह सम्भवतः ईसाइयों का अनुकरण था। जो संसार में वैरा धारण कर मोटा कपड़ा पहन सन्यास धारण करते थे। इनके आचरण में कि प्रकार की अपवित्रता न थी, बिल्कुल सीधा-सादा था। इस रहन-सहन से यद्यपि इनकी निन्दा भी हुई, किन्तु उन्होंने इस निन्दा की परवाह नहीं की। यह तर्क सं संगत जान पड़ता है और इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूफी शब्द मूलतः अरब और ईराक के उन व्यक्तियों का संकेत देता है जो मोटे ऊनी वस्त्र का चोगा धारण करते थे। इनका जीवन विरक्त जैसा था।

इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि सूफी मत का सम्बन्ध इस्लाम से है। यद्यपि अनेक सूफी लोग ऐसे निकले जिन्होंने अपने आपको मुहम्मद के सिद्धान्त और मत से पृथक् रखा, फिर भी कुछ न कुछ किसी न किसी अंश में आ ही गया। ये मुसलमानों की अपेक्षा कोमल प्रकृति के जीव थे। कुछ सूफियों की मान्यता है कि सूफी मत का आदम में बीजवपन हुआ नूह में अंकुर जमा, इब्राहीम में कलिका खिली, मूसा में विकास हुआ, मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम।

इस मत को ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि मुसलमानों के पतनोपरान्त मसीहियों का विकास हुआ तथा ये लोग सूफी मत को अपनी ओर खींचने लगे। वास्तव में ऐसा न हो सका क्योंकि इन दोनों में अन्तर है। मसीह का मूलतत्व विराग है जबकि सूफी मत के मूल में प्रेम का निवास है। अतः मसीह मत को सूफी मत का मूल नहीं कहा जा सकता। मसीह मत में जो प्रेम का भाव देखा जाता है वह सूफी मत का प्रभाव है।

सूफी मत का आदिम स्रोत ढूंढने के लिए यह भी आवश्यक है कि उस मत में कौन कौन सी बातें थीं यह जान लेने से इनके आदिम स्थल का पता लग जाता है। सूफी मत की मूल भित्ति रति भाव था जिसका विरोध शामी जाति द्वारा किया गया। मूसा और मोहम्मद साहब ने संयत योग की अनुमति दी और इसका विधान भी किया। मूसा ने प्रेम का लौकिक स्वरूप अपनाया और प्रवृत्ति मार्ग का समर्थन किया। सूफी इश्क मजाजी को इश्क हकीकी की पहली सीढ़ी मानते हैं। सूफियों के इलहाम और हाल की दशा का मूल भी शामी जातियों में मिलता है किन्तु वे लोग रतिक्रिया को घृणा की दृष्टि से देखते थे अतः नबी सन्तान कहलाए। शामियों की मूर्ति-चुम्बन की परम्परा सूफियों में बोसा और वस्ल के रूप में प्रचलित हुई।

यहोवा के आविर्भाव से नबी मत के मानने वालों की प्रतिष्ठा को धक्का लगा किन्तु यह कदापि विस्मरणीय नहीं है कि सूफी मत उनका प्रसार नहीं था। यहोवा ने रतिक्रिया से दूर रहने की काफी चेष्टा की, पर यहोवा के मन्दिरों में देवदासों और देवदासियों के रूप में प्रेम का वह स्रोत बह निकला। प्रेम की यह दशा मुसलमान आदि के गीतों में फूट पड़ी और सूफियों ने भी अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति का प्रसार किया। इस प्रकार सूफी मत के उद्भव के मूल में इस्लाम धर्म से पूर्व प्रचलित सूफियों ने भी लौकिक से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति का प्रसार किया। इस प्रकार सूफी मत के उद्भव के मूल में इस्लाम धर्म से पूर्व प्रचलित शामी जाति के धर्म का भी स्पष्ट प्रभाव है। मुहम्मद साहब ने इस्लाम में शामी जातियों में नवीन रक्त का संचार किया। इस्लाम के उदय से पूर्व ही सूफी मत अपना विकास पा चुका था।

भारत में सूफी मत का सूत्रपात बारहवीं शताब्दी में हुआ। मुहम्मद साहब के भारत आते ही सूफी मत ने अपने पोषण के लिए बहुत से तत्व भारत में लिये।

भारतीय वेदान्त ने सर्वाधिक रूप में इस मत को प्रभावित किया। वेदान्त का प्रभाव ग्रहण करके सूफियों ने अपना स्वतन्त्र विकास किया और इसी में 'कुरान' के सात्विक सिद्धान्तों का समाहार भी इसके अन्तर्गत कर लिया गया। सूफी मत को हठयोगियों ने भी प्रभावित किया। योगियों की प्राणावान् पद्धति को अपना कर सूफियों ने जसे अपने को धन्य समझा।

बारहवीं शताब्दी में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के आविर्भाव से ही सूफी मत का सूत्रपात मानना चाहिए। इनके पश्चात् भी 15वीं सदी तक कई और सूफी सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसके सम्बन्ध में कुछ और भी कहा है। उनकी दृष्टि में इसका श्रेय प्रसिद्ध अलहुज्वरी को है। ये अलहुज्वरी साहब भी 12वीं सदी में ही भारत आये। उन्होंने सूफी मत के सिद्धान्तों के विश्लेषण और विवेचन करने के लिए एक पुस्तक 'कुश्फुल महजूब' लिखी। 'आइने अकबरी' में जिन 14 सम्प्रदायों का उल्लेख है, उनमें से प्रमुख सूफी सम्प्रदाय ये हैं—कादरी सम्प्रदाय, सुहारावर्दी सम्प्रदाय, नक्शबंदी तथा चिश्ती सम्प्रदाय। इनमें चिश्ती सम्प्रदाय को विशेष ख्याति प्राप्त है और इसी से सूफी मत को बहुत बढ़ावा मिला। अतः स्पष्ट है कि भारत में सूफी मत का प्रचार 10वीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गया था। 12वीं शताब्दी में विकास हुआ और 16वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के ह्रास के साथ ही इसका पतन प्रारंभ हुआ। सूफी मत के सिद्धान्त की विवेचना इस सम्प्रदाय के कवियों ने लोकप्रिय-प्रेम गाथाओं के माध्यम से की। इस मत का प्रमुख तत्व प्रेम तत्व है। प्रेम के द्वारा ही सारी सृष्टि का रहस्य समझा जा सकता है। प्रेम की पीर से जर्जरित तन ही अपना अस्तित्व सफल करता है किन्तु प्रेम का मार्ग जितना सुन्दर और आनन्दमय है, उतना ही कटकाकीर्ण भी।

सूफी मत के प्रमुख सिद्धान्त

सूफियों के काव्य में ईश्वर की परिभाषा हिन्दू मुस्लिम सिद्धान्तों के अनुरूप पड़ती है। उनका नाम हक' है। वह निराकार है बेमिसाल है और अजन्मा है। वह व्यापक और सृष्टिकर्ता भी है परन्तु वह आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मा साधन की चार मंजिलें तै करके ही उस तक पहुंच पाता है। यह भी बताया गया है कि सूफियों पर वेदान्तवादियों का प्रभाव है और यही वेदान्तवाद सूफियों को कट्टर इस्लामवाद से पृथक् करता है और भारतीय सन्तमत के निकट लाता है। सूफियों ने ईश्वर के बाद गुरु को ऊँचा दर्जा दिया है। कहीं कहीं गुरु ईश्वर रूप हो गया है और कहीं-कहीं गुरु को प्रेम का स्वरूप मान लिया गया है। ईश्वर की प्रथम रचना प्रेम है और प्रेम के माध्यम से उसने शेष सृष्टि की है। सूफीमत में माया का कोई स्थान नहीं है। जायसी ने अलाउद्दीन को माया का प्रतीक माना है पर यह केवल अपवाद मात्र है। हाँ, मुस्लिम संस्कारों के कारण सूफी काव्यों में 'शैतान' का दर्जा बराबर बना हुआ है। शैतान के प्रभावों को निरस्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता सदा बनी रहती है।

सूफी साहित्य का सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त है—प्रेम। प्रेम के सम्बन्ध में ईश्वर और गुरु की चर्चा हो चुकी है। सूफी साहित्य में प्रेम के दो पक्ष हैं—सयोग पक्ष और वियोग पक्ष। पुन प्रेम के दो रूप हैं—सात्विक प्रेम और तामसी प्रेम। सूफीमत दोनो रूपो को ग्रहण करता है। नायक नायिकाओं में सात्विक प्रेम की अवतारणा हुई है और खलनायकों में तामसी प्रेम की। सात्विक प्रेम को भी सुखमय प्रेम और दुखमय प्रेम के भेद से दो धाराओं में विभक्त कर सकते हैं। जायसी-प्रणीत पद्मावत' मे नागमती का सात्विक प्रेम दुखमय है और पद्मावती का सुखमय। सूफी साधना के चार अंग हैं—

(1) शरीअत—अर्थात् धर्मग्रन्थो के विधिनिषेध के अनुसार जीवन-यापन करना और उपासना में रत रहना।

(2) तरीकत—अर्थात् जगत् से विमुख रहकर अन्तर्लीनावस्था मे ईश्वरी सत्ता का चिन्तन करना। इसकी तुलना भारतीय उपासना काण्ड से की जा सकती है।

(3) हकीकत—अर्थात ईश्वरी सत्ता का परमज्ञान प्राप्त कर लेना।

(4) मारिफत—अर्थात् परम सत्ता में अवस्थित होने की सिद्धि हासिल करना।

सूफियो की ये साधनाएँ विशुद्ध इस्लामवाद की सूचक हैं। साधक को मुक्त तभी माना जा सकता है, जब वह इन घाटियों को पार कर जाय।

यहा स्पष्ट कर देना असगत न होगा कि सूफियों का हिन्दी साहित्य में उतरना तथा भारतीय विचारधाराओं और कथानकों को अपनाना अनायास सी घटना है। मूलत इसका उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था। उन्ही के कथनानुसार मुहम्मदी धर्म ही ससार में सर्वश्रेष्ठ धर्म है—

विधना के मारग है तेते। सरग नखत तन रोवा जेते।
तेहि पथ महँ कहौं भल गाढ़। जेहि दूनौ जग छाज बढ़ाई॥
सो बड़ पथ मुहम्मद केरा। है निरमल कविलास बसेरा॥

सूफियो का कलापक्ष बडा रमणीय है। इनके महाकाव्यों में सरस-नीरस-पदों और प्रसगों का समाहार बड़े सुन्दर ढंग से हो जाता है। इनकी दोहा चौपाई की गायन पद्धति बडी निराली और आकर्षक है। सभी सूफियो की भाषा ठेठ अवधी है। वस्तुवर्णन और सालकार अभिव्यक्ति सूफियों की निजी विशेषता है। हिन्दी के भक्तिकालीन प्रसिद्ध सूफी कवि ये हैं—कुतुबन मझन, जायसी, उसमान और न्यामतखा पर यह सूफी परम्परा आगे भी चलती रही। शेख नबी, कासिमशाह, नूर मोहम्मद हुसन अली शेख निसार नजफ अली, ख्वाजा अहमद शेख रहीम, नसीर कवि अली मुराद आदि सूफी कवि हिन्दी रीतिकाल की उपज हैं।

सन्त मत और सूफी मत की तुलना

किसी देश मे दो विभिन्न जातियो के एक साथ बस जाने पर उनका एक

दूसरे पर सांस्कृतिक प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक है। भारत में भी फकीर और भारतीय सन्त बहुत शीघ्र एक दूसरे के प्रभाव में आ गये। पहुँचकर मुसलिम फकीरों ने भारत से दार्शनिक सिद्धान्त ग्रहण किये। भारत से बाहर भारतीय दार्शनिकता को स्वीकार नहीं किया गया, यहाँ दर्शनवाद पर निष्ठा रखने वाले मुस्लिम फकीरों को सूली पर चढ़ा दिया गया भी भारत में मुसलमान फकीरों ने इस दिशा में पर्याप्त रुचि दिखलाई। के अतिरिक्त दारा शिकोह जैसे मुस्लिम बादशाह ने उपनिषद् ज्ञान प्राप्त था। इस प्रकार राजा से लेकर फकीरों तक—सबदरवेशों ने भारतीय दर्शन आस्था प्रकट की। इधर भारतीय सन्तों ने भी इस्लाम से कुछ ग्रहण कि निस्सन्देह उपासना के लिए तो भारतीय सन्त मुस्लिम सूफियों के ऋणी न पर वे कुछेक सामाजिक सुधारों के लिये अवश्य ऋणी हैं। निर्गुणोपासना भारत में कोई नवीन नहीं है। पर फकीरों के ससर्ग से यह पद्धति सन्तों तथा अनुयायियों में यथेष्ट प्रचार अवश्य पा गयी। हाँ, जाति पाँति विच्छेद, 'साम समता, सहभोज आदि सामाजिक विशेषताएं इस्लाम से चलकर सन्तों तक पहु उपासक पद्धति में विशिष्ट प्रकार के गुरुवाद के लिए भी सन्त जन मुस्लिम फ से प्रभावित हैं। यदि हम इस सांस्कृतिक आदान प्रदान को एक वाक्य में क चाहें तो कह सकते हैं—

(क) सन्तमत इस्लाम का विशुद्ध भारतीय सस्करण है।

(ख) सूफीमत भारतीय औपनिषद् ज्ञान का विशुद्ध इस्लामी अनुवाद है

सन्तमत और सूफीमत में कुछ बातें समान हैं और कुछ विषम।

समानताएँ–(1) दोनों मतों में गुरुवाद की स्वीकृति की गयी है। गुरु बिना ईश्वर तक पहुँच सकना असम्भव है। सन्तों में यह गुरुवाद सूफियों 'खलाफत' का भारतीयकरण है क्योंकि भारतीय संस्कृति में गुरु अथवा आच का अस्तित्व केवल ज्ञानदाता अथवा विद्याप्रदाता के रूप में स्वीकृत है सूफीमत समान वह मुक्ति-प्राप्ति का साधन नहीं है।

(2) प्रेम आत्मा-परमात्मा का मध्यवर्ती मिलन सूत्र है–ऐसा दोनों म मानते हैं। फिर भी सूफीमत में प्रेम-तत्त्व मुख्यरूप में स्वीकृत है और सन्तमत गौण रूप से।

(3) दोनों मतों को ईश्वर का निराकार रूप एक-सा स्वीकार है।

(4) साधना दोनों मतों का अवलम्बन है। सन्तमत में इसे 'हठयोग' के रूप में अपनाया गया है और सूफी मत में शरीयत तरीकत, हकीकत और मारफीत, के रूप में।

विषमताएँ–(1)सन्तमत धर्मनिरपेक्ष उपासना करता है इनका परमात्मा ईश्वर है, अल्लाह है, अकालपुरुष है आदि परन्तु सूफीमत उपासना के द्वारा इस्लाम का प्रचार भी साथ-साथ चाहता है। इन्हें मिश्नरी ढंग का साधक कह सकते हैं।

(2) सन्त कर्मकाण्ड की अपेक्षा कर केवल ज्ञान का अवलम्बन चाहते हैं, पर सूफी कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों में रुचि रखते हैं।

(3) सन्तों ने भावाभिव्यक्ति के लिए स्फुट पद, राग रागनिया तथा दोहों को चुना है, सूफियों ने मसनवी ढग से गा गाकर प्रबन्ध-काव्य रचे हैं।

(4) सन्त साधक हैं, केवल साधक, सूफी साधक भी हैं और महाकवि भी।

प्रमुख सूफी कवियों का परिचय

जिन कवियों की लेखनी से प्रेम प्रधान काव्य लिखा गया, वे सैद्धातिक रूप से सूफी कवि कहलाये। इन सूफी कवियों ने अधिकाशत प्रेम गाथाएँ लिखी हैं। सूफी काव्य के अन्तर्गत अथवा प्रेममार्गी काव्य में जो सूफी कवि आते हैं, उनका परिचय क्रमश इस प्रकार है —

(1) कुतुबन—ये महाशय सवत् 1550 के लगभग शेरशाह के पिता हुसनशाह के दरबार में रहते थे। ये चिश्ती वश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनकी पुस्तक 'मृगावती' जिसका उल्लेख जायसी ने किया है, सन् 909 हिजरी अर्थात् सवत् 1558 वि में लिखी गयी थी। इस पुस्तक में चन्द्रगिरि के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कचनपुर की राजकुमारी की प्रेम-कथा का वर्णन है। 'मृगावती' उड़ने की विद्या में निपुण थी। वह राजा को छोड़कर कहीं उड़ गयी थी। राजा उसके वियोग में योगी हो गया, और उसकी खोज में निकल पड़ा। इसी बीच में उसने एक राक्षस के चगुल से बचाई हुई कन्या (रुक्मिनी) से विवाह किया। अन्त में उसका 'मृगावती' से मिलन हो गया। वह दोनों रानियों को लेकर अपने देश लौट आया। राजा के हाथी से गिर कर मर जाने पर दोनों रानियाँ सती हो गयी—"कुलवती सत सो सति भई"। कथा के बीच-बीच में प्रेम मार्ग की कठिनाइयों का अच्छा वर्णन है, जो साधक के लिए बड़ा उपदेशप्रद है। इसमें रहस्य से भरे हुए कई स्थल हैं।

(2) मझन—'मधुमालती' इन्हीं का ग्रन्थ है। इसकी कथा 'मृगावती' से अधिक रुचिकर है। इस ग्रथ में कनसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र राजकुमार मनोहर का महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के साथ प्रेम और पारस्परिक वियोग की कथा है। पहले नायक अप्सराओं द्वारा मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचाया जाता है। वे एक-दूसरे पर मोहित हो जाते हैं, किन्तु वे शीघ्र ही अलग हो जाते हैं। इस प्रकार एक बार मिलन के पश्चात् विरह होता है, परन्तु अन्त में फिर मिलन हो जाता है। इसमें प्रेमा और ताराचन्द का त्याग अत्यन्त सराहनीय है। इसमें विरह का अच्छा महत्व दिखाया गया है। इसकी एक उक्ति जो संस्कृत के एक श्लोक का अनुवाद है, यहाँ दी जाती है—

> रतन कि सागर सागरहिं, गज मोती गज कोइ।
> चन्दन कि बन-बन ऊपज, बिरह कि तन तन होइ॥
> मूल श्लोक—शैले-शैले न माणिक्य मौक्तिक न गजे-गजे।
> साधवो नहिं सर्वत्र, चन्दन न वने वने॥

दूसरे पर सांस्कृतिक प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक है। भारत में भी मु
फकीर और भारतीय सन्त बहुत शीघ्र एक दूसरे के प्रभाव में आ गये। भार
पहुँचकर मुसलिम फकीरों ने भारत से दार्शनिक सिद्धान्त ग्रहण किये। य
भारत से बाहर भारतीय दार्शनिकता को स्वीकार नहीं किया गया, यहाँ त
दर्शनवाद पर निष्ठा रखने वाले मुस्लिम फकीरों को सूली पर चढ़ा दिया गया
भी भारत में मुसलमान फकीरों ने इस दिशा में पर्याप्त रुचि दिखलाई। फ़
के अतिरिक्त दारा शिकोह जैसे मुस्लिम बादशाह ने उपनिषद् ज्ञान प्राप्त कि
था। इस प्रकार राजा से लेकर फकीरों तक—सबदरवेशों ने भारतीय दर्शन
आस्था प्रकट की। इधर भारतीय सन्तों ने भी इस्लाम से कुछ ग्रहण कि
निस्सन्देह उपासना के लिए तो भारतीय सन्त मुस्लिम सूफियों के ऋणी नहीं
पर वे कुछेक सामाजिक सुधारों के लिये अवश्य ऋणी हैं। निर्गुणोपासना प
भारत में कोई नवीन नहीं है। पर फकीरों के संसर्ग से यह पद्धति सन्तों तथा उ
अनुयायियों में यथेष्ट प्रचार अवश्य पा गयी। हाँ, जाति पाँति विच्छेद, 'सामाजि
समता, सहभोज आदि सामाजिक विशेषताएँ इस्लाम से चलकर सन्तों तक पहुँची
उपासक-पद्धति में विशिष्ट प्रकार के गुरुवाद के लिए भी सन्त जन मुस्लिम फकी
से प्रभावित हैं। यदि हम इस सांस्कृतिक आदान प्रदान को एक वाक्य में कह
चाहें तो कह सकते हैं—

(क) सन्तमत इस्लाम का विशुद्ध भारतीय संस्करण है।

(ख) सूफीमत भारतीय औपनिषद् ज्ञान का विशुद्ध इस्लामी अनुवाद है।

सन्तमत और सूफीमत में कुछ बातें समान हैं और कुछ विषम।

समानताएँ—(1) दोनों मतों में गुरुवाद की स्वीकृति की गयी है। गुरु के
बिना ईश्वर तक पहुँच सकना असम्भव है। सन्तों में यह गुरुवाद सूफियों के
'खलाफत' का भारतीयकरण है क्योंकि भारतीय संस्कृति में गुरु अथवा आचार्य
का अस्तित्व केवल ज्ञानदाता अथवा विद्याप्रदाता के रूप में स्वीकृत है सूफीमत के
समान वह मुक्ति प्राप्ति का साधन नहीं है।

(2) प्रेम आत्मा-परमात्मा का मध्यवर्ती मिलन सूत्र है—ऐसा दोनों मत
मानते हैं। फिर भी सूफीमत में प्रेम-तत्व मुख्यरूप में स्वीकृत है और सन्तमत में
गौण रूप से।

(3) दोनों मतों को ईश्वर का निराकार रूप एक-सा स्वीकार्य है।

(4) साधना दोनों मतों का अवलम्बन है। सन्तमत में इसे 'हठयोग' के
रूप में अपनाया गया है और सूफी मत में 'शरीयत तरीकत, हकीकत और
मारफीत, के रूप में।

विषमताएँ—(1) सन्तमत धर्मनिरपेक्ष उपासना करता है इनका परमात्मा
ईश्वर है, अल्लाह है, अकालपुरुष है आदि परन्तु सूफीमत उपासना के द्वारा
इस्लाम का प्रचार भी साथ-साथ चाहता है। इन्हें मिशनरी ढंग का साधक कह
सकते हैं।

(2) सन्त कर्मकाण्ड की अपेक्षा कर केवल ज्ञान का अवलम्बन चाहते हैं, पर सूफी कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों में रुचि रखते हैं।

(3) सन्तों ने भावाभिव्यक्ति के लिए स्फुट पद, राग रागनिया तथा दोहों को चुना है, सूफियों ने मसनवी ढंग से गा गाकर प्रबन्ध-काव्य रचे हैं।

(4) सन्त साधक हैं, केवल साधक, सूफी साधक भी है और महाकवि भी।

प्रमुख सूफी कवियों का परिचय

जिन कवियों की लेखनी से प्रेम-प्रधान काव्य लिखा गया, वे सैद्धान्तिक रूप से सूफी कवि कहलाये। इन सूफी कवियों ने अधिकांशतः प्रेम-गाथाएँ लिखी हैं। सूफी काव्य के अन्तर्गत अथवा प्रेममार्गी काव्य में जो सूफी कवि आते हैं, उनका परिचय क्रमशः इस प्रकार है —

(1) कुतुबन–ये महाशय संवत् 1550 के लगभग शेरशाह के पिता हुसनशाह के दरबार में रहते थे। ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनकी पुस्तक 'मृगावती' जिसका उल्लेख जायसी ने किया है, सन् 909 हिजरी अर्थात् संवत् 1558 वि. में लिखी गयी थी। इस पुस्तक में चन्द्रगिरि के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचनपुर की राजकुमारी की प्रेम कथा का वर्णन है। 'मृगावती' उड़ने की विद्या में निपुण थी। वह राजा को छोड़कर कहीं उड़ गयी थी। राजा उसके वियोग में योगी हो गया, और उसकी खोज में निकल पड़ा। इसी बीच में उसने एक राक्षस के चंगुल से बचाई हुई कन्या (रुक्मिनी) से विवाह किया। अन्त में उसका 'मृगावती' से मिलन हो गया। वह दोनों रानियों को लेकर अपने देश लौट आया। राजा के हाथी से गिर कर मर जाने पर दोनों रानियाँ सती हो गयीं— "कुलवंती सत सों सति भई"। कथा के बीच-बीच में प्रेम मार्ग की कठिनाइयों का अच्छा वर्णन है, जो साधक के लिए बड़ा उपदेशप्रद है। इसमें रहस्य से भरे हुए कई स्थल हैं।

(2) मंझन—'मधुमालती' इन्हीं का ग्रन्थ है। इसकी कथा 'मृगावती' से अधिक रुचिकर है। इस ग्रंथ में कनसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र राजकुमार मनोहर का महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के साथ प्रेम और पारस्परिक वियोग की कथा है। पहले नायक अप्सराओं द्वारा मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचाया जाता है। वे एक दूसरे पर मोहित हो जाते हैं, किन्तु वे शीघ्र ही अलग हो जाते हैं। इस प्रकार एक बार मिलन के पश्चात् विरह होता है, परन्तु अन्त में फिर मिलन हो जाता है। इसमें प्रेमा और ताराचन्द का त्याग अत्यन्त सराहनीय है। इसमें विरह का अच्छा महत्व दिखाया गया है। इसकी एक उक्ति जो संस्कृत के एक श्लोक का अनुवाद है यहाँ दी जाती है—

> रतन कि सागर सागरहिं गज मोती गज कोइ।
> चन्दन कि बन-बन ऊपज, बिरह कि तन तन होइ॥
> मूल श्लोक—शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे-गजे।
> साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

इस ग्रन्थ में विरह-कथा के साथ आध्यात्मिक तथ्यों का भी निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है।

(3) मलिक मुहम्मद जायसी—ये महाकवि प्रेममार्गी कवियों के प्रतिनिधि माने गए हैं। इनका जन्म गाजीपुर में होना बतलाया गया है। जायसी ने अपने 'आखिरी कलाम' में अपना जन्म सन् 900 हिजरी में बतलाया है। तीस वर्ष की अवस्था में वे कविता करने लगे थे—

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'पद्मावत' का रचनाकाल 947 हिजरी (सं. 1557) है—"सन् नौ सौ सतालीस अहा, कथा आरम्भ बन कवि कहा।" आचार्य शुक्ल जी के इतिहास में 'नौ सौ सत्ताईस' पाठ है। इस पाठ भेद का कारण यह है कि मूल पद्मावत काव्य फारसी के अक्षरों में लिखा गया था, और उसमें 47 का 27 भी पढ़ा जा सकता है। इस सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि 927 में दिल्ली के तख्त पर अलाउद्दीन सुल्तान नहीं थे, जिनकी वन्दना पद्मावत में की गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि सम्भवतः पुस्तक 927 में ही आरम्भ की गई होगी। बादशाह की स्तुति पीछे से 947 में लिख दी होगी। इस क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा 947 मानना ही अच्छा है। आचार्य शुक्ल जी ने अपने पक्ष में एक बंगाली प्रति का प्रमाण दिया है। उसमें भी 927 ही माना गया है परन्तु 947 मानना इतिहास के भी अधिक अनुकूल है। इसके अतिरिक्त, कवि स्वयं ही अपनी 'आखिरी कलाम' नाम की पुस्तक में कहता है—"भा अवतार मोर नौ सदी, तीस बरस ऊपर कवि बदी।" जब उसका कविता काल सन् 930 हिजरी से होता है तब 'पद्मावत' का आरम्भ 927 में किस प्रकार हो सकता है।

जायसी चेचक के प्रकोप के कारण एक आँख से वंचित हो गए थे। इसी कारण अपनी पुस्तक में जायसी ने एक आँख का होना गौरव की बात बतलायी है तथा शुक्राचार्य से अपनी तुलना की है। ये पीछे से जायस (रायबरेली) में रहने लग थे, इसी से ये जायसी कहलाए। जायसी प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे—'गुरु मोहदी सेवक मैं सेवा।' यद्यपि इनकी मुसलमानी धर्म में पूरी आस्था थी तथापि इन्होंने हिन्दू देवताओं का आदर के साथ उल्लेख किया है। केवल एक जगह रत्नसेन के मुख से मूर्तिपूजा की अवश्य बुराई कराई है किन्तु नैराश्य में प्रायः ऐसा हो जाता है कि लोग देवताओं को कोसने लगते हैं।

इनकी तीन पुस्तकें प्रख्यात हैं—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। पद्मावत में राजा रतनसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। इन दोनों का योग हीरामन तोता ने कराया है। इस कथा में दोनों ओर से प्रेम की पीर दिखलाई गई है। इसमें राजा की पहली रानी नागमती के वियोग का अच्छा वर्णन है। इस कथा से प्रेम साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखलाया गया है। यह कथा अधिकांश में ऐतिहासिक है। कवि कल्पना के अनुसार हेर फेर

अवश्य किया गया है—पूर्वार्द्ध कल्पित है, किन्तु उत्तरार्द्ध का बहुत कुछ ऐतिहासिक आधार है। पूर्वार्द्ध का भी बहुत कुछ अंश जनश्रुति पर अवलम्बित है। भौतिक प्रेम के साथ आध्यात्मिक प्रेम की भी झलक मिलती है। जायसी ने स्वयं इस कथा को आध्यात्मिक रूप दिया है—

तन चित उर, मन राजा कीन्हा।
हिय, सिंघल बुधि पदमिनी चीन्हा॥
गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा।
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाचा सोई न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू।
माया अलाउदी सुलतानू॥

जायसी का यह ग्रंथ प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से बहुत अच्छा गिना जाता है किन्तु राम चरित मानस से प्रबन्ध सौष्ठव की बराबरी नहीं कर सकता। यद्यपि प्रेम-गाथाओं में इसका प्रथम स्थान है, परन्तु प्रबन्ध काव्यों में दूसरा।

जायसी का विरह वर्णन बड़ा विषद है। इन्होंने विरहग्रस्त प्रेमी और प्रेमिका के साथ सारे संसार की सहानुभूति दिखलाई है और सब चराचर, पशु-पक्षी आदि को विरह-वेदना में व्याप्त बतलाया है। गेहूँ का हृदय भी विरह के कारण फटा हुआ है और कौआ विरह के कारण काला है। कहीं कहीं इनका विरह-वर्णन अत्युक्ति की मात्रा को पहुँच गया है किन्तु बिहारी के विरह वर्णन से कुछ भिन्न है। इसमें इनकी अत्युक्तियाँ विरह की विषम वेदना के संकेत रूप प्रतीत होती हैं, उनके शब्दों का चमत्कार नहीं। जायसी की अधिकांश अत्युक्तियाँ उत्प्रेक्षा-मूलक जनु 'मानो' आदि अव्ययों के कारण वास्तविक जगत की न होकर कल्पना की बात हो जाती हैं। जहाँ पर जायसी ने अत्युक्ति को घटना का रूप दिया है (जैसे पक्षी द्वारा नागमती की चिट्ठी ले जाते समय का वर्णन) वहाँ वे [illegible] हास्यास्पद बन गए हैं। इसमें मुसलमानी काल के विरह-वर्णन की [illegible] आ गयी है, हर जगह रक्त के आंसू गिरते हैं। इसमें [illegible] का समन्वय है। इनके विरह में अत्युक्ति अवश्य है किन्तु [illegible] की तीव्रता भी दिखलाई देती है।

नव पौरी पर दसवँ दुवारा । तेहि पर बाज राज घरियारा ॥
घरी सो बठि गन घरियारी । पहर पहर सो आपनि बारी ॥
जबहि घरी पूज ओहि मारा । घरी घरी घरियार पुकारा ॥
परा जो डाँड जगत सब डाँड़ा । का निचित माटी कर भाँडा ॥
तुम तेहि चाक चढे ओही काँचे । आएहु रहै न थिर होई बाँचे ॥
घरी जो भरी घटी तुम आऊ । का निचित भा सोवँ बटाऊ ॥
पहरहिं पहर गजर नित होई । हिया बज भा जागु न कोई ॥
दोहा—मुहम्मद जीवन जल भरन, रहँट घरी क रीति ।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति ॥

जायसी के पद्मावत' म ऊपर की भाँति सात अर्द्धालिया के बाद दोहा रखा है । 'रामचरितमानस' मे आठ अर्द्धालिया के बाद दोहा रखा गया है । दो अर्द्धालिया की मिलाकर एक चौपाई होती है । पद्मावत की भाषा बोल चाल की पूर्वी अवधी है । 'रामचरितमानस' की भाषा पश्चिमी अवधी है और वह अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक है ।

(4) उसमान—सन् 1613 मे उनकी 'चित्रावली' लिखी गई थी । इसम नपाल के राजकुमार सुजानकुमार का चित्रावली' के साथ विवाह का हाल है। इसमे राजा का पूर्वानुराग चित्र दशन स हुआ था । इसम यात्राओं का अच्छा वणन है । कथा बिल्कुल काल्पनिक मालूम होती है जसा कि कवि न स्वय स्वीकार किया है— 'कथा एक मैं हिए उपाई, कहतु मीठ औ सुनत सुहाई ।' जायसी की भाँति ही इनके काव्य म भी कही कही आध्यात्मिक व्यजनाएँ हैं—

पावहि खोज तुम्हारा सो, जेहि दिखरावहु पन्थ ।
कहा होय जोगी भय औ बहु पढे गरन्थ ॥

तुलसीदासजी ने भी कहा है सो जानिहि जेहि देहु जनाई ।' ये कवि शाह निजामुद्दीन चिश्ती की परम्परा मे थे । इन्होने हाजी बाबा से दीक्षा ली थी। इन्होने अपना उपनाम मान' लिखा है । य जहागीर के समय म थ और गाजीपुर के रहने वाले थे । इन्द्रावती और अनुराग बासुरी का वणन इन्होने अपनी पुस्तक म किया है ।

(5) शेख नबी—य जहाँगीर क समय सवत् 1676 म वतमान थे । जौनपुर जिले के दोस्तपुर के निकट मऊ नामक स्थान क य रहने वाल थ । शखनबी प्रेममार्गी काव्यधारा के ऐसे कवि हैं जिनस इस काव्यधारा की समाप्ति समझनी चाहिए। राजा ज्ञानदीप' और रानी देवजानी का लकर इन्होंने 'ज्ञानदीप' नामक एक आख्यानक काव्य लिखा है ।

(6) कासिम शाह—प्रेममार्गी काव्यधारा क अत्यन्त साधारण कवि थ । सवत् 1788 के लगभग इनका वतमान रहना माना जाता है। राजा हस और रानी जवाहिर को कथा के रूप म इन्होंने हस जवाहिर' नामक कहानी लिखी है । जायसी का अनुकरण इन्होंने भी करना चाहा है ।

(7) नूर मोहम्मद—दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के समय में ये वर्तमान थे और जौनपुर जिले के कस्बा शाहगंज के निकट सबरहद ग्राम के निवासी थे। यह ग्राम जौनपुर और आजमगढ़ की सरहद पर स्थित है। बाद में ये अपनी ससुराल भादों में जाकर रहने लगे जो आजमगढ़ जिले में पड़ता है। इन्होंने संवत् 1801 में 'इन्द्रावती' नामक एक सुन्दर आख्यानक काव्य लिखा। ये फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे जिसमें इन्होंने एक दीवान के अतिरिक्त 'रौजतुल हकायक' आदि कई किताबें लिखी जो अब नष्ट हो जाने के कारण नहीं मिलती। फारसी अक्षरों में इनका एक और ग्रन्थ इधर मिला है जिसका नाम 'अनुराग बाँसुरी' है। इसका रचनाकाल संवत् 1811 है। अन्य कवियों से इनमें एक विशेषता यह है कि इन्होंने चौपाइयों के बीच-बीच में दोहे न रख कर बरवै रखे है। इनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमानों में उर्दू का आन्दोलन आरम्भ हो गया था। भाषा भी इनकी अपेक्षाकृत संस्कृत गर्भित है। कहीं-कहीं ब्रजभाषा के भी प्रयोग मिलते हैं। 'अनुराग बाँसुरी' में शरीर, जीवात्मा तथा मनोवृत्तियों आदि को लेकर अध्यवसित रूपक बाँधकर कहानी कही गई है।

सूफी आख्यान काव्यों की परम्परा नूर मोहम्मद के बाद फिर न चल सकी। इस काव्य परम्परा में मुसलमान कवि ही हुए। केवल एक पंजाबी हिन्दू कवि सूरदास ने शाहजहाँ के शासन काल में 'नल दमयन्ती' कथा नाम की कहानी लिखी जो अत्यन्त साधारण कोटि की है। बाद में भी कुछ साधारण रचनाएँ मिलती हैं जिनमें 'चतुर्मुकुट की कथा' तथा 'युसुफ-जुलखा' का नाम लिया जा सकता है।

सूफी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

कबीर आदि निर्गुणिये कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच की दरार को पाटने का कार्य किया, किन्तु सूफी साधकों ने हिन्दू मुस्लिम दोनों जातियों में सांस्कृतिक एकता का भी स्तुत्य प्रयास किया। विद्वानों के मतानुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि एकता के इस प्रचार और कार्य में सूफियों का और उनके प्रयत्नों का ही महत्त्व अधिक है। सूफी कवि उस निर्गुण निराकार भगवान की उपासना करते थे जो अनन्त प्रेम का आगार है। धार्मिक प्रतिबंधों के कारण सूफी कवियों ने लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से ईश्वर प्रेम की अभिव्यंजना की है। इनके जो प्रेमाख्यान हैं उनमें ऐतिहासिकता का अभाव है। इसका कारण स्पष्ट है—ये लोग इनका प्रयोग अलौकिक प्रेमाभिव्यंजन के लिए करते थे। सूफियों के प्रेमाख्यान विशेषतः हिन्दू समाज के लिए लिखे गए हैं तथा हिन्दू जीवन के प्रति सहानुभूति भावना भी प्रस्तुत करते हैं। इनकी प्रेम गाथाओं की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

भारतीय चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली—प्रेममार्गी सूफी कवियों की गाथाओं का प्रणयन भारतीय चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली में नहीं हुआ बल्कि

फारसी की मसनवी शैली के ढंग पर हुआ है। मसनवी शैली के आधार पर ग्रन्थारम्भ में ईश्वर वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, शाह वक्त की प्रशंसा तथा आत्म-परिचय आदि का उल्लेख मिलता है। सूफी सम्प्रदाय के प्रमुख कवि जायसी के 'पद्मावत' को इस बात के उदाहरणस्वरूप रखा जा सकता है। सूफी कवियों ने इसके अतिरिक्त भारतीय कथाओं में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्रायः उन सभी रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती रही हैं, जैसे—चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन अथवा शुक सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुन कर आसक्त होना, पशु पक्षियों की बातचीत से भावी घटनाओं का संकेत पाना, मंदिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना इत्यादि। द्विवेदीजी ने यह भी लिखा है कि सूफी काव्य में कुछ ईरानी साहित्य की रूढ़ियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं जैसे—प्रेम व्यापार में परियों और देवों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियों का प्रेमियों को गिरफ्तार करा लेना आदि।

अर्द्ध इतिहास और कल्पना—सूफियों के काव्य में प्रेम गाथाएँ अधिकांशतः हिन्दुओं के घरों की कथाएँ हैं। ये परम्परा से प्रचलित कहानियाँ हैं जिनमें अर्द्ध इतिहास और अर्द्ध कल्पना का पुट है। इतिहास का इन कवियों ने वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक वह इनके सिद्धान्तों और साध्य में सहायक हुआ है। अतएव उन्होंने हिन्दुओं के घरों की प्रेम गाथाओं को लेकर काव्य रचना की और उसके द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। हिन्दी के कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इन सूफी कवियों ने हिन्दू घरों की प्रेम कहानियों के माध्यम से प्रच्छन्न रूप में इस्लाम का प्रचार किया किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "इन कवियों ने अपनी रचनाओं में इस ओर कभी कोई संकेत नहीं किया और न इनके कथानकों से लेकर उनके क्रम विकास अथवा अन्त तक भी कोई ऐसा प्रसंग छोड़ा जिससे उनका कोई सम्प्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। यह अवश्य है कि जहाँ तक घटनाओं की क्रम योजना का प्रश्न है उसे इस प्रकार निभाया गया है जिससे सूफी प्रेम साधना का भी मेल बैठ गया परन्तु फिर भी ऐसी बातें अधिक केवल दृष्टान्तों के ही रूप में पाई जाती हैं जिस कारण उनमें साम्प्रदायिक आग्रह का भी रहना अनिवार्य नहीं है। इसके सिवा इन प्रेमाख्यानों के नायक नायिका, उनके दैनिक व्यापार, वातावरण तथा उनके सिद्धान्त व संस्कृति में भी कोई परिवर्तन नहीं लाया जाता और न कहीं पर यह चेष्टा की जाती है कि कथा प्रवाह के किसी अंश में किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष के महापुरुष द्वारा कोई मोड़ ला दिया जाय। इनमें प्रसंगानुसार, यदि कोई हिन्दू जोगी तपी आते हैं तो ख्वाजा खिज्र भी आ जाते हैं और सभी लगभग एक उद्देश्य से काम करते पाए जाते हैं। 'पद्मावत' में हिन्दुओं के आचार विचार आदि सभी का सुन्दर समन्वय इन कवियों के हाथों में हुआ।

प्रेम और वियोग—सूफियो का प्रमुख प्रतिपाद्य प्रेम है और प्रेम में भी वियोग पक्ष को इतना महत्त्व दिया गया है जितना सम्भवत किसी ने कभी नहीं दिया। इनको कविताओ म इनका जितना ध्यान प्रेमी और प्रेमिकाओ के वियोग, उसकी अवधि म भेल जाने वाले कष्टो तथा अन्त करने के लिए विविध प्रयत्नो का वणन करने म दिया है, उतना उनके अन्तिम मिलन का नहीं। सचाई यही है कि विरह की ज्वाला म तप कर ही प्रेम का कचनवर्णी रूप निखरता है। विरह के वणन म इन्होने ऋतुओ और बारहमासे वणन भी किया है। हाँ, इन कवियो ने जिस प्रेम का चित्रण किया है, उस पर विदशी और भारतीय दोनो शलियो का प्रभाव है। फारसी साहित्य से प्रभावित इनके वणनो मे अतिरजना अधिक है। इन प्रसगो म इनके द्वारा वर्णित रक्त के आँसुओ की मात्रा कई बार वीभत्सता और अस्वाभाविकता की सीमा का स्पर्श कर गई है।

सुसयोग अवस्था मे कभी अश्लीलता का और कभी-कभी यौगिक क्रियाओ का वणन किया गया है। जायसी के 'पद्मावत' म मिलन प्रसगो म भी जायसी की उपदेशात्मक और रहस्यात्मक प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो उठी है कि मिलन का सारा आनन्द ही समाप्त हो जाता है। प्राय सूफी कवियो ने प्रेम की व्याख्या करते समय सौन्दय के स्वरूप और प्रभावाभिव्यजन का उल्लेख भी कर दिया है।

लौकिक से अलौकिक प्रम की व्यजना—सूफी कवियो की ये प्रेम-गाथाएँ लौकिक स अलौकिक प्रेम की व्यजना करती हैं। धार्मिक प्रतिबन्धो के कारण ही सूफी कवियो न अलौकिक प्रेम की व्यजना लौकिक प्रेमाख्यानो की सहायता से की है। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अश है। आत्मा बन्दे के रूप मे अपने को प्रस्तुत करती है और बन्दा प्रेम के सूत्र मे परमात्मा की प्राप्ति म सलग्न होता है। वस्तुत इन कवियो की प्रेम-गाथाओ मे जो अलौकिक प्रेम है उसम जीवात्मा और परमात्मा के लिए तीव्र प्रेम और साधक के माग की कठिनाइयो का वणन है।

नायक नायिका—प्रेम गाथाओ मे नायक और नायिकाओ के जीवन का उतना ही अश चित्रित किया गया है जितने से प्रेम के विविध प्रसग जुटाए जा सकें और इनकी अभिव्यक्ति विस्तार स की जा सके। प्रबन्ध काव्य के लिए उपयुक्त जीवन की विविधता इन काव्यो म नहीं मिलती है। इन काव्यो मे जिन नायिकाओ का वणन है या चित्रण है वे सबकी सब एक ही साँचे म ढली-ढलाई दिखलाई देती हैं। इनम जीवन के सघष और उत्थान पतन का इतिहास नहीं, वरन् जीवन की एकरसता और विशेषकर वियोग भावना है। नायको की स्थिति भी वही ढाँचे म ढली ढलाई और पूव निश्चित सी प्रतीत होती है। काल्पनिक पात्र भी हैं। सस्कृत साहित्य के नायको के समान वे बडे पराक्रमी और प्रेमी है जो अपनी प्रियतमाओ की प्राप्ति के लिए बडे से बडे सकट को भी मोल ले लेते हैं। सूफी कवि अपने नायको को विभिन्न परिस्थितियो एव महान् कठिनाइयो से निकाल कर अन्त तक निवाह ले जाते है।

लोक पक्ष एव हिन्दू सस्कृति—लोक पक्ष एव हिन्दू सस्कृति से ओतप्रोत ये प्रेम गाथाएँ अपना सानी नही रखती। कबीर आदि सन्तो ने अपने को वयक्तिक सीमा म अधिक घुमाया-फिराया ह जबकि सूफी कवियो म वयक्तिकता के साथ-साथ समष्टि का आग्रह भी है। समष्टि के आग्रह के कारण ही इनके काव्यो म लोक जीवन का चित्रण है तथा जनसाधारण का अन्ध विश्वास, लोक व्यवहार, व्रत, सास्कृतिक वातावरण आदि बडी सफलता के साथ चित्रित किया गया है। प्रेम काव्यो के इन रचयिताओ ने हिन्दू घराने की प्रेम कहानियाँ लेकर उनका उन्ही के अनुरूप वणन किया है। सूफियो ने हिन्दू धम के सिद्धान्तो, रहन-सहन तथा आचार विचार का सुन्दर वणन किया है। हिन्दू पात्रो म हिन्दू आदर्शों का समावेश ह। पद्मावत' म रत्नसिंह के गृह त्याग पर माता पिता का रोना, पद्मावती का रस-रग, विदा, समागम, यात्रा युद्ध, सती कलह, स्वामिभक्ति, वीरता, अभिसार, पासा खेलना और योग की नौ परियो का वणन आदि बातो का वणन इस बात की पुष्टि करता है।

शतान माया का प्रतिनिधि—सूफियो ने अपनी प्रेम गाथाओ म शतान को माया का प्रतिनिधि बनाकर प्रस्तुत किया ह तथा बताया है कि यह शतान साधक को साधना माग पर अग्रसर होने से रोकता है। 'पदमावत' काव्य म राघव चेतन की सयोजना इसी आधार पर हुई है। सन्त कवि माया को त्याज्य बताते हैं जबकि सूफी कवि इसकी उपस्थिति को आवश्यक समझते हैं क्योकि इससे साधक की परीक्षा हो जाती है।

सास्कृतिक समन्वय—सूफियो के काव्य मे किसी धम विशेष का, जाति विशेष का और सम्प्रदाय विशेष का खण्डन नही मिलता ह क्योकि इनका ध्यान सांस्कृतिक समन्वय की ओर रहा है।

प्रेम नारियो के लिए—इन प्रेम-गाथाओ म प्रेम की भावना को नारियों के मत्थे मढा गया है और इन्हे परमात्मा का प्रतीक बतलाया है। साधक इसी की प्राप्ति के लिए अनेक सकटो को झेलता हुआ आगे बढता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा ह कि सूफी कवियो ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम साधना के साध्य रूप म स्वीकार किया है, जिनके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी योग्य वस्तु मात्र नही रह जाती ह। वह उस प्रकार की साधना सामग्री भी नही कहला सकती ह जिसम उसे बौद्ध सहजयानियो ने मुद्रा नाम देकर अपनी साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधको की दृष्टि म स्वय एक सिद्धि का रूप बन जाती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानो म उसे प्राय अलौकिक गुणो से युक्त भी बतला दिया जाता है।'

प्रमुख रस शृगार—इनकी प्रेम गाथाओ का प्रमुख रस शृगार है। हाँ इसके अतिरिक्त अन्य रसो का वणन कम ही किया गया ह। वीर, शान्त और वीभत्स रसो का समावेश भी हो गया है पर अपेक्षाकृत कम। पदमावत म वीर शृगार और शान्त तीन रसो की ही व्यजना है।

रहस्यवाद—सूफी कवियों की गाथाओं में रहस्यवाद का स्वरूप भी बड़ा सुंदर, मधुर और सरस है। सन्तों की भाँति इनकी कविता में शुष्कता और नीरसता से ओत प्रोत रहस्यवाद नहीं है बल्कि उसका सरस रूप ही है। शंकर के अद्वैतवाद को स्वीकारती हुई भी सूफी कवियों की रहस्य भावना में हृदय की मधुर भावनाओं का विशेष महत्त्व है। शुक्ल जी ने जायसी के रहस्यवाद को कबीर की तुलना में अधिक सरस और रमणीय माना है।

काव्य रूप—सूफियों ने विशेषतः तो प्रबन्ध-काव्यों की ही रचना की है किन्तु कभी-कभी मुक्तक शैली पर भी कुछ रचनाएँ लिखी गई हैं। मुक्तक शैली में लिखने वाला में अमीर खुसरो का नाम सबसे पहले आता है। मुक्तक शैली में पद, दोहे, झूलने, कुण्डलिया और भजन-चौपाई का प्रयोग किया गया है। प्रेम काव्य के दोहा का अपना अलग महत्त्व है। बड़ा तीव्र व्यंग्य इनमें है। ये दोहे बड़े परिष्कृत हैं।

प्रेमाख्यानों में वर्णन पद्धति—प्रबन्धों में वस्तु एवं घटना वर्णन में जो प्रवाह और गतिमयता अपेक्षित है, उनका इनमें अभाव है। इन प्रेमाख्यानों में वर्णन पद्धति को अधिक महत्त्व मिला है। उदाहरणार्थ जायसी जब वर्णन करने लगते हैं तो न किसी पक्षी का नाम उनसे छूटता है और न अन्य खाद्यान्नों का ही। नगरों का वर्णन, समुद्र वर्णन, सरोवर और वाटिकाओं के वर्णन भी इसके प्रमाण हैं।

भाषा शैली—भाषा शैली में इन्होंने अवधी को ही विशेषतः अपनाया है। उसमान और नजीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव है। नूर मुहम्मद ने कहीं-कहीं व्रज भाषा का भी प्रयोग किया है। अवधी तद्भव शब्द, अरबी-फारसी के शब्द आदि भी मिलते हैं। सूफियों ने लोकोक्तियों और मुहावरों से भी भाषा शैली को गौरव प्रदान किया। कुछ लोग तो यहाँ तक मानते हैं कि जायसी की अवधी तुलसी की अपेक्षा अधिक साहित्यिक और स्वाभाविक है। इन्होंने दोहा-चौपाई को अपनाकर अपने काव्यों की सृष्टि की। कहीं कहीं सोरठे, सवैये आदि का भी प्रयोग है।

अलंकार प्रयोग—अलंकारों में प्रायः प्रचलित अलंकारों को ही अपनाया गया है। फारसी साहित्य से प्रभावित होकर भी उपमादि अलंकारों के प्रति मोह प्रदर्शित किया गया है। रूप वर्णन में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं का खूब प्रयोग है। कभी-कभी अतिशयोक्ति तो बड़ी हास्यास्पद हो गयी है।

प्रतीक प्रयोग—सूफियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से जिस अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना को अपनी कविता का लक्ष्य बनाया था उसके लिए इन्होंने कुछ प्रतीकों को भी अपनाया है। इनकी प्रायः सभी रचनाओं में कुछ सांकेतिक शब्द मिलते हैं। जायसी ने तो कथान्त में सारे प्रतीकों को समझा दिया है—

'तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पद्मिनि चीन्हा।'

प्रभावों की छाया में सूफी काव्य—सूफी मत पर चार प्रभाव विशिष्ट रूप से पड़े हैं—आर्यों का *अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद, इस्लाम की गुह्य विद्या,*

नव अफलातूनी मत तथा विचार स्वातन्त्र्य । इन पर भारतीय प्रभाव तो स्पष्ट ही है । सूफियो ने वैष्णवो की अहिंसा को क्रियात्मक रूप से अपनाया है । उपनिषद के प्रतिबिम्बवाद के अनुसार नाना रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है । जायसी ने अनेक स्थलो पर जैसे 'नयन जो देखा कमल भा ' मे प्रतिबिम्बवाद के साथ ही विचारसाम्य दिखाया है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भारतीय पच महाभूतो मे आकाश को छोडकर अन्य चार स्वीकार किए गए हैं । हठयोग का प्रभाव इन पर स्पष्ट ही है । इन्होने अनेक स्थलो पर यौगिक प्रतिक्रियाओ का उल्लेख किया है । यौगिक के समान इन्होने सिद्ध पाठ भी माना है । इनके शृ गार का नख शिख वर्णन कामशास्त्र से प्रभावित है । कुछ विद्वानो का यह विश्वास है कि भारतीय सूफी कवियो की प्रणय भावना पर फारसी साहित्य का अत्यधिक प्रभाव है, किन्तु यह विचार समीचीन नहीं है । सूफियो की प्रणय भावना भारतीय शृ गार रस की परम्परा म आती है । हमारा यह दृढ विश्वास है कि कम स कम उत्तरी भारत के सूफी प्रेमाख्यानो की प्रणय-भावना पर फारसी का प्रभाव नगण्य सा है। फारसी प्रेम-पद्धति का प्रभाव यदि कही पडा है तो वह दक्षिणी भारत के हिन्दी प्रेमाख्यानो पर है और वह भी वजही और परवर्ती लेखको पर है ।

भक्तिकाल एक स्वर्ण युग

प्रत्येक काल का साहित्य कुछ विशेष प्रकार की प्रवृत्तियो एव मान्यताओं को लेकर लिखा जाता है । दूसरे प्रत्येक काल की अपनी मान्य विशेषताएँ ही उस काल के साहित्य को दूसरे काल से पृथक करती हैं । इस दृष्टि से विचार करने पर भक्तिकाल का साहित्य निश्चय ही अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य से पृथक एव विशिष्ट है । तथ्य तो यह है कि जितनी सबलता से भक्तिकाल के साहित्य ने जन-जीवन को प्रभावित एव आन्दोलित किया, अन्य किसी भी काल का साहित्य न कर सका । इसकी यह विशेषता सर्वाधिक महान् और ग्राह्य है । वास्तव मे भक्ति साहित्य ने भारतीय जन मानस को जीवन का एक नया आलोक प्रदान किया, उसे आशा आकाक्षा से भरा जीवन जीने की कला सिखायी,। मन, बुद्धि और आत्मा को समान रूप से समन्वित कर एक विशेष सन्तुष्टि प्रदान की । डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि समूचे भारतीय इतिहास मे अपने ढग का अकेला साहित्य है । इसी का नाम भक्ति साहित्य है । यह एक नई दुनिया है । डॉ श्यामसुन्दर दास ने तो भक्ति साहित्य रचे जाने के काल को स्वर्ण युग नाम से सम्बोधित करते हुए लिखा है कि जिस युग मे कबीर जायसी, तुलसी, सूर जैसे सुप्रसिद्ध कवियो और महात्माओ की दिव्य वाणी उनके अन्त करणो से निकल कर देश के कोने-कोने मे फैली थी, निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था ।

हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग—मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्ययुग भक्तिकाल नाम से अभिहित किया जाता है । भक्तिकाल शब्द ही अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने वाला है अर्थात् इस काल मे भक्तिपरक रचनाओ की प्रधानता रही है।

कुछ विद्वानो ने इस काल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा है। उनकी दृष्टि मे हिन्दी काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल म उपलब्ध होता है। वस्तुत निर्गुण और सगुण धाराओ मे प्रवाहित होने वाला वह काव्य गुणवत्ता और परिमाण दोनो दृष्टियो से अत्यन्त समृद्ध है। काव्य-विधाओ के आधार पर भी इस काल को हम अन्य कालो के काव्य से अधिक समृद्ध पाते हैं। जिस समय इस काल के लिए स्वर्ण-युग शब्द का प्रयोग किया गया था, तब उन विद्वानो के समक्ष वतमान युग का प्रचुर साहित्य नहीं था, अर्थात् यह शब्द आज से लगभग अर्द्धशताब्दी पूर्व प्रयोग मे आया था और इस तत्कालीन् समस्याओ मे भक्तिकाल से श्रेष्ठ काव्य की कल्पना करना सम्भव नही था। इसे स्वर्ण-युग प्रमाणित करने वाले तत्त्व ये हैं—

निर्गुण सन्त काव्य स्वर्ण युग के रूप मे —भक्ति काल का प्रारम्भ निर्गुण सन्त काव्य स होता है। इस धारा के कवियो मे उन सन्त कवियो का स्थान है, जिन्होंने एकेश्वरवाद मे आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण निराकार ईश्वर की भक्ति का सन्देश दिया। भक्ति के क्षेत्र मे ये सन्त कवि भारतीय निर्गुण भावना के समीप होते हुए अद्वैतदशन के प्रतिपादक थे, किन्तु दर्शन की मात्र पीठिका ही उन्हे स्वीकाय थी, दार्शनिक मतवाद या भेदभाव के प्रपच से उनका साक्षात कोई सम्बन्ध नहीं था। सामाजिक स्तर पर इन सन्तो ने पाखण्ड एव अन्धविश्वासो का पूरी दृढ़ता के साथ खण्डन किया। मिथ्या आडम्बरो के प्रति जसी अनास्था इन सन्त कवियो ने व्यक्त की, वैसी न तो पहले कभी कोई समाज-सुधारक कर सका था और न परवर्ती युग म ही किसी का वैसा साहस हो सका। इन सन्त कवियो का एक बडा भाग निम्न वग स सम्बन्ध रखता था, किन्तु आचरण की पवित्रता और आचरित सत्य की प्रतिष्ठा के कारण इनकी वाणी का प्रभाव समाज के उच्च वग पर भी पडा था। निर्गुण सन्तो के द्वारा तत्कालीन समाज मे एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का उदय हुआ और परम्परागत रूढिवादिता पर इन्होने गहरा प्रहार किया। विद्वान् दार्शनिक पण्डिता का प्रभाव एक सीमित शिक्षित वग तक था, किन्तु इन कवियो की वाणी का प्रभाव सामान्य जनता पर भी पडा और समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति इनसे प्रभावित हुए। सन्त कवियो के पास धम दशन, भक्ति और चरित्र-निर्माण के लिए अपना निजी सन्देश था। ये धम के क्षेत्र मे सकीर्णता के घोर विरोधी थे, दर्शन के क्षेत्र मे अद्वैत दृष्टि से एकेश्वरवाद के समथक थ, भक्ति के क्षेत्र मे ये कमकाण्ड रहित निष्ठा और समपण मे विश्वास रखते थे और चरित्र विकास के लिए आचरित सत्य को जीवन निर्माण की कसौटी मानते थे।

समन्वय दृष्टि—डॉ विजयेन्द्र स्नातक का मत है कि सन्तो मे समन्वय-दृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, नानक, दादू हरिदास, निरजनी आदि सन्तो ने जिस रूप से विचार व्यक्त किये हैं, उसका आधार कोई एक विचार-धारा या मतवाद नहीं है। अद्वैतवाद, वष्णवा की भक्ति भावना, सिद्धों नाथो की सहज सरल साधना आदि का जिस पद्धति से इन्होंने समन्वय किया था, वह सवजन सुलभ थी, फलत सामाजिक स्तर पर इनका समन्वय ग्राह्य बन गया था। सन्तो ने

शास्त्र वचन को प्रमाण नही माना। शास्त्र की अवहेलना एक कठोर चुनौती थी लेकिन अनुभूति को प्रमाण मानने से शास्त्र मर्यादा भी शिथिल हो गई। मानव को परम्परागत रूढ शास्त्र-परम्परा से मुक्ति केवल इन निर्गुण सन्त कवियों की आत्मानुभवमयी दृढ वाणी से ही मिली थी। वस्तुत ये कवि अपने युग के मिथ्या डम्बरो और धार्मिक रूढियो के खोखलेपन से परिचित होकर ही सत्य के उद्घाटन का साहस कर सके थे। जिसे एक बार सत्य का बोध हो जाता है वह किसी मिथ्या या अनुभूत तथ्य को प्रमाण नही मानता।"

अटूट आस्था व भक्ति—इस युग के सन्त कवि ईश्वर की सत्ता और सर्व शक्तिमत्ता मे अटूट विश्वास रखने के कारण अत्यन्त निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी और सत्यवादी थे। किसी भी धर्म की मिथ्या धारणाओं का खण्डन करते समय इनके मन मे भय का सचार नही होता था। कबीर ने तो स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि मैं चौराहे पर सिर पर कफन बाँधकर खड़ा हूँ, सत्य को प्रकट करते समय मुझे किसी का भय नही है, जिसमे सत्य को प्रकट करने का साहस हो, वह मेरे साथ आये। ऐसे क्रान्तिकारी विचारो का उदघोष करना उस युग मे सम्भव हो सका, यह आश्चर्य की बात नही है।

सहज भाषा—यह ठीक है कि भक्त कवियो ने काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, जीवन के विद्यालय मे सत्य और अनुभूत सत्य का पाठ ही ये पढते थे, किन्तु कविता के माध्यम से इन्होने जो कुछ लिखा वह काव्यहीन भी नहीं है। जिस साधारण और सहज भाषा को इन्होने अपनाया था, वह जन भाषा थी और साधारण जनता के अधिक निकट होने के कारण लोकप्रिय भी थी। इस भाषा की लोकप्रियता का यही प्रमाण है कि इनकी रचनाएँ जनता के दैनिक व्यवहार और बोलचाल मे सूक्तियो के रूप मे स्थान पा गई हैं। आज भी इन सन्तो की उक्तियों का प्रयोग हम व्यावहारिक भाषा मे करते हैं।

गुरु वन्दना और महत्त्वांकन—भक्तिपूरित हृदय वाले कवियो ने गुरु को विशेष आदर व महत्त्व दिया है। एक बात और ध्यातव्य है—इन सन्तो ने अपने युग मे जिन धाराओं और मान्यताओं का खण्डन किया उन्ही को इनके नाम पर परवर्ती युग मे पन्थ या मत के रूप मे स्थान मिला। कबीर पथ, नानक पथ, मूलदासी, शिवनारायणी आदि पथो का उदय इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि सन्तो की साधना उनके बाद पुन पूजा का विषय बन गई। गुरु पूजा तो इन पथो मे अनिवार्य हो गई। नानक के नाम से सिक्ख मत का उदय हुआ तो कबीर के नाम से कबीर पथ चल पड़ा। वस्तुत जनता की मनोवृत्ति अन्धानुकरण की होती है।

सामाजिक हित—यदि निर्गुण सन्त काव्य परम्परा के भक्त कवियों की वाणी के मूल उद्देश्य पर विचार किया जाय, तो वह मानव समाज के सामूहिक कल्याण की वाणी है। दूसरे शब्दो मे उसे धर्म निरपेक्ष सत्योन्मुखी वाणी कह सकते हैं। सन्तो ने तथाकथित जाति या वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार न कर मानवमात्र को

एक धरातल पर खडा किया था। उनकी दृष्टि से मानववाद ही एक ऐसा स्तर था जिस पर समाज की व्यवस्था सभव थी। जिस लक्ष्य को ये सत कवि प्राप्त करना चाहते थे, वह सार्वजनिक हित से समन्वित सव जनसुलभ ध्येय था। अत अपने युग म इन्होने एक व्यापक वचारिक क्रान्ति को जन्म देकर भारतीय जनता के समक्ष एकेश्वरवाद, सदाचार, सत्य, क्षमता और शाश्वत धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया था। अवतारवाद, पूजा-सेवा, रोजा नमाज मन्दिर मन्दिर तीर्थ व्रत आदि को इन्होने स्वीकार नही किया था।

प्रेमाख्यानक काव्य और भक्ति काव्य— निर्गुण सत कवियो के साथ ही उस युग म एक दूसरी काव्यधारा भी प्रभावित हो रही थी, जिसे हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों म प्रेमाख्यानक काव्य के नाम म अभिहित किया जाता है। इस धारा के कवियो का विस्तारपूर्वक पहले वर्णन किया गया है। भक्तिकाल को स्वर्ण युग बनाने मे इस धारा के कवियो का योगदान भी किसी से कम नही है। प्रेमाख्यानक काव्य की दो धाराएँ प्राप्त होती ह—एक धारा के कवि आध्यात्मिक प्रेम अथात ईश्वरीय प्रेम के आख्यानो का कविता के माध्यम से अकित करते हुए उसे किसी अन्य लोक की अथवा अध्यात्म की कथा नही बनाते। इस दूसरी धारा के कवियो को हिन्दी साहित्य म वह श्रेष्ठ स्थान प्राप्त नही हो सका जो पहली धारा के कवियो को प्राप्त है।

सूफी प्रेमाख्यान परम्परा के कवि निर्गुणोपासक थे, किन्तु ईश्वर विषयक वर्णनो मे प्रतीकात्मक शैली को स्वीकार करने के कारण सगुण का आभास भी उनके काव्य म प्राप्त होता है। सूफी सम्प्रदाय मे आत्मा सदव परमात्मा की प्राप्ति के लिए व्याकुल रहती है। इस व्याकुलता मे ईश्वर का प्रेम ही उसका मात्र सम्बल है। यह प्रिय-वर्णन काव्य म नायक नायिका के प्रेम वर्णन के सदृश्य ही है। सूफी कवियो ने अपने काव्य के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो के समन्वय का भी प्रयास किया है। यह प्रयास प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही रूपो म देखा जा सकता है। इतना अवश्य है कि इस्लाम दर्शन और मुस्लिम सस्कृति की श्रेष्ठता पर इन कवियो का ध्यान सतत रहा है। कबीर को श्रेय प्रदान किया गया है किन्तु वास्तविकता यह है कि कबीर ने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य का कोई प्रयास नही किया था—यदि यह प्रयास कही काव्य के माध्यम से लक्षित होता है, तो इन्ही प्रेमाख्यानो म ही है। काव्य माध्यम से भावात्मक एकता का यह प्रयास हिन्दी भक्ति-साहित्य की सबसे बडी उपलब्धि है। निर्गुण काव्य म आये ये सभी तत्त्व भक्ति काव्य का स्वर्ण युग प्रमाणित करते हैं।

सगुण भक्ति काव्य और स्वर्ण युग—हिन्दी साहित्य का भक्ति काल निर्गुण सन्त कवियो के द्वारा जिस प्रकार स्वर्ण-युग प्रतीत होता है उसी प्रकार सगुण भक्त कवियो के द्वारा भी इस काल को स्वर्ण युग की अभिधा दी जा सकती है। सगुण भक्ति के रूप मे इस काल म राम और कृष्ण काव्य धाराएँ विशेष प्रसिद्ध ह। राम काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास और कृष्ण काव्यधारा के प्रमुख कवि

सूरदास ने भक्ति काव्य को सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इन नाना कवियों के माध्यम से सगुण भक्ति काव्य विषय वस्तु, रसात्मकता, भावात्मकता, कलात्मकता और भक्ति भावना के रूप में स्वर्णिम रूप लेकर प्रस्तुत हुआ है। निगुण कवियों की भाँति ही सगुण भक्ति कवियों ने हिन्दू जनता में ईश्वर के प्रति विश्वास पैदा किया निराश हिन्दू जनता को नयी दिशा प्रदान की, भगवान के शक्तिशील और सौन्दर्य से युक्त स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत की और लोक मानव को मानवीय सम्बन्धों व पारिवारिक सम्बन्धो के प्रति सजग बनाया। वैष्णव कृष्ण भक्त कवियों ने साम्प्रदायिक स्तर पर कृष्ण भक्ति का विविध रूपों में विकास किया और इस प्रकार भक्ति काल को स्वर्ण युग की संज्ञा दिलाने में उल्लेखनीय कार्य किया। काव्य शिल्प की दृष्टि से भी सगुण और निगुण दोनों ही श्रेणी के कवियों ने इस काल का भक्ति युग ही नहीं, अपितु स्वर्ण-युग के निकट लाने का साधक प्रयत्न किया है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि भक्ति काल का साहित्य अपनी अनेक विशेषताओं के कारण और कलात्मक और भावात्मक सौन्दर्य के कारण ही नहीं अपितु भावों की सरसता और लोकहित की दृष्टि से स्वर्ण-युग की अभिधा से मण्डित करने योग्य है। अतः कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्यकाल निश्चय ही स्वर्ण-युग था, जिसमें भाषा, भाव, अलंकार के कौशल के साथ साथ मानव जीवन के हित का स्रोत भी प्रवाहित हुआ है।

सगुण भक्ति काव्य

हिन्दी साहित्य के भक्ति काल में जो रचनाएँ हुई उन पर भिन्न भिन्न प्रभाव पड़े हैं। निगुण उपासक सन्तों की रचनाओं में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान और प्रेममार्गी निगुण उपासकों में प्रेम का महत्व प्रतिपादित किया गया है। सगुण भगवान के उपासक भक्त कवियों के हृदयों से जो वाणी इस काल में निःसृत हुई उसमें उन्होंने अपने हृदय का रस घोला है। उनकी कविताओं में हृदय की शुद्ध भक्ति भावना का परिचय मिलता है। यह भक्ति-भावना वैष्णव धर्म से उद्भूत हुई थी जिसका सम्बन्ध भागवत धर्म से है। सगुण मतवाद को मुख्यतः दो पुस्तकों ने प्रभावित किया है—भागवत और वाल्मीकि रामायण। अन्य अनेक स्मार्त-ग्रन्थों की भी सहायता ली गई है, परन्तु भागवत का प्रभाव अधिक पड़ा है। भागवत के कृष्ण के समकक्ष ही तुलसी ने राम की प्रतिष्ठा की और अनेक सिद्धान्त भागवत से लिए। यही नहीं, उसका काव्य भी उससे प्रभावित है। एक अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है और वह यह है कि जहाँ भागवत में माधुर्य भाव की प्रधानता है, वहाँ तुलसी ने दास्य भाव को अपनाया है। भागवत के भगवान कृष्ण परमेश्वर हैं, अवतारी हैं, सच्चिदानन्द हैं, समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति, अवस्थिति तथा प्रलय के कारण हैं। ब्रह्मा विष्णु महेश की त्रिमूर्ति से भी परे विष्णु ब्रह्म के आदि रूप हैं। यही वैष्णव धर्म की चरम भावना है। भक्ति काल का सगुण भक्ति काव्य राम भक्ति और कृष्ण भक्ति से मिलकर जिन विशेषताओं को प्रस्तुत कर सका है वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

सगुण भक्ति काल की विशेषताएँ—सगुण भक्ति काव्य के अन्तर्गत ईश्वर के सगुण रूप को महत्त्व दिया गया है। अवतारवादी दृष्टि को स्वीकार किया गया है तथा ईश्वर के शक्ति सौंदर्य और शील समन्वित रूप की आराधना की गई है तथा उनकी लीलाओं का वर्णन करते हुए गुरु वन्दन का महत्त्व देते हुए, जाति पाँति की उपेक्षा करते हुए भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है—

(1) सगुण की आराधना—सगुण भक्ति-काव्य धारा के कवियों ने ब्रह्म के साकार सगुण स्वरूप को मानकर अपने उद्गार व्यक्त किए हैं। निर्गुण भक्त की भांति सगुण भक्तों ने भी ब्रह्म के दोनों रूप—निर्गुण एवं सगुण स्वीकार किए, परन्तु इन्होंने यह माना कि ईश्वर का सगुण-साकार रूप सहज-ग्राह्य एवं बुद्धिगम्य है। रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास ने तो स्पष्ट लिखा है—

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु तम बिनु कहै प्रकास।
निर्गुण कहै सगुण बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

निर्गुण की चर्चा के लिए सगुण की भावना अनिवार्य है सगुण और निर्गुण सापेक्ष हैं। कृष्ण भक्ति शाखा के प्रमुख गायक कवि महात्मा सूरदास ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि इस चचल मन के लिए आधार अथवा आलंबन अनिवार्य है। इसी कारण वह सगुण-साकार ईश्वर की उपासना करते हैं—

अविगत गति कछु कहत न आव।
ज्यों गूँगेहि मीठ फल कौ रस अन्तरगत ही भाव॥
परम स्वाद सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजाव।
मन बानी कौ अगम अगोचर सो जाने जो पाव॥
रूप-रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकृत धाव।
सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गाव॥

(2) अवतार भावना—सगुण भक्त कवियों ने यह माना है कि भगवान् सर्वथा अजर अमर और अखण्ड है परन्तु वे समय-समय पर भक्तों का कल्याण करने के लिए अपनी लीला विस्तार द्वारा उन्हें सुख देने के लिए तथा पृथ्वी का भार उतारने के लिए सगुण साकार रूप धारण करके इस महीतल पर अवतरित होते हैं। राम भक्ति के संदेश को घर घर पहुँचाने वाले गोस्वामी तुलसीदास ने भी निर्गुण ब्रह्म द्वारा सगुण रूप धारण करके अवतरित होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

जब जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब धरि प्रभु विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरहिं राखहिं निज श्रुति-सेतु।
जग विस्तारहिं विमल जस रामजन्म कर हेतु॥

सूरदास आदि भक्तों ने तो पुष्टिमार्गीय भक्ति के आधार पर यह माना है कि जो भक्त भगवान की कृपा से पुष्ट हो जाता है, वही उनकी लीलाओं का आनन्द लेता है। तुलसी के राम का लीला स्थल है चित्रकूट और सूर के कृष्ण का लीला धाम है वृंदावन।

(3) सौन्दर्योपासना—सगुण भक्त कवियों ने भगवान् के रूप-सौन्दर्य की उपासना पर बल दिया है। राम और कृष्ण के बाल रूप की सुन्दरता का वर्णन राम भक्ति काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य में अनेक प्रकार से और पुष्कल परिमाण में उपलब्ध होता है। उनके बालरूप और किशोर रूपों का उद्घाटन समस्त भक्तों ने पूरी तल्लीनता एवं पूरे मनोयोग के साथ किया है। कृष्ण भक्त कवियों ने तो भगवान के जागने, कलेवा करने, गाय चराने, छाछ खाने, शयन करने, हिंडोला झूलने नाचने आदि के विषय में अनेक रचनाएँ लिखी हैं और पग पग पर भगवान् के रूप का गुणगान किया है।

(4) शक्ति सौन्दर्य व शील का समन्वय—भक्तों के भगवान् सब प्रकार से आदर्श हैं। उनके रूप विग्रह में अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति एवं अनन्त शील की पूर्ण प्रतिष्ठा है। वे केवल अनन्त सौन्दर्यशाली ही नहीं हैं, वे रावण एवं कंस सदृश त्रिलोक विजयी एवं लोक पीड़क दुष्टों को मारने में समर्थ अनन्त शक्ति सम्पन्न पराक्रमी वीर भी हैं। वे क्षमा, दया, कृपा, उदारता आदि उदात्त गुणों के अनन्त सागर भी हैं। भगवान के ऐसे रूप एवं शील को देखकर किसका हृदय द्रवीभूत न हो उठेगा?

(5) ईश्वरीय लीलाओं का चित्रण—भगवान की लीलाओं का वर्णन करने में भक्तजन को एक विशेष प्रकार की आनन्दानुभूति होती है। दृश्यमान जगत की प्रत्येक घटना उसी की लीला है परन्तु प्रभु की लीला का एक विशेष रूप में ग्रहण करके इन भक्त जनों ने अनेकानेक भावपूर्ण वर्णन लिखे हैं। इस क्षेत्र में कृष्ण भक्त कवि अपने अग्रज राम भक्तों का बहुत पीछे छोड़ गए हैं। इन्होंने भगवान की माधुरी के चारों रूपों को लेकर उनका लीला वर्णन किया है—विग्रह माधुरी, वेणु माधुरी, क्रीड़ा माधुरी और ऐश्वर्य-माधुरी।

(6) गुरु की महत्ता—कबीर आदि निर्गुण भक्तों की भाँति इन सगुणोपासक भक्त कवियों ने भी गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया। बिना गुरु के ईश्वर की भक्ति का सच्चा स्वरूप ज्ञान असम्भव है और जब तक भगवान की भक्ति प्राप्त न हो तब तक मन को सुख शान्ति की पुष्टि क्या कर हो? अतः भक्ति मार्ग में गुरु का महत्त्व स्वयं सिद्ध है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्पष्ट लिखा है—

गुरु बिनु होय कि ज्ञान, ज्ञान कि होई विराग बिनु।
गावें बेद पुरान भव कि तरिय हरि भगति बिनु॥

भगवान की प्राप्ति में गुरु कृपा का सर्वाधिक महत्त्व स्वीकार करके इन भक्तजनों ने गुरु की अनेक प्रकार से स्तुति की है। रामचरितमानस में गोस्वामी

तुलसीदास ने वदौ गुरु पद कज कहकर गुरु की वदना की है। सूरदास ने भी अपने गुरु श्री वल्लभाचाय के ग रु र को स्वीकार करते हुए लिखा है—"श्री बल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला भेद बतायौ।'

(7) जाति-पाँति की उपेक्षा—स त कवियो की भाति सगुण भक्त कवियो ने भी हरि भक्ति प्राप्ति के माग मे जाति-पाँति के अवरोध को स्वीकार किया है। इनके विचार मे भगवान की भक्ति का अधिकार राजा, रक, ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री पुरुष, बालक, वृद्ध आदि सभी को है। भगवान राम की भक्ति प्राप्त करने वालो म गुह्य निषाद, शबरी, विभीषण गिद्धराज जटायु घूतराज मारीच और नीच पक्षी कागभुशुण्डि अग्रगण्य हैं। ईश्वर की उदारता और कृपा इतनी अधिक है कि उसमे ऊँच-नीच के भेदभाव के लिए स्थान ही नही रह जाता है।

(8) भक्ति की श्रेष्ठता का निरूपण—पूण समपण भक्तो का एकमात्र आधार है और दैन्य इनका बल है। ज्ञान मे अहकार से निवृत्ति कठिन ह। इसी प्रकार सगुणोपासक भक्तो न बराबर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड मे गोस्वामी तुलसीदास ने ज्ञान दीपक के रूप म भक्ति माग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है तथा सूरसागर के भ्रमरगीत के अन्तगत सूरदास न ज्ञान के प्रतीक उद्धव पर भक्तिस्वरूपा गोपियो की विजय दिखाई है यथा—

सुनि गोपिन को प्रेम नेम उद्धव को भूल्यौ।
गावत सून गोपाल फिरत कुचन म फूल्यौ॥

(9) वैधी वष्णव भक्ति का प्रतिपादन—भक्त कवियो ने वेद शास्त्र द्वारा निर्धारित भक्ति एव साधना के स्वरूपो को अपनाया है और उन्ही का प्रतिपादन किया है। गोस्वामी जी ने स्पष्ट लिखा है कि—

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ सजुत विरति विवेक।
जे परिहरहिं विमोह बस कल्पहिं पथ अनेक॥

इन भक्त कविया के काव्य म हमको इनम पूर्व प्रचलित एव चर्चित भक्ति के समस्त रूपो का समावेश मिलता है। श्रवण कीतन, मनन, गुणकथा आदि नवधा भक्ति का निरूपण तो प्राय प्रत्यक भक्त ने किया है। दीनता, मानमषता, भत्सना भय दशन, आश्वासन, मनोराज्य तथा विचारणा—भक्ति की इन सात भूमिकाओ म काफी वणन इन भक्तो ने किया है। इनके अतिरिक्त शरणागति के छह नियमो, नारद द्वारा निरूपित भक्ति की आसक्तियो के भी वणन इन भक्त कवियो न बडे ही उत्साह से किए हैं। कृष्ण भक्ति शाखा के पुष्टि माग म दीक्षित सूरदास प्रभृति कविया ने सब प्रकार स अपने भक्ति भाव को भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र के श्री चरणो मे निवेदित किया है। पुष्टि माग मे सवा भाव का प्राधान्य होता है।

(10) समपण की पराकाष्ठा—भक्त जन अहकार-रहित होकर प्रभु के श्री चरणो की रज को मस्तक पर धारण करना ही अपने जीवन का सर्वस्व मानते

धाराओं के कवियों ने ईश्वर-भक्ति आत्म समर्पण ईश्वर के अनुग्रह पर विश्वास, नाम स्मरण, कीर्तन और गुरु-भक्ति को महत्व दिया है। अभिन्नता के बिन्दु ता य है ही जिनका विस्तृत विवेचन राम भक्ति और कृष्ण भक्ति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के अंतर्गत अलग अलग देखा जा सकता है। यह ठीक है कि ये दोनों ही धाराएँ सगुण उपासना पर जोर देती हैं तथा ईश्वर के अवतारी रूप में विश्वास करती हैं, किन्तु फिर भी दोनों में भेद है। रामभक्ति और कृष्णभक्ति में पहला भेद सिद्धान्तों को लेकर है। रामकाव्य में दास्य भाव की भक्ति है और कृष्ण काव्य में सखा भाव की। रामकाव्य मर्यादित है और कृष्ण काव्य सरस, सजीव और माधुर्य पूर्ण है। जन सम्पर्क की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है। रामकाव्य तत्कालीन जीवन की अभिव्यक्ति करता है जबकि कृष्णकाव्य पर अपने युग का कोई प्रभाव ही नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है। रामकाव्य की भाषा अवधी है और कृष्णकाव्य की भाषा ब्रज है। रामकाव्य प्रबन्धात्मक है और कृष्णकाव्य मुक्तक रूप में लिखा गया है।

राम भक्ति साहित्य की विशेषताएँ—यों तो राम भक्ति का गायन करने वाले अनेक कवि हुए हैं किन्तु राम-भक्ति शाखा में तुलसीदास सुमेरु की तरह हैं। अतः रामभक्ति साहित्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन भी तुलसीदास के साहित्य को आधार मानकर ही कराया जा सकता है। अन्य कवियों का कथन भी आनुषंगिक रूप में उसी में समाहित हो जाता है। सामान्यतः राम-भक्ति साहित्य की निम्नलिखित विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं—

(1) राम का स्वरूप—रामभक्त कवियों ने अपने आराध्य देव राम को विष्णु का अवतार और परम ब्रह्म स्वरूप माना है। वे राम 'जब जब होइ धर्म कै हानि, बाढ़हिं असुर महा अभिमानी' तब तब मनुष्य रूप में अवतार धारण करते हैं तथा पाप का विनाश और धर्म की रक्षा करते हैं। राम भक्तों के राम शील शक्ति और सौन्दर्य को धारण करने वाले सौन्दर्य से कामदेव को लज्जित करने वाले, शक्ति से दुष्टों की प्रचण्ड शक्ति का विनाश करने वाले और अपने शील से लोक में मर्यादा का संसार करने वाले हैं। वे पतित पावन, करुणामय और अत्यधिक उदार हैं। वे लोक की रक्षा करने के लिए ही अवतार ग्रहण करते हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम राम और आदर्श के संस्थापक हैं। राम का समस्त चरित्र मर्यादा और आदर्श का सम्पुट है। भक्तजन तथा भक्त कवि उसी रूप और आश्रय की छाया में अपने आप को समर्पित करके निश्चिन्त हो जाना चाहते हैं। इसी मर्यादित और लोक रक्षक राम रूप के कारण राम-भक्ति में वह विकार नहीं आया जो कृष्ण भक्ति में आया। सखी सम्प्रदाय आदि का विकास तो हुआ किन्तु राम के लोक-स्वीकृत रूप में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ।

(2) समन्वय भाव—राम भक्ति काव्य का उद्देश्य लोक रक्षा और लोक मंगल था। अतः वह विराट समन्वय और विशाल दृष्टिकोण को लेकर चला है।

इस काव्य मे राम के साथ-साथ गणेश, शिव, कृष्ण, आदि की उपासना और स्तुतियाँ हैं। यह कही भी एकागी और सकुचित नही है।

तुलसी के समय मे शव तथा वष्णवो का आपसी सघर्ष प्रस्तुत था अत तुलसी और अन्य राम भक्त कवियो ने राम और शिव को परस्पर महत्ता प्रदान की है। स्वय तुलसी के राम सेतुबन्ध के अवसर पर शिव की स्तुति और पूजा करते हैं—

शिवद्रोही मम दास कहावा।
सो नर सपनहुँ मोहि नही पावा॥

इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और वराग्य म समन्वय स्थापित करन का प्रयास है, सगुण और निगुण मे भी सामञ्जस्य की स्थापना इन राम भक्त कवियो न की है।

(3) लोक-कल्याण की साधना—राम काव्य म लोक-रक्षा और लोक कल्याण के भाव अत्यन्त कुशलता मे सजोये गये हैं। जीवन की अनेक ऊँची नीची सघर्ष विराम आदि पृष्ठभूमिया म प्रस्तुत करके उसम से लोक-रक्षा के उपयुक्त आचरण तथा सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है।

लोक मे विश्वास और आस्था की जडें तभी जम सकती हैं जबकि लोक नायक स्वय अपने आचरण म उन मूल्यो को ढाले जिनसे यह सनातन समाज स्थिर रह सके और विकास कर सके। राम और सीता ने स्वय आदश गार्हस्थ्य का मर्यादापूर्ण जीवन बिता कर लोक को भी उसी माग पर चलने की प्रेरणा दी। राम-काव्य म आदर्शों की कुशल स्थापना है। राम स्वय पुत्र के आदश हैं, भरत भाई के, दशरथ पिता के आदश हैं तो कौशल्या माता का आदश है। हनुमान निष्ठावान् सेवक हैं और सुग्रीव सच्चे मित्र। जीवन की कसौटी पर खरे उतरते हैं। राजा प्रजा भाई भाई, पति पत्नी पिता-पुत्र, शत्रु मित्र, साधु स यासी, गुरु शिष्य के सम्बन्धो को आदर्शों की तुला पर तोलने का ही उपक्रम यहाँ दीख पडता है। इस काव्य के नायक राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं जो समस्त लोक अपन तदनुकूल आचरण से मर्यादापूर्ण जीवन की प्रेरणा देते हैं।

(4) भक्ति-पद्धति—राम भक्ति काव्य मे राम भक्त कविया न राम के शील, भक्ति और सौन्दय को भक्ति का आधार बनाया है। प्राय राम भक्त कवि सेवक-सेव्य भाव से ही काव्य रचना म रत हुए थे। सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि से यह स्पष्ट हो जाता है।

राम भक्ति का दृष्टिकोण शास्त्रीय होते हुए भी उदार है। ये कवि ज्ञान और कम को महत्वपूर्ण मानते हुए भी भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। शास्त्रीय पद्धति से यह भक्ति वध कोटि की है जिसम नवधा भक्ति को सभी अगो उपागो के साथ स्वीकार किया गया है। ये भक्त विशिष्टताद्वैत से प्रभावित है और उसी के अनुसार जीव ब्रह्म दास के समान मानते हैं—

'ईश्वर वाह्य जीव आधारित।"

राम-भक्तों ने राम की महानतम् उदारता से उनकी क्षमता के सामने अपने आपको विश्वासपूर्वक समर्पित कर दिया। इस काव्य में दास्य भक्ति का ऐसा सुन्दर रूप विद्यमान है, जिसमें भक्त के सब दुःख, अहंकार और विकार बह जाते हैं।

(5) **रस चित्रण**—राम काव्य में राम कथा की व्यापकता के अनुसार जीवन विविध स्थितियों और तदनुरूप भाव तथा रसों का संयोजन है। भक्त कवियों का दृष्टिकोण सेवक सेव्य भाव का था, अतः प्रमुखता और प्रधान स्वर शान्त रस का ही है। मर्यादा की रक्षा पर जोर देने के कारण भी शान्त रस का महत्व इस काव्य में बढ़ गया। इसी मर्यादावाद के कारण शृंगार के संयोग और वियोग का अवसर होते हुए भी परिपाक नहीं हो सका। हाँ आगे चलकर रसिक सम्प्रदाय की मधुर-उपासना में शृंगार के अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। यह माधुर्य भाव कृष्ण भक्ति में प्रचलित माधुर्य उपासना के कारण राम भक्ति में भी आ गया था। इन रसिक सम्प्रदायों में नखशिख, अष्टयाम आदि रति विषयक लीलाओं का चित्रण है। अन्यथा समस्त रामकाव्य लोक शत्रुओं के संहार के समय वीर रस से, भक्तों का उद्धार करने में शान्त रस से, युद्ध-वर्णन में भयानक व रौद्र रसों से सम्पन्न है। नारदमोह में हास्य रस का पुट है, लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर करुण रस का प्रवाह हुआ है। यों सर्वत्र राम साहित्य में केवल एक ही रस है वह है राम रस।

(6) **पात्र और चरित्र चित्रण**—राम काव्य लोक मंगल का विचार लेकर चला है इसलिए इसके सभी पात्र एक आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। ये पात्र अपने जीवन में जिन आदर्शों से जुड़े हुए हैं उनका निर्वाह प्रत्येक विषम परिस्थिति में करते हैं। सतोगुण रजोगुण और तमोगुण की अभिव्यक्ति क्रमशानुसार होती है और अन्त में यही सत्व प्रधान वृत्ति रावण पर विजय प्राप्त करती है। तुलसी ने राम का चरित्र शील, शक्ति और सौन्दर्य के बिन्दुओं से अंकित किया है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, वे पूर्ण ब्रह्म हैं। बार बार के राम ब्रह्मत्व की याद तुलसी जब तब भी दिलाते रहते हैं।

राम-काव्य के पात्र कथावस्तु के अनुसार अपने चरित्र का पूर्ण रूप से निर्वाह करते हैं। राम प्रारम्भ से अन्त तक अपने शील को धारे रहते हैं। लक्ष्मण के चरित्र में ताप का जो रूप धनुष-यज्ञ में दिखाई देता है, वह वन गमन के अवसर पर, चित्रकूट में और लंका काण्ड में भी बना रहता है। इसी प्रकार भरत रावण, दशरथ, कौशल्या सुमित्रा आदि पात्र भी एक निश्चित आदर्श की पूर्ति में अपनी भूमिका निभाते हैं।

(7) **मधुर उपासना का श्रीगणेश** यद्यपि रामभक्ति साहित्य मर्यादा और उसमें जीवन का आदर्श बनाकर चला है फिर भी उसमें शृंगारिकता मधुरता का समारम्भ तुलसीदास और उनसे पहले हो ही गया था। उस समय मधुर भाव मर्यादा से दबा हुआ था। तुलसी ने राम के जिस लोक रक्षक रूप का चित्र उभारा था उसे अनुयायी सुधाकरण और नीमवान राम के चरित्र में किसी भी प्रकार के शृंगारी विहार द्वारा दुग्धात्म मान था।

सोलहवीं शती के बाद कृष्ण-भक्ति साहित्य मे प्रेम-लीलाओं का समावेश केवल स्तर पर हो गया। लोग राधा कृष्ण के नाम पर सामान्य नायक नायिका काम क्रीडाओं को प्रकट करने लगे। इसका प्रभाव रामभक्त कवियों पर भी ।। उन्होंने भी राम-जानकी के हास विलास, प्रणय, भूला, वन विहार तथा काम केलियों का चित्रण शुरू कर दिया। तुलसीदास स्थापित मर्यादा की क्षा करके भी ये रसिक सम्प्रदाय के कवि शृंगार के संयोग की नाना मुद्राओं को साहित्य में लाने लगे। अग्रअली का सखी सम्प्रदाय और बाद में विकसित । तत्सुखी, स्वसुखी सम्प्रदाय राम-भक्ति में इसी रसिकता का प्रचार-प्रसार ने लगे। अयोध्या के कनक भवन में इसी रसिक पद्धति से राम की पूजा-उपासना काय प्रारम्भ हो गया। लेकिन लोक में राम के नायक-रक्षक, भक्त प्रतिपालक, त पावन रूप में किसी भी प्रकार की कमी इस रसिक सम्प्रदाय के प्रभाव से आई।

(8) काव्य रूप--राम का चरित्र विस्तार और वविध्य की दृष्टि से पक है अत इन कवियों ने राम कथा को प्रबंध में बांधने का सफल प्रयास गा है। ये कवि स्वयं पण्डित थे तथा इन्होंने विद्वानों का संसर्ग किया था, लिए प्रचलित और परम्परागत काव्य-रूपों में इनका उनके सही परिप्रेक्ष्य में चय था। इन्होंने अलंकार शास्त्र का सही परिचय लिया। वीरगाथा काल से र इस काल तक की जितनी काव्य शैलियां थीं वे सब राम-काव्य में उपलब्ध जाती हैं। रामचरितमानस और अष्टयाम में वीरगाथा-काल की प्रबन्ध पद्धति है, ावली, ध्यान मंजरी तथा विनयपत्रिका में विद्यापति की पद-शैली है, इनमें कृत नाटकों की संवाद शैली है। इनमें चरित काव्य के अनुकूल लीला, उपदेश, य, सगुण विचार और मंगल-काव्य के अनुकूल काव्य रूपों का सफल प्रयोग है।

(9) भाषा—रामभक्ति काव्य की भाषा सामान्यत अवधी है। केशव की मचन्द्रिका मे साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। रामभक्ति के रसिक प्रदाय ने भी ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है जो शायद कृष्ण-भक्ति साहित्य प्रभाव है। तुलसी ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों का सफल प्रयोग किया है। और अवध की स्थानीय बोलियों के शब्दों के साथ-साथ इस काव्य की भाषा में कृत और फारसी के शब्द भी घुले मिले हैं। इस काव्य की भाषा में पूर्व प्रयुक्त ाषाओं की सुन्दरता को ग्रहण किया गया है और बुराइयों का त्याग किया गया । उसमे न तो वीरगाथाओं की कर्कशता है, न प्रेम काव्यों का ग्रामीणपन न गतियाँ और न शिथिलता। इन कवियों की भाषा में भाव, रस तथा विषय की ुकूलता है। यह साहित्य भाषा, शैली और काव्य रूपों की दृष्टि से सम्पन्न है।

(10) छन्द-अलंकार—राम भक्ति काव्य में उन सब नए पुराने छन्दों का ोग हुआ है, जो हिन्दी के प्रारम्भ में प्रयुक्त हुए थे। एक विशेष बात यह है कि म काव्य में उन छन्दों की अनघडता को परिष्कृत करके प्रयुक्त किया है। इसमें द वविध्य और सम्पन्नता है। वीरगाथा काल के छप्पय, सन्त काव्य के दोहे प्रेम-

काव्य की चौपाइयाँ, विद्यापति के पद तथा सोरठा, सवैया, कवित्त, घनाक्षरी तोमर, त्रिभंगी आदि छन्दों का भावानुकूल प्रयोग मिलता है।

अलंकारों की दृष्टि से भी यह काव्य सम्पन्न है। रामभक्त कवि पण्डित थे अतः वे अलंकार-शास्त्र के मूल सन्दर्भों से परिचित थे। प्रयोग उन्होंने भाव को प्रगाढ करने तथा विषय को स्पष्ट करने के लिए ढंग से किया है। तुलसीदास के काव्य में प्रायः सभी अलंकार मिल जाते उपमा रूपक आदि अलंकारों का सौन्दर्य तो देखते ही बनता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामभक्ति-काव्य हिन्दी की सम्प सफलता का काव्य है जो काव्य रूप भाव, विषय, रस, शैली, छन्द, अलंका निर्वाह विदग्धता, प्रवाह और प्रभाव की दृष्टि से अद्वितीय भी दिखाई दे

इस काव्य में मध्यकालीन सगुण वैष्णव सम्प्रदाय का पोषण इन्होंने ज्ञान कर्म और भक्ति की त्रिवेणी को अपना सवमान्य तीर्थ स्वीक है। इसमें पूर्व सिद्ध और नाथ केवल अपने चमत्कार विधानों और साधनाओं से लोक को भ्रमित कर रहे थे, उनके लोक विरोधी आचार वि व्यवहार पर इन राम भक्त कवियों ने ऐसा अंकुश लगाया कि फिर दुष्प्रवृत्तियाँ उभर कर प्रकाश में हो नहीं आ सकी।

रामभक्ति शाखा सगुण वैष्णव धर्म से ही निष्पन्न हुई ॥ पृष्ठभूमि में वैष्णव धर्म तथा भक्ति का समृद्ध साहित्य है। भगवद् गीता, पुराण पाँचरात्र संहिताएँ नारद भक्तिसूत्र, शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, दक्षिण के भक्तों की रचनाएँ आदि इस साहित्य को प्राण देने वाले ग्रन्थ रहे हैं। द आचार्यों का चिन्तन इसमें बीज खाद और पानी बनकर पड़ा है। ना रामानुज रामानन्द आचार्यों के दर्शन ने इसे पुष्ट और समृद्ध किया है।

कृष्णभक्ति काव्य की प्रवृत्तियाँ

भक्तिकाव्य में राम और कृष्ण भक्ति की जो दो धाराएँ प्रवाहित हु एक साम्य भी था। वे पृथक पृथक होकर भी अभिन्न थीं। रामभक्ति तुलसी और कृष्णभक्ति साहित्य में सूर की कोई उपमा नहीं है। दोनों में विश्वास, समर्पण और एकनिष्ठता है। दोनों की भक्ति अकृत्रिम और है। राम भक्ति काव्य की चर्चा हो चुकी है अब कृष्ण भक्ति को लीजिए। भ में ही अनेक कवियों भक्तों और सद्गृहस्थों सभासदों तथा नरेशों ने कृष्ण का चित्रण करके अपने श्रम को सार्थक समझा। भक्तिकाल के कृष्ण भक्ति म काव्य का सम्यक् रूप से अध्ययन करने पर कुछ सामान्य विशेषताओं का होता है—

(1) कृष्ण लीलाओं का चित्रण—कृष्ण के चरित्र में भक्ति का हान से धर्म और साहित्य में सम्बो परम्परा से होकर कृष्ण चरित्र को स्वरूप ग्रहण करना पड़ा। इस भक्तिकालीन कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का हो कवियों ने अधिक किया है। प्रत्येक कवि ने अपने ढंग से कृष्ण की बाल-

दधि लीला, रासलीला चीरहरण लीला, मान लीला, दान लीला, गोचारण लीला, आदि लीलाओं का चित्रण किया है। विषय वस्तु की दृष्टि स इन लीलाओं म एकरूपता होने के कारण शुष्कता आ सकती थी किन्तु भक्त-कवियो ने अपनी निजी अनुभूति का रस उडेलकर इन लीलाओ को सरस बना दिया है। इस काव्य में कृष्ण के ऐश्वर्यरूप धमविशारद नरेश रूप के स्थान पर गोपाल कृष्ण और गोपीवल्लभ रूप का ही निदशन किया गया है। कृष्ण की लोक रजनकारी लीलाओ का गान उन्मुक्त भाव से इन कवियो ने किया है। वे लीला का आनन्द प्राप्त करना चाहते थे। लीलामृत ही वे अपने लिए यथेष्ट समझते थे। बालगोपाल की वात्सल्यपूण लीलाएँ, किशोर-कृष्ण की माधुय-भावपूण गोप गोपी लीलाएँ अनेक आयामो के साथ इस काव्य मे उपलब्ध है। कृष्ण तो स्वय लीला पुरुषोत्तम थे। उनकी लीलाओ मे ये कृष्ण-भक्त कवि क्यो न मग्न हो। स्त्री पुरुष के रति-भाव में अखण्ड आनन्द की पूणता की कल्पना की गई। इसी कारण निम्बाक, चतन्य हरिवश, हरिदास ने माधुय भाव को महत्त्व देते हुए राधा कृष्ण के दाम्पत्य जीवन की अनेक व्यक्तिगत लीलाओ का रसमय वणन किया। सूरकाव्य म, बाल लीला का सम्पूण प्रसार है। सूरदास ने इन प्रणय लीलाओ म विवेक सयम, मानसिक वीतरागत्व तथा भक्ति और आध्यात्मिकता का सहारा लिया था, जो आगे चलकर मुक्त लौकिक शृगार रह गया, जिससे आत्मा की तृप्ति के स्थान पर वासना की अग्नि भडकती है। भक्तिकाल म तो फिर भी कृष्ण-काव्य म भक्ति के दशन होते हैं किन्तु रीतिकाल म तो घोर शृगारिकता के पक में कृष्ण लीलाएँ छटपटाती दिखाई देती है।

(2) कथ्य की मौलिकता—हिन्दी कृष्ण काव्य से पूव सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश मे कृष्ण सम्बन्धी काव्य पर्याप्त मात्रा मे रचा जा चुका था। इस समय विविध कृष्ण भक्ति सम्प्रदायो की स्थापना हो चुकी थी और आचार्यों न अपने अपने सम्प्रदाय को दाशनिक आधार दे दिया था। कृष्ण काव्य का स्रोत सर्वाधिक तौर पर भागवत पुराण है। भागवत वष्णव धम का स्तम्भ है। इस भागवत मे प्रस्तुत की गई कृष्ण कथा को आधार मानकर हिन्दी कवियो ने मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। भागवत मे कृष्ण का अलौकिक रूप तथा ब्रह्मत्व अधिक है, हिन्दी मे वे सामान्य बालक की तरह क्रीडाएँ करत और किशोरो की तरह प्रेम लीलाएँ करत हैं। भागवत म कृष्ण की प्रमुराधिका एक गोपी का उल्लेख मात्र है किन्तु हिन्दी कृष्ण-काव्य म राधा की कल्पना की गई है और राधा-कृष्ण की युगल उपासना तथा युगल-लीलाओ का चित्रण है। भागवत की गोपियाँ भी एकान्तिक प्रेम से दूर है जबकि हिन्दी कृष्ण काव्य म गोपियो का प्रेम केवल कृष्णो मुख है। हिन्दी का कृष्ण-काव्य बहुत कुछ जयदेव और विद्यापति के पद चिह्नो पर चला है। विद्यापति की स्थूल और उद्दाम शृगारिकता के स्थान पर उनम आध्यात्मिक ऊँचाई है। हिन्दी कवियो ने कृष्ण-चरित्र को परम्परागत सस्कृत, पौराणिक तथा साम्प्रदायिक साहित्य से अलग करके मौलिक आयाम दिए है। उसम लोक-जीवन की सामान्यता का ऐसा अनुपम सामजस्य किया गया है कि सम्पूण कृष्ण-काव्य हमारे घर और आसपास की भूमि पर खडा दिखाई देता है।

(3) रस निरूपण—हिन्दी कृष्ण-काव्य केवल एक ही रस से आवृत है और वह रस है ब्रज-रस। इस काव्य में वात्सल्य, शृंगार और शान्त रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। इन रसों के विभाव, अनुभाव, संचारी आदि अवयव पृथक-पृथक नहीं हैं। रस की दृष्टि से कृष्ण-काव्य अत्यन्त सफल काव्य है। सूरदास के काव्य में वात्सल्य और शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है। इन दोनों रसों का वे कोना कोना झाँक आए थे। सूर और मीरा ने शान्त रस का आधार संसार, माया, अविद्या, अज्ञान आदि को बनाया और वैराग्य जगाया। वे कृष्ण की लीलाओं में तन्मय थे, अतः केवल मानसिक विरक्ति के द्वारा उस दशा में पहुँचना चाहते थे, जहाँ सब ओर से मन खिंचकर केवल कृष्ण के अनुराग में ही रंजित हो जाए। सूर के प्रारम्भिक विनय पदों में दैन्य तथा मीरा में वैराग्य-भाव मिल जाता है।

अनन्त सौंदर्य की निधि लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण के चरित्र से निर्वृत्तिमूलक भाव की संगति नहीं बैठती है। सूर ने जो आनन्द कृष्ण के वात्सल्य और शृंगार भाव के चित्रण में पाया वह अनूठा था। दैन्य आदि भाव इस कृष्ण-काव्य में संचारी मात्र हैं। वात्सल्य-भाव को पूर्ण रस-दशा तक पहुँचाने का काम सूर ने ही किया। बालक की एक से बढ़कर एक मनोहारी छवि का अंकन सूरदास तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने तन्मय होकर किया है।

कृष्ण की अनेक सखाओं के साथ की गई गोचारण, रास माखनचोरी आदि-आदि लीलाओं में, सखा-भाव की समानता, पारस्परिक, झगड़ा, सुलह कूद आदि का उत्कर्ष है। कृष्ण भक्ति में माधुर्य भाव की उपासना सूर से पहले भी थी और बाद में भी लम्बे समय तक चलती रही और चल रही है। राधा-कृष्ण की अन्तरंग प्रेम-लीलाओं का ऐसा भिगो देने वाला, आनन्दित करने वाला चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। राधा और कृष्ण, कृष्ण और गोपियों का प्रणय विकास व विस्तार मनोवैज्ञानिक है। संयोग शृंगार के आह्लादिक चित्रों के साथ वियोग के चित्र भी आकर्षक हैं। शान्त, वात्सल्य और शृंगार के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(1) जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे-तन-तरुवर के, सबै पात झड़ि जैहैं।
(2) किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत।
मनिमय कनक नन्द के आँगन, प्रतिबिंब पकरिबे धावत॥
(3) देखि सखी अधरन की लाली।
मनि मरकत तें सुभग कलेवर ऐसे हैं बनमाली॥

× × ×

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मनक्रम बचन नंदनंदन उर, यह दृढ़ करी पकरी।
जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि, कान्ह कान्ह जकरी।
सुनत जोग लागत हमें ऐसो, ज्यों करुई ककरी॥

(4) भक्ति का स्वरूप—इस काव्य के मूल मे भगवद्-रति का निवास है, किन्तु, प्रसगानुसार वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्ताशक्ति, भाव-भक्ति को अलग-आयाम देते हुए दिखाई देते हैं। कृष्ण-भक्ति म प्रेम का ऐसा ज्वार है, भक्ति का ऐसा उन्माद है जिसके सामन लोक वेद और शास्त्र की मर्यादा मुह ताकती रह जाती है। वैधी भक्ति राम-काव्य म मर्यादापूर्ण भक्ति का आधार है। कृष्ण-काव्य मे रागानुगा भक्ति का एकमात्र प्रवाह है। वैधी भक्ति से लोक-रक्षा और लोक-सग्रह की अपेक्षाएँ की जाती हैं किन्तु रागानुगा भक्ति तो स्वय-स्वय साधन और स्वय ही साध्य है। इसे पाने के बाद कुछ पाने की कामना भक्त मे शेष नही रह जाती।

कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायो मे कान्तासक्ति को श्रेयस्कर समझा है, जिसे मधुरा-भक्ति कहा जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय स्वकीया रतिभाव को लेकर चला है तो चतन्य सम्प्रदाय को परकीया रति भाव म कृष्ण का अनुराग अधिक मिलता है। वल्लभ सम्प्रदाय मे भी परकीया भाव के दशन होते हैं। परकीया भाव को ग्रहण करने के कारण कृष्ण भक्ति म अश्लीलता और अनतिकता तथा लोक मर्यादा के विरोध के सकेत मिलते हैं। परकीया भाव की मधुरा भक्ति को कृष्ण-भक्त कवियो ने गहरे अनुराग की वस्तु समझा है। कही-कही दास्य भक्ति, सख्य भक्ति भी मिलती है किन्तु इस काव्य मे भक्ति का प्रधान रागानुगा प्रेमा भक्ति ही है।

(5) पात्र एव चरित्र निर्वाह—राम-काव्य म चरित्रो तथा पात्रो का वविध्य है। रामकथा का विस्तार भी बहुत है। अत उसम स्वत ही बहुत-से पात्र कथा के भागीदार बन जाते हैं। कृष्ण की कथा वसे तो बहुत विस्तृत है किन्तु इन कृष्ण-भक्त कवियो ने उसके एक अश को ही अपनी अभिव्यक्ति का लक्ष्य बनाया। इसलिए उसमे पात्र भी कम हैं तथा उनके चरित्र की व्यापकता का भी अभाव है। इन कृष्ण-भक्त कवियो ने कृष्ण-जीवन के कोमल अग को चुना। इस काव्य के नायक कृष्ण ही हैं, जिनके चरित्र मे मानव और अतिमानव विरोधी तत्त्वो का समन्वय है। इस काव्य के नायक कृष्ण नीति कुशल नरेश और योद्धा नही हैं, अपितु गाय चराने वाले गोपाल और गोपियो के साथ रास रचाने वाले व केलि करने वाले कृष्ण हैं। कृष्णावतार का उद्देश्य ही लीला करना है। राधा, कृष्ण की रसरूपिणी आह्लादिनी शक्ति ह। वह कृष्ण से अभिन्न है। उसमे कृष्ण का प्रेम धीरे धीरे विकसित होता है। अन्य पात्रो मे कृष्ण के सखा तथा गोपियाँ हैं, जो एक ही प्रकार के चरित्र के धनी हैं। गोपियाँ तर्कशील और वाक्‌विदग्ध हैं। कृष्ण-काव्य के पात्रो म प्रतीकात्मकता की विशेषता है। स्वय राधा माधुर्य भाव की उच्चतम प्रतीक है। गोपियाँ जहाँ एक ओर आत्मा की वृत्तियो की प्रतीक हैं ता वेद की ऋचाओ की प्रतीक भी है। श्री कृष्ण परमात्मा और गोपियाँ जीवात्माएँ हैं।

(6) प्रेम निदर्शन—कृष्ण-भक्ति-साहित्य मे प्रेम का ऐसा उच्च धरातल पर निदर्शन किया गया है कि उसे शृ गार रस से अलग करके मधुर रस की कोटि म रखा गया ह। रूप गोस्वामी के साम्प्रदायिक ग्रथ 'उज्ज्वल नीलमणि' मे उज्ज्वल रस के आलम्बन नायक नायिका ही हैं। अत है तो वह शृ गार ही किन्तु प्रेम के

धरातल की उच्चता के कारण शृंगार को उज्ज्वल नाम दिया गया है। राधा और कृष्ण के उन्मुक्त प्रेम-व्यापारो को स्थापित करने के लिए उसे मधुर रस नाम से अभिहित किया गया है बाद में विपरीत-रति जैसे भोंडे और वीभत्स प्रसगो को भी इसी मधुर-रस में नियोजन किया जाने लगा।

कालान्तर मे कृष्ण-भक्ति काव्य कृष्ण मंदिरो की विलासिता और ऐश्वर्य से प्रभावित हुए तो कृष्ण मे समस्त मानवीय क्रियाओ का अनुष्ठान किया जाने लगा। उनके लिए विभिन्न प्रकार के भोग और ऐश्वर्य के साधन मंदिरो में जुटाये जाने लगे। ये मन्दिर नृत्यांगनाओ के घुंघरूओ से झंकृत होने लगे। मंदिरो के महन्त अपने आपको भगवान् का प्रतिनिधि कहने लगे और ये समस्त भोग भोगने लगे। कृष्ण भक्ति काव्य तथा कृष्ण-सम्बन्धी सम्प्रदायो ने लौकिक भोगो को बहुत महत्व दिया जिससे कृष्ण प्रेम में मधुरा-भक्ति का प्रसार होता गया। यह प्रेम तत्व अलौकिकता आध्यात्मिकता मे लौकिक हो गया।

(7) प्रकृति चित्रण—कृष्ण-भक्ति काव्य कोमल भावो का काव्य है। इसमें बाह्य प्रकृति का निरूपण भावानुकूल परिस्थितियो में हुआ है। उद्दीपनगत तथा अलकारो के रूप में ही प्रकृति को अधिक प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति का मुक्त चित्रण बहुत कम देखने मे आता है। फिर भी प्रकृति के व्यापक परिवेश पर इन कवियो की नजर थी। विराट प्रकृति के सूक्ष्मतम अंश पर भी वे ध्यान देते थे और उस अभिव्यक्त करते थे। डा. ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में, "दृश्यमान जगत का कोई भी सौंदर्य उनकी आँखो से छूट नही सका। पृथ्वी अन्तरिक्ष, आकाश, जलाशय, वन-प्रान्त, यमुना-कूल तथा कुंज भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियो ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निःशेष कर दी। इन कवियो ने मानव-प्रकृति चित्रण में भी अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है।"

(8) रीति शास्त्र का सामंजस्य—इस काव्य में शृंगार के विविध पक्षों का निरूपण तो हुआ ही है साथ ही रीति-शास्त्र के अनेक तत्त्वो का भी अत्यन्त कुशलता से इसमे सामंजस्य बिठा दिया गया है। सूरदास जैसे सहज सरल हृदय भक्त मे शास्त्र पक्ष के प्रति एक ललक थी, जिसका प्रदर्शन उनकी साहित्य-लहरी में होता है। नन्ददास ने और भी आगे बढ़ कर रीति तत्वो का निर्वाह अपने काव्य में किया है। नायिका भेद अलकार-विचार आदि रीति तत्त्व सूरदास के अलावा अन्य कृष्ण भक्त कवियो में भी मिलते हैं। विट्ठलनाथ जी ने स्वयं शृंगार रस में रीति तत्त्व-युक्त ग्रंथ रचा था। चैतन्य सम्प्रदाय के उज्ज्वल नीलमणि में तो नायिका भेद का सहज विकास और निरूपण है। नन्ददास की मंजरी में नायिका भेद, हाव भाव, हेला आदि का विवेचन है। रूप मंजरी में पराभ रूप में वय संधि, प्रथम समागम का प्रतिपादन किया गया। अष्टछाप तथा उसके बाहर के अनेक कृष्ण भक्त कवियो ने नायिका-भेद के उदाहरण अपनी मधुरा भक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किए हैं।

(9) समाज के प्रति उदासीन—कृष्ण-काव्य लीलावादी काव्य है। कृष्ण की लीलाओ में तन्मय हो जाना ही इनका लक्ष्य है। इस काव्य को लोक मंगल या

ोक रक्षा से कोई प्रयोजन नहीं। भक्त अपने आपको सायुज्य मुक्ति के लिए कृष्ण ग में रखता है। फिर भी समाज, धर्म और संस्कृति की पृष्ठभूमि को छोड़ना किसी ी कवि के लिए असम्भव होता है, अतः समाज, संस्कृति तथा समसामयिक जीवन ः कुछ यथार्थ चित्र इस काव्य में भी उपलब्ध हो जाते हैं। सूर के पदों में जीवन ी बुराइयों से उकताहट के दृश्य चित्रित हैं। उससे यह ध्वनि निकलती है कि त्कालीन समाज "काम क्रोध को पहिर चोलना कंठ विषय की माल" के अनुसार ी था। अलखवादी निर्गुणी संत, ज्ञान पर अभिमान करने वाले, हठयोगी, अद्वत- ादी आदि विविध सामाजिक व्यक्तियों का अस्तित्व था। धर्म के नाम पर ाडम्बर था, समाज में कुरीतियाँ घर कर रही थीं। समाज का यह चित्रण इस ाव्य में स्पष्ट नहीं है अपितु परोक्ष रूप में चित्रित है। वैयक्तिक भावना में रत ्हते हुए भी ये कवि समाज एकदम कटे हुए नहीं थे।

(10) काव्य रूप—कृष्ण भक्ति काव्य गेय मुक्तक शैली में है। इन कवियों े कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन को अपना कथ्य नहीं बनाया इसीलिए कृष्ण जीवन के ुटकर प्रसंगों पर मुक्तक काव्य के माध्यम से अपनी भावनाओं का प्रकाशन किया। कृष्ण काव्य पदों में रचा गया है। प्रत्येक पद में कृष्ण लीला की कोई न कोई दृश्य प्रवश्य है। इस प्रकार इसमें सम्पूर्ण प्रबन्धता नहीं है पर कथा पद में कथा आन द ायोजित है जैसा प्रबन्ध में। केवल ब्रजविलासदास ने सम्पूर्ण कृष्ण कथा देने का प्रयास किया है। नन्ददास की रास पंचाध्यायी भँवरगीत रुक्मणी मंगल में प्रबन्ध शैली के लघु रूप में दर्शन होते हैं। सम्पूर्ण कृष्ण काव्य में पदों में विभाजित कथा- सूत्रों को जोड़ने पर एक प्रबन्ध का कथानक बन जाता है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में ब्रजभाषा के गद्य का उदाहरण भी मिल जाता है।

(11) भाषा शैली—कृष्ण-काव्य की भाषा लोक-प्रचलित ब्रजभाषा है। ब्रजराज श्रीकृष्ण ने जिस मिट्टी में अपनी लीलाएँ कीं। इन भक्तों को वहाँ का कण-कण प्रिय था। कृष्ण भक्ति के साहित्य में व्यवहृत होने के कारण वह समस्त उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा का गौरव पा सकी। बगला भाषा भी उसके प्रभाव से मुक्त न रह सकी। समस्त रीतिकाल में और भारतेन्दु युग में भी इस भाषा का वर्चस्व बना रहा। इन कवियों ने प्रचलित ब्रजभाषा में भक्ति काव्य लिखा। उसकी यह ब्रजभाषा लोक-भाषा की गिनती में ही आती है जिसमें व्यवस्था, स्थिरता व्याकरण सम्मतता नहीं है। इन कवियों ने भाषा को खूब तोड़ा मरोड़ा भी है।

कृष्ण काव्य अधिकतर गीति पद शैली में रचा गया है। इस काव्य में भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता और कोमलता है। इसमें अभिव्यंजना की अनेक शैलियों के दर्शन भी हो जाते हैं। एक ओर वर्णनात्मक प्रसंगों में सरल ग्रामीण अथवा धार्मिक पदावली में वाच्यार्थ की प्रधानता है तो दूसरी ओर विरह चित्रण में लाक्षणिक पदावली का प्रयोग है। कहीं पर अत्यन्त मधुर और ठेठ शब्दों

से व्यजना शक्ति का अनन्त सामर्थ्य प्रकट किया गया है। अलकार, व्यवहार पर भी आश्चय होता है। नेत्रो पर ही इतने अधिक उपमान जुटा दिये गये कि अप्रस्तुत भण्डार हो गया। शब्द शक्ति अलकार, काव्य गुण आदि की दृष्टि से कृष्ण-काव्य सम्पन्न है।

कृष्ण काव्य के अन्तर्गत प्रयुक्त शिल्प, भी अपना पृथक् महत्त्व रखता है। उसमे प्रयुक्त छन्द प्रीति पदो के रूप म है। कथा प्रसगो म चौपाई, चौबोला, सार और सरसी आदि छन्द मिलते हैं। नन्ददास की रूप मजरी म दोहा और चौपाई दोनो मिलते ह। भक्ति सवया छप्पय कुंडलियाँ, गीतिका, हरिगीतिका और प्रति आदि छन्द भी इस काव्य म प्राप्त हो जाते हैं। अत यही कहा जा सकता है कि कृष्ण भक्ति काव्य आनन्द और उल्लास का काव्य है। यह वह काव्य है जिसमे सवत्र ब्रजरस व्याप्त है। यह काव्य कलात्मकता और भावात्मकता दोनो दृष्टियो से उच्चतम मानदण्डो को स्पश करता है। आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन उचित है— यह काव्य मनुष्य की रसिकता को उदबुद्ध करता है उसकी अन्तर्निहित अनुराग लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है।"

हिन्दी साहित्य और पुष्टि मार्ग

पुष्टि माग भक्तिकाल का और विशेषकर कृष्ण भक्त कवियो द्वारा अपनाया गया एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है। निम्बाक मे पहले भागवत् पुराण के आधार पर माधव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। किन्तु ईसा की 15वी शताब्दी म कृष्ण भक्ति साहित्य का प्रचार हुआ और इस प्रचार म वल्लभाचाय ने विशेष योग दिया। उन्होंने दाशनिक क्षेत्र म शुद्धाद्वैत की स्थापना की, तो भक्ति के क्षेत्र म पुष्टि माग की।

पुष्टि माग अथ और स्वरूप— जिस माग म लौकिक तथा अलौकिक सकाम अथवा निष्काम सब साधना का अभाव ही श्रीकृष्ण की स्वरूप प्राप्ति मे साधन है, अथवा जहां जो फल है, वही साधन है उसे पुष्टि माग कहते हैं और जिस माग मे सर्वसिद्धियो का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही ह, जहाँ देह म अनेक सम्बन्ध बनते हैं जिस माग मे भगवत् विरह अवस्था मे भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से सयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस माग म सब भावो म लौकिक विषय का त्याग है और उन भावो के सहित "स्वात्म" का भगवान् को समपण है वह पुष्टि माग कहलाता है। पुष्टिमाग के स्वरूप को समझने के लिए वल्लभाचार्य द्वारा व्यक्त सिद्धान्तो पर विचार करना अनिवाय ह। ये सिद्धान्त क्रमश इस प्रकार है—

कृष्ण—वल्लभाचार्य के अनुसार कृष्ण परब्रह्म है। वही ससार का पालन पोषण और सहार करते है। वही सृष्टि का उपादान कारण तथा स्वय सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उन्हीं से जीव और प्रकृति की उत्पत्ति हुई है। जीव म कृष्ण के सत और चित गुणो का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु आनन्द तत्त्व का तिरोभाव रहता है।

इसी प्रकार जड प्रकृति मे केवल सत-तत्व का प्रादुर्भाव हुआ और चित् और आनन्द का तिरोभाव रहता है। वास्तव म तीनो तत्त्व की यही भिन्नता जीव, प्रकृति और परमात्मा के भेदो का कारण ह। यही त्रिगुणात्मक ब्रह्म कृष्ण है, जो अपन गुणो के आविर्भाव और तिरोभाव से इस ससार के रूप म प्रगट हात हैं। जन साधारण के ग्रहण करन के लिए वल्लभाचाय न कृष्ण के गोलोक की कल्पना की, जिसम वे राधिका और भक्त आत्माएँ रूपी गोपियो के साथ निवास करत है। भक्तो की लीला का आनन्द देन के लिए ही व पृथ्वी पर अवतार लते है तथा भक्त ही गोपी ग्वाल, नन्द, यशोदा का रूप ग्रहण कर लते ह और कृष्ण और राधा की लीला का आनन्द उठाते है। यही वल्लभाचाय के दार्शनिक सिद्धान्ता का धार्मिक पक्ष है।

आत्मा—वल्लभाचाय के अनुसार आत्मा का आविर्भाव परमात्मा के आनन्द गुण के तिरोभूत हान स हुआ। उनके अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही है क्योकि ब्रह्म जीव का उपादान कारण भी है। जीवात्मा परमात्मा का अश है। जीव और ब्रह्म म इतना ही अन्तर है कि जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं।

प्रकृति—जीव के समान प्रकृति भी ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति है। प्रकृति तत्त्व का विकास ब्रह्म के आनन्द और सत के तत्त्वो क तिरोभाव से हुआ। गोलोक की अवधारणा व्रज के रूप म पृथ्वी पर करके वल्लभाचाय ने प्रकृति को साधारण जड सत्ता स कही ऊपर उठा लिया ह। वल्लभाचाय के अनुसार आत्मा तीन प्रकार की है—1 मुक्तियोगिन, 2 नित्यससारिन, 3 तमोयोगिन। नित्य ससारिन आत्मा की मुक्ति नही होती। वह अनन्तकाल तक आवागमन के चक्कर म पडी रहती है, तमोयोगिन आत्माएँ इनम भी निकृष्ट है। मुक्तियोगिन आत्माएँ ही मुक्ति को प्राप्त करती है। मुक्तियोगिन आत्माएँ परब्रह्म के अनुग्रह से ही मुक्ति प्राप्त करती है, इसी भगवद् अनुग्रह का नाम वल्लभाचाय ने पुष्टि रखा।

पुष्टिमाग श्रीमद्भागवत पुराण के सुन्दर सिद्धान्ता का विलास है। पुष्टि शब्द जो भागवत की ही देन है उसका अथ है भगवद्नुग्रह, भगवान का अनुग्रह, भगवान की कृपा। पुष्टि का प्रधान साधन है भक्ति प्रपत्ति। पुष्टि माग वही है जिसम साधक सवथा समग्र विषया को त्यागकर देह, वासना, कामना आदि समस्त पदार्थों का कृष्णापण कर देता है। पुष्टि भक्ति चार प्रकार की हाती है—1 प्रवाह पुष्टि, 2 मर्यादा पुष्टि, 3 पुष्टि पुष्टि, 4 शुद्ध पुष्टि। भगवद्नुग्रह के बाद भक्त को प्रेमाभक्ति प्राप्त होती है। प्रेमाभक्ति की विकास की अवस्थाएँ है—प्रेम आसक्ति और व्यसन। भक्ति का लक्ष्य राधाकृष्ण की शाश्वत लीला म प्रवेश है।

पुष्टि माग की देन—अष्टछाप क कवि भक्त पहले हैं कवि बाद म। भक्ति के प्राय सभी रूप इनके काव्यो मे मिलते हैं। विनय भक्ति, वात्सल्य भक्ति सख्यभक्ति, माधुय-भक्ति तथा शान्त-भक्ति। सभी का आधार पुष्टि मार्गीय भक्ति है, जिसम प्रभु कृष्ण के प्रति सवभक्ति समपण की भावना रहती है। डॉ त्रिभुवन सिह के मतानु-सार, "अष्टछाप के कवि हिन्दी साहित्य म उनकी काव्य परम्पराओ के प्रतिष्ठापक

ग्रौर प्रेरक भी है। हिंदी के भ्रमरगीत काव्य की परम्परा इन्हीं के द्वारा विशेष प्रोत्साहित हुई। नखशिख वर्णन, षट्ऋतु वर्णन ग्रादि का वर्णन इनके ग्रनुकरण पर ग्रागे के कवियों ने किया। हिंदी गीतिकाव्य भी इन्हीं के द्वारा समुन्नत हुग्रा। हिंदी में गीति साहित्य को प्रौढ़ एवं पुष्ट करने में सूरदास का विशेष योग है। स्वयं गायक तथा संगीत मर्मज्ञ होने के कारण इनके पद विविध राग रागनियों में बँधे हुए हैं। भाव भाषा की कोमलता संगीत माधुर्य ग्रौर भाव प्रवणता ग्रादि गुण जैसा सूरदास ग्रादि ग्रष्टछापी कवियों के पदों में पाया जाता है वैसा ग्रन्यत्र नहीं। साहित्य प्रेमी इनके काव्य का रसास्वादन करते हैं, संगीतज्ञ स्वर-साधना करते हैं। कृष्ण चरित्र को लेकर उतने प्रेम वात्सल्य, श्रद्धा ग्रौर भक्ति में यह काव्य रचा गया है कि इसकी तुलना विश्व के श्रेष्ठतम काव्य में की जा सकती है। कृष्ण-काव्य धारा में इसकी लोकप्रियता—कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित जितने काव्य रचे गए, उतने किसी ग्रन्य ग्रवतार या विषय पर नहीं रचे गये। इन कवियों की प्रेरणा में कृष्ण काव्य समस्त भारतीय भाषाग्रों में सर्वत्र प्रचुरता से रचा जाने लगा।"

पुष्टि मार्ग की देन के रूप में यदि कवियों का नाम लिया जाए तो ग्रष्टछाप के सभी कवि पुष्टि सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण देन कहे जा सकते हैं। ग्रष्टछाप के ग्राठों कवियों ने पुष्टि सम्प्रदाय से प्रभावित ग्रौर प्रेरित होकर काव्य रचना की है। ब्रज भाषा में कृष्ण काव्य की रचना का समस्त श्रेय वल्लभाचार्य का है, जिनके द्वारा प्रचारित पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होकर सूरदास ग्रादि ग्रष्टछाप के कवियों ने उत्कृष्ट कृष्ण काव्य-रचना की। पुष्टि मार्ग के प्रभाव में ग्राकर ग्रनेक भक्त कवि भगवान की लीला गान में मग्न हो गए। वे प्रतिदिन गोवर्धन में श्रीनाथजी के मंदिर में कृष्ण जी के नैमित्तिक कर्मों पर मधुर पद बनाकर राधा कृष्ण के चरित्र का गान करते थे। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उन कवियों में से सर्वश्रेष्ठ ग्राठ कवियों को चुनकर ग्रष्टछाप की स्थापना की।

हिन्दी साहित्य में काव्य सौन्दर्य का ग्रथाह सागर भरने वाले महाकवि सूरदास ग्रष्टछाप के कवियों में प्रमुख थे। सूरदास के काव्य के दो पक्ष महत्वपूर्ण हैं भक्ति पक्ष ग्रौर काव्य पक्ष। सूरकाव्य का विषय गोपालकृष्ण की ब्रजलीला है। इस लीला के ग्रतिरिक्त ग्रन्य ग्रवतारों ग्रादि का जो वर्णन हुग्रा है उसमें भक्त सूरदास के दर्शन नहीं होते न उनके कवि हृदय की ही झलक मिलती है। सूरदास के विनय के पद यद्यपि उनके हृदय की भक्ति भावना को व्यक्त करते हैं तथापि उनमें काव्य सौन्दर्य का ग्रभाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर की कृष्ण लीला के सम्बन्ध में जो पद हैं उनमें सूर के भक्त ग्रौर कवि हृदय की सुन्दर झाँकी मिलती है। वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की भक्ति ग्रौर पूजा की प्रतिष्ठा करके धार्मिक साहित्य के लिए एक नये प्रसंग की सृष्टि की थी। भगवान श्री कृष्ण की बाल लीलाग्रों का जितना स्वाभाविक ग्रौर सरस वर्णन सूर ग्रपनी बन्द ग्राँखों से कर सके उतना हिन्दी में कोई ग्रन्य कवि न कर सका। सूरदास का वात्सल्य रस का वर्णन हिंदी साहित्य में ग्रद्वितीय है। सूरदास के ग्रतिरिक्त ग्रष्टछाप के शेष सात

कविता मे कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, और नन्ददास सम्मिलित थे। इनमें सभी सुकवि थे, किन्तु सूरदास और नन्ददास विशिष्ट थे।

अष्टछाप की कविता मे हमे पुष्टि माग के सिद्धान्तो की व्यजना मिलती है। ये आठो कवि पुष्टिमाग मे सम्मिलित थे। पुष्टि सम्प्रदाय म इनके महत्त्व का कारण भी है। इस सम्प्रदाय मे यह मान्यता है कि अष्टछाप के आठो भक्तजन श्रीनाथ जी की नित्य लीला मे सदव उनके साथ रहते हैं। गिरिराज नित्य निकुज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठो सखा इन द्वारा के अधिकारी हैं। वे इन द्वारा पर रहते हुए ठाकुरजी की सदैव सवा करते हैं। *वस्तुत पुष्टिमार्गीय सेवा विधि की व्यवस्था* दुख की निवृत्ति और ब्रह्म के बोध के लिए हुई ह। पुष्टिमाग क व्याख्याता और विवेचक श्री हरिराय जी ने पुष्टिमाग का परिचय इस प्रकार दिया है—"जिस माग मे लौकिक तथा अलौकिक सकाम अथवा निष्काम सब साधनो का अभाव ही कृष्ण के स्वरूप की प्राप्ति मे साधन है अथवा जहाँ जो फल है वही साधन है उसे पुष्टि-माग कहते हैं और जिस माग मे सवसिद्धियो का हेतु भगवान का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध बनते है जिस माग म भगवत्त विरह अवस्था में भगवान की लीला के अनुभव मात्र से सयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस माग में सब भावो में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावो के सहित देहादि का भगवान को समपण है, वह पुष्टिमाग कहलाता है।"

पुष्टिमाग की 'अनुग्रह' की मान्यता और विभिन्न आसक्तियो के कारण ही इस सम्प्रदाय के कवियो ने कृष्ण के लोकपक्ष का वणन नही किया है। इनकी कविता मे श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्व की बडे विस्तार के साथ व्यजना हुई है। यशोदा तथा अन्य प्रौढ गोपियो का प्रेमत्व वात्सल्यासक्ति के अन्तगत प्रादुर्भूत हुआ है। वे बालकृष्ण को सुलाने, जगाने माखन खिलाने म ही अपनी अनुरक्ति का प्रकाशन एव आत्मनिवेदन करती है। इसी प्रकार राधा कान्त सक्ति की प्रतीक है। अष्टछाप के कवियो की कविता का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियो ने कृष्ण के प्रति चार प्रकार की आसक्ति प्रमुख रूप मे प्रदर्शित की है। ये इस प्रकार है-वात्सल्यासक्ति साख्यासक्ति, कान्तासक्ति और परम-विरहासक्ति।

निष्कष—पुष्टिमाग भक्तिकाल का और विशेषकर कृष्ण भक्त कवियो का उल्लखनीय सिद्धान्त और सम्प्रदाय रहा है। गुरु वल्लभाचाय ने इसे परिवर्तित और पुष्ट करके अपने अनुयायी शिष्यो के समक्ष रखा था। इस सिद्धान्त का मूल मत्र पोषणम् तदनुग्रह अर्थात् ईश्वर की कृपा स ही समस्त जीवधारियो का पोषण होता है, हो रहा है। इस सिद्धान्त की देन के रूप मे अष्टछाप के कवि हमारे सामने आते हैं। उन्होंने पुष्टि सम्प्रदाय के सिद्धान्तो और मान्यताओं के आलोक मे ही अपने काव्य का सृजन किया है। इन कवियो मे यदि किसी एक कवि का नाम लेना हो जो पुष्टि सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण देन माना जा सकता है तो वह नाम अन्ध कवि

सूरदास का होगा। सूरदास यों भी वल्लभाचार्य के सर्वाधिक निकट थे और हर प्रकार से पुष्टि सम्प्रदाय की धारणाओं और मान्यताओं को मानते थ।

अष्टछाप के कवि

अष्टछाप वल्लभ सम्प्रदाय का ही साहित्यिक रूप है। वल्लभाचार्य के पश्चात् गोसाई विट्ठलनाथ ने वल्लभ सम्प्रदाय को पूर्ण व्यवस्थित और संगठित करने के लिए अष्टछाप की स्थापना की। वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग म अनेक भक्त दीक्षा ले चुके थे। गोसाई विट्ठलनाथ जी ने सर्वोत्तम आठ भक्त कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। गोसाई जी ने, चार अपने वल्लभाचार्य के प्रिय शिष्यो और चार अपने प्रिय सेवकों को जो सम्प्रदाय म प्रभु लीला गान की दृष्टि से सवप्रथम थे, अष्टछाप म सम्मिलित किया और उन पर अपनी कृपा की छाप लगाई। इनमें सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, (वल्लभाचार्य के शिष्य) गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, चतुभु जदास तथा नन्ददास (विट्ठलनाथ के) शिष्य थे। अष्टछाप की स्थापना अनेक विद्वानो को सवत् 1602 मे मान्य है।

अष्टछाप हिन्दी की अष्टधातु की मुद्रा है, जिसकी अमिट छाप हिन्दी भाषा और साहित्य पर बहुत गहरी है। यह अष्टछाप की विशेषता है कि मध्यकाल के विद्वेष, घृणा और पारस्परिक वमनस्य के जलते वातावरण मे उसने धम दर्शन भक्ति, काव्य एव सगीत आदि कलाओं की ऐसी विमल मधुर स्रोतवाहिनी बहाई जिसस सहृदय आज तक रससिक्त और आनन्दमग्न होते आए हैं। अष्टछाप की प्रेरणा से समस्त भारतीय जीवन कृष्ण भक्ति के रग मे रगा गया, चारो ओर मन्दिरो म कृष्ण सकीतन की पवित्र मधुर और सगीतमय ध्वनि गूंज उठी। हमारे धार्मिक साहित्यिक सामाजिक एव सम्पूर्ण सास्कृतिक जीवन मे अष्टछाप निस्सन्देह एक जीवनसचारिणी लहर बनकर आया। इसके प्रवतक आचार्यो एव रससिद्ध कवियो का हिन्दी जगत म विशेष महत्व है। अष्टछाप काव्य का धार्मिक महत्व अक्षुण्ण है। अष्टछाप काव्य का साहित्यिक महत्व सर्वविदित एव सवमान्य है। अष्टछाप की स्थापना के साथ सगीत-कीतन की उचित व्यवस्था करके उसका प्रचार किया गया। अष्टछाप का सामाजिक महत्व भी कम नहीं।

अष्टछाप के कवियो मे सूरदास, नन्ददास तथा परमानन्ददास वृहत्त्रयी हैं। शेष पाँच कवियो म क्रमश कुम्भनदास, कृष्णदास चतुभु जदास मध्यम श्रेणी की और गोविन्दस्वामी एव छीतस्वामी की रचनाएँ साधारण श्रेणी की हैं। परन्तु भाव प्रकाशन की दृष्टि स अष्टछाप के सभी कवि अपना-अपना महत्व रखते हैं। अष्टछाप के कवियो के भक्तिरस से पूर्ण अनेक असख्य पद आज भी भक्तो को भगवत्प्रेम से रससिक्त करते है। अष्टछाप के कवियो की यह धार्मिक गूँज मथुरा के समग्र देश म फैली थी तथा इस भक्ति भावना की सरसता ने देश के कोने-कोने मे रस-वर्षण किया। अष्टछाप के सभी कवि सगीत कला के ममज्ञ थ। अत उन्होंने भिन्न भिन्न राग रागनियो म सगीतमय पदो की रचना की। इनके द्वारा सगीत को ध्रुपद आदि शैलियो का बहुत विकास हुआ। व्रजभाषा काव्य का साहित्यिक

प्रसार इन्हीं अष्टछाप के कवियो द्वारा हुआ। इन कवियो के अनुकरण पर ही वष्णव धम के कई अय सम्प्रदाया ने भी व्रजभाषा काव्य की श्रीवृद्धि की। अष्टछाप के ही प्रसाद से हिन्दी कविता म व्रजभाषा की ऐसी प्रतिष्ठा हुई कि न केवल भक्तिकाल तथा रीतिकाल, अपितु आधुनिक युग के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जगन्नाथदास रत्नाकर जसे रससिद्ध कवि अष्टछाप के ऋणी हैं। व्रजभाषा के गद्य साहित्य और गद्य रूप की उन्नति का श्रेय भी इन्हे है क्योकि इसके प्रासगिक चरित्र वार्तारूप मे व्रजभाषा गद्य म रचे गये, जिनका भाषागत महत्त्व होन के साथ साथ ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नही है। अष्टछापी कवियो मे भाव प्रवणता अत्यधिक मिलती है अत अष्टछाप-काव्य का भाव पक्ष बहुत सबल है। इनके काव्य की आध्यात्मिक ध्वनि ठीक से अनुभव कर ली जाय तो इसकी उदारता मे भी सन्देह नहीं हो सकता।

अष्टछाप के कवियो ने रति भाव का व्यापक एव गम्भीर चित्रण किया है। रति के तीन प्रमुख-वात्सल्य, दाम्पत्य एव भगवद् रति का विस्तृत मनोवज्ञानिक गम्भीर चित्रण मिलता है। शृगार रस या माधुय भाव की इनके काव्य म प्रधानता है। सूरदास तथा परमानन्ददास ने वात्सल्य रस का भी व्यापक एव मार्मिक चित्रण किया है। श्री वियोगी हरि के शब्दो मे "उस युग मे इन भक्त-सत्कवियो ने प्रेम-जाह्नवी की दिव्य-दिव्य धाराएँ बहा दी थी। दसो दिशाओ मे जगमोहन की मधुर मधुर बाँसुरी गूँजने लगी थी। सहस्रो ससार परितप्त जीव सुशीतल प्रेम निकुंज की सुखद छाया मे विश्राम और शान्ति पाने लगे। सकडो प्रेमोन्मत्त भक्त आपे को भूलकर नाच उठे थे।" अष्टछाप के कवि हिन्दी साहित्य मे उनकी काव्य परम्पराओ के प्रतिष्ठापक एव प्रेरक भी हैं। हिन्दी के भ्रमरगीत काव्य की परम्परा इन्ही के द्वारा विशेष प्रोत्साहित हुई। नखशिख वणन, षड्ऋतु वणन आदि का वर्णन इनके अनुकरण पर आगे के कवियो ने किया। हिन्दी गीति काव्य भी इन्ही के हाथो समुन्नत हुआ। हिन्दी म गीति साहित्य को प्रौढ एव पुष्ट करने म सूरदास का विशेष योग है। स्वय गायक तथा सगीत मर्मज्ञ होने के कारण इनके पद विविध राग रागिनियो म बँधे हुए हैं। भाव भाषा की कोमलता, सगीत माधुर्य और भाव प्रवणता आदि गुण जसा सूरदास आदि अष्टछापी कवियो के पदो मे पाया जाता है, वसा अन्यत्र नही। अष्टछाप के कवि भक्त पहले हैं, कवि बाद मे। भक्ति के प्राय सभी रूप इनके काव्यो म मिलते ह। विनयभक्ति, वात्सल्य भक्ति, सख्यभक्ति, माधुर्य भक्ति तथा शान्त भक्ति सभी का आधार पुष्टिमार्गीय भक्ति है, जिसमे प्रभु कृष्ण के प्रति सवभक्ति समपण की भावना रहती है। साहित्य प्रेमी इनके काव्य का रसास्वादन करते हैं, सगीतज्ञ स्वर साधना करते हैं। कृष्ण चरित को लेकर इतने प्रेम, वात्सल्य, श्रद्धा और भक्ति से यह काव्य रचा गया है कि इसकी तुलना विश्व के श्रेष्ठतम काव्य म की जा सकती है। कृष्ण-काव्य-धारा म इसकी लोकप्रियता कृष्ण चरित से सम्बन्धित जितने द्रव्य रचे गए, उतना किसी अन्य

अवतार या विषय पर नही रचा गया। इन कवियो की प्रेरणा से कृष्ण काव्य समस्त भारतीय भाषाओ म सवत्र प्रचुरता से रचा जाने लगा।

अष्टछाप के कवियो का परिचय और विवेचन इस प्रकार है—

सूरदास—महाकवि भक्त शिरोमणि सूरदास का जन्म सवत् 1535 वि की वशाख शुक्ला 5 को गुडगाँव के निकट सीही नामक गाँव म हुआ था। इनके माता-पिता तथा कुटुम्बियो का कोई प्रामाणिक विवरण नही मिलता है। यह निर्विवाद है कि सूरदास नेत्रहीन थ, किन्तु ये जन्मान्ध थे या बाद म अन्धे हुए थे, इसका ठोस प्रमाण नही मिलता। सूरदास न जिस ढग स प्रकृति और समाज का चित्रण किया है, वह जन्मान्ध व्यक्ति के लिए असम्भव है। 'चौरासी वष्णवो की वार्ता' के अनुसार सूरदास मथुरा के निकट गऊ घाट पर रहते थे, यही आचाय वल्लभ से इनकी भेंट हुई थी। वल्लभाचाय से मिलन स पूव य विनय के पद गाते थे, किन्तु वल्लभाचाय जी न इन्ह लीला पद गान के लिए प्रेरित किया। तब आचाय वल्लभ इनको श्रीनाथ जी के मन्दिर म ले गए जहाँ ये कीतन करने लगे। सवत् 1640 वि तक मृत्युपयन्त वे वही रहे और लीला-गमन करते रहे। गोस्वामी तुलसीदास जी भी इनसे मिले थे। सूरदास न श्रीमद्भागवत के आधार पर लाखो पदो की रचना की थी किन्तु अभी तक केवल चार-पाँच हजार पद ही उपलब्ध हुए हैं जिनका सग्रह 'सूर सागर' म है। सूरदास के अन्य दो ग्रन्थ 'साहित्य लहरी' और 'सूर सारावली' है। सूर सारावली' म सूरसागर का सार एव अनुक्रमणिका है तथा साहित्य लहरी' म दृष्टिकूट पद है।

सूरदास वल्लभ सम्प्रदाय के शुद्धाद्व तवादी पुष्टिमार्गी भक्त थ। इसम दास्य और दीनता के स्थान पर लीला वणन प्रधान है। सूरदास ने गोपियो के माध्यम म माधुय भाव की भक्ति भी की है जिसम एन्द्रियता के स्थान पर आध्यात्मिकता है। सूर का काव्य गीति प्रधान मुक्तक काव्य है जिसम कृष्ण की बाल-लीलाओ तथा अन्य शृगार प्रधान लीलाओ का वणन है। सूर का वात्सल्य चित्रण अद्वितीय है। कृष्ण जन्म-नाल छेदन, नामकरण बधगाँठ, झूलना, लोरियाँ और बाद म गोचारण साथियो के साथ खल-कूद आदि के विशद् चित्र सूर के पदो म मिलते हैं। सयोग शृगार वणन मे राधा और कृष्ण तथा गोपियो के प्रेम का चित्रण है। दान लीला, मान लीला, माखन चोरी नख शिख वणन का आनन्दपूण उदघाटन है। कृष्ण जब मथुरा चले जाते हैं तो विप्रलम्भ के द्वार खुल जाते हैं। राधा और गोपियो के विरह की सूक्ष्म अनुभूतियो से सहृदय झकृत हो जाते हैं। यशोदा और नन्द के वचन वियोगजन्य वात्सल्य की व्यजना करते हैं। कृष्ण अपने मित्र उद्धव को गोपियो को समझाने के लिए भेजते हैं। गोपियाँ भ्रमर से ब्याज से उन्हे उद्धव को ही निरुत्तर कर देती हैं। ऐसे पद भ्रमर गीत के नाम स प्रसिद्ध है। भ्रमर गीत म निगु ण पर सगुण न, ज्ञान पर भक्ति ने योग पर सयोग ने विजय पाई है। सूर का काव्य अपनी ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप का सुन्दर नमूना है।

लोकोक्तियों, मुहावरों और अलंकारों का सफल प्रयोग उनके काव्य के सौंदर्य को बढ़ा देता है।

सूरदासजी की कविता में यद्यपि सभी रसों का पुट मिलता है तथापि उसमें शृंगार, वात्सल्य और शान्त की ही प्रमुखता है। ये तीनों रस मनुष्य जीवन की तीनों अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं। वात्सल्य का सम्बन्ध बाल्यावस्था से है शृंगार का यौवनावस्था से और शान्त का वृद्धावस्था से। शृंगार वर्णन में वे किसी कवि से पीछे नहीं हैं। वात्सल्यरस के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कोई भी कवि उनकी छाया भी नहीं छू पाया है और शान्त रस में वे शायद तुलसी से पीछे रह जाते हैं किन्तु बहुत पीछे नहीं। उनकी विनय में एक निर्जीपन है, जो उसे एक विशेष माधुर्य प्रदान कर देता है। 'सूरदास द्वार ठाडो, आँधरो भिखारी' में उनकी इस शारीरिक दुर्बलता से सामंजस्य रखता हुआ कैसा दैन्यभाव है।

उनका वात्सल्य वर्णन एक प्रकार से बाल मनोविज्ञान का माधुर्यपूर्ण अध्ययन है। भगवान कृष्ण की बाल लीलाओं का ऐसा सुन्दर, सरल और सरस वर्णन है कि पृथ्वी पर स्वर्ग अवतरित हो जाता है। यद्यपि सूर ने कृष्ण को हरि कहकर उनका देवत्व स्वीकार किया है और इसी भक्ति-भावना के कारण उनके वर्णनों में इतनी सरलता आ गयी है, तथापि ये वर्णन ऐसे हैं कि बिना भक्ति वाला मनुष्य भी उनको पढ़कर भावमय हो जाता है और सूर के स्वर में स्वर मिलाकर कह उठता है "जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नन्द भामिनि पावै"।

सूर का शृंगार वर्णन भी बड़े महत्त्व का है। उसमें कवि परम्परा का पालन मात्र नहीं है वरन् उनमें जीवन की सजीवता और पूर्णता लक्षित होती है। कृष्ण और गोपियों का शृंगार एक व्यापक जीवन का अंग बन जाता है और इसीलिए उनका वियोग एक विशेष तीव्रता धारण कर लेता है। सूर का भ्रमरगीत वियोग शृंगार का ही उत्कृष्ट ग्रन्थ नहीं है वरन् उसमें सगुण और निर्गुणवाद का भी सुन्दर, काव्यमय विवेचन है। इसके माध्यम से सूर ने निर्गुणवाद पर सगुणवाद की विजय दिखाई है। भ्रमरगीत प्रसंग के इन पदों में जहाँ एक ओर गोपियों के मार्मिक उद्‌गार हैं, वहाँ दूसरी ओर पुष्टिमार्गीय भक्ति सिद्धान्तों का सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया गया है। गोपियों के व्यंग्य और उपालम्भ उनकी सजीवता के परिचायक हैं। सूर सागर वात्सल्य व दाम्पत्य प्रेम का लहराता हुआ सागर है। उसमें भाव लहराते हुए दिखलाई देते हैं। भावों की सम्पन्नता के अनुकूल ही उनकी संगीतमयी भाषा है, जिसके प्रभाव में अलंकारों ने बाधा नहीं डाली है। भावपक्ष और कलापक्ष का उसमें सुन्दर सन्तुलन हुआ है। राधा कृष्ण का प्रेम भी जीवन व्यापार के बीच ही उपस्थित हुआ है। सूर के प्रेम काव्य में लोक जीवन की अवहेलना नहीं हुई है, उसमें बाल लीला और यौवन लीला में बड़ी, सुन्दरता से तारतम्यमय विकास दिखलाया गया है। बंगाली कवियों की भांति सूर ने राधिका को परकीया के रूप में नहीं दिखाया है। सूर के शृंगार और वात्सल्य भक्ति के

ही अंग बनकर आए हैं। उनके वर्णन में भक्ति का निजी हृदयोल्लास झाँकता हुआ ही नहीं वरन् उफनता हुआ दिखाई देता है।

सूर की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है, जिसमें कहीं-कहीं संस्कृत का भी पुट है किन्तु अधिक नहीं। साहित्यिक होते हुए भी वह बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है और उसमें उसका चलतापन भी है। कहीं-कहीं चलन से उतरे हुए ब्रजभाषा के ठेठ ग्रामीण शब्द भी आ गए हैं। उनकी भाषा में माधुर्य गुण पूर्णतया विद्यमान है। उन्होंने ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल वर्णों को कोमल बनाया है, जैसे व का ब, ण का न कर दिया है। सूर के शब्दों में बड़ी सुन्दर व्यंजना है। योग का तिरस्कार करने के लिए उसे 'मोट' और 'खप' कहा है जिससे एकदम उसकी अल्पमूल्यता, स्थूलता और निरर्थकता का चित्र उपस्थित हो जाता है। सूर ने मुहावरों का भी बड़ा सार्थक प्रयोग किया है। सूर की भाषा में पूर्वी प्रयोग जैसे मोर, हमार, कीन आदि भी यत्र-तत्र मिलते हैं। कहीं-कहीं गहिबौ आदि बुंदेलखण्डी प्रयोग भी आ गए हैं। एक-आध पंजाबी शब्द भी जैसे प्यारी, महँगी के अर्थ में आ गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूरदास की दीक्षा वल्लभ सम्प्रदाय की है। उनकी उपासना बालकृष्ण की थी और भक्ति सखाभाव की। कुछ लोग उनको उद्धवजी का अवतार भी मानते हैं। इस आधार पर श्रद्धेय मिश्र बन्धुओं का यह विचार है कि सूरदास बड़े अक्खड़ थे, इसलिए वे अपने भगवान को गोपियों के मुख से खरी-खोटी कहलाने में नहीं चूके। जिन प्रसंगों में भगवान को खरी खोटी सुनाई गई है वे शृंगार और वात्सल्य के हैं। उनमें प्रेमाधिक्य के कारण खरा-खोटा कहा ही जाता है। यशोदा के लिए तो मथुरा में पराक्रम दिखाने वाले कृष्ण 'छगन मगन' और ललित लड़ते ही बने रहते हैं। इसमें अक्खड़पन की कोई बात नहीं है। तुलसीदासजी की भक्ति-भावना में दास्य भाव का प्रभाव ऐसा बढ़ा-चढ़ा है कि वे उन प्रसंगों को आने ही नहीं देते जिनमें कोई खरी खोटी कहे। उनका शृंगार बड़ा मर्यादित है। उसमें उपालम्भ और मान की गुंजाइश नहीं रहती। रामचन्द्रजी की हीनता दिखाए जाने के भय से उन्होंने लव-कुश काण्ड नहीं लिखा। तुलसी का वात्सल्य भी कहीं कहीं अवश्य उनकी दास्य-भावना से प्रभावित हो गया। सूरदासजी ने जहाँ विनय की है वहाँ वे भी दीनता और हीनता दिखाने में तुलसीदास से पीछे नहीं। देखिए—

> प्रभु हौं सब पतितनि कौ टीकौ।
> मोहि छाँडि तुम और उधारे मिटै सूल क्यौं जी कौ।
> कोऊ न समरथ अघ करिबे का, खैंचि कहत हौं लीकौ ॥
> 'जस हौ रामहु तसेहि रहिहौ ॥"
>
> × × ×
>
> कमल नयन घनश्याम मनोहर, अनुचर भयौ रहौं।
> सूरदास प्रभु भक्त कृपानिधि, अनुचर चरन गहौं ॥

सूर-काव्य की प्रमुख-प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार बताई जा सकती हैं—

(1) सूरदास की मान्यता है कि भगवान के अनुग्रह से ही मनुष्य को सद्-गति मिलती है, अटल भक्ति कम भेद, जाति भेद सबके ऊपर है।

(2) सूर न वात्सल्य, शृगार और शात रसो को अपनाया, किन्तु वात्सल्य म वे सबसे आगे बढ गए। वे कृष्ण के माधुय पक्ष के उपासक थे।

(3) सूरदास की भाषा शुद्ध व्रज भाषा है, बडी ललित और श्रुति मधुर है। मीलित वण बहुत कम है, कठोर और कण कटु वण बचाए गए ह। उमम माधुय और प्रसाद गुण का प्राधान्य है। कही यमक आदि के लिए भाव नही बिगड़े। इनके पद ग्रथ गम्भीरता म भरे हुए ह। इनमे सस्कृत के पद बहुतायत से नही रखे।

(4) सूरदास मुक्तककार कवि थे, तथापि उन्होंन अपनी कविता म पुराने आख्यानो और कथाओ का हवाला बहुत स्थानो पर दिया है, किन्तु उससे उनकी प्रगीतात्मकता म बाधा नही पडी।

(5) उनके वणनो म सूक्ष्म और निजी निरीक्षण का परिचय मिलता है। उनकी उपमाएँ अनूठी होती है और कवियो के लिए वे बहुत गुजायश नही छोडते। सब उपमाएँ सूर की उच्छिष्ट कही जाती है।

(6) सूरदास ने स्थान स्थान पर नायिका-भेद भी दिया है परन्तु रीति-ग्र था की भाति नही।

(7) सत्सग तथा प्रीति विषया का वणन भी अच्छा है।

(8) लोगो का शील गुण भी अच्छा दिखाया है, जस यशोदा का।

(9) यत्र तत्र विशेषकर उद्धव गापी सवाद म हास्य व्यग्य के अच्छे छीटे मिलते है। इनका 'उद्धव गोपी-सवाद' साहित्य की अनूठी सम्पत्ति माना जाता है।

(10) सूर के पद गीत काव्य की कसौटी पर खरे उतरे है, अत इन्हे हिन्दी का सबसे सफल और मधुर गीतकार माना जाता है।

2 कुम्भनदास—ये सूरदास से आयु म दस वष बडे थ और इनसे पूव श्रीनाथजी के कीतन का प्रमुख दायित्व इन पर था। इनका जन्म सवत् 1525 की चत्र कृष्णा 11 को गोवधन के समीप जमुनावती ग्राम मे हुआ। परासोली गाँव के पास इनकी कुछ पतृक भूमि थी जहा खेती करके ये अपने कुटुम्ब का पालन करते थे। उनके सात पुत्र थे। बाल्यकाल से ही इनकी रुचि काव्य रचना और सगीत की ओर थी। अवकाश के समय भगवद् भक्ति के पदा को बनाकर ये गाया करते थे। स 1550 मे आसपास महाप्रभु वल्लभाचाय न उन्हे पुष्टि सम्प्रदाय मे दीक्षित किया। गोवधन पर श्रीनाथजी की सेवा और पूजा का भार आपको सौपा गया।

ये परमभक्त थ। उनकी भक्ति भावना और ललित पद रचना की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फली हुई थी। अनक साधु महात्मा और राजा भी इनके दशनो के लिए आया करत थ। स 1620 म राजा मानसिंह ने इनसे भेंट की और श्रीनाथजी के मन्दिर मे इनके कीतन पर मुग्ध होकर बहुत सी द्रव्य-राशि भेंट की परन्तु आपने उसे स्वीकार नही किया। इनके स्वभाव मे सन्तोष और निर्लोभ कूट-कूट कर भरा

हुआ था। श्रीनाथजी की मूर्ति से इन्हें अनन्य अनुराग था और उससे अलग होना इन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं था। सं 1631 के लगभग गो विटठलनाथ के आदेश से इन्होंने उनके साथ द्वारिकापुरी की यात्रा करना स्वीकार तो किया, परन्तु पहले ही पडाव अप्सरा कुण्ड पर, जो श्रीनाथजी के मन्दिर से थोडी दूर पर था, ये श्रीनाथजी के विरह से आतुर होकर यह पद गाने लगे—

"कते ह्वै जुग गे बिन देखें।"

इनकी यह दशा देखकर गोस्वामीजी ने इन्हें वापिस भेज दिया।

इनके एक पद को एक गायक के मुंह से सुनकर राजा अकबर ने इनसे मिलने की उत्सुकता प्रकट की और बडे सम्मान और समारोह के साथ इन्हें फतहपुर सीकरी आने का निमन्त्रण दिया। परन्तु बडी अनिच्छापूर्वक ये वहाँ गए। अकबर के अनुरोध करने पर उन्होंने एक पद गाया जिसमे इनके हृदय की रोष भरी व्यथा प्रकट की गई थी—

भक्तन को कहा सीकरी सो काम।
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरिनाम।
जाको मुख देखे दुख लागे, ताको करन परी परनाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम॥

कहते हैं कि इनकी स्पष्टवादिता पर बादशाह रुष्ट नहीं हुआ और उसने इन्हें आदरपूर्वक घर पहुंचा दिया। अकबर से इनकी भेंट सं 1638 में हुई थी। उस समय इनकी अवस्था 113 वर्ष की थी। ये अनासक्त गेही थे, रूखी-सूखी खाकर भी परम सन्तोष का अनुभव करते थे। इन्हें केवल श्रीनाथजी के दर्शनों का व्यसन था। एक दिन वे श्रीनाथजी की सेवा के बाद घर लौटते हुए संकर्षण-कुण्ड पर ठहर गए। उन्हें ज्ञात हुआ कि अब आगे उनसे नहीं जाया जाएगा और उनका अन्त बहुत सन्निकट है। कहते हैं वहीं उनका प्राणान्त हुआ। इनकी मृत्यु लगभग सवत् 1640 में हुई। उस समय ये 115 वर्ष के पूर्ण वृद्ध थे।

इनके द्वारा निर्मित कोई विशेष रचना प्राप्त नहीं है। हाँ, कीर्तन-संग्रहों में उनके 200 पद संकलित हैं। गो-दोहन और गो-चारण सम्बन्धी पदों में कुछ सरसता है अन्यथा काव्य तत्त्व की दृष्टि से इनकी कविता सामान्य कोटि की है। भक्ति भावना का अतिरेक ही उसे कुछ सरसता प्रदान करता है। नीचे उनकी कविता के कुछ पद दिए जा रहे हैं। इनसे उनके सन्त हृदय की सरल भक्ति भावना का दिग्दर्शन होगा—

(1)

कबहुँ देखि हो इन ननु।
सुन्दर स्याम मनोहर मूरत अग अग सुख दननु।
बृन्दावन विहार दिन दिन प्रति गोपन्द सग ननु।
हँसि हँसि हरषि पतौवन पावन बाँटि बाँटि पय पननु॥
कुम्भनदास कित दिन बीते किय रेणु सुख सननु।
अब गिरिधर बिन निस और बासर मन न रहत क्यों बनु॥

(2)

माई गिरिधर के गुन गाऊँ।
मेरे तो व्रत ये हैं निसिदिन और न रुचि उपजाऊँ।
खेलन आँगन आउ लाडिले नकहूँ दरसन पाऊँ।
कुम्भनदास इह जग के कारन लालच लागि रहाऊँ।

3 परमानन्ददास—इनका जन्म सं 1550 मार्गशीर्ष शुक्ल सोमवार को कन्नौज में हुआ। इनके पिता एक साधारण स्थिति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। परमानन्दजी बाल्यकाल से ही काव्य और संगीत में निष्णात थे। युवक होते होते इनकी प्रसिद्धि एक कवि और कीर्तनकार के रूप में हो चुकी थी। इनके कीर्तन में अपूर्व आकर्षण रहता था। श्रोतावृन्द मन्त्र मुग्ध हो इनके पदों को सुनते थे। अपने कीर्तन-कौशल के कारण ही ये 'स्वामी' नाम से प्रसिद्ध हो गए। विरक्ति इनकी प्रकृति थी और ये आजीवन अविवाहित रहे।

संवत 1576 में मकर संक्रान्ति के अवसर पर प्रयाग में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से इनका साक्षात्कार हुआ। आचार्य जी इनके विरह-पदों को सुनकर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपना शिष्य बनाकर परमानन्द स्वामी से परमानन्ददास बना दिया। आचार्य जी ने इन्हें विरह के स्थान पर कृष्ण की बाललीला का गान करने की प्रेरणा की और इन्हें श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणिका सुनाई। महाप्रभु से ये प्रायः भागवत की कथा और उसकी सुबोधिनी टीका सुना करते थे और एक प्रसंग का पारायण होने के उपरान्त तत्सम्बन्धी पद रचकर उन्हें सुनाते थे। महाप्रभु के साथ ही ये व्रज में गए थे। कुछ दिन गोकुल में रहकर ये गोवर्धन में सुरभी कुंड पर श्याम तमाल वृक्ष के नीचे स्थाई रूप से रहने लगे। वहाँ भागवद् भजन और पद रचना करने में इनका सारा जीवन बीता। सं 1641 की जन्माष्टमी के दूसरे दिन भाद्रपद कृष्णा नौ दोपहर को 91 वर्ष की अवस्था में इनका देहान्त हुआ।

पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही परमानन्द दास एक कवि और गायक के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनकी कृतियाँ परमानन्द स्वामी परमानन्द, परमानन्द दास और परमानन्द प्रभु नामों से उपलब्ध हुई हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि महाप्रभु से सम्पर्क स्थापित होने के पूर्व की रचनाओं पर परमानन्द स्वामी की छाप है। सूरदास के समान परमानन्द दास ने भी कृष्ण चरित्र की बाल-लीलाओं को अपने पदों का विषय बनाया है। इन लीला-कथाओं का आधार भागवत है जिसके प्रसंगों का पारायण महाप्रभु इनके सम्मुख बहुधा किया करते थे। इनके निर्मित पदों की संख्या काफी विपुल है। इनका संकलन कवि के जीवनकाल में ही 'परमानन्द सागर' नाम से हो गया था। इस कृति की उपलब्ध प्रतियों में कुल मिलाकर 2000 पद मिलते हैं। परमानन्द दास के निम्नलिखित ग्रंथ हैं—(1) परमानन्द सागर (2) परमानन्द दास जी को पद (3) दान लीला, (4) उद्धव लीला, (5) ध्रुव चरित्र, (6) संस्कृत-रत्नमाला।

परमानन्ददास जी की कविता में सरसता और भाव पर्याप्त मात्रा में इन्हें एक भावुक हृदय मिला था। कृष्ण के विरह में इनके व्याकुल हृदय के उ तो पूर्णतया मनोहारी हैं। प्रसिद्ध है कि इनके निम्न विरह-पद को सुनकर तीन दिवस मूर्छित पड़े रहे—

> हरि तेरी लीला की सुधि आवै।
> कमल नैन मनमोहनी मूरत, मन मन चित्र बनावै।
> एक बार जाय मिलत मया करि, सो कैसे बिसरावै।
> मुख मुसिक्यान, बंक अवलोकन, चाल मनोहर भावै।
> कबहुँक निविड तिमिर आलिंगन, कबहुँक पिक सुर गावै।
> कबहुँक सभ्रम क्वासि-क्वासि कहि सगहीन उठि धावै।
> कबहुँक नैन मुदि अन्तरगति, मनिमाला पहिरावै।
> परमानन्द श्याम-ध्यान करि, ऐसे विरह गवावै॥

सरल भक्त की निश्छल कामना यही है कि उसे अपने एकमात्र प्रभाव का सम्पर्क सदा प्राप्त रहे। नन्द नन्दन के अभाव में स्वर्ग के सब वैभव तुच्छ स्वयं मुक्ति भी अवांछनीय है—

> कहा करौं बैकुण्ठहिं जाय।
> जहँ नहीं नंद, जहाँ न जसोदा, जहँ नहीं गोपी-ग्वाल न गा
> जहँ नहीं जल जमुना कौ, निर्मल और नहीं कदंबन की छा
> परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रज रज तजि मेरी जाय बला

इनकी कविता में सहृदयों के मर्म को स्पर्श करके काव्यानन्द की उच्च तरंगें उत्पन्न करने की क्षमता है इसमें कोई सन्देह नहीं। कुछ उदाहरण देखिए—

(1)

> बडभागिन गोकुल की नारि।
> माखन रोटी दै जू नचावति, जयदाता सुख लेति पसारि।
> सोभित वदन कमल दल लोचन सोभित केस मधुप अनुहारि।
> सोभित मकराकृत कुंडल छवि, सोभित मृगमद तिलक लिलारि।
> सोभित गात, चरन-भुज सोभित, सोभित किंकिनी करत उचारि।
> सोभित नृत्य करत परमानद गोप बधु घर भुजा पसारि।

(2)

> रजक चाखन दै री दह्यौ।
> अद्भुत स्वाद स्रवन करि मों पैं, नाँहिन परत रह्यौ।
> ज्यों ज्यों कर-अम्बुज कुच झपति, त्यो त्यो भ्रम लह्यौ।
> नंद कुमार छबीलो ढोटा अंचल धाय गह्यौ।
> हरिहठ करत दाम परमानन्द इहि मैं बहुत सह्यौ।
> इन बातन आयो चाहत हौ अंत न जात बह्यौ॥

विरक्ति हुई और यह ब्रज में महाबन ग्राम में जाकर भगवद् भजन और कीर्तन में लीन रहने लगे। इनकी शिक्षा साधारण थी, परन्तु काव्य एवं संगीतशास्त्र में इनका अच्छा अभ्यास था। वार्ताकार ने लिखा है कि ये गान विद्या में निष्णात, प्रथम श्रेणी के गायक और श्रेष्ठ कवि थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अद्भुत चरित्र और उनकी हरिभक्ति पर मुग्ध होकर सं. 1592 में गोविन्द स्वामी ने उनसे पुष्टि सम्प्रदाय की दीक्षा ली और गोवर्धन को अपना स्थायी निवास बना लिया था। गोवर्धन के समीप की एक सुन्दर वाटिका आज भी 'गोविन्द की कदमखण्डी' के नाम से प्रसिद्ध है। संवत् 1642 में गोस्वामी विट्ठलनाथ के लीला-संवरण के उपरान्त, उसी वर्ष ही इनका भी देहान्त हो गया। अंत समय में आपकी आयु 80 वर्ष की थी।

ये उत्कृष्ट कोटि के गायक थे। प्रसिद्ध गायक तानसेन भी कभी-कभी इनका गाना सुनने आया करते थे। परन्तु इनकी काव्य रचना सामान्य कोटि की है। इन्होंने कई स्फुट पद लिखे हैं। इनके पदों का एक संग्रह मिलता है। इसमें 252 पद हैं। कीर्तन संग्रहों में भी इनके कुछ पद बिखरे हुए मिलते हैं। अन्य कृष्ण भक्त कवियों के समान इनके काव्य का विषय है, राधा कृष्ण की रमणीय रस-लीला। कालिन्दी के तट पर युगल किशोर की रास लीला देखिए। कवि ने राग विद्या की पारिभाषिक पुट भी इसमें दे दी है—

> आजु गोपाल रच्यौ है रास, देखत होत जिय हुलास,
> नाचत वृषभानु, सुता संग रस भीने।
> धिडि धिडि तत थग थग, तत तत तत, थेई थेई,
> गावत केदारो राग, सरस तान लीने।
> फूले बहु भाँति फूल, परम सुभग जमुना कूल,
> मलयपवन बहत मगन, उडुपति गति छीन।
> गोविन्द प्रभु करत केलि भामिनि रस सिंधु मेलि
> जं जं सुर शब्द करत, आनन्द रस कीने।

उपर्युक्त पद में रासगत उल्लास की अपेक्षा वातावरण का विवरण देने में ही कवि का मन अधिक रमा है। सम्पूर्ण पद एक इतिवृत्त-सा बन कर रह गया है।

6 छीत स्वामी—छीत स्वामी का जीवनकाल संवत् 1560-1642 वि. माना गया है। संवत् 1592 में इन्होंने गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा ग्रहण की थी। इनके रचित स्फुट पद मिलते हैं। इन पदों का विभाजन इस रूप में मिलता है—

1 वर्षोत्सव पद—इनके अंतर्गत मंगलाचरण धमार और फाग शीर्षक पद आते हैं।
2 लीला पद—इस वर्ग में जगावनो कलेऊ शृंगार क्रीड़ा खण्डिता आदि शीर्षक पद आते हैं।

3 प्रकीर्णक पद—इनमें अ तगत भक्ति-प्राथना और यमुना जी के पद शीर्षक पद आते है ।

7 चतुभु जदास—चतुभु ज कुम्भनदास के पुत्र और विट्ठलनाथ के शिष्य । इनका जन्म सवत 1587 म जमुनावती ग्राम म हुआ था । इनके पदो मे तीन ग्रह मिलते हैं—द्वादश यश, भक्ति प्रताप और हितजू को मगल । इनम चतुभु जदास पद सग्रहीत ह । इन पदो म कृष्ण की बाल लीला वन गमन वेणुगान, युगल म वर्णन सुरतान, उद्धव स देश आदि भाव वर्णित है ।

8 न ददास—इनका जन्म सवत 1590 वि मे हुआ था । 25 वप की वस्था म इ होने विट्ठलनाथ से दीक्षा ली थी । इनके रचित ग्रथो का वर्गीकरण म प्रकार किया गया है—1 कृष्णलीला प्रसग से सम्ब धित ग्रथ—रास पचाध्यायी भ्रमरगीत', 'श्याम सगाई', 'गोवधन लीला', दशम स्कध भाषा', 'रुक्मणी मगल और पद' । 2 कृष्ण भक्ति से सम्ब धित पद—'रूप मजरी', 'विरह मजरी और सुदामा चरित्र । 3 कृष्ण भक्ति और कवि के आचायत्व क द्योतक प्रब ध—मानम मजरी', 'अनेकाथ मजरी' और 'रस मजरी । 4 कृष्ण भक्ति के प्रकीर्णक विषयो म सम्ब धित रचना—इस वग म न ददास के गुरु महिमा' और नाम महिमा' शीर्षक पद आते हैं । रास पचाध्यायी शृ गार रस का काव्य है । इसमे पाँच अध्याय ह । इसमें कृष्ण की रासलीला का वणन है । विरह मजरी काव्य-शास्त्र का ग्रथ है । रस मजरी का प्रतिपाद्य विषय नायिका नायक भेद निरूपण है । अनेकाथ मजरी में वल्लभाचाय के शुद्धाद्वैतवाद की विवेचना की गई है । न ददास क 800 पदो का सकलन पदावली नाम स किया मिलता ह । भ्रमरगीत न ददास की एक श्रेष्ठ विशिष्ट रचना है । यह उद्धव गोपी सवाद रूप म लिखा गया ह ।

हिन्दी साहित्य मे सूर का स्थान और महत्त्व

सूर का विश्व साहित्य के काव्यो मे उच्च स्थान दिलाने का श्रेय उनके भावप क्ष को है, कितु कलापक्ष की दृष्टि म भी सूर का साहित्य अत्युज्ज्वल है । जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति और नामदेव की सरस काव्यधारा के रूप म भक्ति शृ गार की जो मन्दाकिनी एक विशिष्ट सीमा कूला म प्रवाहित होती चली आ रही थी उसे सूरदास न जन-भाषा के व्यापक धरातल पर अवतरित करके सगीत और माधुर्य म मण्डित किया । सूर की काव्य रचना इतनी प्रबल और काव्यांगपूर्ण है कि आग आने वाले कवियो की शृ गार और वात्सल्य की पक्तियाँ सूर की जूठन सी जान पडती हैं । किसी न ठीक ही कहा है कि—

> सार सार सो सूर कहिया तुलसी कही सो अनूठी ।
> बची-खुची उठर्मानिया कह्यिा, और रही सब झूठी ।

सूर काव्य किसी की प्रशसा का मोहताज नही है क्योंकि सूर काव्य की अपनी स्पर्धाएँ हैं । उसम प्रकृति प्रेम का चित्रण हुआ है । सूरदास के भावाकुल हृदय न प्रकृति क रहस्य रूपा और रगो को इस प्रकार आयत्त किया है कि वह

हिन्दी साहित्य में अनुपमेय बन गया है। प्रकृति प्रेम की उदात्त भावना के कारण ही सूरदास गोचारण काव्य का सृजन भी कर सके हैं। काव्य कौशल की दृष्टि से भी सूरदास की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। संयोग और वियोग की सभी दशाओं और अन्तर्दशाओं, अनुभावों और संचारियों की स्पष्ट व्यंजना सूर काव्य की उपलब्धि है। शृंगार के रस राजत्व की प्रतिष्ठा में सूर का काव्य जिन दो तत्वों के समन्वय में प्रतिभासित हुआ है, वे सहृदयता और वाक्-चातुर्य हैं। इसके साथ ही साथ सूर काव्य में लोक जीवन के विविध पक्षों का समावेश लोक विश्वासों और लोक गीतों के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। सूर का महत्त्व इस कारण भी अधिक है कि उन्होंने अपने काव्य में वात्सल्य रस की प्रतिष्ठा की है। उस वात्सल्य वर्णन में लौकिकता और अलौकिकता का समन्वय है। पुष्टि मार्गीय भक्ति भावना स्पष्ट विचारधारा तथा कथ्य और शिल्प समायोजन के कारण सूर का स्थान विशेष महत्त्व रखता है। उनके महत्त्व और वशिष्टय को निरूपित करते हुए डा. वेदप्रकाश आर्य ने लिखा है—

"जिस कवि का काव्य लोक जीवन की प्रशस्त भूमि पर संस्थित है तथा प्रकृति के प्रति असीम अनुराग से रंजित है जिसका काव्य भक्ति एवं भावुकता एवं वदग्ध्य के मंजुल समन्वय का उदाहरण है जिसने शृंगार के रस राजत्व के औचित्य का पूर्ण प्रदर्शन किया है, कृष्ण के रूप में जिसने जन मनोरम काव्यालम्बन की प्रतिष्ठा की है जिसने वात्सल्य को रस की महिमा से मण्डित किया है और साहित्य के पृष्ठों पर जिनके प्रवर्तन प्रभाव की अमिट छाप अंकित है साहित्याकाश में जो सूर्य की भाँति ज्योतिर्मान है उसी विश्वविश्रुत कवि का नाम सूरदास है। वस्तुतः सूरदास को परम्परा प्राप्त भाव बिन्दु को एक ऐसे दर्पण में रूपान्तरित करने का श्रेय प्राप्त है जिसको प्रत्येक मणि युग युग व्यापी प्रेम अश्रुओं एवं मुस्कानों की सी दीप्त एवं भास्वर है।

भक्तिकाल के प्रमुख कवि तुलसीदास समन्वयवादी और लोकनायक

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल का अन्यतम महत्त्व है। यह युग ही कुछ ऐसा रहा है कि असम में शंकरदेव, बंगाल में चण्डीदास और जयदेव बिहार में विद्यापति मध्यदेश में कबीर सूर तुलसी और जायसी राजस्थान में मीरा गुजरात में नरसी मेहता महाराष्ट्र में तुकाराम इत्यादि अनेक सन्तों और भक्तों का आविर्भाव लगभग एक ही समय में होता है। इन सब में सर्वाधिक गत्वर शक्ति और प्रतिभा के धनी हैं तुलसीदास। उनका रामचरितमानस हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ तो है ही विश्व साहित्य में भी गौरवपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। हिन्दी भक्ति काव्यों ने हमें तुलसी का मानस और सूर का सागर ही नहीं दिया बल्कि की सजड़ी भी दी है। भाषा भाव कला इत्यादि सभी दृष्टियों से यह काव्य श्रेष्ठ है। यदि सम्प्रदाय विशेष के प्रति आग्रह इस काव्य में न होता तो निस्सन्देह यह काव्य समस्त हिन्दी साहित्य में बेजोड़ होता। वस्तुतः तो यह चाहिए कि प्रत्येक

उन्मुक्त रूप म हिन्दी काव्य यहाँ प्रकट हुआ है। भक्ति काव्य का मूलाधार है भक्ति। कविता यहाँ साधन है, साध्य तो भक्ति ही ह।

मध्यकाल म हिन्दी साहित्य में ही नही, अन्य साहित्यो म भी भक्ति काव्य लिखे गए है। हिन्दी म भक्ति काव्य की जो व्यापक भावना एक ही साथ दिखाई पडती है उसे समुचित रूप म न समझ सकने के कारण अनेक आलोचको न कई प्रकार की बातें कही है। एक ही भावधारा म सारे उत्तर भारत को अनुप्राणित होते देखकर डॉ ग्रियसन ने कहा है कि "हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनो से कही अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवष न कभी देखा है, यहाँ तक कि बौद्ध धम के आन्दोलन से भी अधिक विशाल ह, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी विद्यमान है। इस युग में धम ज्ञान का नही बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम रहस्यवाद और प्रेमोल्लास के देश मे आते हैं और ऐसी आत्माओ का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पण्डितो की जाति के नही बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नार्ड ऑफ क्लेयर वॉक्स थामस ए कम्पिस और सेंटथरस स है।" उसी युग की श्रेष्ठ विभूति और प्रतिभा हैं तुलसीदास।

आचाय रामानन्द न राम भक्ति की परम्परा प्रारम्भ की थी। भक्तजन फुटकर पदो मे अपने राम को रिझाने का प्रयास कर रह थे। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र राम भक्ति परमोज्ज्वल प्रक श विक्रम की 17वी शताब्दी के पूवाद्ध मे गोस्वामी तुलसीदास जी की वाणी द्वारा ही स्फुटित हुआ। उनकी सवतोमुखी प्रतिभा ने भाषा-काव्य की सारी प्रचलित पद्धतियो के बीच अपना चमत्कार दिखलाया।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी न तुलसी के 12 ग्रन्थो को प्रकाशित किया है। (1) दोहावली (2) कवितावली, (3) गीतावली, (4) कृष्ण गीतावली (5) विनय पत्रिका, (6) रामचरितमानस, (7) रामलला नहछू, (8) वैराग्य सदीपनी (9) बरव रामायण, (10) पार्वती मगल, (11) जानकी मगल, (12) रामाज्ञा प्रश्न। इनम म रामचरितमानस, गीतावली और विनय-पत्रिका को विशेष ख्याति प्राप्त है।

हिन्दी के पास यदि कोई ऐसा कवि है जिस पर युग और देश की तुलना म सवयुगीन और सवदेशीय होने का अभियान लगाया जा सकता है तो वह एक मात्र कवि तुलसीदास है। तुलसीदास राम के अन य भक्त थ तथा उच्च शिक्षा प्राप्त गुणग पण्डित थे, सत थे, महात्मा थे। उन्होंने समाज का गहराई से अध्ययन किया था। एक ओर नाथपथी योगी और अलख निरजन की रट लगाकर उस ब्रह्म को केवल उस घट म उपस्थित बताते थे और लोक की तरफ से मनुष्य को केवल बुद्धि जाल म उलझाए हुए थ। ऐसी स्थिति मे तुलसीदास न विचारपूवक अपना प थ निर्धारित किया था। उनका काव्य यद्यपि 'स्वान्त सुखाय' लिखा गया व्यक्तिगत काव्य है, किन्तु तुलसी की व्यापक सामाजिक दृष्टि न उसे लोकसुखाय बना दिया है। तुलसीदास के काव्य की

समस्त विशेषताओं का आकलन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कुछ विशेषताओं का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

सर्वांगीण समन्वय की विराट चेष्टा—तुलसी के युग में विभिन्न विरोधी धर्म, सम्प्रदाय जातियाँ, उपासना पद्धतियाँ, दर्शन, शासन तन्त्र, रीति-नीति, अपने खिंचाव से वातावरण को विषाक्त बना रहे थे। तुलसीदास ने विरोधी प्रवृत्तियों में समन्वय के तत्त्व निकाले जो एक दूसरे के अस्तित्व को ललकारते थे। वे सब अस्तित्व के समर्थक हो गए। तुलसीदास ने भारतीय संस्कृति और धर्म की मौलिक एकता का मार्ग बताया। बुद्ध के पश्चात् कदाचित तुलसीदास एकमात्र लोकनायक थे जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में नेतृत्व करके समाज, धर्म और संस्कृति को दिशाबोध दिया था।

धार्मिक क्षेत्र में बड़ी उच्छृंखलता थी। नाथ योगी कर्म उपेक्षा का सन्देश दे रहे थे, शाक्त लोग वाममार्गी साधन पद्धति को अपना रहे थे। शैवों और वैष्णवों में टकराहट थी एवं निर्गुण और सगुण को लेकर झगड़ा था। भक्ति और ज्ञान भी द्वन्द्व के कारण थे। सूफी फकीरों के प्रेमाख्यान और सन्तों की शुष्क खण्डनात्मक वाणी का बोलबाला था जिसमें समाज, परिवार तथा व्यक्तिगत जीवन की मर्यादा नष्ट हो रही थी। तुलसीदास ने लोकनायक बनकर इन सब दुष्प्रवृत्तियों को बुद्धि और हृदय के सहयोग से दबाया। ज्ञान और भक्ति का समन्वय उन्होंने किया। निर्गुण-सगुण का समन्वय देखिए—

अगुनहिं सगुनहिं नहीं कछु भेदा, उभय हरहिं भवसम्भव खेदा।

शैव-वैष्णव-समन्वय—

शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहुँ मोहिं नहिं भावा।

उन्होंने संन्यासी, बैरागी, लोक और शास्त्र, समाज और संस्कृति, राजा और प्रजा के बीच में समन्वय स्थापित किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य एवं वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरितमानस शुरू से आखिर तक समन्वय काव्य है। तुलसीदास का आविर्भाव हिन्दी के लिए ही नहीं, समस्त भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए भी मंगलकारी सिद्ध हुआ है। हिन्दी साहित्य की वे सबसे बड़ी और अमूल्य निधि हैं। तुलसीदास ऐसे महाकवि हैं जिनके काव्य में समस्त रसों का उत्कर्ष है, भाषा और शैली की दृष्टि से विविधता और व्यापकता है विषय वस्तु का प्रसार है तथा लोक को अपने साथ ले चलने की क्षमता है। तुलसी का काव्य भावोद्रेक का महासागर है।

रस चित्रण—तुलसीदास के काव्य में सभी रसों की पूर्णता है किन्तु विशेषतः भक्ति और और शृंगार की सिद्धि उन्हें प्राप्त थी। सभी काव्य रसों का उत्कर्ष और क्रम मिलता है। आचार्य शुक्ल का कहना है— मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं

उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नही। यदि कही सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हृष, पुलक गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखण्ड है तो कुढन, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता, तुलसीदास के हृदय मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।" साथ ही कवि ये सब भाव सहृदयो मे सम्प्रेषित कर देता है और साधारणीकरण का उत्कर्ष प्रतिपादित करता है।

भक्ति—तुलसी की भक्ति दास्य भाव की भक्ति है जिसमे इष्टदेव के सामने पूर्ण रूप से आत्म विसर्जन है। रामचरितमानस मे तो अनेक पात्रो के बहाने भक्ति का उत्कर्ष दिखाया ही गया है, साथ ही विनय पत्रिका मे भक्ति का ऐसा आनन्द-विधायक स्वरूप उपलब्ध है कि हृदय स्वत प्रणत होकर विगत कलुष हो जाता है। इसमे राम नाम का स्मरण, मन की चेतना, आत्म निवेदन, अखण्ड विश्वास, इष्टदेव की महानता, भक्त की लघुता और सात्त्विक जीवन की कामना है।

राम सो बडो है कौन, मो सो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मो सो कौन खोटो ॥
× × ×
ऐसो को उदार जग माही।
बिनु सेवा जो द्रव दीन पर राम सिरस कोउ नाही ॥
× × ×
कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु-कृपातें, सन्त सुभाव गहौंगो ॥

शृंगार—शृंगार रस का वह उत्कर्ष तो नहीं है जो सूरदास मे है किन्तु मर्यादित शृंगार का प्रसार तुलसी मे भी कम नही है। जनकपुर वाटिका प्रसग मे सीता के अकृत्रिम सौन्दर्य, उनके क्षण-क्षण मे बदलते सात्त्विक अनुभव शृंगार के उन्नत रूप का उद्रेक करते हैं—

सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई, छविगृह दीपसिखा जनु बरई।
सब उपमा कविरह जुठारी, केहि पटतरौं विदेह कुमारी ॥
× × ×
अधिक सनेह देह भै भोरी, सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी, दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥

विवाह के अवसर पर सीता, राम के सौन्दर्य का बिम्ब अगूठी के नग मे देखती है। कैसा अनूठा मर्यादित शृंगार है।

विप्रलम्भ का अवसर सीता-हरण के बाद आता है। राम सामान्य मनुष्य की तरह पेड पौधो से पूछते हैं और सीता का स्मरण करते है। सीता भी राम के वियोग मे कृतन है। अशोक वाटिका से सीता की दयनीय दशा का चित्र देखा जा सकता है।

वीर—राम का चरित्र शील-भक्ति और चरित्र की त्रिवेणी स बना है। एक ओर वे कुसुमादपि कोमल हैं तो दूसरी ओर वज्रादपि कठोर भी हैं। अपने रूप सौन्दय से वे अयोध्या, जनकपुर तथा वनवासी लोगों को मोहते हैं, वे अपने पराक्रम से सुबाहु, ताड़का, मारीच, खर-दूषण, मेघनाथ, कुम्भकरण और रावण का नाश करते हैं। वन मे अनेक राक्षसो से उन्हें युद्ध करना पड़ता है। उन्होंने भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की थी कि मैं पृथ्वी को निशाचरों से हीन कर दूंगा। राम और लक्ष्मण, अगद और हनुमान, रावण, कुम्भकरण और मेघनाथ के चरित्रो मे वीर भाव की उत्साहपूर्वक प्रतिष्ठा है।

वात्सल्य—माता कौशल्या के साथ बालक राम की अलौकिक क्रीडाओं का चित्रण तुलसीदास ने भी किया है। जसा कि पहले कहा जा चुका है वात्सल्य के क्षेत्र मे सूर की बराबरी कोई नही कर सका फिर भी तुलसी इस भाव की दृष्टि से विपन्न नही हैं। कवितावली का प्रारम्भ ही बालक राम के सौन्दय, अग-सौष्ठव और क्रीडाओ से होता है। कभी बालक राम चन्द्रमा को देखकर उसे पकड़ने की जिद करते हैं कभी अपने ही प्रतिबिम्ब से डरते हैं। पाँव म पैंजनी और गले में कठूला पहने राम माता पिता तथा परिजनों को सुख देत हैं। राम जब वन में चले जाते हैं, तब वियोगजन्य वात्सल्य भी अत्यन्त द्रवित करने वाला है—

> जिनके विरह-विषाद बँटावत, खग मृग जीव दुखारी।
> मोहिं कहा सजनी समुझावत, हौं तिन्ह की महतारी॥

करुण रस—दशरथ मरण तथा लक्ष्मण शक्ति के ऐसे दो अवसर रामकथा मे उपलब्ध हैं जिनमें करुणा का यथेष्ट अश स्वत ही है। तुलसी ने अपनी गीतावली और रामचरितमानस मे इन्ही अवसरो पर करुणा की धार बहा दी है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर धीर-गम्भीर राम आवेग को रोक नही पाते हैं और शोकावेग में यहाँ तक कह देते हैं कि यदि मुझे यह ज्ञात होता कि वन मे बन्धु का विछोह भी हो सकता है तो मैं पिता के वचन भी नही मानता। लक्ष्मण विरह मे राम की यह दशा करुणार्द्र करने मे समर्थ है—

> मेरो सब पुरुषार थाको,
> विपति बटावन बन्धु बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥

इसी प्रकार सुन्दरकाण्ड म लका दहन मे भयानक, लका-काण्ड म रौद्र और वीभत्स, नारद मोह मे हास्य रस और उत्तर-काण्ड मे शान्त रस की सशक्त सृष्टि तुलसीदास ने की है।

प्रबन्ध निपुणता—तुलसीदास ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा सम्पन्न महाकवि थे। उनका रामचरितमानस महाकाव्य प्रबन्ध की दृष्टि से एक उत्तम रचना है जिसमें रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता, विषय-समायोजन आदि गुणों का अद्भुत निर्वाह है। कथानक के सभी आवश्यक तत्त्व और महाकाव्य की गरिमा है। तुलसी ने अपने मानस म नाना पुराण निगमागम तथा लोक प्रचलित राम कथा को ही प्रकट करने की बात दोहराई है। इसमें चार वक्ता और चार श्रोता हैं। तुलसी अपने श्रोताओं को

बार-बार राम के ब्रह्म स्वरूप का स्मरण कराते हैं। उधर शिव पार्वती से, काक-भुसुण्ड गरुड से, और याज्ञवल्क्य भारद्वाज से बराबर सम्बन्ध स्थापित किए रहते हैं। यह क्रम टूटता नहीं है।

मंगलाचरण, लोक-विश्रुत, नायक-नायिका, वस्तु-विन्यास, प्रकृति चित्रण, कल्पना-सृष्टि, रस-वर्णन, व्यापक जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति, विभिन्न चरित्र, अनेक अन्तर्कथाओं का कुशल संयोजन, भक्ति प्रचार का उद्देश्य अध्यायों में है। मंगलाचरण से लेकर अन्त तक कथा की सातत्स्विनी प्रवाहित है। इस महाकाव्य में मध्ययुग का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब है। पार्वती मंगल और जानकी मंगल भी प्रबन्ध की दृष्टि से उत्तम रचनाएँ हैं।

भाषा में समन्वय— तुलसीदासजी की लोकप्रियता का एक कारण उनकी भाषा सम्बन्धी समन्वयात्मक दृष्टि भी है। जिस प्रकार का लोच हमें तुलसी की भाषा में दिखाई पडता है वैसा किसी अन्य कवि की भाषा में मिलना असम्भव है। उनकी भाषा जितनी लौकिक है, उतनी ही शास्त्रीय भी। यही कारण है कि मानस की भाषा एक कम पढे लिखे व्यक्ति के लिए और एक दिग्गज पण्डित के लिए समान रूप से ग्राह्य है। जहाँ कही उन्हें लोक धर्म की स्थापना करनी पडी है, वहाँ पर बोलचाल की सरल भाषा का प्रयोग किया गया है और दार्शनिक विषयों के विवेचन में संस्कृतनिष्ठ भाषा का। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग तुलसीदास जी की एक बहुत बडी विशेषता है। परिचारिका मन्थरा की भाषा में और रानी कैकेयी की भाषा में अन्तर है। इसी प्रकार निषादराज की भाषा सरल, अकृत्रिम और स्पष्ट है किन्तु गुरु वशिष्ट की भाषा में भाव गाम्भीर्य, संस्कृत-निष्ठता आदि सहज ही देखी जा सकती है। अवधी के दूसरे कवि जायसी की भाषा में इस प्रकार का लचीलापन नहीं मिलता है। वहाँ सभी पात्र एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं। तुलसीदास जी की भाषा के इसी लचीलेपन को लक्ष्य करके आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर लिखा है "जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है, वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती है और जहाँ शास्त्रीय और गम्भीर होती है वहाँ पाठक का मन चील की तरह मँडराकर प्रतिपादित सिद्धान्त को ग्रहण कर लेता है।"

सार ग्राहिणी प्रतिभा—गोस्वामी तुलसीदास जी को बडी ही सूक्ष्मदर्शिनी एवं तत्त्वग्राहिणी दृष्टि मिली थी। मानव-प्रकृति का इतना सही और मनोवैज्ञानिक निरूपण उनकी अद्भुत सूझ-बूझ का परिचायक है। प्रकृति चित्रण में भी कहीं-कहीं गोस्वामी जी का मन विशेष रूप में रम गया है। प्रकृति चित्रण के आलम्बन स्वरूप के लिए संस्कृत कवि विख्यात रहे हैं, चित्रकूट वर्णन में तुलसीदास ने उन कवियों से भी टक्कर लेने का सद्प्रयास किया है। फिर भी इनकी दृष्टि जितनी अन्त प्रकृति में रमी है उतनी बाह्य में नहीं। तुलसी के काव्य में घिसे पिटे परम्परागत रूढ उपमानों का प्रयोग देखकर आश्चर्य होता है, क्योंकि तुलसी जैसे समर्थ कवि यदि

चाहते तो न जाने कितने नए उपमानो का निर्माण कर सकते थे पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसका कारण है उनकी समन्वयात्मक दृष्टि ।

विविध ग्रन्थो की सारग्राहिणी प्रतिभा और आत्मसात कर लेने की अद्भुत क्षमता इनम विद्यमान थी। यही कारण है कि 'नाना पुराण निगमागम' का आलोडन करते हुए मूलभूत तत्त्वो को अपना बनाकर जिस पौराणिक शली में रामचरितमानस की रचना हुई है उसे ध्यान मे रखते हुए कतिपय विद्वान् आलोचको ने उसे 'पुराण' अथवा 'महापुराण' भी कहना चाहा है। रामचरितमानस पुराण है अथवा काव्य, यह हमारा विवेच्य नहीं है।

अलकार प्रयोग—तुलसी का कलापक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। प्राय सभी ग्रन्थो मे सुन्दर अलकार की योजना देखने को मिल जाती है। अनुप्रास गोस्वामीजी को बहुत प्रिय है। अनुप्रासो की छटा पग पग पर देखी जा सकती है। अनुप्रास के मोह मे कही भी उन्होंने व्यथ के शब्द नही रखे हैं। ध्वन्याथ व्यजना के अनेक ऐसे उदाहरण मिल जाएँगे जिनमे शब्दो के नाद द्वारा शब्द सामर्थ्य से ही प्रसग और अथ की प्रतीति हो जाती है। उदाहरणाथ—

> ककन किकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।
> मानहु मदन दुदुभी दीन्ही। मनसा विस्व विजय कहुँ कीन्ही ॥

'ककन' और 'किकनि' शब्दा के प्रयोग मात्र स ध्वनि का आभास अपने आप होने लगता है। शब्दालकारो मे वक्रोक्ति का भी पर्याप्त प्रयोग मिलता है। अर्थालकारो मे सादृश्यमूलक अलकारो का सर्वाधिक प्रयोग कवि तुलसीदास ने किया है। भावा की अभिव्यक्ति को और अधिक तीव्र बनाने के लिए इन अलकारो का प्रयोग किया जाता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, तुलसी के अत्यन्त प्रिय अलकार हैं। काव्य परम्परा मे प्रचलित विविध उपमानो का प्रयोग इन्होंने किया है। उपमाएँ मर्यादापूर्ण, उचित एव सुरुचि सम्पन्न होती हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

> लोचन जल रह लोचन कोना। जस परम कृपन कर साना ॥

रूपक तो इनकी अलकार योजना का प्राण ही है। साँग रूपको की सुन्दर योजना उनकी अपनी विशेषता है। कही कही पर ये साँगरूपक बहुत बड़े-बड़े हो गए हैं। जहाँ पर गम्भीर भावा की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ प्राय साँग रूपका का प्रयोग हुआ है। गूढ से गूढ दार्शनिक भावों को इनके माध्यम से बोधगम्य बनाया गया है। उदाहरणार्थ—

> कृपा डोरि बनसी पद अकुस परम प्रेम मृदु चारा ।
> एहि विधि बेधि हरहु मेरो दुख [illegible] तिहारो ॥
> राम नाम मनि दीप [illegible] द्वार ।
> तुलसी [illegible] ॥

उत्प्रेक्षा अलका[illegible] भी [illegible] चि सी है [illegible] चमत्कारिता की दृष्टि [illegible] आगे रखी [illegible]

हैं। उत्प्रेक्षा में प्राय कल्पना के लिए अधिक अवकाश रहता है। तुलसी की कल्पना का उत्कृष्ट स्वरूप उनकी उत्प्रेक्षाओं म ही दृष्टिगत होता है—

सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम विवस पहिराइ न जाई ॥
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला ॥

इसी प्रकार से विभावना और विरोधाभास आदि अलकारो का प्रयोग भी तुलसीदास न किया है। विभावना का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

बिनु पग चलै सुन बिनु काना। कर बिनु करम कर बिधि नाना ॥
आनन-रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड जोगी ॥

इसम कारण का अभाव होन पर भी काय सम्पादित हो जान से विभावना अलकार कहा जाएगा।

युग बोध—तुलसी की रामराज्य की कल्पना और उस सदभ म राजा और प्रजा के सम्बधो पर दिए गए उनके विचार इतने प्रासगिक है कि आज भी वे बासी नही हो पाए हैं। रामराज्य की कल्पना ने तो एक अर्से तक हमारे राष्ट्रीय आदोलन को प्रेरणा प्रदान की है। जिस दासता का बोध तुलसी न अपने युग मे किया था और उससे मुक्ति पाने के लिए वे अपनी कृति मे आग्रहवान रहे, उसका परिणाम देर स ही सही पर सामने आया। महात्मा गांधी के नेतृत्व म हमें स्वराज्य मिला जिहोने रामराज्य की स्थापना को ही राष्ट्रीय आदोलन का मूल मत्र बनाया था। यह है तुलसी की प्रासगिकता और उनका युग बोध। इस प्रकार रामचरितमानस म इतने स्थल भरे पडे हैं जिनमे तत्कालीन समाज की झाकी और शासन की त्रुटिपूर्ण नीतियाँ परिलक्षित होती है। इस प्रकार परम्परा स प्राप्त राम कथा तुलसी के माध्यम से बराबर प्रासगिक बनी रही है।

तुलसी अपने रामचरित मानस म लोक और वेद की दुहाई देत जान पडत हैं। वेद प्रतीक अर्थो म सांस्कृतिक जीवन-यापन की परम्परा ह तथा लोक म उनका तात्पर्य जीवन प्रवाह मे स्वीकृत सामयिक मूल्यो से है। इस प्रकार का तालमल जो वे बनाये रखना चाहते ह वह उनकी युग विधायनी कल्पना का ही परिणाम ह। रामचरितमानस एक प्रकार से भारतीय जीवन का समाज शास्त्र ह जिसम सयुक्त परिवार की जबदस्त वकालत की गयी है। जिस प्रकार के परस्पर पारिवारिक सम्बधो के प्रति इसम आस्था व्यक्त की गयी है उसी के निर्वाह पर ही सयुक्त परिवार चल सकता है। भारत जसे कृषि प्रधान देश के लिए सयुक्त परिवार की साथकता को कौन ऐसा है जो इनकार कर सकता है।

सामाजिक मूल्यो को स्थिरता प्रदान करने के लिए शक्ति अपेक्षित है। अत यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि रामचरितमानस क आदर्श पात्रो म अजेय शक्ति निहित है। तुलसी के आराध्य देव हनुमान विनम्रता और शक्ति के प्रतीक हैं। तदयुगीन आवश्यकता का अनुभव करने हुए ही तुलसी ने जैसा कि कुछ लोगो का मत है, काशी म अखाडो की स्थापना की और रामलीला के माध्यम से रामकथा का प्रचार उत्तर भारत मे आरम्भ किया। इस प्रकार पुरानी कथा मे नवीन आकर्षण

उत्पन्न कर तुलसी ने उसके माध्यम से देश का बड़ा कल्याण किया। शायद ही कोई ऐसा कवि मिले जिसने इतने लम्बे अर्से तक राष्ट्रीय जीवन को प्रेरित कर उसे प्रभावित किया हो। रामचरितमानस में आए विविध प्रसंगों में लोगों को अन्तर्विरोध भले ही परिलक्षित हो पर वे कहीं न कहीं सन्दर्भों से जुड़े अवश्य हैं। समग्रता में जीवन को ग्रहण करने के कारण ही यह विविधता है जो वास्तविक पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों के कारण तुलसी की सृष्टि में अभिव्यक्ति पा गयी है। समय के परिवर्तन क्रम में अनेक स्थलों की प्रासंगिकता समाप्त हो गयी है, इसमें सन्देह नहीं पर अभी रामचरितमानस के अनेक मार्मिक स्थल प्रासंगिक हैं। जब तक तुलसी की प्रासंगिकता बनी रहेगी तब तक हमें उनके युगबोध की सार्थकता को स्वीकार करते रहना होगा। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि तुलसीदास जी बहुमुखी प्रतिभा वाले कवि थे। वह केवल कवि और पण्डित ही नहीं बल्कि समाज सुधारक, लोकनायक और भविष्य द्रष्टा भी थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे इतने अधिक लोकप्रिय हुए।

रीतिकाल उत्तर मध्यकाल

साहित्य समाज का दर्पण होता है। इस दृष्टि से किसी भी साहित्य को नई प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख करने, पुरानी से दूर करने, प्रवृत्ति में अभिवृद्धि करती चली आई हुई साहित्यिक धारा का विरोध या समर्थन करने की प्रेरणा युग की बाह्य परिस्थितियों में विद्यमान रहती है। कवि या स्रष्टा की आन्तरिक परिस्थितियों का मूल्य कम नहीं है किन्तु कवि प्रतिभा को प्रभावित होने की दिशा बाह्य परिस्थितियों से ही प्राप्त होती है। युग विशेष की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक कलात्मक और साहित्यिक परिस्थितियां काव्य प्रवृत्तियों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देती हैं। भक्ति काल की उन्नत आध्यात्मिक भाव धारा के बाद रीति की काव्य विवेचक तथा अतिशय शृंगारिक धारा के उत्स को भी इन्हीं युगीन परिस्थितियों में ढूंढा जा सकता है।

रीतिकाल की पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियाँ

राजनीतिक पृष्ठभूमि—सम्वत् 1700 से 1900 वि. तक की भारतीय राजनीति का इतिहास देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में रीति शृंगार की प्रवृत्ति ही विशेष रूप से बलवती रही। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि इस युग में रीति शृंगार का प्राधान्य क्यों रहा? यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सम्वत् 1700 के आस पास मुगल सम्राट् शाहजहाँ भारत के सिंहासन पर आसीन था। इस समय मुगल साम्राज्य की सीमाएँ सिन्ध से आसाम तक तथा अफगानिस्तान से दक्षिण में मैसूर तक फैली हुई थीं। देश में अखण्ड शान्ति और सम्पन्नता थी। मयूर सिंहासन और ताजमहल का निर्माण हो चुका था। मुगल साम्राज्य अपनी चरम उन्नति के पश्चात अवनति की ओर उन्मुख होने लगा था। जहाँगीर की मस्ती और शाहजहाँ के अपव्यय ने मुगल साम्राज्य को खोखला कर दिया था। शाहजहाँ के अन्तिम दिनों में उत्तराधिकार के लिए उसके पुत्रों में हिंसक कलह प्रारम्भ हो गये थे। दारा जो शाहजहाँ का बड़ा पुत्र होने के कारण सिंहासन का

ग्वारी था, भारत की सांस्कृतिक चेतना का केन्द्र था। उदार, सहिष्णु और
य होने के कारण भारत की हिन्दू जनता का मन उसने जीत रखा था, किन्तु
र ग्रार दृढ़ व्यक्तित्व वाले कट्टर सुन्नी तथा कूटनीतिज्ञ औरंगजेब ने दारा तथा
र भाइयों को अपने मार्ग से निर्दयतापूर्वक हटा दिया। उसकी धार्मिक कट्टरता
र सहिष्णुता ने हिन्दू राजाओं तथा जनता को उसके विरोध में खड़ा कर दिया।
रंगजेब का शासनकाल धार्मिक उपद्रवों, विद्रोहों और संघर्षों का काल था। सारे
र भारत के हिन्दू राजा, जमींदार और जन प्रतिनिधि औरंगजेब के विरुद्ध उठ
हुए। गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों पर किए गए अत्याचारों
कारण पंजाब में सिक्ख लोग उससे खार खाए बैठे थे। दक्षिण में शिवाजी ने
की नाक में दम कर रखा था। राजस्थान में जसवन्तसिंह (जोधपुर नरेश)
रंगजेब के लिए लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए, किन्तु उनके उत्तराधिकारियों
दास और अमरसिंह राठौड़ ने औरंगजेब से जबर्दस्त लोहा लिया।

औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मुगल साम्राज्य धराशायी हो गया। मुगलों
उत्तराधिकारी अयोग्य, असमर्थ, विलासी एवं नपुंसक सिद्ध हुए। शाह आलम
सर के युद्ध में अंग्रेजों से हार गया। वे केवल कठपुतली शासक रह गए।
दिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने रही सही कसर पूरी कर दी
। मुगल सम्राट् दर्पण और मधा हाथ में लिए अपनी ही विलास लीला में मग्न
गए। राज काज वेश्याएँ चलाने लगीं। मुहम्मदशाह तो अपने नाच गान, ऐशो-
राम के कारण 'रंगीले' की उपाधि से विभूषित हुआ। सम्पूर्ण भारत का एक
र मुगल साम्राज्य का नक्शा देशी राजा रजवाड़ों, नवाबों की स्वतन्त्र सत्ता के
रण में छिन्न भिन्न हो गया। राज दरबारों में वेश्याओं और हिंजड़ों की तूती बोलने
गी। शासक वर्ग मदिरा, विलास, रंगरेलियों में डूब गया।

सामाजिक पृष्ठभूमि—राज शक्ति के पंकिल और हीन बल तथा हीन चरित्र
भावक जनता पर भी पड़ रही थी। इतिहासज्ञ डॉ ईश्वरीप्रसाद ने तत्कालीन
माज का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"शाहजहाँ के समय में हिन्दुस्तान
समाज सामन्तीय आधार पर स्थित था। सम्राट इस सामाजिक व्यवस्था का
न्द्र था, उसके अधीन मनसबदार या अमीर थे जो ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर थे। इसके
द साधारण कर्मचारी वर्ग था, जो राज्य के छोटे छोटे विभागों में काम करते
। उस समय का मध्य वर्ग अधिकतर इन्हीं लोगों से निर्मित था। इनके अतिरिक्त
यापारी, साहूकार, दुकानदार आदि भी थे किन्तु ये लोग आर्थिक दृष्टि से मध्य वर्ग
ी स्थिति में होते हुए भी शिक्षा, संस्कृति से हीन थे। नौकरी पेशा से सम्बद्ध लोगों
अतिरिक्त निम्न वर्ग में बृहत् कृषक समुदाय भी था, जो सोना पैदा करके मिट्टी
र गुजर कर रहा था। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सारा समाज दो वर्गों में
भक्त किया जा सकता था—एक उत्पादक वर्ग और दूसरा उपभोक्ता वर्ग।
त्पादक वर्ग कृषक और श्रमजीवी थे। ये लोग शासन और युद्ध के मामले से सर्वथा
लग रहकर अपने खेती व्यापार के कामों में लगे रहते थे सरकार को कर देते थे
।

और उसके बदले आन्तरिक तथा बाहरी उपद्रवों से त्राण पाते थे। उपभोक्ता व
सम्राट् के परिवार और दरबारों से लेकर उनके नौकर चाकर और दासों तक फ
हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था, अतएव उत्पादक वर्ग पर इसका पूर्ण प्रभु
था। इनकी सामाजिक स्थिति भी स्वभावत श्रेष्ठ थी। इन दोनों के बीच बहुत
अन्तर था—शासक और शासित—शोषक और शोषित का।"

इससे स्पष्ट है कि मुगल बादशाहों की विलास प्रियता का समाज पर
प्रभाव पड़ता था। विलास-प्रियता, महलों में लगने वाले रूप बाजार, प्रदर्शन
के कारण मनोबल में क्षय हो रहा था। छोटे छोटे सामन्तों के रनिवासों में विवाहि
स्त्रियों के साथ-साथ रखैलों की भरमार थी। नारी केवल मनोरंजन की वस्तु
गई थी। सामन्ती दृष्टि से नारी की नग्नता, मांसलता तथा शारीरिक सौन्द
देखा जाता था। नारी अस्तित्वहीन होकर जी रही थी। उसे न तो महिमा
थी और न कोई अधिकार ही। राज्य की ओर से छूट थी। उच्छृंखल यौन-सम्बन्ध
मद्यपान, द्यूत क्रीडा, आभूषण प्रेम, बहुपत्नी प्रथा, वेश्या गमन, शतरंज, पत
पतंगबाजी के खेल जनता में भी उतर रहे थे। कवि और कलाकार जन-मानस
कटकर केवल राज्याश्रय में रहकर उनके नशे का खुमार बढ़ाने में सहायक मात्र
जन साधारण रूढ़ियों में जकड़ा हुआ, शकुन, जादू टोना तथा अन्य अन्ध विश्वासों
ग्रस्त था। जनता अशिक्षित थी। बाल विवाह, बहु विवाह, पर्दा, दासियों का
वर्चस्व आदि मान्यताएँ पनप रही थी। एक प्रकार से यह सभ्यता और संस्कृ
ह्रास का युग था।

हिन्दुओं की राजनीतिक पराजय ने उनके जातीय संगठन को नष्ट कर
था। उसमें जाति भेद, छुआछूत, कर्मकाण्ड को लेकर परस्पर संघर्ष पनप रहे
मुसलमानों में श्रेष्ठता का भाव होना स्वाभाविक था। निर्गुण सन्तों और
फकीरों के प्रभाव से हिन्दू मुसलमानों में जो थोड़ा-बहुत सौहार्द और सामंज
पनपा था, वह शासकों की कट्टर धार्मिकता से छिन्न भिन्न हो रहा था।
त्योहार, आमोद प्रमोद तथा रीति रिवाज की दृष्टि से हिन्दू मुसलमानों
सामान्यतया अन्तर कम था। मुसलमानों में शिया और सुन्नी, तूरानी ईरानी
भयंकर भेदभाव था।

यह नैतिकता के ह्रास का युग था। पदाक्रान्त हिन्दू और आन्तरिक
संघर्षों से जर्जर मुसलमान अपना नैतिक बल खो चुके थे। अपव्यय, रिश्वत,
छल कपट ईर्ष्या-द्वेष आदि अनैतिक विचार लोगों में घर कर रहे थे।
वातावरण में राजवंश से लेकर जन-साधारण तक विलासों और निर्वीय सन्तानों
प्रचुरता थी। भाग्यवाद शकुन विचार, निराशा, आवारागर्दी इस युग की
नैतिकता के परिचायक थे।

धार्मिक पृष्ठभूमि—संस्कृति सभ्यता, नैतिकता के साथ-साथ इस युग में
का भी ह्रास हो रहा था। धर्म के नाम पर अन्धविश्वास, पाखण्ड, आडम्बर

रूढ़ियों का बोलबाला था। पण्डित और मुल्ला धर्म के ठेकेदार होते जा रहे थे। पण्डित लोग शास्त्र-आज्ञा को ही सर्वेसर्वा समझकर रचमात्र भी उससे हटने को तैयार नहीं थे। उत्तर भारत में आचार्यों द्वारा स्थापित भक्ति मार्ग रूढ होता जा रहा था। आचार्यों की गद्दियाँ स्थापित हो गई थीं जहाँ वैभव का बोलबाला था। इनका राजसी ठाठ-बाट था। इनके पास ऐश्वर्य विलास के इतने साधन थे कि अवध का नवाब भी इनसे ईर्ष्या करता था। मठ और मन्दिर देवदासियो के नृत्य से झकृत थे। कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय मे माधुर्य-भाव की ओट लेकर नायिका-भेद और उसमे परकीया-भाव का भी समर्थन खुले आम किया जा रहा था। सूरदास मे राधा कृष्ण के प्रति जा भक्ति तथा आध्यात्मिक भावना थी, वह स्थूल ऐन्द्रियता और लोलुपता मे परिवर्तित हो रही थी। चैतन्य और वल्लभ सम्प्रदाय रसिक वृत्ति मे डूब रहे थे। राधा-कृष्ण के नाम का उपयोग मानसिक काम-वासना के प्रदर्शन का शिष्ट तरीका मात्र था।

राम भक्ति शाखा मे भी रसिकता पनप गई थी। शील, शक्ति और सौन्दर्य की त्रिपुटी मे छैल-छबीलापन तथा विलासप्रियता भर दी थी। राम भक्ति मे स्त्रैण भाव आ गया था। इस्लाम मे भी रूढिवादिता बढ रही थी। हिन्दू-शास्त्रो की भाँति कुरान भी कण्ठस्थ करने तक सीमित हो गया था। अशिक्षित जन-समुदाय अध-विश्वास, तीर्थ, व्रत, तावीज, मनौतियो, रामलीला, मानस पाठ, सूर, मीरा के पद गजलें-कव्वालियाँ धर्म प्रदर्शन के अग थे।

हिन्दुओ के सतनामी लालदासी, नारायणी आदि पथों मे भेद-भाव विरोधी तथा शुद्ध आचरण पर जोर दिया गया। आगे चलकर इनकी भी गद्दियाँ हो गईं। मुसलमानो मे सूफी चिश्तिया सम्प्रदाय अधिक प्रभावशाली था।

कलात्मक पृष्ठभूमि—यह काल सभी प्रकार से राजाओ-नवाबों तथा जागीरदारो के ऐशो-आराम और स्वच्छन्द-व्यवहार का काल था। स्थापत्य कला, चित्रकला और सगीत कलाओ के विविध आयामों तथा उन्नयन ने इस काल के काव्य को प्रभावित किया। मुगल काल मे अकबर ने स्थापत्य के क्षेत्र मे विराट् कल्पनाओ को साकार किया था। उसमे रामचरितमानस की सी व्यापकता थी। शाहजहाँ की इमारतो मे कलात्मक सूक्ष्म सौन्दर्य और अलकरण की विशेषता दिखाई देती है, जैसी कि बिहारी के काव्य के सुघढता तथा अलकरण मे दिखाई देती है। ताजमहल स्थापत्य और मूर्तिकला का अद्भुत सम्मिश्रण है। औरगजेब ने अपनी धर्मान्धता में हिन्दू-स्थापत्य के उत्कृष्ट उदाहरण—मन्दिरो को धराशायी कर दिया था। उसने लाहौर और दिल्ली मे मस्जिदें बनवाईं, जो मुगल स्थापत्य की श्रेष्ठता को प्रमाणित करती थीं। चित्रकला में फारसी और भारतीय शैली के समन्वय के दर्शन होते हैं। मुगल शैली में भारतीय रगो की प्रधानता बढती गई। इस काल मे सम्राटो के अतिरिक्त पशु पक्षी तथा नायक-नायिकाओं के चित्र भी बनाये जाने लगे। भक्ति-सम्प्रदायो में कृष्ण-लीला के चित्र बहुतायत से बनने लगे। राजस्थानी और कांगडा शैलियाँ इस काल की समृद्ध शैलियाँ थी। स्त्री सौन्दर्य के

प्रकृत म इस काल के विचारधारा का जोड़ नहीं है। संगीत कला भी राज्याश्रयों म ही पनप रही थी। तानसेन और बजू बावरा की समृद्ध संगीत कला को धक्का और धर्मिक औरंगजेब की सूखी विचारधारा ने आघात पहुँचाया था। फिर भी बाद के मुगल सम्राट् मुहम्मद शाह रंगीले ने इस कला को प्रोत्साहन दिया। राग रागिनियों का विकास हुआ। जयपुर और लखनऊ घराने की संगीत कला का उत्थान हुआ।

साहित्यिक पृष्ठभूमि—रीतिकाल म सम्पूर्ण रूप से प्रदर्शन और चमत्कार की प्रवृत्ति का बोलबाला था। देशव्यापी समृद्धि और शान्ति ने मुगल-साम्राज्य में अन्य कलाओं के साथ काव्य कला को भी समृद्ध किया। प्रतिभावान् कलाकार राज दरबारों म आश्रय पा रहे थे। काव्य म भारतीय तथा पारसी शैलियों का समन्वय हो रहा था। छोटे छोटे नरेशों के दरबार में भी कवि शायर उनकी प्रशस्तियाँ गाते रहते थे। तत्कालीन नरेशों की रुचियों तथा फारसी-काव्य के प्रभाव के कारण हिन्दी कविता ने भी राधा और कृष्ण के नाम पर कुत्सित और अश्लील शृंगारिक चित्र प्रस्तुत किए।

रीतिकालीन काव्य सामन्तों की छाया में पला और बढ़ा। औरंगजेब की कट्टर नीति के कारण कविता छोटे छोटे रजवाड़ों में आश्रय पाने लगी। राज्याश्रय में रहने के कारण जीवन सत्यों से यह काव्य अलग-थलग पड़ गया। विवेकहीन विलास की मदिरा पीकर कविता कामिनी बेसुध हो गई। उस काल का साहित्यकार कवि और आचार्य दोनों का धर्म निभाने को आतुर था। उस पर वात्स्यायन के कामसूत्र का भी प्रभाव पड़ा। थोड़े शब्दों मे उस काल की साहित्यिक परिस्थितियों का वर्णन इन शब्दों म किया जा सकता है कि उस काल मे स्वार्थ ग्रस्त राजनीति तथा सामन्ती वातावरण से प्रेरित सामाजिक अव्यवस्था तथा विलासपूर्ण वैभव से युक्त प्रदर्शन प्रधान एवं अलंकरण की प्रवृत्ति से पूर्ण तत्कालीन काव्य था। कलाकार की स्वतः स्फूर्त चेतना स्थूल रूप से दब कर रह गई थी।

रीतिकाल का नामकरण : एक विश्लेषण

रीतिकाल के नामकरण को लेकर भी विद्वानों ने विभिन्न विचार प्रकट किए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस दिशा मे अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। उनसे पूर्व मिश्रबन्धुओं ने अपने ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' में हिन्दी साहित्य के इतिहास को 'आदि मध्य और अन्त' इन तीन कालों में बाँट दिया था। इस विभाजन मे काल का विभाजन तो है किन्तु नामकरण के पीछे कोई दर्शन नहीं दिखाई देता। मिश्रबन्धुओं ने सामान्यतः मानव मनोविज्ञान के आधार पर ही आदि मध्य और अन्त ये तीन विभाग हिन्दी साहित्य के इतिहास के किए थे। काल विभाजन का दूसरा सशक्त आधार युग प्रवृत्तियाँ हो सकता है। शुक्ल जी ने इसी आधार पर आदिकाल को वीरगाथा काल कहा तथा मध्यकाल को पूर्व मध्यकाल यानी भक्तिकाल और उत्तर मध्यकाल यानी रीतिकाल कहा है। इसी आधार पर आधुनिक काल को गद्य काल कहा गया क्योंकि इस काल में गद्य-लेखन का प्राचुर्य

है। कई बार साहित्य के इतिहास का नामकरण कृति, कृतिकार, पद्धति या विषय के आधार पर भी कर दिया जाता है। जैसे–भारतेन्दु युग, प्रेमचन्द-युग, छायावादी काल, प्रयोगवादी काल आदि।

रीतिकाल—आलोच्य काल को आचाय रामचन्द्र शुक्ल द्वारा दिया गया नाम 'रीतिकाल' से अभिहित किया जाना अधिकतर विद्वानो ने स्वीकार किया है। इस काल के 'रीति' यानी शैली-पद्धति पर कुछ न कुछ लिखने की प्रवृत्ति कवियो मे विद्यमान थी। प्रत्येक कवि ने अपनी रचनाएँ रीति के साँचे म ढाल कर ही प्रस्तुत की हैं। डॉ भागीरथ मिश्र के शब्दों मे—"उसे रस, अलकार, नायिका-भेद, ध्वनि आदि के वणन के सहारे ही अपनी कवित्व-प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। इस युग मे उदाहरणो पर विवाद होते थे। इस बात पर कि उसके भीतर कौन सा अलकार है? कौन-सी शब्द-शक्ति है? कौन-सा रस या भाव है? उसम वर्णित नायिका किस भेद के अन्तगत है? काव्यो की टीकाओ और व्याख्याओ म काव्य सौन्दय को स्पष्ट करने के लिए भी उसके भीतर अलकार रस, नायिका-भेद को भी स्पष्ट किया जाता था। कवि-गोष्ठियों में भी यही प्रवृत्ति थी। अत यह युग रीति-पद्धति का ही युग था और इसमें इससे सम्बन्धित असख्य ग्रन्थ लिखे गए।"

इस युग में अधिकतर कवि रीति से बंधकर चले। कुछ ऐसे भी थे जो रीति के बन्धन से मुक्त थे तथा कुछ ने रीति को सिद्ध कर लिया था। रीति मुक्त और रीति सिद्ध दोनो प्रकार के कवियो की पृष्ठभूमि म भी रस, अलकार नायिका-भेद आदि का प्रौढ-ज्ञान सन्निहित है। अत इस काल के लिए रीतिकाल नाम ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

'रीति' शब्द का व्यापक अर्थ और नामकरण—संस्कृत साहित्य में [illegible] वामन ने 'विशिष्टा पद-रचना रीति' कह कर 'रीति' शब्द की [illegible] रीति के तीन भेद किए गए हैं—वदर्भी, गौडी और पांचाली। इन [illegible] का समावेश ही काव्य को जीवित बनाता है। आगे चलकर [illegible] को प्रतिष्ठा दी। अलकार और वक्रोक्ति सम्प्रदाय [illegible] को काव्य की आत्मा मानते हैं। रस सम्प्रदाय 'वाक्य [illegible] कह कर रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करता है। 'रीति' [illegible] करार दी गई। हिन्दी में 'रीति' शब्द का अर्थ [illegible] है। विद्यापति के समय से इसे रचना-पद्धति के रूप [illegible]। [illegible] तक आते-आते रीति शब्द का अथ रस [illegible] का निरूपण ही रह गया। हिन्दी में [illegible] अथवा उनके आधार पर की गई रचना। [illegible] रीति सम्बन्धी रचनाएँ हुई, किन्तु [illegible]

आचाय शुक्ल द्वारा किया [illegible] दशन का ही फल है। शुक्ल [illegible] नया शास्त्रीय अर्थ देकर [illegible] है। [illegible]

उनकी दृष्टि मे रीति कवि थे ही किन्तु जिनका दृष्टिकोण भी रीति से बंधा हुआ हो, वे भी शुक्ल जी के लिए रीति कवि ही थे।

अन्य नाम—रीतिकाल के लिए अलंकृत काल, कला-काल, शृंगार-काल आदि अन्य नाम भी प्रयोग मे लाये जाते हैं। इन नामो पर विचार कर लेना उचित होगा। मिश्रबन्धुओं ने इस काल की मुख्य प्रवृत्ति 'रीति' को मानकर भी इसे 'अलंकृत काल' नाम भी दिया है। इस नाम के समर्थक विद्वानो का मत है कि इस काल के काव्य में अलंकरण की विशेष प्रवृत्ति थी। अलंकारो पर बल देना या उनका विवेचन करना भी 'रीति' के व्यापक क्षेत्र का ही अंग है। अतः अलंकरण की प्रवृत्ति होने पर भी इस काल का काव्य रीतिकाल के नाम के अन्तर्गत लिया जाता है।

इसी प्रकार इस काल के काव्य में कला पक्ष की प्रधानता देखकर इसे कला काल नाम भी दिया जाता है। इससे यह ध्वनित होता है कि इस काल की रचनाओं मे भाव पक्ष गौण और कला-पक्ष महत्त्वपूर्ण था, किन्तु घनानन्द, मतिराम, पद्माकर, बिहारी के भाव पक्ष की उच्चता को देखकर यह कहना अनुचित लगता है कि इस काल मे भाव पक्ष अप्रधान था।

रीतिकाल शृंगार काल

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को शृंगार काल नाम दिया है। उनका तर्क है कि इस काल के कवियो ने चाहे लक्षण-ग्रन्थ लिखे हो या केवल नायिका-भेद या मन की मौज से कुछ भी लिखा हो उसमें शृंगार की ही मुख्य प्रवृत्ति रही है। इसका स्पष्टीकरण इतना ही करना है कि इन रीति कवियों ने केवल शृंगार रस के अंग-उपांगो का शास्त्रीय निरूपण ही नहीं किया अन्य रसों के भी लक्षण उदाहरण दिए हैं। इस काल के रीति-बद्ध, रीति सिद्ध और रीति मुक्त कवियो ने रीति को एक पद्धति के रूप म स्वीकार किया था और उसी को केन्द्र मानकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। शृंगार के अतिरिक्त वीर भाव का भी प्रदर्शन इस काल मे यथेष्ट हुआ। शृंगार-काल कहने स इस काल की काव्यात्मा का बोध नही हो पाता है। इस साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति रीति-लक्षण ग्रन्थ निर्माण की रही है। इस रीति के घेरे मे बोधा आलम और घनानन्द जैसे रीति मुक्त कवि भी आ जाते हैं। क्योंकि उनकी रचनाओ को रीति के साँचे म बिठाया जा सकता है। उनकी रचना-पृष्ठभूमि के मूल में भी रीति निरूपण का ज्ञान ही है। डॉ भागीरथ मिश्र के शब्दो में—"कला काल कहने मे कवियों की रसिकता की उपेक्षा होती है, शृंगार काल कहने से वीर रस और राज प्रशंसा की। रीतिकाल कहने से प्रायः कोई भी महत्त्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती और प्रमुख प्रवृत्ति सामने आ जाती है। यह युग रीति पद्धति का युग था। यह धारणा वास्तविक रूप से सही है।"

इस विवेचन विश्लेषण से स्पष्ट है कि मध्यकाल का उत्तर काल जिस नाम से अभिहित काल 'रीतिकाल' के नाम से ही अपनी आत्मा को प्रकट करता है जितनी

गपर सीमाएँ सभी साहित्य के इतिहासकारो ने स 1700 से 1900 वि तक
वीकार की हैं।

रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन

रीतिकाल काव्य राजाओ और रईसो के आश्रय मे पला था। अत इन
आश्रयदाताओ की मानसिकता का इस काव्य के स्वरूप और आकार पर बहुत
भाव पड़ा था। दिल्ली के विशाल मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के साथ ही
नए सत्ता केन्द्र दिल्ली दरबार की स्मृति को ताजा करने के लिए वैसे ही
ठ-बाट जुटाने लगे थे। उनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्ती था।
भोग के सभी उपकरणो तथा विनोद के मसालो को एकत्रित करने मे प्रयत्नशील
। सुबाला, सुराही और प्याला के साथ साथ तान-सुर और ताल तथा गुणीजनो
सरल काव्य को भी जुटाने मे लगे हुए थे। इन सब मसालो मे कविता ही सबसे
धिक परिष्कृत थी। वह विनोद के साथ-साथ बौद्धिक आनन्द और व्यक्तित्व को
त भी प्रदान करती थी।

डा नगेन्द्र इस काव्य की आचार्यत्व और शृ गारिता ये दो विशेषताएँ बताते
ये इस कविता के महत्त्व को प्रकट करते हुए लिखते हैं—"हिन्दी साहित्य के
चीन इतिहास से यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप मे ग्रहण किया
या था। अनक शुद्ध रूप मे रीति कविता न तो राजाओ और सनिको को
त्साहित करन का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न
माजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचायिका ही। काव्य-कला का अपना
वतन्त्र महत्त्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी—वह अपना
ाध्य आप थी।"

स 1700 से 1900 वि तक हिन्दी के काव्य की पर्याप्त समृद्धि हुई।
ीति की विशिष्ट धारा इस समस्त साहित्य म किसी न किसी रूप मे प्रवाहित
ही। महाकवि केशव यद्यपि काल-गणना की दृष्टि से भक्तिकाल मे स्थित है किन्तु
ीति के प्रवर्तक आचार्य की दृष्टि मे हिन्दी का रीतिकाल वहीं से प्रारम्भ हो
ाता है। केशव, देव बिहारी, भिखारीदास, पद्माकर, द्विजदेव आदि अनेक
सिद्ध कवियो न इस रीति प्रवृत्ति को उत्कर्ष प्रदान किया। आलम, बोधा और
नानन्द जस रीति मुक्त कवियो न भी इसका पोषण किया। भूषण, सनापति
ादि न अपन वीर या भक्ति भाव के साथ रीति को भी सम्मान दिया। इन कवियो
ी रचनाओ के आधार पर हम रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ इस प्रकार प्रकट
ी जा सकती है—

1) आचार्यत्व (रीति-निरूपण)

रीतिकाल के कवि सामान्यत दो वर्गों म रख जा सकते है—एक वर्ग तो
न कवियो का ह जिन्होन रीति निरूपण के लिए लक्षण ग्रन्थो का निर्माण किया।
सरा वग वह ह जिसे रीति का शास्त्रीय ज्ञान तो सम्पूर्ण था, किन्तु उन्होने लक्षण-

ग्रन्थ न लिखकर केवल लक्ष्य ग्रन्थ यानी उदाहरण ग्रन्थ ही रचे। यद्यपि संस्कृत काव्य शास्त्र की समृद्ध और गहन परम्परा का हिन्दी में अनुकरण कर रहे थे, इनके श्रोता या आश्रयदाता पण्डित नहीं थे, वरन् रसिक थे। अतः अपने काव्य प्रेमियों को रिझाने के लिए तथा पांडित्य प्रदर्शन के हिन्दी कवियों ने रीति निरूपण करने वाले लक्षण ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें सूक्ष्म विचार तथा भेद के उल्लेख को प्रकट करने की अक्षमता थी। अपरिपक्व शास्त्र ज्ञान होने पर भी सरस काव्य रचना के ध्येय के कारण इनकी रचनाओं में काव्य सौंदर्य की भरमार है। कवियों ने रीति सम्बन्धी स्वतन्त्र और मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखे क्योंकि ये मूलतः कवि थे और अपने पांडित्य की धाक जमाने के लिए लक्षण ग्रन्थों का निर्माण करते थे ताकि कोई इनका शास्त्र ज्ञान शून्य न समझ ले। ये आचार्य बनकर पांडित्य तथा सरस कविता करके राज दरबारों में प्रतिष्ठा पाने के लिए लालायित रहते थे।

हिन्दी के तत्कालीन कवियों के रीति ग्रन्थ तीन प्रकार की शैलियों में लिखे गए—

(1) 'काव्य प्रकाश' की शैली पर सेनापति का 'काव्य कल्पद्रुम', चिन्तामणि के 'कवि कुल कल्पतरु' और 'काव्य विवेक', कुलपति मिश्र का 'रस रहस्य' देव का 'शब्द रसायन', भिखारीदास का 'काव्य निर्णय', प्रताप साहि का 'काव्य विलास' आदि लक्षण-ग्रन्थों की रचना की गई। काव्य प्रकाश के अनुवाद भी इसी क्रम में आते हैं।

(2) दूसरी श्रेणी में वे कवि और ग्रन्थ हैं जिनका मुख्य वर्ण्य विषय शृंगार ही है किन्तु प्रसंग पूर्ति के लिए अन्य रसों का भी वर्णन किया गया है। इस श्रेणी में केशव की 'रसिक प्रिया', मतिराम का 'रसराज', सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव', देव का 'भाव विलास', 'रस विलास', पद्माकर का 'जगद्विनोद' ग्रन्थ आते हैं। इनमें रस के स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव आदि अंगों का वर्णन है, किन्तु प्रधानता शृंगार की ही है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण है। संयोग के अन्तर्गत नायक नायिका (आलम्बन) सखी दूती, ऋतु (उद्दीपन) तथा उनके अनुभाव, सात्विक भाव आदि का मनोहर वर्णन है। वियोग पक्ष में पूर्वराग, मान, प्रवास तथा दस काम दशाओं का वर्णन किया है। इन कवियों ने निःसंकोच नायिका भेद का ही रस निरूपण का आधार बनाया है। वास्तव में रीतिकाल के सच्चे प्रतिनिधि ये ही कवि हैं। इनमें रीति और शृंगारिकता का अद्भुत समन्वय है।

(3) तीसरी श्रेणी चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुकरण पर अलंकार निरूपण करने वालों की है। इसमें जसवंतसिंह का 'भाषा भूषण', मतिराम का 'ललित ललाम', भूषण का 'शिवराज भूषण', भूपति का 'कण्ठाभूषण', पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि उल्लेखनीय हैं। ये कवि अलंकार शास्त्र के गम्भीर तथा अलंकार का प्रतिपादन करने में वह गौरव जो भामह, दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि को मिला वह हिन्दी कवि नहीं पा सके। अलंकार निरूपण में संक्षिप्त लक्षण तो दिए गए हैं किन्तु उदाहरण ठीक नहीं जुटा पाए या रच पाए।

इन आचार्य कवियों के आचार्यत्व के कुछ उदाहरण—

रस— रस कविता को,अग, भूषण हैं भूषण सकल।
गुन सरूप और रंग, दूषन करै कुरूपता ॥ (भिखारीदास)

अलंकार— जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजहीं, कविता, वनिता, मित्त ॥ (केशव)

अत्युक्ति— अलंकार अत्युक्ति यह, बरनत अतिसय रूप।
अलंकार— जाचक तेरे दान तें, भये कल्पतरू भूप (जसवन्तसिंह)

नायिका भेद—इन भेदन को जो कोऊ रसाभास विख्यात।
मुग्धा, कुलटा हू विषै सो पुनि पायो जात ॥ (रसलीन)

इससे स्पष्ट है कि रीति कवियों में अपना आचार्यत्व प्रतिपादित करने की उत्कट लालसा थी किन्तु इन्हें रीति शास्त्र का अपेक्षित ज्ञान नहीं था। अत अपने काव्यत्व के साथ पांडित्य का प्रदर्शन करने के लिए इस काल के कवियों ने लक्षण ग्रंथों की रचना करके अपने आचार्यत्व की धाक जमानी चाही थी।

(2) शृंगारिकता

रीति-काव्य की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति शृंगारिकता है। इस काव्य के शरीर में शृंगार रक्त धारा की तरह बहकर समस्त युगीन काव्य को प्राणवान बनाए हुए है। इस काल के समस्त काव्य का नब्बे प्रतिशत भाग शृंगार से ही विभूषित है। यह युगीन परिस्थितियों की ही देन है। घोर पतन के इस युग में मुसलमान भौतिक शक्ति और सुख साधना की अतिशयता में डूब गए थे तो हिंदू-जीवन पराभव से हीन और नत मस्तक था। भक्तिकाल की आशावादी आध्यात्मिक रचनाओं के कारण ही हिंदुओं में उत्साह बना हुआ था। लोग बाहर से बन्द और घर में समस्त साधन जुटाकर विलास में मग्न थे। नारी इस विलास की केन्द्र थी। उसी के चारों ओर पुरुष की समस्त आकांक्षाएँ मण्डरा रही थी।

रीतिकाल में कृष्ण भक्ति की परम्परा ने काम वासना तथा शृंगारिकता को दबने का प्रयास किया था। शृंगारिक अभिव्यक्ति को कृष्ण-भक्ति में नैतिक समर्थन प्राप्त था। राधा कृष्ण का नाम लेकर कवि लौकिक मांसल शृंगार की उद्दाम भावनाओं को प्रकट कर रहे थे। उनका नारा था—

> आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई,
> नतु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

फारसी साहित्य की शृंगारिकता भी शृंगार की मदिरा को और मादक बना रही थी। संस्कृत और प्राकृत काव्य की शृंगारवृत्ति भी इस काव्य में उतर रही थी। इस प्रकार अनेक प्रभावों के कारण यह काव्य अतिशय शृंगार-प्रधान हो गया था।

इस काव्य में काम वासना के दमन के स्थान पर उसका स्वच्छन्द निर्वाह है। उसमें न कहीं आध्यात्मिकता का आग्रह है और न कहीं अतींद्रिय प्रेम का।

शृंगारिक वृत्तियाँ कुण्ठा रहित होकर स्वच्छन्द गति से बही हैं। इसमें प्रेम की आन्तरिक सूक्ष्म वृत्ति के स्थान पर स्थूल मांसलता है। इस काव्य मे प्रेम के स्थान पर रसिकता है। बिहारी, मतिराम, पद्माकर ने बाह्य सौन्दर्य का अंकन करके अपनी रसिकता का ही परिचय दिया। इन रसिकों की दृष्टि शारीरिक सौन्दर्य पर ही अटकी रहती थी, मन के सूक्ष्म सौन्दर्य और उससे भी आगे आत्मा के सात्विक सौन्दर्य तक तो उनकी पहुँच ही नहीं थी। बिहारी, मतिराम, देव, घनानन्द की सौन्दर्य चेतना ऐन्द्रिय आनन्द का पान करके उत्सव मनाने लगती थी।

संयोग शृंगार के चित्रों मे दर्शन, श्रवण, संलाप और मिलन के साथ-साथ नायिका के नख-शिख और अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का उद्घाटन किया गया है। बिहारी के नायक-नायिका की ये मौन मुद्राएँ देखिए—

> कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
> भरे भौन म करत है, नयनन ही सो बात॥

घनानन्द उस रूप सुधा से छक कर कह उठते हैं—

> झलक अति सुन्दर आनन गौर छके दृग राजत काननि छ्वै।
> हँसि बोलनि मे छवि फूलनि की, बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै॥

पद्माकर का गतिशील सौन्दर्य-चित्र और भी मोहक है—

> पैर जहाँ ही जहाँ वह बाल, तहाँ तहाँ ताल मे होत त्रिवेनी।

संयोग वर्णन मे हिंडोला तीज त्यौहारो की छटा भी सुन्दर है। कहीं-कहीं सुरति वर्णन, विपरीत रति के सुरुचि भिन्न चित्र भी प्रस्तुत किए गए हैं।

वियोग शृंगार मे पूर्वराग, मान, प्रवास तथा वियोगिनी की दसा दशाओं का वर्णन रीति काव्य मे अपने छिछले स्तर पर विद्यमान है। ऐसे वियोग प्रसंगों म खण्डिता व मानवती नायिकाओ का उपयोग किया गया है। वियोगिनी की आँखों की दशा देखिए जो आचार्य और कवि देव की लेखनी से वर्णित हुई है—

> 'बरुनी बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ
> कोये राते बसन भगोहे भेस रखियाँ।
> बूडी जल मे ही दिन जामिनी हू जागे भौंह
> धूम सिर छायो बिरहानल बिलखिया।
> आँसू ज्यो फटिक माल लाल डोरे सेली पैन्हि,
> भई हैं अकेली तजि चलि संग सखिया।
> दीजिए दरस 'देव' कीजिए संजोगिन मु-
> जोगिनि है बैठी ये वियोगिनी की अँखियाँ॥"

वियोग वर्णन म कई स्थानो पर ये कवि ऊहा का सहारा लेते हैं। तब यह वियोग-वर्णन हास्यास्पद हो जाता है—

> आडे दे आले बसन, जाडे हू की रात।
> साहस कके सनेह बस सखी सब ढिग जात॥ (बिहारी)

शृंगारिकता के प्रति वे भोग परक दृष्टिकोण से सम्पन्न थे। प्रेम के सूक्ष्म और उन्नत स्वरूप के स्थान पर विलास और शृंगार के बाह्य पक्ष—शारीरिक आकर्षण के प्रति ही वे अनुरक्त थे। उनकी प्रत्येक पङ्क्ति में शृंगारिकता की प्रवृत्ति झलकती है।

(3) नारी के प्रति दृष्टिकोण

सामन्तों के विलास और नारी के शृंगार में पली इस कविता का दृष्टिकोण नारी के प्रति सर्वथा मांसल रहा है। वह निजी व्यक्तित्व और मानवाकृति से हीं केवल भोग की वस्तु है। नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण किसी सामाजिक दायित्व की आवश्यकता के लिए नहीं अपितु नारी के सौन्दर्य का उपभोग करने के लिए है। नारी के उदात्त माँ, भगिनी सहचरी, प्राण जैसे रूपों में कवि की अनुरक्ति नहीं है अपितु सौन्दर्य सरोवर की सतही लहर पर गोते लगाने में है। नारी के सौन्दर्य-निरूपण उसके प्रेम विरह, सुख-दुख, हाव-भाव, लीला विलास का चित्रण रीति कवियों ने उनके व्यक्तित्व को मुखर करने के लिए नहीं किया अपितु उसे अधिक से अधिक उपभोग-योग्य बनाने के लिए किया है।

नारी का उपभोग करने के लिए ही इन कवियों की रसिक वृत्ति ने नायिका-भेद का विधान किया। नारी को नारी रूप में न देखकर उसे अज्ञात-यौवना, मुग्धा अभिसारिका, वासकसज्जा, आगत पतिका, सुरतान्त, कुलिता, खण्डिता, दूती आदि कामोत्तेजक रूपों में प्रस्तुत किया—

> तातें कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद।
> राच पाग प्रेम रस, मेटे मन के खेद॥ (देव)

विद्यापति ने जिस परकीया प्रेम भाव का प्रकाशन किया था, रीति कवि उससे प्राय दूर रहे। भारतीय परम्परा के अनुसार रीति-काव्य में नारी के योग्य रूप का आधार स्वकीया प्रेम ही रहा है। भारतीय शृंगार परम्परा में संयोग शृंगार, रति, पूर्वराग, मान, प्रवास सभी भाव गार्हस्थ्य की मर्यादा में ही बँधे रहे हैं। रीति-काव्य में शृंगारिक विकृति तो है किन्तु नारी का गार्हस्थिक रूप ही उसमें है। आश्रयदाताओं के दरबार में वेश्याएँ भी थीं उनके अन्तःपुरों में रखैलें भी थीं किन्तु इन कवियों ने नारी के इस रूप को अनुचित ही माना। वे स्वकीया के ही सौन्दर्य का चित्रण करने में रस लेते रहे—

> दरपन में निज रूप लखि, नननि मोद उमग।
> पिय सुख पिय बसकरन को, बढ़्यो गरब को रग॥ (मतिराम)

(4) धार्मिकता और नैतिकता

रीति काव्य में वर्णित धर्म और नीति रूढ़ि मात्र है। यह धर्म केवल आभास मात्र है। धर्म और भक्ति की ओट में रीति कवियों ने अपनी छद्म् रसिकता का ही प्रदर्शन किया है। वे राधा-कृष्ण का नाम केवल स्मरण के बहाने मात्र से करते हैं अन्यथा ये दोनों नाम उनके लिए भक्ति और धर्म के आधार नहीं हैं। उनका मुख्य ध्येय राधा और कृष्ण नामक लौकिक नायक नायिका के केलि विलास से युक्त कविता

को रिझाना है भक्ति करना नहीं। ये कवि हरि और राधा की इन द्युति में ही विश्वास करते थे—

तजि तीरथ हरि राधिका, तन द्युति कर अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग, पग पग होत प्रयाग॥

वास्तव में भक्ति उनकी शृंगार-भावना का ही एक अंग है। डा० नगेन्द्र के अनुसार—"जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी।" इसलिए इन सभी कवियों ने भक्ति प्रदर्शन के लिए राधा और कृष्ण का नाम बार बार लिया है। भले ही इन नामों से वे नायक नायिका की उच्छृंखल विलास लीला पर नैतिकता और मर्यादा का आवरण डालना चाहते हों। देव, मतिराम, बिहारी ने 'राधिका-कन्हाई सुमिरन' का बहाना ही किया है।

हाँ, राजस्थान, पंजाब, गुजरात और मध्य प्रदेश में कई भक्त सन्तों, सूफियों तथा जैन कवियों ने शुद्ध भक्ति काव्य भी लिखा। राम भक्ति-काव्य ब्रजभाषा और गुरुमुखी लिपि में लिखा मिलता है। कृष्ण भक्ति के भी कई सम्प्रदायों में भक्त कवि हुए हैं। इसी प्रकार रीति कवि समय समय पर अपनी नैतिक अनुभूतियों को काव्य बद्ध करके नीति की बात भी करते थे। इस काल में बिहारी वृन्द, गिरि आदि नीति काव्यकार हुए—

को कहि सके बडेन सों लखी बडीओ भूल।
दीन दई गुलाब की, इन डारन वे फूल॥ (बिहारी)

(5) वीर रसात्मक काव्य

सामान्यतया रीतिकाल को शान्ति और समृद्धि का युग माना जाता है फिर भी औरङ्गजेब की धर्मान्धता और क्रूरता के कारण जगह जगह हिन्दू राजा उसके विरुद्ध हथियार उठाने लग गए थे। चिरकाल से सोयी हुई हिन्दुओं की वीरता अंगड़ाइयाँ लेने को आतुर थी। औरंगजेब के अत्याचारों का प्रतिकार करने के लिए दक्षिण में शिवाजी पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह राजस्थान में जसवन्तसिंह और दुर्गादास, मध्य प्रदेश में छत्रसाल आदि वीरों ने अपनी भूमिका निश्चित कर ली थी। वे स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए सन्नद्ध थे। उन्होंने औरंगजेब की दुर्नीति के विरुद्ध संघर्ष शुरू कर दिया था। इन राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवियों ने अपनी वीर रसात्मक कविताओं का सृजन करके इन वीरों को तथा जनता को प्रोत्साहित किया था। इस काल की शृंगार प्रधान धारा के बीच में एक क्षीण प्रवाह वीर रस का भी था।

भूषण, सूदन पद्माकर आदि कवियों ने अपनी वीर रसात्मक वाणी से वीर रस का उद्रेक किया। इस वीर रस की कविताओं में राष्ट्रीयता का स्वर प्रधान है। हिन्दुओं की जातीय भावना, गौरव और धर्म की रक्षा के लिए उद्बोधन ही इन

कवियो की राष्ट्रीयता का आधार था। राजस्थान, पजाब, हरियाणा मे ऐसी वीर-रसात्मक रचनाएँ प्रचुर मात्रा मे रची गई थी। इन वीर काव्यो मे रासो, बेल, वचनिका आदि नाम की कृतिया है। राज्याश्रय म लिखी जाने के कारण अपने आश्रयदाता की दानवीरता, दयावीरता तथा युद्ध वीरता का अतिशयोक्तिपूण चित्रण भी इम वीर-काव्य मे है। गुरु गोविन्दसिह ने स्वय भी व्रजभापा मे वीर भाव की कविताएँ रची थी। वीर रस का प्रतिनिधित्व करने वाले कवियो मे भूपण का नाम सर्वोपरि है जिन्होने शिवाजी और छत्रसाल की वीरता, दुदमनीयता, शौय साहस, आतक का फडकाने वाला चित्रण किया है—

> सबन के ऊपर ही ठाढो रहिबे के जोग
> ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे।
> जानि गैर मिसिल गुसल गुस्सा धारि उर,
> कीन्हो न सलाम, न बचन बोले सियरे।
> 'भूपन' भनत महावीर बलकन लाग्यो,
> सारी पातसाही के उडाय गये जियरे।
> तमक के लाल मुख सिवा को निरखि भये,
> स्याह मुख नौरग, सिपाह मुख पियरे॥

पद्माकर तथा सूदन न भी इस काल मे वीररस की ओजस्वी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। शृगार की प्रवृत्ति मे वीररस के तेजस्वी दशनो से आश्चय भी होता है।

(6) प्रकृति-चित्रण

रीतिकाल दरबारी तथा राज्याश्रित कविता का काल था। अत इस काल म स्वतन्त्र रूप से प्रकृति चित्रण का अवकाश ही कवियो को नही था। जो कुछ प्रकृति चित्रण इस काव्य म मिलता है वह आलम्बन रूप मे अथवा परम्परा का पालन करन के लिए उद्दीपन रूप म है। भला राजा दरबारो के कृत्रिम सौन्दय मे पलन वाले कवियो म वाल्मीकि या कालिदास की प्रकृति के बिम्बो को ग्रहण करने की दृष्टि कसे मिल सकती थी। इस काव्य मे प्रकृति कही नायक-नायिका की मानसिक गति के अनुकूल है तो कही ऊहा के रूप मे या अलंकार के रूप मे।

सयोग म नायिका अपनी प्रसन्नता को प्रकृति से समरस करती प्रतीत होती है तो वियोग म उसका विदग्ध करन वाला रूप दिखाई देता है। प्रकृति की उद्दीपन रूप पद्ऋतु वणन तथा बारहमासे की प्रकृति के बदलते रूपो मे देखा जा सकता है। इनका मन शृगार मे इतना रमा है कि पावस का वणन करते समय उसका प्राकृतिक रूप गौण हो जाता है और झूला हिडोला तीज-त्योहार प्रमुख हो जाते हैं।

वियोग वणन रूढ और भावहीन अवस्था मे है। कही वियोगिनी को चन्द्रमा कसाई जसा दिखाई देता है तो कभी चाँदनी से आग बरसती है। रीति कवियो में सेनापति को अवश्य प्रकृति चित्रण म सफलता मिली है। बिहारी जस समथ कवियों ने एक एक दोहे म प्रकृति की छवि का सकेत मात्र देकर कवि-कम की इति-श्री

समझ ली है। देव और पद्माकर की वृत्ति कहीं-कहीं प्रकृति के रमणीक चित्रों में रमी है—

> डार द्रुम पलना, बिछौना नव-पल्लव के,
> सुमन झँगुला सोहे तन छवि भारी दै।
> पवन झुलावै, केकी कीर बहरावै देव,
> कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै।
> पूरित पराग सो उतारो करै राई नोन,
> कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै।
> मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
> प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

(7) आलंकारिकता

भक्तिकाल के भक्त-कवियों ने भी अपनी सहज अभिव्यक्ति को अलंकारों के सहयोग से और अधिक प्रेषणीय बनाया था। फिर यह रीतिकाल तो प्रदर्शन का काल था। रीति कवियों की रुचि काव्य को राज-दरबारों की तरह सुसज्जित करने में ही रहती थी। अलंकार का आधिक्य भाव-राशि की दरिद्रता का सूचक होता है। तुलसी, सूर, केशव आदि के काव्य में अतुलित भाव राशि अलंकारों के सहयोग से दुगनी हुई है और रीति काव्य में भाव की आत्मा अलंकार के रूढ़ तथा दुराग्रही प्रयोग से कहीं-कहीं दबा दी गई है। रीति कवियों का काव्य के सम्बन्ध में आचार्यों से सम्पन्न मत था। अतः उन्होंने सचेत होकर यत्नपूर्वक अलंकारों का सन्निवेश अपने काव्य में किया था। कविता उनके लिए कला थी और अलंकार उसका शृंगार। रसिकता प्रधान युग में नायक नायिका के अंग पर दृष्टि गड़ाए हुए इन कवियों ने उन्हें अलंकृत करने में कसर नहीं छोड़ी। ये रूप रसिक कवि अपनी नायिका को आभूषण-रहित नहीं रख सकते थे और न कविता को अलंकार रहित।

यद्यपि अर्थालंकारों का प्राचुर्य इस काव्य में है किन्तु शब्दालंकारों का भी पर्याप्त सम्मान है। रीति-काव्य तो अलंकारों का समृद्धि कोष है जिसमें बढ़िया से बढ़िया और घटिया से घटिया अलंकारों के उदाहरण मिल सकते हैं। इन अलंकारों में सूक्ष्म, संयत, कोमल और निर्दिष्ट प्रयोग भी देखा सकता है तो परम्परायुक्त रूढ़ अलंकारों का भाव हीन प्रयोग भी। चमत्कारी वृत्ति के इन कवियों के लिए कहीं-कहीं अलंकार ही साध्य बन गया है। एक ओर अनुप्रास यमक, श्लेष हैं तो दूसरी ओर उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति के ठाठ हैं।

रीति कवियों ने अपने उपमान और प्रतीक प्रकृति तथा भौतिक क्षेत्रों से ग्रहण किए हैं। चन्द्रमा, चाँदनी, पूनम, मेघ-नक्षत्र, यमुना, कमल, कुंद, हंस चकोर के साथ-साथ मणि, मोति, दीपक, कुन्दन, अंजन, आभूषण आदि भी उनके उपमान-क्षेत्र में उपस्थित हैं। इन उपमानों से ये कवि काम विलास के उद्दीपन के अतिरिक्त नूतन मौलिक काम न ले सके। उपमा का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

अंग अंग नग जगमग, दीप शिखा सी देह।
दिया बढ़ायेहू रहे, बड़ो उजेरो गेह ॥

(8) मुक्तक काव्य रूप

इस युग के कवियों का उद्देश्य राजाओं और रईसों की रसिक वृत्ति को संतुष्ट करना था। अतः दरबारी वातावरण में चमत्कार दिखाने के लिए मुक्तक काव्य शैली ही अधिक उपयुक्त थी। प्रबंध काव्य को धीर-गम्भीर वातावरण बनाने के लिए स्थिर-चित्त वाले धैर्यशील श्रोताओं की आवश्यकता होती है। इस काल के कवि और सहृदय आश्रयदाता मन की चंचल कामनाओं से आपूरित थे। अतः उनके काव्य में त्वरित गति से प्रभाव उत्पन्न करने वाले मुक्तकों का ही सौन्दर्य है। "मुक्तक जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर लिए लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है।" इस कथन से स्पष्ट है कि राज दरबारी के काव्य-दंगलों में बाजी मारने के लिए कवियों को मुक्तक से बढ़कर अन्य कोई काव्य रूप सहयोग दे ही नहीं सकता था। मुक्तक में रस की प्रवाहमान धारा का आनन्द भले ही न हो, किन्तु उनमें गहराई और प्रभावित करने की क्षमता होती है। विद्यापति, सूरदास, घनानन्द के मुक्तक काव्य में अपरिमित शक्ति विद्यमान है। बिहारी का एक एक दोहा रस प्रवणता में किसी से कम नहीं है। देव, पद्माकर, दास आदि के मुक्तक रसोद्बोधन की क्षमता रखते हैं।

इस काल के अधिकांश कवियों ने कवित्त, सवैया और दोहा जैसे छन्दों का प्रयोग किया है। बीच बीच में छप्पय, बरवै आदि छन्द भी दिए हैं। कवित्त और सवैया ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल भी है, साथ ही दरबारों में उर्दू के 'शेर' से बाजी मारने में भी ये सक्षम थे। रीति कवियों की चमत्कार वृत्ति का प्रदर्शन सवैया-कवित्त छन्द में अनुप्रास आदि अलंकारों के प्रयोग में ही होता दिखाई देता है। शृंगार भाव की प्रवृत्ति युग के लिए कवित्त-सवैया तथा नीति कथन के लिए दोहा छन्द उपयुक्त और युगानुरूप था। यद्यपि इस काल में प्रबन्धों की रचना भी हुई किन्तु मुख्य रूप मुक्तक काव्य का ही रहा।

(9) ब्रजभाषा की प्रधानता

रीति काव्य की प्रधान साहित्यिक भाषा ब्रजभाषा ही रही। यदि यह कहा जाए कि साहित्य की एक मात्र भाषा ब्रजभाषा ही थी, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। भारतीय भाषाओं की ललित पदावली के क्षेत्र में संस्कृत के पश्चात् ब्रजभाषा का ही स्थान है। रामचरितमानस और पद्मावत जैसे लोक प्रसिद्ध काव्य अवधी में होने पर भी रीति कवियों ने भाषा के मामले में उनका अनुसरण नहीं किया और कोमलता तथा अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के लिए ब्रजभाषा को ही सजाया, संवारा तथा परिष्कृत किया। डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दों में—"भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने एक खास नाजुक मिजाजी बरती है। इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजाइश नहीं

जिसमें माधुर्य न हो, जो माधुर्य गुण के अनुकूल न हो। अक्षरों के गुम्फन में इन्होंने कभी भी त्रुटि नहीं की। संगीत के रेशमी तारों में इनके शब्द माणिक्य, मोती की तरह गुथे हुए हैं। नागवती और मसृणता इस काल की भाषा के मुख्य तत्त्व हैं। ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है।'

इन कवियों ने ब्रजभाषा में वर्ण मैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वनितत्त्व, शब्द शक्ति, अनेकार्थ प्रयोग आदि का उत्कर्ष दिखाया। ब्रजभाषा को पूर्ण प्रौढ़ता इसी काल में प्राप्त हुई। भारतेन्दु युग तक ब्रजभाषा का वर्चस्व बना रहा। इसके सौन्दर्य से रीझकर मुसलमान कवियों और बंगाल के वैष्णव भक्तों ने ब्रजभाषा को ही अपनी साधना का आधार बनाया। ब्रजभाषा में राजस्थानी, अवधी, बुन्देलखण्डी तथा अन्य बोलियों के सुन्दर व कोमल शब्दों का मिश्रण किया गया। अरबी फारसी के शब्दों को भी अर्थ प्रेषण में उपयोगी समझा गया। भाषा का निर्माण करने के कारण उसमें व्याकरणिक अशुद्धियाँ तथा तोड़ फोड़ भी बहुत की गई। कारक, लिंग वचन तथा क्रिया-रूपों में भी अनेक दोष दिखाई देते हैं। फिर भी अनेक कवियों की भाषा में कलात्मक सुघड़ता है। घनानन्द और रसखान ने ब्रजभाषा का परिनिष्ठित रूप प्रस्तुत किया। देव और पद्माकर ने कोमल-कान्त पदावली तथा मसृणता और लचीलेपन में तुलसी को भी पीछे छोड़ दिया। लोकोक्तियों का सुन्दर नियोजन करके घनानन्द और ठाकुर ने ब्रजभाषा को अमोघ जीवन शक्ति प्रदान कर दी थी।

(10) अभिव्यंजना-शैली

कवि अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को मूर्त रूप देने के लिए विशिष्ट शब्दों, पदों, मुहावरों, लोकोक्तियों, विशेषणों, उपमानों आदि का चयन करता है और उनका सुष्ठु प्रयोग करता है। शब्द भी युगानुरूप अपना अर्थ बदलते रहते हैं। जैसे भक्तिकाल के राधा-कृष्ण शब्द रीति काल में सामान्य नायक नायिका का बोध कराने वाले शब्द बन गए। इनमें वह भक्तिकाल की आध्यात्मिकता तथा सात्त्विकता न रही। कन्हैया लाल लला आदि शब्द भी ऐसे ही हो गए।

रीति कवियों ने रणनात्मक, अनुकरणात्मक और लक्षणात्मक शब्दों के प्रयोग से अपनी उक्ति को प्रखर और प्रभावी बनाया। बिहारी, देव, दास और पद्माकर ने ऐसे शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। 'रनित भृंग घण्टावली' 'खीजति-सी' 'रीझति-सी' रूपातिरिसानी सी 'नैन नचाय कह्यो मुसकाय' के द्वारा ऐन्द्रिय वातावरण की सृष्टि करने में रीति-कवि सफल हुए। विशेषणों के सुघर प्रयोग से इन कवियों ने चित्रोपमता प्रदान की। भावाभिव्यक्ति के लिए दरबारी वातावरण में चमत्कारिक ऊहा पद्धति का भी कहीं कहीं अपनाया गया है। यह फारसी साहित्य के प्रभाव की द्योतक है।

(11) पराश्रयता और प्रतियोगिता

रीतिकाल का आचार्य-कवि अपनी आजीविका के लिए उपयुक्त आश्रय की खोज में रहता था। जब कोई गुण ग्राहक आश्रयदाता मिल जाता तो कवि अपनी

जो पनुभूति रा नो वाणी देने के बजाय आश्रयदाता की रुचि तथा उनकी शृ गारी-म नी वासना वृत्ति री तृप्ति का माम खोना करता था। उसी प्रयत्न में नायिका-द प्रालापत्व चमत्कार प्रदर्शन पाण्डित्य प्रदशन आदि के उपक्रम वह करता ा। कवि के राव्य पर पराश्रयता की छाप स्पष्ट है। लगभग सभी कविया ने पने आश्रयदाताओ की प्रशस्तियाँ तथा उनके नाम पर ग्रथ लिखे। देव का वानी विलास, पद्माकर का जगद्विनोद भूषण का शिवराज भूषण आदि ग्रथ सके प्रमाण हैं।

राजाओ के आश्रय में पलने वाले कवियो ने सस्कृत साहित्य का भी भरपूर ाश्रय लिया। रीति निरूपण नायिका भेद आदि के लिए ये कवि सस्कृत साहित्य े ऋणी हैं। इस काल में कविया का अपना कवित्व तथा आचार्यत्व प्रमाणित करने े लिए कठिन प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा था। ये कवि भाव भाषा, उक्ति अलकार, प्रभाव आदि में अपने समसामयिक कवियो से स्पर्धा करते थे। इह उर्दू, फारसी के कविया से भी प्रतिस्पर्धा करनी होती थी।

(12) जीवन दशन और व्यक्तित्व

रीति कवि साम ती वातावरण में पला था। वह राजसभा में प्रवेश पाने तथा सम्मान प्राप्त करने के लिए लालायित था। अत अपने व्यक्तित्व के बहुत से विषयो की जानकारी सम्पन्न करता था। यद्यपि उसका यह ज्ञान मत ही था। वह स्वय अपनी जानकारी का वर्णन काव्य के माध्यम से देता है—

जानत हौं ज्योतिष, पुरान और वचन को
जोरि जोरि आखर कवित्तन को उच्चरा।
बठि जानौ सभामाझ राजा को रिझाय जानौ,
शस्त्र बाँध खेत माँझ सत्रुन सौं हौं लरौं।

रीति कवियो का जीवन दर्शन स्वस्थ नही था। राजनीतिक पराभव और साम ती वातावरण की अतिशय शृ गारिकता तथा विलास के वातावरण में कवियो का उन्नत दृष्टि मिल ही कस सकती थी ? साम तवाद की शक्ति और अहकार की छाया मे कविया न भी अपने जीवन का ध्येय भौतिकता, अर्थ सग्रह और भोग प्राप्त करना ही बना लिया था। उनमे सामाजिक भावना तथा लोकातीत दृष्टि का सर्वथा अभाव था। इस ऐन्द्रिय काव्य म आत्मा की जिज्ञासा, प्रकृति की कठोरता का भी नितान्त अभाव है। नारी की छाया मे विश्राम करने वाले कवियो ने जीवन की विविध छवियो के दर्शन ही नहीं किए थ।

समाज उनके प्रति केवल एक क्षेत्र म ही कृतज्ञ हो सकता है कि उन्होंने घोर निराशा के युग म रमणीयता और विश्रान्तिदायक रसमयता की वर्षा की। य कवि आत्म केन्द्रित, सकुचित विचार वाले और अलकरण आदि की चमत्कार-प्रधान और प्रदर्शनपूर्ण प्रवृत्तियो म ही उलझे हुए थे।

जीवन की वास्तविकताओ स आमने-सामने खड़े होकर टक्कर लेन की क्षमता उनमे नहीं थी। सामन्तवाद की छाया म एक बँधी बँधाई लीक पर इनका यन्त्रवत

जीवन चलता रहता था। राजनीति, समाज और वयक्तिक क्षेत्र में इनकी प्र[illegible] और उत्साह नि शेष हो चुके थे। ये केवल रीति तथा सामन्तो के दास मात्र थे। राज्याश्रम मे रहकर काव्य रचना से आजीविका चलाना ही इनका उद्यम था। दृष्टिकोण म रूढिबद्धता, यान्त्रिकता, ऐन्द्रियता, अवैयक्तिकता, पराश्रयता, वृत्ति, प्रदर्शन प्रियता आदि तत्त्व थे। फिर भी सकीर्ण सीमा में [illegible] विश्वसनीय दृश्य देने मे ये सफल हुए हैं। इनकी एन्द्रियता के सम्बन्ध डॉ भागीरथ मिश्र का कथन है—"इस धारा के कवि ने जीवन के लिए [illegible] वासना जाग्रत कर दी है, सौन्दर्यानुभूति और सुरुचि की एक सुकुमार प्रदान की है।"

इससे स्पष्ट है कि अवयक्तिक, यान्त्रिक, प्रदशन प्रिय होने पर भी ये कवि मधुर मादक वातावरण को चित्रित करने मे सफल हुए। इनका जीवन [illegible] तथा भौतिक साधनो व लक्ष्यो तक ही सीमित था।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि रीति-काव्य की दो प्रमुख प्रवृत्तिया आचार्यत्व और शृ गारिकता के साथ-साथ अन्य प्रवृत्तियाँ भी विकसित हुई हैं। शृगार प्रधान इस युग मे ऐन्द्रिय रसिकता के अनुकूल वातावरण था। प्रदर्शन-वृत्ति के कारण ही इसमे अलकरण तथा उक्ति-वैचित्र्य का समावेश हुआ है। लगता है कि और भक्ति नीति की बात इन कवियो ने वासना से उकता कर ही की है [illegible] भाव प्रकट करने के लिए नही, अपितु मात्र नतिकता का प्रचार करने के लिए सवया कवित्त और दोहा छन्द में निबद्ध मुक्तक काव्य राज दरबारो की [illegible] बढाने के साथ रस के छीटे भी देता था। इस काव्य का केन्द्र बिन्दु नारी है [illegible] मानवी व्यक्तित्व से रहित करके नायिका भेदो में उपभोक्ता के रूप में [illegible] किया गया है। नारी जीवन के प्रति इन कवियो का दृष्टिकोण सकुचित [illegible] मांसल रहा है।

रीतिमुक्त काव्य की प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सवत् 1700 से 1900 तक के काल को रीतिकाल की अभिधा प्राप्त है। इस काल के नामकरण के मूल में रीति की [illegible] का ही विशेष हाथ रहा है। वस्तुत इस काल मे ऐसे कवि अधिक हुए जिन्होंने अपनी कविता के माध्यम से रीति परिपाटी को अधिक पुष्ट किया। इस काल के अधिकांश कवि ऐसे थे जो शृ गार के दायरे मे अपने आपको घुमाते फिराते रहे [illegible] कला का परम्परायुक्त रूप ही कविता म अपनाते रहे। फिर भी, जब विभाजन और दृष्टि जाती है तो इस समय म हुए कवि तीन धाराओ का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं—(1) रीतिबद्ध काव्य धारा (2) रीतिमुक्त काव्य धारा और (3) रीतिसिद्ध काव्य धारा।

रीतिबद्ध काव्य धारा म देव मतिराम पद्माकर आदि कवियो को रखा जा सकता है। इन कवियो ने रीति की बँधी-बँधाई परिपाटी को अपनाया।

दूसरी काव्यधारा अर्थात रीति-काव्य की रीति मुक्त धारा के अन्तगत स्वच्छंद प्रवृत्ति के कवियो का नाम लिया जा सकता है। इन कवियो मे घनानन्द बोधा, ठाकुर, आलम आदि को रखा जा सकता है। इसी धारा से मिलती जुलती कविता करने वाले एक भक्त कवि और थे जिन्हें हम रसखान के नाम से जानते हैं। यद्यपि कालक्रम की दृष्टि से ये रीतिकाल की उपज नही, परन्तु प्रवृत्ति विशेष की दृष्टि से ये स्वच्छंदमार्गी धारा के अन्तगत आते हैं। इन कवियो ने रीति से अलग हटकर तथा उसकी सकीर्ण गलियो से निकल कर कविता को स्वच्छंद माग की ओर दौडाया। ये बडे प्रेमी कवि थे। कुछ विद्वानो ने इन कवियो को फुटकर खाते मे डाल दिया और इनकी काव्यगत मीमांसा उचित नही समझी है। वास्तविकता यह है कि रीतिबन्धन से मुक्त इन कवियो ने जिस साहित्य का सजन किया वह न तो नगण्य ही है और न किसी प्रकार से उपेक्षा के योग्य ही। यदि यह भी कह दिया जाए कि इन कवियो की कविता ही सच्ची कविता है और इनकी कविता जिम पमाने की है उस पमाने को रीतिबद्ध कवियो मे कोई छू भी नहीं सका तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

वास्तव मे इन कवियो का एक अलग ही वग है और ये जिस माग से आते है उसकी भी अपनी एक परम्परा है। इस परम्परा को प्रशस्त माग पर ले जाने वाला म घनानन्द का नाम शिखर पर प्रतिष्ठित है। इस धारा के अन्य कवियो मे ठाकुर, बोधा और आलम का नाम भी बडे गौरव के साथ लिया जा सकता है। इन सभी कवियो ने स्वच्छंद माग का अनुसरण किया और उस पर भी चल कर जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है वह बहुत से कवियो को नही मिल सकी।

तीसरी काव्यधारा के अन्तगत अकेले बिहारी आते हैं। उन्होंने रीतियो को जानबूझ कर स्वीकार नहीं किया है। वरन् समय के प्रभाव के कारण रीतियाँ उनके काव्यो म स्वत ही आकर सिद्ध हो गयी हैं। इसी दृष्टि से उनको रीतिबद्ध कवि का नाम मिला है।

इस काल मे प्रमुखत शृगार की प्रधानता रही है और प्राय सभी कवियो न शृगार पर कुछ न कुछ लिखा ही है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य कर सम्भवत आचाय विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसका शृगारकाल का नाम दिया है। उनका मत है कि रीतिकाल मे लिखे जाने वाले रीति से मुक्त तथा रीति से प्रभावित समस्त ग्रन्थो म व्यापक प्रवृत्ति के रूप मे यदि किसी को लिया जा सकता है तो शृगार को। शायद ही कोई ऐसा कवि हो जिसने शृगार पर कुछ भी न लिखा हो। इस प्रकार यदि इस काल को शृगारकाल कहा जाय तो रीतिकाल कह देने से जो कठिनाई उत्पन्न होती है उसका समाधान सुगमता से हो जाता है। इस विवेचन से स्पष्ट ही यह निणय लेने मे कोई कठिनाई प्रतीत नही होती कि इस काल मे स्वच्छंद प्रेमधारा के अग्रदूत घनानन्द थे जो प्रेमी जीव थ और मस्ती म आकर कविता लिखा करते थे। अत घनानन्द को उनकी स्वच्छंद प्रवृत्ति, मस्ती, प्रेम की उदात्तता और भाव क प्रति वफादारी के कारण रीतिमुक्त धारा के

अन्तर्गत ही रखना चाहिए। निम्नलिखित शीर्षकों से बताई गयी सभी प्रवृत्तियाँ को हम घनानन्द की कविता मे पाते हैं। स्वच्छन्द काव्यधारा की ये प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं—

स्वच्छन्द का अर्थ है बाह्य बन्धनों को छोडकर या तोडकर अपने स्वच्छन्द या स्वतन्त्र मार्ग पर अग्रसर होना। रीतिमुक्त धारा के कवि इसलिए कहा जा सकता है कि ये कवि मनोजगत के प्रेम के प्रवाह में काव्य रचना करते थे। यही कारण है कि इन कविताओं मे प्रेम का जो रूप है वह जीवनगत बन्धनों को तोड़कर नए प्रगतिशील मार्ग पर अग्रसर प्रेमी का प्रेम है। प्रगतिशील का अर्थ केवल इतना ही है कि पुरानी बँधी-बँधाई सीमाओं से निकल कर इन कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। रीतिबद्ध काव्यधारा से रीतिमुक्त धारा को पृथक करने इसी दृष्टिकोण से देखा जा सकता है कि रीतिबद्ध कवियो ने बाह्य बन्धनों को जिस तत्परता से अपनाया उसी तत्परता से इन कवियो ने इन बाहरी बन्धनो को छोड दिया। इसी कारण इन कवियो की कविता मे प्रेमी की शुद्धता और वियोग की सच्ची अनुभूति मिलती है।

रीतिकाल के अन्य कवियो की तरह रीतिमुक्त कवियों मे विरह में हाहाकार करती और इधर-उधर झूमती, जिह्वा पर पडे फफोला वाली, गुलाबजल से हाथों की आग को शान्त करने वाली नायिकाओं के चित्र इनमे नही मिलते हैं। इनमें तो 'मौन मधि पुकार' है। उसमे गम्भीरता है जिसे अनुभूत कर पाठक भी उसमें सागर मे गोते लगाने लगता है और उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि वास्तव में ये कुछ कवि ऐसे है जो सच्चे विरही हैं और सच्ची पीडा से रो रहे हैं। स्वच्छन्द काव्यधारा या रीतिमुक्त काव्यधारा की विशेषताओं को निम्नलिखित शीर्षकों से समझा जा सकता है—

प्रेम की स्वतन्त्रता—इस धारा की सबसे बडी प्रमुख विशेषता प्रेम की स्वतन्त्रता थी। ये कवि प्रेमी जीव थे तथा सच्ची उमंग से कविता लिखते थे। अन्य कवियो की भाँति इनका प्रेम अश्लीलता और वासना की जंजीरों से जकडा हुआ नहीं था। वे शुद्ध प्रेमी थे। प्रेमिल भावनाओं की अभिव्यक्ति ही उनकी कविता का विषय बनी है। ये प्रेम के उदात्त पक्ष को प्रस्तुत करने मे लगे रहे है। उनके काव्य में भी प्रेम का यह स्वरूप शायद ही आ पाता यदि ये मनोवेगों के प्रवाह में पडकर कविता लिखते। घनानन्द के विषय में तो इनकी पंक्तियाँ ही सच्ची गवाह हैं—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत।
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत॥

प्रेम के मार्ग में इस धारा के कवियों की दृष्टि प्रेम भाव की अनुभूति पर अधिक टिकी रही है। परिणामत इनकी दृष्टि में प्रेम पहचानने की गहरी पैठ आ गयी। इनका प्रेम इसी पैठ को पाकर राजमार्ग पर शुद्ध सात्विक भाव से चल लगा। "इन कवियों ने प्रेम को शारीरिक भूख की तृप्ति का साधन नहीं माना वरन् इससे आगे जाकर वह अलौकिकता की ओर भी झुका है। कहा जाता है घनानन्द की सुजान लौकिक होकर भी अलौकिक है। मानस की रमणीयता

सचाई यही है कि रीतिमुक्त कवियो की यह धारा भाव प्रेरित हो है बुद्धि बोधित नही। इसी कारण इसमे अनुभूति की गम्भीरता दिखलाई देती है जो कविता का आन्तरिक गुण है।

आत्म-विवेचन—रीतिमार्ग का अनुसरण करने वाले कवि प्रेम को अपना न बना सके। उन्होंने बुद्धि से सोच-विचार कर प्रेम को सखी, नायिका, दूती आदि के हृदय मे प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। अत इसमे पूरी तरह कृत्रिमता आ गयी है जबकि रीति कवियो ने प्रेम किया, स्वय उसका अनुभव किया और विरह को सहा तब वही उमग के रूप मे कविता उनकी वाणी का आधार पा फूट पडी है। अत इन कवियो का प्रेम जीवनगत है क्योकि वे स्वय ही प्रेमी हैं और स्वय ही उसको वाणी देने वाले। प्रेम की यह आत्मानुभूति की प्रक्रिया हमे उर्दू के शायरो म मिलती है।

प्रेम का पक्ष—इन कवियो ने जिस प्रेम के पक्ष को स्वीकार किया है वह प्रेम का लौकिक पक्ष था। इन कवियो मे रसखान, बोधा, ठाकुर आदि प्रेम के अनुभूति पक्ष के गायक हैं। बोधा की ये पक्तियाँ बडी मार्मिक एव प्रभावकारी हैं—

> जबते बिछुरे कवि बोधा हितू,
> चित नैक हमारो थिरातो नहीं।
> हम कौन सो आपनी पीर कहैं,
> दिलदार तो कोऊ दिखातो नही॥

ठाकुर और बोधा की कविताओ मे जो लोकपक्ष है वह बडा सघन है। व्यथा से पीडित प्रेमी स्वय भी प्रेम मार्ग से विरत हो सकता है और बाधाएं भी बलात् उसे हटा सकती हैं। सच्चा प्रेमी इन बाधाओ से नही डरता है। वह अपने जीवन की साधना हर तरह से पूर्ण करता है। बोधा और ठाकुर दोनो ने ही प्रेम के निर्वाह पक्ष पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि ये ये पक्तियाँ लिख गए हैं—

> यह प्रेम का पथ कराल महा,
> तलवार की धार प धावना है।

सयोग और वियोग—इन कवियो ने सयोग तो कभी समझा ही नही क्या होता है। प्रेम की पूर्णता प्रतिष्ठित करने के लिए इन्होने विरहाग्नि मे तपा-तपा कर उसका कचनवर्णी रूप दिखाया है। इनको यदि कभी सयोग हुआ भी तो उसम भी इन्हे वियोग का आभास हुआ।

इनका विरह रीतिमार्गी कवियो से पृथक् है। रीतिबद्ध कविता म विरह के वर्णन शास्त्रानुमोदित हैं, आह से सयुक्त है। वहाँ पर कभी तो माघ मास म लू चलती हैं और कभी जाडे की ऋतु मे विरह विदग्धा नायिका नायक को दर्शन के लिए गीले कपडे पहन कर आती है। रीतिमुक्त कवियो ने इनके विपरीत आत्मानुभूति का काव्य का विषय बनाया है। व्यक्तिगत जीवन की निराशा और पीडा के काव्य के

उदात्तीकरण या उन्नयन के परिणामस्वरूप ही इनकी कविताओं में प्रभावोत्पादकता और मार्मिकता अधिक है—

'रन दिना छुटिवा वर प्रान भए दुखियाँ अखिया भरवा सी ।

इसके साथ ही विरह की वेदना अनुभवगम्य अधिक है । अभिव्यक्ति न वश की बात नहीं है कि वह इस कह सके और यदि कही कहने का प्रयास कर भी ले तो उस वास्तविक अनुभूति और अभिव्यक्ति में दिन और रात का अन्तर पड़ जाता है—

'जान घई दिन रीति, बखान ते जाय पर दिन-राति को अन्तर ।

संयोग में वियोग का अनुभव—

'मिलन में मार और खरव विछोह की ।

कहना यह है कि इन रीतिमुक्त कवियों की विरह वेदना को समझने के लिए हृदय की आँख चाहिए—

समुझ कविता घन आनन्द की हिय आँखिन नेह की पीरतकी ।'

सौन्दर्य चेतना और सौन्दर्य वर्णन—ये कवि सौन्दर्य के प्रति भी बड़े जागरूक कलाकार की भांति सचेत है । इनकी दृष्टि अंग प्रत्यंग की ओर इतनी नहीं गयी है जितनी कि आन्तरिक सौन्दर्य की ओर । इन कवियों ने मन के सौन्दर्य की बड़ी नाजवाब तस्वीर खींची है । साथ ही स्थूल सौन्दर्य की अपेक्षा सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण कुशलता से किया है । घनानन्द के विषय में तो कहा जाता है कि उनकी कविता को वही समझ सकता है जो 'सुन्दरतादनि' के भेद को जानता है । लज्जा भरी चितवन सरस वार्तालाप और स्मितयुक्त भंगिमा का यह मोहक चित्र देखिए—

लाजनि लपटी चितवनि भेद भाव भरी,
लसति ललित लाल चल तिरछानि में ।
छवि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसकानि में ।
आनन्द की निधि जगमगाति छबीली बाल,
अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरि जानि मैं

ऋतु वर्णन—ऋतु वर्णन की परिपाटी अत्यन्त प्राचीन है । रीतिकाल के रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनों ही कवियों को दो ऋतुएँ बड़ी प्रिय रही है—पावस और वसन्त । इनके चित्रण में भी रीतिमुक्त कवियों को विशेष सफलता हासिल है । घनानन्द के निम्न पद में आनन्द कन्द की व्याकुलता और विरहानुभूति तीव्रता लिए हुए बनती है—

कारी कूर कोकिला ! कहाँ को वैर काढ़त री,
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि ले
पड़ परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यों ही,
चातक घातक त्यों ही तू कान फोरि ले ।।

सचाई यही है कि रीतिमुक्त कवियों की यह धारा भाव प्रेरित ही है बुद्धि वेधित नहीं। इसी कारण इसमें अनुभूति की गम्भीरता दिखलाई देती है जो कविता का आन्तरिक गुण है।

प्रेम विवेचन—रीतिमार्ग का अनुसरण करने वाले कवि प्रेम को अपना न बना सके। उन्होंने बुद्धि से सोच विचार कर प्रेम को सखी, नायिका, दूती आदि के हृदय में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। अतः इसमें पूरी तरह कृत्रिमता रह गयी है जबकि रीति कवियों ने प्रेम किया, स्वयं उसका अनुभव किया और विरह को सहा तब कहीं उमंग के रूप में कविता उनकी वाणी का आधार पा फूट पड़ी है। अतः इन कवियों का प्रेम जीवनगत है क्योंकि वे स्वयं ही प्रेमी हैं और स्वयं ही उसको वाणी देने वाले। प्रेम की यह आत्मानुभूति की प्रक्रिया हमें उर्दू के शायरों में मिलती है।

प्रेम का पक्ष—इन कवियों ने जिस प्रेम के पक्ष को स्वीकार किया है वह प्रेम का लौकिक पक्ष था। इन कवियों में रसखान, बोधा, ठाकुर आदि प्रेम के अनुभूति पक्ष के गायक हैं। बोधा की ये पंक्तियाँ बड़ी मार्मिक एवं प्रभावकारी हैं—

> जबतें बिछुरे कवि बोधा हितू
> जित नैंक हमारो थिरातो नहीं।
> हम कौन सों आपनी पीर कहैं
> दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं॥

ठाकुर और बोधा की कविताओं में जो लोकपक्ष है वह बड़ा सघन है। कष्टों से पीड़ित प्रेमी स्वयं भी प्रेम मार्ग से विरत हो सकता है और बाधाएँ भी बलात् उसे हटा सकती हैं। सच्चा प्रेमी इन बाधाओं से नहीं डरता है। वह अपने जीवन की साधना हर तरह से पूर्ण करता है। बोधा और ठाकुर दोनों ने ही प्रेम के निर्वाह पक्ष पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि वे ये पंक्तियाँ लिख गए हैं—

> यह प्रेम को पंथ कराल महा,
> तलवार की धार प धावनो है।

संयोग और वियोग—इन कवियों ने संयोग तो कभी समझा ही नहीं, क्या होता है। प्रेम की पूर्णता प्रतिष्ठित करने के लिए इन्होंने विरहाग्नि में तप-तप कर उसका कंचनवर्णी रूप दिखाया है। इनको यदि कभी संयोग हुआ भी तो उसमें भी इन्हें वियोग का आभास हुआ।

इनका विरह रीतिमार्गी कवियों से पृथक है। रीतिबद्ध कविता में विरह के वर्णन शास्त्रानुमोदित हैं, ऊहा से संयुक्त है। वहाँ पर कभी तो माघ मास में लूएँ चलती हैं और कभी जाड़े की ऋतु में विरह विदग्धा नायिका नायक को देखने के लिए गीले कपड़े पहन कर आती है। रीतिमुक्त कवियों ने इसके विपरीत आत्मानुभूति का काव्य का विषय बनाया है। व्यक्तिगत जीवन की निराशा और पीड़ा के काव्य के

उदात्तीकरण या उन्नयन के परिणामस्वरूप ही इनकी कविताओं में प्रभावोत्पादकता और मार्मिकता अधिक है—

'रन दिना कुटिवा वर प्रान भरु दुगिया अगिया भरवा मी ।

इसके साथ ही विरह की वेदना अनुभवगम्य अधिक है । घनानन्द जी यह बात नहीं है कि वह इस बह सके और यदि कहीं कहने का प्रयास कर भी न ना उस वास्तविक अनुभूति और अभिव्यक्ति में दिन और रात का अन्तर पड़ जाता है—

जान वई दिन रीति, वखान तें आय परै दिन राति को अन्तर ।

संयोग में वियोग का अनुभव—

'मिलन में मार और सरव विछोह की ।"

कहना यह है कि इन रीतिमुक्त कवियों की विरह वेदना को समझने के लिए हृदय की आँख चाहिए—

"समुझै कविता घन आनन्द की हिय आँखिन नेह की पीरतकी ।'

सौन्दर्य चेतना और सौन्दर्य वर्णन—ये कवि सौन्दर्य के प्रति भी बड़े जागरूक कलाकार की भाँति सचेत हैं । इनकी दृष्टि अंग प्रत्यंग की ओर इतनी नहीं गयी है जितनी कि आन्तरिक सौन्दर्य की ओर । इन कवियों ने मन के सौन्दर्य की बड़ी नाजवाब तस्वीर खींची है । साथ ही स्थूल सौन्दर्य की अपेक्षा सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण कुशलता से किया है । घनानन्द के विषय में तो कहा जाता है कि उनकी कविता को वही समझ सकता है जो 'सुन्दरतादनि' के भेद को जानता है । *लज्जा-भरी चितवन सरस वार्तालाप और स्मितयुक्त भंगिमा का यह मोहक चित्र देखिए—*

> लाजनि लपटी चितवनि भेद भाव भरी,
> लसति ललित लाल चल तिरछानि में ।
> छवि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल,
> रस निचुरत मीठी मृदु मुसकानि में ।
> आनन्द की निधि जगमगाति छबीली बाल,
> अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरि जानि में ।

ऋतु वर्णन—ऋतु वर्णन की परिपाटी अत्यन्त प्राचीन है । रीतिकाल के रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनों ही कवियों को दो ऋतुएँ बड़ी प्रिय रही हैं—पावस और वसन्त । इनके चित्रण में भी रीतिमुक्त कवियों को विशेष सफलता हासिल है । घनानन्द के निम्न पद में अन्तर्व्यथा की व्याकुलता और विरहानुभूति तीव्रता स्पष्ट ही बनती है—

> कारी कूर कोकिला । कहाँ को बैर काढ़ति री,
> कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै ।
> पैंड़ परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यों ही
> चातक घातक त्यों ही तू कान फोरि लै ।।

प्रबन्ध निपुणता—प्रबन्ध निपुणता इन कवियों में प्रायः कम मिलती है। हाँ आलम और बोधा ने प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है।

लोक जीवन—रीतिकालीन सभी कवि लोक से विमुख होकर चले थे। उन्हें प्रेम की मधुर बतियों और गलियों में घूमने से ही समय न था जिससे वे लोक या समाज के जीवन को अपनाते। हाँ स्वच्छन्दमार्गी कवियों ने लोक-जीवन के मंगल पक्ष का ग्रहण किया है। प्रसिद्ध पर्व और त्यौहारों पर रीतिमुक्त शैली में रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

भाव भक्ति—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि रीतिबद्ध कवियों का शुद्ध भक्त न मानकर प्रेमोमंग कवि मानना उचित है। उनकी यह मान्यता है कि कृष्ण भक्ति की ओर उनके उन्मुख होने का कारण यह था कि वैयक्तिक जीवन में इन्हें प्रेम क्षेत्र से निराशा हुई थी और उसी की प्रतिक्रियास्वरूप वे भगवान की भक्ति में प्रवृत्त हुए। उनकी रचनाएँ भक्त कवियों की सी नहीं हैं। घनानन्द भक्त समुदाय में दीक्षित होकर भी सुजान का नाम नहीं भूले। श्रीकृष्ण को सुजान, जान, जानराय आदि सम्बोधनों से अभिहित किया गया है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हृदय में टीस सा अन्त तक बनी रही।

शिल्प सौन्दर्य—इस विवेचन के उपरान्त यह तो बड़ी आसानी से कहा जा सकता है कि इन कवियों की दृष्टि कला की ओर इतनी नहीं थी जितनी कि भाव की ओर। ठाकुर का सवैया इस सम्बन्ध में सीधि तीनो सीन मग आदि प्रसिद्ध ही है। घनानन्द भी कला को उतना महत्त्व नहीं देते थे जितना कि अन्य रीतिबद्ध कवियों ने दिया है। 'लोग है लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत' घनानन्द की यह उक्ति सभी स्वच्छन्द धारा के कवियों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध कही जा सकती है।

इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनका कलापक्ष कमजोर है यह तो सचमुच ही बड़ा परिमार्जित व्यवस्थित और समृद्ध है। कारण भाषा भावानुमोदित है और भाव भाषा से सहचर है। इनकी कविताओं में लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा को समृद्ध बनाया गया है। भावों की गहराई और प्रेम भाव की एकनिष्ठता के परिचय के लिए इससे सुन्दर और क्या भाषा हो सकती है—

"ऊधौ वे अँखियाँ जरि जाउ जो साँवरो छाँडि तकै तन गोरो।"

घनानन्द ने तो लाक्षणिक और ध्वन्यात्मक शब्दावली के प्रयोग से यह सिद्ध कर दिया और आगे के कवियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। आचार्य शुक्लजी का मत है कि "लक्षणा और व्यंजना का मैदान इतना विस्तृत और खुला पड़ा था फिर भी उसमें दौड़ लगाने का साहस सबसे पहले घनानन्द ने ही किया। भाषा पर इनका अधिकार था। अलंकारों में मानवीकरण सन्देह, ध्वन्यात्मक विरोधाभास के सुन्दर प्रमाण घनानन्द में हमें मिलते हैं।' उक्तिवैचित्र्य और अर्थ की गरिमा से युक्त पंक्तियों को देखिए और तब निश्चित कीजिए कि ये पंक्तियाँ किस से कम हैं—

(1) उजगनि वमी ह हमारी मनियन देखा
सुवम मुदेम जहाँ रावर वमत हा।

(2) मठ की सदाई छावया त्या हित की वचाइ पाया।

निष्कर्षत कहा जा मकता है कि इस धारा का अपना अलग महत्व है। यह समूचे रीतिकाल स पृथक अपना अस्तित्व रखती ह। प्रेमानुभूति की तीव्रता मादय का आन्तरिक विश्लेपण भावनाओ की विभेदपूर्ण अभिव्यजना, वियोग की अन्तम थम वाली उक्तियाँ और भापा का शुद्धतम और भावानुमादित प्रयोग इस धारा की प्रमुख विशेपताएँ है। डा त्रिभुवन सिंह न लिखा ह, स्वच्छ द धारा के कवि काव्य के बहिरग पक्ष पर बल न देकर शब्द चमत्कार एव आलकारिक आँकड जुटाने के फेर मे न पड कर सयाग की रगीनियो म मोये बिना अ तरग पक्ष पर बल देत हुए, काव्य म अथ की महत्ता को स्वीकार कर, वियोग की वेदना का मूर्तिकरण करते रहे। इनके काव्य म सवत्र नादतत्त्व की गूज देखन को मिलती। अपनी दृष्टि की व्यापकता और सूक्ष्मता क कारण अश्लील मुद्राओ चेष्टाओ एव स्थूल वाह्य सा दय का शिकार हान स ये कविगण बच गए हैं।'

रीतिकाल के रीतिमुक्त कवि

रीति साहित्य की एक उल्लेख्य धारा रीतिमुक्त या स्वच्छ द कवियो की ह। इस धारा के कवियो न रीतिबद्ध काव्यो की रचना नही की, अर्थात् इन्होन काव्यांगो पर लक्षण ग्रन्थो का प्रणयन नही किया। काव्य रचना करत समय इन्होन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रीति ग्र थो का आधार भी ग्रहण नही किया। रीतिकालीन साहित्य की उपरोक्त दो धाराओ के समान इस धारा के कवियो न शृ गार प्रधान रचनाएँ की। परन्तु रीतिशास्त्र की निर्धारित मान्यताओ स मुक्त या स्वच्छन्द होकर इन्होन काव्य का प्रणयन किया। रीतिशास्त्र की सीमा स मुक्त या स्वच्छन्द रहन के कारण ही इस धारा क कवियो को रीतिमुक्त या स्वच्छन्द कवि कहा गया। इसके अन्तगत आलम घनानन्द, बोधा ठाकुर आदि कवि आत ह।

रसखान—अपनी रचना 'प्रेम वाटिका म रसखान ने यह सकत दिया है कि वे दिल्ली निवासी थे। दिल्ली म शासक वग के प्रति विद्रोह हान के कारण अशान्ति फली और रसखान दिल्ली से आकर ब्रजभूमि म बस गए। दो सौ बावन वष्णवन की वार्ता' म सकेत मिलता ह कि रसखान विट्ठलनाथ के शिष्य थ किन्तु रसखान के आविर्भाव काल का स्पष्ट परिचय नही मिलता। शिवसिंह सरोज म इ ह सयद इब्राहीम मानी वाला' कहा गया ह। इस म दस म यह स्पष्ट हाता है कि य पठान वश के थ। यह भी विदित हाता है कि इनका कविता काल सन् 1585 या सवत् 1642 से आरम्भ हाता ह। प्रम वाटिका की रचना इन्हान सवत् 1671 म की थी। हिन्दी क मध्यकालीन भक्ति काव्य धारा म रसखान का स्थान निर्धारित नही हो सका है। सूरदास की भाँति इनकी भावना भक्तिमूलक नही है। वास्तविकता यह है कि रसखान रीति काव्य के अधिक निकट जान पड़त ह। इस विषय पर गीति का य क सन्दभ म विवेचना की गई है। 'प्रम वाटिका की

रचना दोहे मे है, सुजान रसखान' कवित्त म है। इनकी रचना का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> मारक रोकि रयो रसखानि के कान परि झमकार नई है ।
> लोक चिते चित दे चिए नग ते मनमाहि निहाल भई ॥
> ढोडी उठाइ चिते सुकाई मिलाइ मे ान लगाई लई है ।
> जो बिछिया बजनी सजनी हम मान लई पुनि बेचि दई है ॥

आलम—य जाति के ब्राह्मण थे परन्तु शेख नाम की रगरेजिन के प्रेमपाश मे फँसकर मुसलमान हो गए थे और उससे विवाह भी कर लिया। इनके एक पुत्र भी था जिसका नाम जहान था। इनका कविता काल सवत् 740 वि मे 1760 तक माना जाता है। इनकी कविताओ का सग्रह 'आलम-केलि' के नाम से निकला है। इनकी स्त्री शेख बडी चतुर और वाक्पटु थी। उससे जब शाहजादा मुअज्जम ने पूछा कि आलम(दुनिया)की स्त्री आप ही हैं तब उसने उत्तर दिया कि 'जहाँपनाह। जहान की माँ मैं ही हूँ।" इनकी कविता किसी परम्परा के अनुकरण न होने के कारण सच्चे हृदय की अनुभूति का परिचय देती है। आलम का यह छन्द बहुत प्रसिद्ध है—

> जा थल कीन बिहार अनेकन, ता थल कांकरी बठि चुन्यो करे ।
> जा रसना सो करी बहू बातन, ता रसना सो चरित्र गुन्यो करे ॥
> आलम जान से कुञ्जनो, करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो कर ।
> नैनन मे जे सदा रहते, तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करें ॥

बोधा—बोधा नाम के दो कवि हिन्दी साहित्य के मध्य युग मे हुए हैं, एक रीतिबद्ध और दूसरा रीतिमुक्त। उनके अभेद होने की बडी गम्भीर चर्चायें चलती रही। परन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि वास्तव म बोधा नामक दो ही कवि हुए है। एक बोधा 'उमयानी (फिरोजाबाद आगरा) निवासी थे, जो 1636 मे वर्तमान थे। दूसरे बोधा 'सरयूपारी ब्राह्मण' थे। वास्तविक नाम बुद्धिसेन, राजापुर (बाँदा) निवासी, जन्म स 1804, रचना काल म 1830–60। फिरोजाबादी बोधा ने 'पञ्ची जरी' नाम की रचना म अपना जन्म स 1636 आषाढ शुक्ला त्रयोदशी शनिवार कुभेश माना है, परन्तु ज्योतिष गणना के अनुसार ऐसा पचाँग केवल स 1836 को ही जुडता है। विद्वानो को सन्देह है कहीं 16 के बदले 17 या 18 न हो। बाँदा निवासी बोधा का जन्म सवत् वास्तव म उनका उपस्थिति काल ही है, क्योंकि महाराज सबना का सम्बन्ध केवल उपस्थिति काल से ही है। अन सगाज म जो स 1804 बोधा कवि का जन्म काल लिया गया है वह ठीक बैठ जाना है। बोधा महाराज खेतसिंह के आश्रित भी थे। इसकी उन्होंने विरह वारीश म पर्याप्त प्रशसा की है। उनके जीवन काल म भी बोधा का स 1804 म होना भी उचित बैठता है। इनके काव्य काल का सवत् 1830 से 1860 तक नहीं खेंचा जा सकता। परन्तु डा पीताम्बर बडथ्वाल के अनुसार निस्सन्देह बोधा दो न होकर एक ही व्यक्ति हो सकता है, जो दो स्थानो म रहा होगा। यह सम्भव है कि सुजान

राजवेश्या के प्रेम मे पड जाने के कारण पन्ना बोधा को जो निकाला हुआ तो उसके पश्चात् वह यहाँ से फिरोजाबाद मे जाकर बसा होगा। बोधा के वशज अभी भी फिरोजाबाद मे रहते हैं और उनकी सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। उसका वह बाग भी, जिसका 'बागवरान' मे उल्लेख किया है उन्ही के पास है।

इस प्रसग मे यह ध्यानीय है कि बाँदा निवासी बोधा सरयूपारी ब्राह्मण थे और फिरोजाबादी बोधा सनाढय ब्राह्मण थे। अत दोनो का एक होना तकसम्मत नही। डॉ बडथवाल की इस सभावना मे भी कोई बल नही कि बोधा निष्कासित होकर फिरोजाबाद म बस गय हागे। वस्तुत उनके निष्कासन की अवधि बहुत थोडी थी। ऐसी विक्षिप्त मनोदशा और थोडे समय म किसी दूसरे स्थान पर सम्पत्ति बनाकर जम रहना, बोधा की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के अनुकूल नही था और फिर बोधा दण्डावधि समाप्त होने पर पुन पन्ना चले गए थे। अत डा बड्थवाल के उपरोक्त तक सशक्त नही हैं। रायबहादुर हीरालाल का विचार है कि बोधा मूलत फिरोजाबादी थे, परन्तु पन्ना के महाराज क्षेत्रसिंह के दरबार मे ही प्राय रहत थे। इनका रचनाकाल 18वी शती का मध्य काल था। यह धारणा भी समीचीन नही है क्योकि दोना बोधा भिन्न भिन्न गात्र से सम्बन्ध रखते हैं। यदि उनका गोत्र एक ही होता, तब उनके एक होने की सम्भावनायें अधिक सशक्त होती। अत नागरी प्रचारिणी की त्रैवार्षिक खोज रिपोट मे यह स्वीकार किया गया कि फिरोजाबाद और पन्ना के बोधा पृथक् पृथक व्यक्ति थे।

आचाय विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस निणय को स्थापित करते हुए लिखा है कि "इस प्रकार यह निश्चित है कि एक बोधा रीतिबद्ध रचना करने वाले थे, वे फिरोजाबाद (आगरा) के थे और महासिंह के वशज आवासिंह के आश्रित थे। दूसरे बोधा रीतिमुक्त रचनाकार थे, ये पन्ना (बुन्देलखण्ड) के थे और खेतसिंह के आश्रित थे।' उपयु क्त विश्लेषण से निष्कष रूप मे यह माना जा सकता है कि—

(1) बोधा नाम के दो भिन्न कवि रीतिकाल मे हुए।

(2) एक बोधा फिरोजाबाद के और दूसरे बाँदा के थे।

(3) फिरोजाबाद के बोधा रीतिबद्ध कवि थे और महाराजा आखासिंह के आश्रित थे।

(4) बादा के बोधा रीतिमुक्त कवि थे और वे पन्ना नरेश महाराजा खेतसिंह के आश्रित थे।

(5) फिरोजाबादी बोधा का जन्म स 1636 या 1836 मे हुआ था।

(6) बाँदा वाले बोधा का कविता काल स 1804 के आसपास का है।

रीतिकालीन स्वच्छन्द काव्य धारा मे बादा वाले बोधा को ही स्थान दिया गया है जिनकी रचनायें इस प्रकार हैं—(1) इश्कनामा अथवा विरही सुभान दम्पत्ति विलास, (2) मधवानल कम कदला अथवा विरह वारीश। बोधा के अभिव्यजना शिल्प का विश्लेषण एव मूल्यांकन इन दोनो रचनाओं के आधार पर ही किया गया है।

पन्ना दरबार की सुजान नामक वेश्या के विरह में इनका 'विरह वारीश' लिखा गया है। इनका प्रेम काव्य रीतिबद्ध न था। इसमें प्रेम का स्वच्छन्द और निजी उल्लास दिखाई पड़ता है। उदाहरण देखिए—

अति खीन मृनाल के तारहु तें तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेह हूँ ते सकेत महा तहाँ परतीत को टाँडो लदावनो है॥
कविबोधा अनी घनी नेजहु तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा, तरवारि की धार पै धावनो है॥

बोधा की रचनाओं में अनुभूति सम्बन्धी कोई विशेष सूत्र नहीं मिलता है। तब उपलब्ध सूत्र यह है— 'जिन बोलो बाबा नहीं तो किन पाव बाज'। अर्थात् कवि बोधा काव्यानन्द के लिए प्रत्यक्ष और शुद्ध अनुभूति को ही उपयुक्त मानते हैं।

ठाकुर—ठाकुर रीति स्वच्छन्द कवियों में घनानन्द के बाद सर्वाधिक महत्त्व के कवि माने जाते हैं। ये अपनी सरलता और मस्ती के कारण प्रसिद्ध हैं। इनकी जीवनी उलझी हुई है। इस उलझन का एक कारण यह भी है कि ठाकुर नाम के तीन कवि हुए हैं—दो असनी के और तीसरे बुन्देलखण्ड के। मिश्र-बन्धुओं ने तो अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' में ठाकुर नाम के सात कवियों का उल्लेख किया है। आचार्य शुक्ल ने इस नाम के केवल तीन कवियों का ही होना माना है। ठाकुर से सम्बन्धित इस समस्या को विश्वम्भर 'मानव' ने अपनी पुस्तक में सुलझाते हुए लिखा है कि पहले दो ठाकुर असनी के निवासी थे और ब्रह्मभट्ट थे, किन्तु अपनी कविता के लिए प्रसिद्ध जो ठाकुर थे, वे बुन्देलखण्ड के रहने वाले थे और कायस्थ थे। इन ठाकुर का जन्म सं० 1823 में हुआ था। इनके पिता का नाम गुलाबराय था जो जैतपुर के निवासी थे। गुलाबराय की ससुराल ओरछा थी और वहीं ठाकुर कवि का जन्म हुआ था। ठाकुर कवि का पूरा नाम ठाकुरदास था। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ये जैतपुर नरेश के दरबार में जा रहे। वहाँ इनका बड़ा नाम हुआ। कभी कभी इनकी पद्माकर से अच्छी नोंक झोंक हो जाया करती थी। इनका परलोकवास सं० 1880 के लगभग हुआ था। ये बड़े स्वतन्त्र प्रकृति के और देश-प्रेमी थे। इनकी कवितायें 'ठाकुर ठसक' में सकलित हैं। ठाकुर ने जो कवित्त-सवैये लिखे हैं उनमें इन्होंने रीति के बन्धनों की चिन्ता नहीं की है। अन्य रीतिकालीन कवियों के समान ये कविता के कला पक्ष के बनाव सँवार से उदासीन रहे हैं। उन्होंने तो स्वीकार भी किया है—

ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राज सभा में बड़प्पन पावै।
पण्डित लोग प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥

इनकी कविता बड़ी सरल और स्वाभाविक होती थी। इन्होंने अपनी कविता में लोकोक्तियों का बड़ा अच्छा प्रयोग किया है। 'अब रहै न रहै यह समय बहती नदी पाँव पखारि ले री।' इनके सवैये बड़े लोकप्रिय हैं। इन्होंने जनता की रुचि के अनुकूल बसन्त, फाग आदि विषयों पर काफी लिखा है। इनके काव्य का एक उदाहरण देखिए—

> सपने हौं फुलवाई गई हरि संग भरी कठन सेली।
> हौं सकुची कोऊ सुन्दरी देख तें जिन बाँहि सो वोह पछेली ।।
> ठाकुर भोर भये गये नींद के देखहूँ तो घरमाज अकेली।
> आँख खुली तब पास न साँवरो बाग न बावरी वृक्ष न बेलो ।।

ठाकुर' का विश्वास था कि कथ्य का अनुभूत होना परमावश्यक है। भले ही वह प्रणय की आँच मे तपा हो किंवा अलौकिक प्रेम की दिव्य फुहार मे सिंचा हो। इसके साथ ही ठाकुर को कथ्य का वदग्ध्यपूर्ण होना भी वाँछित था। वे अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा सरल सुगघटित ऋजु और अवक्र नियोजन ही उचित मानते हैं। शिल्प का बेडौल असतुलित और क्रमहीन रूप उन्हे प्रिय नहीं था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके सम्बन्ध म लिखा है कि ठाकुर बहुत ही सच्ची उमग के कवि थे। इनम कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उडान और न अनुभूति के विरुद्ध भावो का उत्कर्ष। भावो को यह कवि स्वाभाविक भाषा म उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा मे भावो को ज्यो का त्यो सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृगारी कविता प्राय स्त्री पात्रो के ही मुख की वाणी होती है, अत स्थान स्थान पर लोकोक्तियो का जो सुन्दर विधान इस कवि ने किया है, इससे उक्तियो मे और भी स्वाभाविकता आ गई है।

द्विजदेव—अयोध्या नरेश द्विजदेव ब्रजभाषा के पुलकित कवि हो चुके है। इनका पूरा नाम महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' था। इनका जन्म स 1877 और निधन स 1928 म हुआ था। शृगार लतिका और शृगार बत्तीसी म इनकी कविताएँ सकलित हैं। इनकी कवित्त मे ब्रजभाषा की प्राञ्जलता और मिठास एक साथ देखने को मिलती है। ये राधा कृष्ण के भक्त थे, अत इनकी कविताओ में राधा कृष्ण की भक्ति व्यक्त हुई है, किन्तु उसम शृगार का रग भी गहरा है। उदाहरणार्थ देखिए—

> आज सुभायन ही गयी बाग, बिलोकिन प्रसून की पाँति रही प्रगति।
> ताहि समय तहँ आए गोपाल, तिन्हे लखि औरों गयो हियरो ठगि ।।
> पै 'द्विजदेव' न जानि परयौ धौं, कहा तेहि काल परे अँसुवा जगि।
> तू जो कही सखि! लोनो सरूप सो, मो अँखियान को लोनी गई लगि ।।

वस्तुत द्विजदेव की स्वच्छन्द दृष्टि रीतिबद्धता से अनुशासित है और उनकी रीतिबद्धता स्वच्छन्द दृष्टि से अनुप्राणित है। उनकी रचनाओ मे एक ओर प्रकृति का स्वतन्त्र रूप चित्रित हुआ है और दूसरी ओर उनमे भक्त की अवस्था मे प्रेम दशायें, दूति वर्णन नायिका भेद और शिखनख वर्णन भी मिलता है। उनके स्वच्छन्द प्रकृति वर्णन में रीतिपरक आग्रह विद्यमान हैं और रीतिपरक वर्णनो मे स्वच्छन्दता दृष्टि का भी विस्तार मिलता है इसलिए कुछ विद्वान् उन्हें रीतिबद्ध मानते हैं और कुछ रीतिमुक्त।

डा चन्द्रशेखर के मतानुसार "इनकी कविता म अलकार की बाह्य साज-सज्जा का उतना आदर नहीं, जितना भाव का। ये प्रकृति वर्णन मे विशेष पटु थे, यह वर्णन इनके स्वतन्त्र निरीक्षण का परिचायक है। इनकी काव्य कुशलता इनके वर्णनो से सिद्ध है। शृगार लतिका मे वसन्त वर्णन के अतिरिक्त शिशिर वर्णन भी है, दोनो वर्णन रीतिवद्ध नही हैं। उनमे क्रम स्थापना भी नही है। जब जसी उमग आई तब वसा लिख दिया है। प्रकृति की स्वच्छन्दता का आभास स्पष्ट मिलता है पर इतना ही *स्वच्छन्दमार्गी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है।* ऋतु वर्णन या बारहमासा लिखने की प्रथा तो रीतिवद्ध कवियो मे भी प्राप्त होती है किसी मे कुछ कम और किसी म कुछ अधिक अपने अभिनिवेश के कारण हो सकती है। द्विजदेव रीति परम्परा से सवथा मुक्त नही प्रतीत होते।"

घनानन्द—काल विभाग से इनकी गणना रीतिकाल के कवियो मे की जाती है और रीतिकाल की बधी बधायी कविता की धारा म घनानन्द जसे स्वच्छन्द कवि का होना एक विस्मय की बात है। प्रेम की पीर का जसा मार्मिक चित्रण इन्होन किया है, वैसा रीतिकाल मे तो अन्यत्र दुलभ है। इनकी कविता मे रीतिकालीन परिपाटी की अपेक्षा निजीपन और हृदय का उल्लास अधिक है। इनकी कविता म लौकिक प्रेम का पुट अधिक है, तथापि वह रीतिप्रेरित न होकर भावप्रेरित है। इनम भक्तो जैसी त्याग-वृत्ति भी है और अन्त मे ये सब छोडकर व्रज मे ही बस गये थे। इनका जन्म स 1746 के लगभग हुआ माना जाता है। बाबू अमीरसिंह ने अपनी 'रसखान घनानन्द' की भूमिका म इनका जन्म स 1795 भी बताया है। य मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुशी थे और उन्हीं के दरबार की नतकी 'सुजान' पर आसक्त थे। इनकी कविताओ म सुजान का उल्लेख बार बार हुआ भी है। एक बार बादशाह के कहने पर भी इन्होंने दरबार म गाना नही सुनाया। इसम बादशाह रुष्ट हो गया और इन्हे राज्य म निकाल दिया गया। ये अपने साथ सुजान को भी ले जाना चाहते थ किन्तु वह तयार नही हुई। इससे इनका हृदय टूट गया। तब ये व्रजवास करते हुए कवित्त सवया रचन और कृष्ण भक्ति म लीन रहने लगे लेकिन कहा जाता है कि स 1796 मे नादिरशाह के सिपाहियो ने इन्हे मार डाला था।

इन्होंने बहुत सुन्दर कवित्त-सवये लिखे है। फुटकर सवया के अतिरिक्त सुजान सार विरह लीला, लोकसार रसकेलि वल्ली आदि इनके लिखे हुए 41 ग्रथ बताये जाते है। ये निम्बार्क सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। व्रजभाषा के य सुमधुर कवि कहे जाते हैं। भाषा की प्रौढता प्राजलता और विदग्धता म इनके कवित्त सवय बेजोड माने जाते है। इन्होन विरह के छन्द अच्छे लिखे है। इनके विरह वर्णन के सम्बन्ध म आचाय शुक्ल जी का मत इस प्रकार है "य वियोग शृगार के प्रधान मुक्तककार कवि हैं। 'प्रेम की पीर' ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। इनके भाषा म स्वाभाविक मृदुलता और कोमलता है, उद्वेग और भडकन नहीं। इनका विरह प्रशान्त सागर के रूप मे है, प्रचण्ड और तूफान के रूप म नही। यही इनकी *विरह वदना की* विशेषता है। यह इनके गूढ और गम्भीर प्रेम का लक्षण है। सच्चे गम्भीर भावुक

होने के कारण इन्होंने बिहारी आदि के समान विरह ताप की अत्युक्ति का खिलवाड़ नहीं किया है। प्रेम मार्ग का एक ऐसा धीर और प्रवीण पथिक तथा जबादानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।" नीचे इनकी कविता के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

तब तो छबि पीवत जीवत हे,
अब सोचन लोचन जात जरे।
हित पोख के तोख सु प्रान पले,
बिललात महा दुख दोख भरे॥
घनआनंद मीत सुजान बिना,
सब ही सुख-साज-समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे,
अब आनि के बीच पहार परे॥

तब तो तुम दूरहिं तें मुसिकाय,
बचाय के और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरत ऐसी,
रचाय के नैनन में सरसे॥
अब तो उर माँहि बसाये बसारत,
एजु बिसासी, कहाँ धौं बसे।
कुछ नेह निबाहन जानत हौ,
तौ सनेह की धार में काहे धँसे॥

घनानन्द का 'मेघदूत' तो देखिए, बादल को उसके अनुकूल ही काम सौंपा गया है—

परकाजहिं देह को धारे फिरो, 'परजन्य' जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबहि विधि सज्जनता सरसौ।
घन आनन्द जीवन दायक हो, कुछु मेरियो पीर हिये सरसो॥
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन, मो अँसुवानहिं लै बरसौ॥

यहाँ परजन्य बादल को कहते हैं और इसका दूसरा अर्थ है—दूसरे के लिए।

रीतिकालीन भक्ति-साहित्य

काव्य रचना की विशेष प्रणाली को रीति की संज्ञा दी जाती है। अर्थ प्रतिपादन की लेखक की विशिष्ट भंगी होती है, यही उसकी रीति है। लेखक या कवि की यही विशिष्ट रीति उसके कौशल की कसौटी है, उसकी मौलिकता की मापक है। पुरानी रीति पर, पुराने मार्ग या रूढ़ि पर चलने वाले संसार में रूढ़िवादी कहे जाते हैं। सुकवि वही है जो नित नवीन प्रणाली से नित नवीन उद्‌भावनाएँ करता चले, तभी वह रमणीयता की सृष्टि कर सकता है। क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। मौलिक पथ निर्माण करने वाले ही प्रशंसित होते हैं— 'लीक छाँड़ि तीनो चलें, सायर, सिंह, सपूत।"

रीति अर्थ और स्पष्टीकरण—रीति शब्द गत्यर्थक 'रीङ्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगने से बना है, अतः व्युत्पत्ति से इसका अर्थ निकलता है—मार्ग। संस्कृत में इसके पर्यायवाची मार्ग, पन्थ, प्रस्थान आदि मिलते हैं। हिन्दी में भी यह शब्द पद्धति, पथ, तरीका, ढंग, गति, वीथिका, प्रणाली, शैली आदि का पर्याय है, अतः काव्य रचना की विशेष प्रणाली रीति हुई। रीति शब्द का प्रथम प्रयोग आठवीं शताब्दी में आचार्य वामन ने काव्यालंकार सूत्र में किया है। वामन ने गुणमयी रीति को काव्य की आत्मा माना— रीतिरात्मा काव्यस्य'।

लाकोनीर्गना जाती है और यही लाकोत्तीगत्ना काव्यगत रीति का स्वभाव निर्मित करती है—

'लाकोनीगत्व च काव्यगत रीते स्वभाव भवितुमर्हति।"

'यह लाकात्त जना अनुभूति की प्रक्रिया से आती है, किसी दिमागी कसरत की प्रक्रिया से नहीं।'

कुन्तक ने रीति को कवि प्रस्थान हेतु या कवि कर्म की विधि कहा और उसका सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से स्थापित किया। मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार काव्य-रचना भी भिन्न भिन्न रीतियों में होती है और व्यक्तित्व की भिन्नता ही काव्य रचना रीति की भिन्नता का कारण है। कुन्तक की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक तथा मनोवैज्ञानिक है। यहाँ रीति और व्यक्तित्व का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और यह परिभाषा पाश्चात्य जगत् के 'स्टाइल इज द मैन हिमसेल्फ' के सिद्धान्त का पूर्व पक्ष सिद्ध होती है। वास्तव में ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों की सम्मति में रीति काव्यात्मा या कविकर्म विधि न रहकर अंग संस्थान मात्र रह गई। रस उसका तत्त्व नहीं रहा, अपितु वह भी रस की उपकर्त्री मानी गई। ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य आनन्दवर्द्धन के अनुसार रीति वह विधि है, जिसमें काव्य के शब्द और अर्थ में चारुता आती है। अतः रीति काव्य शोभाकारक हेतु है। वह गुणों का आश्रय लेकर खड़ी होती है, रसों को व्यक्त करती है, काव्य के अस्फुट तत्त्वों को स्फुरित करती है—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीनि व्यनक्ति सा रसान्,
अस्फुट स्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथादित म्
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।"

हिन्दी में रीति शब्द काव्य रचना के नियमों और सिद्धान्तों के अर्थ में रूढ़ हो गया है। कवि केशव आदि के लिए भी यह शब्द प्रचलित है परन्तु प्रथम अर्थ-प्रतीति पूर्वोक्त अर्थ से ही होती है। लक्षण-ग्रन्थों के रचनाकार रीतिकाल का नामकरण भी आधार पर करते हैं। पण्डित रामदहिन मिश्र के अनुसार, "शब्दार्थ शरीर काव्य के आत्मभूत रसादि का उपकार करके प्रभाव बढ़ाने वाली पदों की जो विशिष्ट रचना है उसे रीति कहते हैं।' कालरिज इसी को उत्तम शब्दों की उत्तम रचना 'द बेस्ट वर्ड्स इन द बेस्ट ऑर्डर' कहते हैं।

सारांशतः यदि सभी परिभाषाओं पर विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि रीति कवि कथन का वह ढंग है जिसमें अन्तर्गत काव्य के अन्तः और बाह्य दोनों ही तत्त्व समाहित हो जाते हैं। इस दृष्टि से डॉ भागीरथ मिश्र द्वारा दी गई रीति की यह परिभाषा परिपूर्ण ज्ञात होती है—"शैली या रीति काव्य रचना सम्बन्धी वह विशेषता है जो कवि की प्रवृत्ति और व्यक्तित्व वर्ण योजना, शब्द संगठन अलंकार प्रयोग भाव सम्पत्ति एवं उक्ति वैचित्र्य के परिणामस्वरूप प्रकाशित होती है।"

भक्ति साहित्य का विवेचन—हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में प्रमुखता शृंगार रस की ही रही किन्तु फिर भी यदा कदा रीति कवियों द्वारा भक्ति भावना अभिव्यक्ति होती रही। यह अलग बात है कि रीतिकालीन कवियों की भक्ति और भक्तिकालीन भक्त कवियों की भक्ति में एक स्पष्ट अन्तर दिखलाई देता है। भक्ति कालीन भक्तों की भक्ति पवित्रता धार्मिकता मर्यादा और लोक निर्माण जैसी विशेषताओं से अलंकृत रही है। इसके विपरीत रीतिकालीन भक्तों की भक्ति में या तो ये गुण हैं ही नहीं यदि है भी तो इन गुणों का आरोप मात्र है। इसका कारण यही है कि इस काल में शृंगार रस ही कवियों का एकमात्र आधार और लक्ष्य था। रीतिकाल में कृष्ण काव्य लिखा गया और कृष्ण का व्यक्तित्व रसिक शिरोमणि के रूप में अधिक प्रसिद्ध रहा है न कि लोक के निर्माता या रामभक्त कवि तुलसी जैसा रहा है। भक्ति के बारे में रीतिकालीन सुकविताई के प्रस्थापन को मानी थी। इस बात का नीचे की पंक्तियों में स्पष्ट संकेत है—

> रीझि हैं सुकवि जो तो जानो कविताई
> न तो राधिका-सुमिरन को बहानो है॥

राधा कृष्ण के नामोल्लेख मात्र से रीति कवि को भक्त परम्परा में बिठाना नितान्त भ्रान्त होगा। रीतिकालीन कवि का मुख्य प्रयोजन था किसी न किसी आश्रयदाता या रसिक को रिझाना। उनके रीझने पर ही कवि अपनी रचना का मन्तव्य मानने को तैयार है नहीं तो अगर वह न रीझे तो बाद में वह सन्ताप कर लेगा कि चलो कविता न सही तो राधा कृष्ण का सुमिरन तो हो ही गया। उनकी रचनाओं में राधा कृष्ण सम्बन्धी भक्तिपरक उद्गार कभी भी स्वीकार नहीं किए जा सकते। इस सम्बन्ध में हमें उस युग की परिस्थितियों को भूल नहीं जाना होगा। अपनी समसामयिक परिस्थितियों से तंग आकर बेचारे ग्वाल कवि को राधा कृष्ण से क्षमा मांगनी पड़ी होगी—

> श्री राधा पदपदम को प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
> छमवत है अपराध को कियो जु कथन रसाल॥

नीति और भक्ति सम्बन्धित उक्तियाँ शतक ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाती हैं। इस युग की इन रस ग्रन्थों में भक्ति सम्बन्धी उक्तियों की कमी नहीं। कदाचित इस युग के जिन उक्तियों का मूल स्रोत ये ही ग्रन्थ है। नीति सम्बन्धी उक्तियों के लिए जीवन के जिन घात प्रतिघातों के अनुभव की आवश्यकता होती है वह विलासामूल रीति कवि के पास कहाँ थी। वस्तुतः वह युग अनेक स्वादों का युग था और उस समय के कवि ने अनेक स्वादों से अपने ग्रन्थों को भरना चाहा है और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में बिहारी के शब्द द्रष्टव्य हैं—

> 'करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद।

रीतिकालीन भक्ति के सम्बन्ध में डॉ नगेन्द्र के विचार विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—"यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा कृष्ण का यही अनुराग उनका

धर्म भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इसी प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नहीं है—हो भी नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए उनके विलासजर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसीलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक नायिका के लिए बार बार हरि हरि और राधिका शब्दों का प्रयोग किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि रीतिकाल में रीति के व्यापक अर्थ को ग्रहण किया गया है और अपनी मूल वृत्ति शृंगारिकता को सुरक्षित रखते हुए भक्ति भावना की प्रवृत्ति को अपनाने का प्रयास किया गया है। रीतिकाल की भक्ति एक प्रकार से कृत्रिम, आरोपित और हल्की भक्ति है। उसे हम ऐसी भक्ति कह सकते हैं जिसका साँचा या बाह्य आवरण भक्ति का हो, किन्तु जिसके अन्तस् में शृंगार की प्रवृत्ति प्रवाहित होती रही हो।

रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कवियों का अन्तर

रीतिकाल में प्रमुख रूप से दो प्रकार के कवि हुए हैं—रीतिबद्ध और रीतिमुक्त। रीतिकाल के विशेषज्ञ और बिहारी के अध्येता आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने एक तीसरे प्रकार के कवियों की कल्पना और की है और वे हैं रीतिसिद्ध कवि। रीतिसिद्ध कवियों में अकेले बिहारी को आचार्य मिश्र ने स्थान दिया है। यहाँ इन तीनों के अन्तर को स्पष्ट किया जा रहा है।

रीतिबद्ध कवि—रीतिबद्ध कवियों से तात्पर्य रीतिकाल के उन कवियों से है जो रीति के आधार पर लक्षण ग्रन्थों की रचना करते रहे और अपना काव्य सृजन भी करते रहे। ये वे कवि हैं जिन्होंने शासन स्थित सम्पादन किया है। इन कवियों ने संस्कृत के काव्य शास्त्र के आधार पर काव्यांगों के लक्षण देते हुए उनके सुन्दर उदाहरण जुटाये हैं। डॉ. शिवकुमार शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "ये कवि एक बधी-बँधाई परिपाटी के अनुसार चलते रहे। ये किसी नवीन मौलिक उद्भावना को जन्म नहीं दे सके। प्रायः ये नायक नायिका भेद तथा अलंकार निरूपण में लगे रहे। इन्होंने काव्यशास्त्र की किसी जटिल समस्या को नहीं छुआ। जहाँ इस दिशा में प्रयास किया, वहाँ वे असफल रहे। इन आचार्य कवियों ने काव्यांग निरूपण में पद्यात्मक शैली को अपनाया और इसलिए उनमें यत्र-तत्र अस्पष्टता आ गई।'

रीतिबद्ध का व्य धारा के कवियों में कवित्व और आचार्यत्व का एक अद्भुत एकीकरण मिलता है। इस धारा के कवियों ने विशुद्ध काव्य का निर्माण भी किया और शृंगार की सरिता भी बहाई। साथ ही लक्षण ग्रन्थों का सृजन भी किया। रीतिबद्ध काव्य में अनुकरण की प्रधानता है। यही कारण है कि इस धारा में

कवियों की सरस कविता भी अलंकार के बोझ से बोझिल हो गई। फलत
ऐसे स्थानों पर भाव दब गए हैं। रीतिबद्ध काव्य में पग पग पर श्रम साध्यता और
चमत्कृति के दर्शन होते हैं। यहाँ आरोपित कला विद्यमान रही है। पाण्डित्य
प्रदर्शन के कारण इस काव्यधारा के कवियों ने अपने काव्य-कौशल का चमत्कार
तो प्रस्तुत किया ही है, स्वतंत्र काव्य चिंतन की भी उपेक्षा कर दी। रीतिबद्ध
काव्य को जो परिवेश प्राप्त हुआ था, वह राज्याश्रय था। अत कविगण प्राय
धन के लोभ और वैभव विलास के साधनों का उपयोग करके कविकर्म के पराङ्मुख
होने गए। आचार्यत्व की स्पर्धा के कारण रीतिबद्ध काव्य कवि कर्म से दूर होता
गया और यदि कभी पवित्र प्रवाह का अवसर भी आया तो इनकी काव्यात्मकता
संदिग्ध हो गई। इस प्रकार स्पष्ट है कि रीतिबद्ध काव्य वह काव्य है, जिसमें
परिपाटी से जुड़े रहने की भावना है और पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति चमत्कृति से
मिलकर शीर्षस्थ विराज रही है।

रीतिमुक्त कवि हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में ऐसे अनेक कवि भी हुए
हैं जिन्होंने केशव मतिराम देव चिन्तामणि और सेनापति के समान लक्षण-ग्रन्थों
का निर्माण नहीं किया है। ऐसे ही कवि रीतिमुक्त कवि कहलाए। रीतिमुक्त कवि
वे हैं जिन्होंने शृंगार निरूपण तो किया, किन्तु प्रेम मार्ग की सहजता, सपाटता और
स्वच्छंदता को अपने काव्य में स्थान दिया। इस धारा के कवियों का काव्य भाव
पक्ष की प्रधानता का काव्य है। उसमें अलंकारों का अनावश्यक बोझ नहीं है।
भावों के क्षेत्र में भी ये लोग स्वच्छता सादगी और भावोपमता के कायल रहे हैं।
इन कवियों का शृंगार निरूपण अपेक्षतया अधिक स्वस्थ संयत और स्वच्छ है।
रीतिमुक्त कवियों ने पूरी भावुकता के साथ स्वच्छन्द व संयत प्रेम का
चित्रण किया है। रीतिमुक्त कवियों में हृदयस्थ भावों को मुक्तमना होकर अभिव्यक्त
करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इनकी कविता स्वानुभूति प्रेरित है। रीतिमुक्त
काव्य में आत्मानुभूति की प्रधानता है—उन्होंने जो लिखा है, स्वानुभूति से प्रेरित
होकर लिखा है। रीतिमुक्त काव्य विरह प्रधान काव्य है। इस धारा के कवियों को
संयोग के क्षणों में भी विरह की अनुभूति होती रही है। इनकी मौन मधि पुकार'
है। रीतिमुक्त काव्य में जो प्रेम और विरह अभिव्यक्त हुआ है उसमें अभिलाषाओं
की प्रधानता है। प्रेम की पीर कसक और हृदय की आँखों में प्रेम की पीर को तकने
वाले रीतिमुक्त कवि आशा अभिलाषाओं के सहारे ही जीते रहे हैं। रीतिमुक्त कविता
ने लोक-जीवन में व्याप्त हर्ष और आनन्द के स्रोत प्रवाहित करने वाले पर्वों और
त्योहारों का वर्णन भी रीतिमुक्त शैली में ही किया है।

रीतिसिद्ध कवि—रीतिसिद्ध कवियों से तात्पर्य उन कवियों से है जो रीति
मुक्त और रीतिबद्ध दोनों से अलग है। रीतिबद्ध कवियों ने रीति से जबरदस्ती जुड़े
रहने का प्रयास किया और रीतिमुक्त कवियों ने रीति से मुक्त होने का प्रयास
किया। रीतिसिद्ध कवि इन दोनों से अलग थे। वे न तो रीति से बचते थे और न
उसे आग्रहपूर्वक स्वीकार ही करते थे। वास्तव में ये ऐसे कवि थे जो मध्यम मार्ग

अपनाते थे। बिहारी अकेले रीतिसिद्ध कवि माने गए हैं। उन्होंने अपने प्रवाह में आकर कविता लिखी है, अपनी सतसई का निर्माण किया है, किन्तु न तो रीतिबद्ध बनने की कोशिश की है और न उससे बचने की। उनका आदर्श यह रहा है कि कविता के सहज प्रवाह में यदि रीतिबद्धता के लक्षण आते हैं, तो भले ही आ जाएँ और यदि उनसे मुक्ति मिलती है, तो भले ही मिल जाए। एक वाक्य में कह सकते हैं कि रीतिसिद्ध काव्य में रीतियाँ स्वतः ही सिद्ध हो गई हैं। उनके प्रति बिहारी का कोई आग्रह नहीं रहा है।

रीतिमुक्त कवि का परिचय—रीतिमुक्त कवियों में बोधा, ठाकुर, आलम रसखान और घनानन्द के नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं। द्विजदेव को भी रीतिमुक्त कवि माना गया। इनमें घनानन्द सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरते हैं। इनका विवेचन पीछे किया जा चुका है।

रीतिमुक्त और रीतिबद्ध कवि : एक तुलना

रीतिमुक्त काव्य और रीतिबद्ध काव्य दोनों ही रीतिकाल के प्रमुख काव्य हैं। ये दोनों ही काव्यधाराएँ एक-दूसरे से विपरीत रही हैं। रीतिबद्ध कवियों ने काव्य के बाह्य पक्ष पर अधिक ध्यान दिया और रीतिमुक्त कवियों ने काव्य के अन्तरंग पक्ष पर अधिक ध्यान दिया। परिणाम यह निकला कि ये दोनों धाराएँ अलग अलग हो गई। काव्य की अन्तरंगता के आधार पर रीतिमुक्त काव्य अधिक प्रशंसा का भागीदार बना और रीतिबद्ध काव्य चमत्कारिक काव्य और अलंकृत काव्य के रूप में ही अधिक चर्चित और प्रसिद्ध रहा।

रीतिमुक्त काव्यधारा जिसे स्वच्छन्द काव्यधारा कहना अधिक समीचीन होगा, उस काल की पारम्परिक काव्य-रचना के प्रति एक विद्रोह था। काव्य-शास्त्र के निश्चित नियमों के भीतर बँधकर पिटी पिटाई उपमाओं, अलंकार योजनाओं तथा भावभंगिमा की अभिव्यक्ति करना इस धारा के कवियों को पसन्द नहीं था। वे स्वच्छन्द भाव से वैयक्तिक अनुभूतियों को मुखरित करना चाहते थे, जिस पर न तो ये शास्त्र का बन्ध स्वीकार करना चाहते थे और न आश्रयदाताओं की रुचियों का ही दबाव मानने को तैयार थे। इनके लिए तो वे आश्रयदाताओं का तिरस्कार तक करने को तैयार हो गए। इस धारा के कवियों ने काव्य को साध्य के रूप में न स्वीकार कर प्रेम को साध्य के रूप में स्वीकार किया है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए काव्य साधन मात्र था। मनोवेग तथा प्रेम की स्वच्छन्दता का महत्त्व प्रदान करने के कारण श्रमपूर्वक ये कविता का निर्माण नहीं करते थे, बल्कि अपने कवित्व से ये स्वयं निर्मित थे। अर्थात् रीतिबद्ध कवियों की भाँति इनका व्यक्तित्व इनकी कविता से अलग थलग नहीं रहता था बल्कि इनमें आकर दोनों का अन्तर समाप्त हो गया था। इस धारा के कवि काव्य के नियम और उपनियम का बंधन स्वीकार करने को विवश नहीं थे, बल्कि अपनी रचनाओं में उन्होंने उसका बहिष्कार कर दिया था। जीवन और काव्य दोनों की स्वच्छन्दता के ये पक्षधर थे। इन कवियों की दृष्टि

प्रेम भाव पर अधिक रहीं, ये अन्तर्दृष्टि से प्रेमानुभूति को पहचानने की शक्ति रखते
थे और इनमें भाव तथा कला का ऐसा सहज सामंजस्य हुआ था कि उन्हें अलग
करके देख पाना कठिन था। कविता करना इनके हृदय की विवशता थी, जिसके
लिए ये कविता करते थे। इन्होंने अपनी रचनाएं आश्रयदाताओं को रिझाने अथवा
अर्थोपार्जन के लिए नहीं कीं जो रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों की सामान्य
दुर्बलता रही। इनके अन्तःस्थल से सवेग निकली भावधारा अपनी कल्पना प्रवणता
के साथ निसर्ग सुन्दरी कविता के रूप में प्रस्तुत हो जाती थी।

डॉ. त्रिभुवनसिंह ने लिखा है कि 'स्वच्छन्द धारा के कवि काव्य के बहिरंग
पक्ष पर बल न देकर, शब्द चमत्कार एवं आलंकारिक आँकड़े जुटाने के फेर में न
पड़कर, संयोग की रंगीनियों में सोये बिना अन्तरंग पक्ष पर बल देते हुए काव्य में
प्रेम की महत्ता को स्वीकार कर, वियोग की वेदना का मूर्तिकरण करते रहे। इनके
काव्य में सर्वत्र नादतत्त्व की गूंज देखने को मिलेगी। अपनी दृष्टि की व्यापकता
और सूक्ष्मता के कारण अश्लील मुद्राओं, चेष्टाओं एवं स्थूल बाह्य सौन्दर्य का
शिकार होने से ये कविगण बच गए हैं। ये अपनी बातें सीधे लक्ष्य तक पहुँचाना
जानते थे, जिससे इन्होंने दूती-सहेट तथा मान आदि का बहिष्कार किया है।
सुरतान्त तथा विपरीत रति आदि कुचेष्टाओं से इनका काव्य मुक्त है। ये कृत्रिम
व्यापारों, अस्वाभाविक चेष्टाओं तथा दूर की कौड़ी लाने से दूर रहकर प्रेम को
जीवन की आन्तरिक एवं गोपन वस्तु समझते थे। अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की
भाँति बुद्धि को गौण स्थान दे, हृदय की प्रधानता को स्वीकार करना इनका सहज
स्वभाव था। इनमें प्राप्त रहस्य भावना और आत्म निवेदन की प्रवृत्ति इन्हें प्रेम
मार्गी सूफी कवियों और फारसी उर्दू के शायरों के निकट लाकर खड़ा कर देती है।
वैयक्तिकता की इनमें पराकाष्ठा है, जिससे आत्मानुभूति का महत्त्व देने के कारण
इन्होंने लोकानुभूति की उपेक्षा की है। संयोग की अपेक्षा वियोग में इनका मन अधिक
रमा है। ये सच्चे अर्थों में कवि थे और अपनी इसी सच्चाई के कारण रीतिपरक
काव्यधारा के विरुद्ध चल रहे थे।"

तुलनात्मक अनुशीलन—रीतिकाल की रीतिबद्ध और रीतिमुक्त धाराएं
अपने अपने ढंग की धाराएँ हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रीतिमुक्त धारा ने
काव्य के अन्तरंग पक्ष को अधिक स्नेह से देखा और काव्य में मौलिक विशिष्ट
और वैयक्तिक अनुभूतियों को पूरी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया। इसके विपरीत
रीतिबद्ध कवियों ने लक्षण ग्रंथों की परिपाटी पर काव्य रचना की और अपने
काव्य में मार्मिक चमत्कार अलंकार सौन्दर्य एवं प्रेम के वासनात्मक रूप को
अपनाया। यदि इन दोनों धाराओं का तुलनात्मक अनुशीलन करें तो निम्नलिखित
बिन्दु सामने आते हैं—

(1) काव्य सृजन के दृष्टिकोण से अन्तर—रीतिमुक्त और रीतिबद्ध
कवियों ने जो काव्य सृजित किया उसके दृष्टिकोण में ही अन्तर है। रीतिबद्ध
कवियों ने पारम्परिक और प्राचीन सिद्धान्तों को अपनाया जबकि रीतिमुक्त कवियों

ने परम्परा को छोड़कर नई लीक पर कदम बढ़ाए। रीतिबद्ध कवियों के काव्य का आधार शास्त्रीय है और रीतिमुक्त कवियों के काव्य का आधार स्वच्छन्द है। रीतिबद्ध कवि रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और अलकार की सीमाओं में बँधकर काव्य सृष्टि करने में लगे रहे, जबकि रीतिमुक्त कवियों ने अपने आपको और अपने काव्य को इन शास्त्रीय आधारों से अलग रखा।

(2) भावात्मक अन्तर—रीतिमुक्त कवियों ने अपने काव्य को अनुभूति प्रेरित माना। उन्होंने काव्य में भाव और कल्पना को अधिक स्थान दिया है न कि अलकार और भाषा को। रीतिमुक्त काव्य के प्रमुख कवि घनानन्द यह घोषणा करते हैं कि "लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत" तो रीतिबद्ध शैली के कवि 'भूषन बिनु न बिराजहिं कविता बनिता, मित्त' में विश्वास करते हैं। स्पष्ट है कि रीतिमुक्त काव्य में भाव और अनुभूतियों की प्रधानता है जबकि रीतिबद्ध काव्य में चमत्कार प्रदर्शन और कलात्मकता पर अधिक जोर है।

(3) प्रेमानुभूति विषयक अन्तर—इन दोनों काव्य धाराओं के अन्तर्गत प्रेमानुभूति विषयक स्पष्ट अन्तर दिखलाई देता है। रीतिमुक्त कवियों ने वैयक्तिक प्रेम को महत्त्व दिया है और अपने प्रेम को निजी सुख दुःख से जोड़कर विविध अनुभूतियों से सश्लिष्ट करके प्रस्तुत किया है। इसके विपरीत रीतिबद्ध कवियों के प्रेम में सामाजिकता का पुट है। सयोग और मिलन के क्षण ही नहीं, अपितु विरह वेदना के क्षण भी रीतिबद्ध काव्य में हल्के कृत्रिम और छिछले स्तर के प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत रीतिमुक्त काव्य में प्रेम को सीधा और सरल होने के साथ साथ निश्छल भी माना गया है। रीतिबद्ध काव्य प्रेम भावना की स्थिति में भी शास्त्रीय परिपाटी से जुड़ा रहा है। यही कारण है कि उन्होंने प्रेम मार्ग में सखी, सखा और दूति के माध्यम से प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। रीतिमुक्त कवियों ने अपने प्रेमानुभावों को बिना किसी माध्यम के ही प्रस्तुत कर दिया है।

(4) सौन्दर्य भावना विषयक अन्तर—रीतिमुक्त कवियों ने बाह्य सौन्दर्य के अलावा आन्तरिक सौन्दर्य और मानसिक सौन्दर्य का चित्रण भी किया है जबकि रीतिबद्ध कवियों ने ऐसा नहीं किया है। रीतिबद्ध कवि सामाजिक धरातल पर और रीतिमुक्त कवि वैयक्तिक धरातल पर सौन्दर्य की खोज करते रहे हैं। परिणामस्वरूप रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि राजदरबार की चकाचौंध पर टिकी रही है और रीतिमुक्त कवियों की दृष्टि एकान्त में जीवन खोजती रही है। एक वाक्य में कह सकते हैं कि रीतिमुक्त कवियों ने किसी भी राजा का आश्रय कभी स्वीकार नहीं किया। मस्त मौला, फक्कड़ और प्रेम के दीवान बोधा ने तो यहाँ तक कह दिया है कि

हाय मगरूर ताको दूनी मगरूरी कीजे।
लघुता हुवे चलें वाको लघुता निभाइये॥
दाता कहा सूर कहा सुन्दरप्रवीण कहा।
आप को न चाहे ताके बाप को न चाहिये॥

एव सामाजिक स्थिति रही उसमे काफी अन्तर आ चुका था। राजनीतिक स्थिरता जो अन्य सामाजिक पक्षो को अस्थिर बनाती रहती है, लगभग समाप्त हो चली थी। सम्राट अकबर के नेतृत्व मे एक शक्तिशाली शासन की स्थापना हो चुकी थी, जो अपनी कतिपय विशेषताओ के कारण हिन्दू-मुस्लिम दोनो धर्मावलम्बियो मे समान रूप से लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था। हिन्दी साहित्य को इस समय तक कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे रत्न मिल चुके थे, जिन्होने भाव और भाषा दोनो ही दृष्टियो से, इसके भण्डार को भरपूर भर दिया था। सूर और तुलसी ने तो अपनी अमूल्य रचनाओ के माध्यम से हिन्दी साहित्य को ऐसी गरिमा प्रदान कर दी थी कि आज समृद्धि और विकास का इतना लम्बा दौर समाप्त कर लेने के बाद भी यदि उन्हे निकाल लिया जाए तो वह बहुत कुछ हल्का हो जाएगा। अकेले सूर और तुलसी के साहित्य को लेकर हिन्दी साहित्य विश्व के सम्मुख मस्तक उठाकर खडा हो सकता था। भण्डार भरने का काय एक सीमा तक पूरा हो चुका था और केवल अलकरण और मण्डन की आवश्यकता रह गई थी। इसका अथ यह कदापि नहीं कि पूव मध्यकाल का साहित्य अलकृत और मण्डित नहीं था। यह दूसरी बात कि इस क्षेत्र के कवियो ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे अपनाए गए व्यापक दृष्टिकोण को महत्त्व दे लोकमगल की भावना से प्रेरित हो स्वस्थ साहित्य की रचना की, जिससे उनकी दृष्टि केवल अलकार और भाषागत चमत्कार की ओर नही रही, बल्कि उन्होने स्वाभाविकता पर विशेष बल दिया।

रीतिकाल भक्तिकाल की अनिवाय परिणति—रीतिकाल, भक्तिकाल की अनिवाय परिणति इस अथ मे माना जा सकता है कि भक्तिकाल मे जो वातावरण बना था, वह सवत् 1700 के समाप्त होते होते बदल गया था। सामाजिक क्षेत्र मे मुसलमानो का आधिपत्य बढ गया था और उनके दरबारी वातावरण के प्रभाव के कारण भक्ति का स्थान शृगार ने ले लिया था। खुले रूप से वासना बढने लगी थी और भक्तिकालीन कवियो ने समाज के लिए जो आदर्श और मानदण्ड स्थापित किए थे, वे झूठे पड गए थे। अब आदर्शो और स्वच्छ जीवन मूल्यो की बात करने का अवसर नही रह गया था। नैतिकता समाप्त हो चली थी धम का स्थान कामदेव ने ले लिया था। परिणामस्वरूप विलासिता और वैभव प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढने लगी थी। यह सब क्या हुआ, इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि भक्तिकाल का जीवन अनुशासित, मर्यादित, नतिकतापूण, धार्मिक और एक दायरे मे, आदश जीवन था। यह आदश जीवन जब चरम सीमा पर पहुँच गया तो वातावरण मे घुटन महसूस होने लगी। परिणामस्वरूप इस आदश वायुमण्डल से निकलकर जमीन पर आने की स्वाभाविक प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। यही प्रक्रिया भक्तिकाल की प्रतिक्रिया स्वरूप रीतिकाल मे दिखलाई गई है। जिस प्रकार युद्ध करते-करते हताश, निराश और असफल हिन्दू जाति भक्ति की ओर मुडी थी वही जाति भक्ति के माहौल मे घिरकर शृगार की ओर मुड गई थी। ऐसी स्थिति मे यही कहा जा सकता है कि रीतिकाल भक्तिकाल की अनिवाय परिणति था। आचाय शुक्ल ने लिखा है "

अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की भक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ? रीतिकाल के प्रारम्भ में भी यही बात थी। शुक्लजी के शब्दों में कह सकते हैं कि सूर और तुलसी जैसे भक्त कविवरों के प्रादुर्भाव के कारणों में शान्तिसुख को गिनना भारी भूल है। उस शान्ति सुख का परिणाम जिस साहित्य के रूप में सामने आया, वह रीतिकाल ही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "रीति ग्रन्थों की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेक रूपता, जीवन की भिन्न भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी, जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रससिक्त होकर सामने आने से रह गए। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया। कुछ कवियों के बीच भाषा शैली, पदविन्यास, अलंकार विधान आदि बाहरी बातों का भेद हम थोड़ा बहुत दिखा सकें, तो दिखा सकें पर उनकी आभ्यन्तर प्रकृति के अन्वीक्षण से समर्थ उच्चकोटि की आलोचना की सामग्री बहुत कम पा सकते हैं।"

रीतिकाल का हिन्दी साहित्य एक नए प्रकार का साहित्य है। भक्तिकाल में पारलौकिकता रही और रीतिकाल में लौकिकता। जिस प्रकार मनुष्य लौकिक से अलौकिक की ओर बढ़ता है, उसी प्रकार अलौकिक से लौकिक की ओर भी आता है। रीतिकाल में पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति सभी क्षेत्रों में दिखलाई देती है। शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि वास्तव में हिन्दी वाङ्मय के इतिहास में रीतिकालीन कवि ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। रीतिकालीन कविता अपना साध्य स्वयं थी। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी और न ही सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की प्रचारिका थी। इस काल में साहित्य का अपना महत्त्व था। इस काल के साहित्य में ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है।

रीतिकालीन साहित्य के जीवन तथा काव्य के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण डॉ भगीरथ मिश्र के इन शब्दों में भली भाँति हो जाता है—रीतिकाव्य की परम्परा ने शुद्ध काव्य के लिए निश्चित मार्ग खोल दिया। इसके बिना प्रबन्ध काव्यों में या तो इतिहास ग्रन्थ थे और वे राजा महाराजाओं अथवा वीरों की अतिशय गुण गाथा से ओत प्रोत थे अथवा वे धार्मिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थ थे, जिनमें धर्मगाथा कही गई है। ऐसे ही मुक्तक काव्य नीति उपदेश भरे अथवा भक्ति और कीर्तन के रूपों में ही सीमित था। उस रीति परम्परा ने एक नवीन मार्ग कवि प्रतिभा के विकास के लिए खोल दिया जिसका अवलम्बन करके अपनी प्रवृत्ति और अभिरुचि के अनुसार कुछ भी लिखा जा सकता था। लौकिक जीवन में अनुराग रखने वाले राज्याश्रित कवियों के लिए यह मार्ग विशेष रूप से सहायक

हुआ, क्योंकि उन्हें चारण-कवियों के समान केवल योगदान के स्थान में रीति-पद्धति पर लिखकर आश्रयदाता को चमत्कृत करने तथा रिझाने का अवसर मिला। इस प्रकार रीति परम्परा का अपने युग के लिए ऐतिहासिक महत्व है। हिन्दी के रीतिकाल का साहित्य जनपथ का साहित्य न होकर राजपथ का साहित्य है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य में यह परम्परा पहले से ही विद्यमान थी।

उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में रीतिकाल को भक्तिकाल की अनिवार्य परिणति कहा जा सकता है।

रीतिकाल की न्यूनताएँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नामकरण 'रीतिकाल' करते हुए यह स्पष्ट नहीं किया कि 'रीति' शब्द से उनका क्या अभिप्राय है। फलस्वरूप परवर्ती विद्वानों को इस शब्द की व्याख्या अपने अपने ढंग से करनी पड़ी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—"यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार शास्त्र का ही जोर रहा है, जिसे उस काल में 'रीति' कवित्व 'रीति' या सुकवि रीति कहने लगे थे, सम्भवतः इन शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को रीति काव्य कहा है।" डॉ॰ नगेन्द्र और पं॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इसी से मिलती जुलती व्याख्या प्रस्तुत करते हुए 'रीति' शब्द को काव्य-रीति' का संक्षिप्त रूप बताया है। आचार्य शुक्ल के द्वारा इस शब्द के प्रयोग को देखते हुए इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने भी इसका प्रयोग 'काव्य-रीति' के अर्थ में ही किया था तथा आज भी हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में इसका व्यवहार इसी अर्थ में होता है।

रीतिकाल का प्रदेय अथवा वैशिष्ट्य और योगदान कैसा रहा है और उसका महत्त्व क्या है? इसे जानने से पूर्व इस युग की न्यूनताओं पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि रीतिकाल कुछ दृष्टियों से जहाँ महत्त्व का अधिकारी है, वहीं कुछ बिन्दु ऐसे भी हैं, जो इस काल की न्यूनता को प्रकट करते हैं। ऐसी स्थिति में रीतिकाल की न्यूनताओं से परिचित होना अनिवार्य प्रतीत होता है। बाबू गुलाबराय ने हिन्दी साहित्य के सुबोध इतिहास में रीतिकाल की पाँच न्यूनताओं की ओर संकेत किया है, जो इस प्रकार हैं—

(1) रीतिकाल में काव्यांगों के विवेचन के साथ शब्द की शक्ति पर यथोचित विवेचन न हो सका। (शब्द शक्ति का विवेचन तो देव और भिखारीदास आदि इने गिने कवियों ने ही किया है।) पद्य में लिखने के कारण संस्कृत ग्रन्थों का सूक्ष्म विवेचन न हो सका। संस्कृत के आचार्य गद्य में टीकाएँ भी लिखते थे।

(2) रीतिकालीन ग्रन्थों में अधिक गहराई न होने का कारण यह भी था कि व पण्डितों के लिए नहीं वरन् राजाओं और उनके दरबारियों के लिए लिखे गए थे। रीति ग्रन्थों का मूल उद्देश्य काव्य का विवेचन नहीं रह गया था, वरन् शृंगारिक कविता के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना था। यद्यपि रीतिकाल के कवियों

ने संस्कृत के आचार्यों की भाँति काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का कोई विशद् विवेचन नहीं किया, तथापि रस (शृंगार) के अंगोपांगों और अलंकारों के काव्यमय उदाहरण उपस्थित करने में व संस्कृत के कवियों से भी बाजी ले गए। प्रत्येक कवि ने अपने ही बनाए हुए उदाहरणों से काम लिया। संस्कृत के आचार्य (पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर) प्राय दूसरों के उदाहरण देते रहे थे। कवि की अपेक्षा आचार्य अधिक थे। हिन्दी के आचार्य, आचार्य की अपेक्षा कवि अधिक थे।

(3) रीतिकाल में नाट्य शास्त्र के विवेचन का अभाव ही रहा। यह उस समय के आचार्यत्व में कमी की बात थी। यह ठीक है कि हिन्दी में नाटक के लक्ष्य ग्रन्थ नहीं थे, किन्तु नाट्य शास्त्र सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों से लाभ उठाया जा सकता था। उन लोगों के सामने अष्टछाप के कवियों के वात्सल्य रस के अच्छे से अच्छे उदाहरण मौजूद थे। उनका लाभ उठाकर इन लोगों ने वात्सल्य का भी कोई स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया।

(4) विषयों का संकोच-सा हो गया था, और कवियों में कवि परम्परा रूपी गाड़ी की लीक पर चलने की प्रवृत्ति हो गई थी, इसलिए कवियों को भी अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा दिखाने की कम गुंजायश रह गयी थी। जो कुछ कविता करते थे वे स्वतन्त्रतापूर्वक हृदय की उमंग से नहीं, वरन् कवि कर्त्तव्य के कठोर बन्धन में बंधकर, एक प्रकार की परम्परा की पूर्ति के लिए ही करते थे। हाँ, इस काल के रीतिस्वच्छन्द कवि यथा घनानन्द, बोधा आदि ने हृदय की स्वच्छन्द उड़ान पर यन्त्रिता रची है। इन कवियों ने रीति के बन्धनों की चिन्ता नहीं की।

(5) इतना अवश्य कहा जाएगा कि यद्यपि ये जीवन की अनेकरूपता को अपने काव्य में न ला सके, तथापि इन्होंने शृंगार के संकुचित क्षेत्र में पारिवारिक जीवन को बाँधकर उसमें सौन्दर्य दर्शन की चेष्टा की, और जीवन के उस अंग को पर्याप्त रूप में प्रकाश में लाये।

रीति की न्यूनताओं के विषय में अपने ढंग से हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और समीक्षक रामधारीसिंह दिनकर ने भी काव्य की भूमिका नामक पुस्तक में विचार किया है। उन्होंने इस सन्दर्भ में निम्नलिखित चार बातें प्रस्तुत की हैं, जो यथावत् प्रस्तुत की जा रही हैं—

(1) रीतिकालीन साहित्य में ऐसा अंश बहुत कम है, जिसमें अपने समय का ताप हो अथवा जिसके भीतर तत्कालीन समाज की भावनाओं का प्रतिबिम्ब मिलता हो या जिसमें यह ताकत हो कि व[illegible] के मन को किसी यात्रा पर भेज सके। ध्वनि के [illegible] तो रीति[illegible] हैं, मगर, उनका असर इतना ही है कि काव्[illegible] कर उस[illegible] है मन को किसी दूर दिशा में ले जाने [illegible] की [illegible] है। रीतिकाल की सबसे बड़ी विचित्र[illegible] यह [illegible] कि के साहित्यकार समाज [illegible] घत [illegible] वा की [illegible] हैं।

[illegible]

कवियो के मन के किसी भी स्तर पर कोई सवाल नही था, जिसका उत्तर खोजने को वे समय मे पडते अथवा किसी प्रकार की द्विधा और द्वन्द्व का सामना करते। उनका ध्यान जीवन पर नही, कला पर है, काव्यशास्त्र की गुत्थियो पर है और उन्हीं को समझाने के लिए उक्तियो और चित्रो का निर्माण करके वे निश्चित हो जाते हैं। तत्कालीन समाज के हृदय मे जो शकाएँ रही होंगी, लोग जिन समाधानो की कामना कर रहे होंगे, रीतिकाल के कवियो को वे सुनायी नही पडे।

(2) रीतिकाल की सबसे बडी निन्दा की बात तो यह है कि उसके उत्तराधिकारी भारतेन्दु ने उस काल को लाँघकर अपना स्वर भक्तिकाल से मिलाने की कोशिश की और तब से आज तक प्रत्येक साहित्यिक आन्दोलन रीतिकाल को लात मारकर लोगो की वाहवाही पाता आया है। प्रताप नारायण मिश्र, प महावीर प्रसाद द्विवेदी और मदनमोहन मालवीय, उन्नीसवीं सदी के अन्त तक, प्राय अनेक अच्छे लोग रीतिकालीन काव्य के विरोधी हो गए थे और छायावाद की स्थापना के समय तो नए कवि रीतिकाल को कोसने मे शायद ही कभी चूके हो।

(3) रीतिकाल के कवियो ने उन सभी सामग्रियो पर अधिकार रखा, जिससे कविता सजायी जाती है अथवा जिनसे उसकी शक्ति मे वृद्धि होती है, केवल उसी तत्त्व को उन्होने छोड दिया, जिससे कविता का जन्म होता है। लकडियाँ उन्होंने अच्छी से अच्छी जमा की केवल हृदय की आग की कमी रह गयी, जिससे ज्वाला उठी नही। रीतिकाल की कविताएँ बुरी नही, निस्तेज हैं। इस काल मे रूप की सृष्टि तो हुई, किन्तु कवियो ने अपने हृदय की बेचनी नही लिखी और घनानन्द तथा बोधा को छोड दें, तो ऐसा लगता ही नही कि रीतिकाल के कवियो का अपना भी कोई प्रेम था। वे रचनाएँ काव्यशास्त्र के उदाहरणो के लिए लिखते हैं, अपने-आपको अभिव्यक्त करने अथवा अपनी वेदना से मुक्ति पाने के लिए नही।

(4) रीतिकाल का दोष उसकी शृगारिकता नही, वही निर्जीवता और नकलीपन है। विद्यापति और चण्डीदास कम शृगारिक नही हैं, किन्तु उनकी शृगारिकता के पीछे उनका प्रेम उपस्थित है वह वासना उपस्थिति है, जो पुरुष मे नारी के लिए और नारी मे पुरुष के लिए विद्यमान रहती है।

रीतिकाल का प्रदेय

रीतिकाल की उपयुक्त न्यूनताएँ एक बार के लिए पाठक को चौंका सकती हैं और वह यह सोचने पर भी विवश हो सकता है कि हिन्दी साहित्य का रीतिकाल महत्वहीन काव्य-सृष्टि का काल है। वास्तव मे स्थिति ऐसी नही है। रीतिकाल की जितनी न्यूनताएँ हैं, उनसे कहीं अधिक उसकी विशिष्टताएँ हैं। अत उसका महत्व और योगदान उल्लेखनीय है। इस विषय मे डॉ शिव कुमार शर्मा का यह मत ध्यान देने योग्य है—

"रीतिकाव्य के महत्त्व के अकन के विषय मे प्राय पक्षपात से काम लिया गया है। कुछ आलोचक इस सर्वथा त्याज्य और अधोगामी रीतिकाव्य को तन और

मन को रिझाने वाला साहित्य कहकर इसे नितान्त अभिलषणीय बताते हैं। हमारे विचारानुसार ये दोनों दृष्टिकोण अतिवाद से ग्रस्त हैं। रसिक प्रमुखों के लिए लिखे गए रीतिकाव्य में कामशास्त्र के सचेष्ट समावेश और उसमें यत्र-तत्र संभोग कलाओं की चर्चा को देखकर आज का आलोचक रीतिकाव्य में अश्लीलता की दुहाई देता हुआ आवश्यकता से कुछ अधिक चौंक जाता है। वस्तुतः श्लीलता और अश्लीलता युग सापेक्ष्य वस्तुएँ हैं। श्लील और अश्लील कवि समय (काव्य-रूढ़ियों) के समान हैं, जो कि प्रत्येक समाज की परिस्थितियों की अनुरूपता में हुआ करते हैं। ये दोनों तत्कालीन सामाजिक चेतना से सम्बद्ध हैं। एक समय में जो वस्तु नागरता समझी जाती है, दूसरे समय में वही ग्रहणीय बन जाती है, ऐसी दशा में रीतिकाव्य की तथाकथित अश्लीलता का आज के प्रबुद्ध नैतिक मानदण्डों पर कसना न्याय नहीं होगा और न ही रीतिकाल की अश्लीलता का असाहित्यिक या असामाजिकता की सज्ञा देना उचित होगा। अश्लीलता और असाहित्यिकता हमें उस समय प्रतीत होती है, जब हम रीतिकाव्य के चित्रों को उनके पूर्ण परिप्रेक्ष्य में न देखकर उन्हें अधूरी दृष्टि से देखते हैं। नैतिकता भी देश-कालाश्रित है तथा वह सदा बदलती रहती है। वस्तुतः श्लीलता और अश्लीलता सुरुचि और कुरुचि से सम्बद्ध हैं, जो कि प्रत्येक देश और काल की अलग अलग हुआ करती हैं। हम पहले संकेत कर चुके हैं कि रीतिकाव्य चाहे शास्त्र की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण न हो, किन्तु कवित्व की दृष्टि से यह बहुत मनोरम है। अतः इस काव्य का साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण है। 'रीतिकाव्य के प्रणयन का हेतु विशुद्ध साहित्यिक प्रेरणा अर्थात् 'कला कला के लिए है।' यह काव्य किसी नैतिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक प्रेरणा की उपज नहीं है। अतः रीतिकाव्य की यथार्थ गरिमा और उसके मूल्य को आँकते समय हमें उपर्युक्त तथ्यों को सदा ध्यान में रखना होगा।'

1 काव्यशास्त्र के क्षेत्र में योगदान—काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रीति आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं—

(अ) उद्भावक आचार्य, जिन्हें मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है जैसे भरत, वामन, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुन्तक आदि नये शास्त्रकारों की कोटि में आते हैं।

(ब) व्याख्याता आचार्य, जो नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धान्तों का आख्यान करते हैं। इनका कर्तव्य-कर्म होता है—मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट विश्वनाथ और पण्डितराज प्रतिभा भेद में से इसी वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे।

(स) तीसरा वर्ग है कवि शिक्षकों का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस सुबोध पाठ्यग्रन्थ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्भावना करके अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों को खण्डन मण्डन द्वारा सुलझाने की कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पय ... केशव मिश्र भानुदत्त आदि की गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की जाती है।

हिन्दी के रीति आचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया, उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सवाद निरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी, किन्तु खण्डन मण्डन तथा स्पष्ट और विशद् व्याख्यान के अभाव में केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर, वे इस स्थान के अधिकारी भी नहीं हो सकते। अन्ततः वे तृतीय वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्र के भाष्यकार। उनका काम तो शास्त्र की परम्परा को सरल रूप में हिन्दी में अवतरित करना था और इसमें वे निश्चित ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।

हिन्दी के रीति आचार्यों का भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है। रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत अंग रूप में ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतन्त्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहाँ शृंगारवाद एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया।

2 **रसवाद की प्रतिष्ठा**—रीति युग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिका भेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। वाक्य रसात्मक काव्यम् की प्रतिष्ठा—वाक्य रसात्मकं काव्यम् या रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम् की कसौटी पर रखने से रीतिकाव्य तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियाँ का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य है—जीवन के मार्ग में धीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ही, किन्तु कुछ क्षणों के लिए किनारे पर लगे वृक्षों की शीतल छाँह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम से कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और यह आवश्यकता अभी निःशेष नहीं हुई—कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

3 **अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार**—डॉ नगेन्द्र के मतानुसार, व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का योगदान इतना ही मान्य है। घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इसमें सन्देह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था—उसमें जीवन भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अतः उसके द्वारा प्राप्त आनन्द भी उतना उदात्त नहीं था। काव्य वस्तु के नैतिक

मन को रिझाने वाला साहित्य कहकर इसे नितान्त अभिसपणीय बताते हैं। हमारे विचारानुसार ये दोनों दृष्टिकोण प्रतिवाद से ग्रस्त हैं। रसिक प्रमुखों के लिए लिखे गए रीतिकाव्य में कामशास्त्र के सचेष्ट समावेश और उसमें यत्र-तत्र संभोग कलाओं की चर्चा को देखकर आज का आलोचक रीतिकाव्य में अश्लीलता की दुहाई देता हुआ आवश्यकता से कुछ अधिक चौंक जाता है। वस्तुतः श्लीलता और अश्लीलता युग सापेक्ष्य वस्तुएँ हैं। श्लील और अश्लील कवि समय (काव्य-रूढ़ियों) के समान हैं, जो कि प्रत्येक समाज की परिस्थितियों की अनुरूपता में हुआ करते हैं। ये दोनों तत्कालीन सामाजिक चेतना से सम्बद्ध हैं। एक समय में जो वस्तु नागरता समझी जाती है, दूसरे समय में वही ग्रहणीय बन जाती है, ऐसी दशा में रीतिकाव्य की तथाकथित अश्लीलता का आज के प्रबुद्ध नैतिक मानदण्डों पर कसना न्याय नहीं होगा और न ही रीतिकाल की अश्लीलता को असाहित्यिक या असामाजिकता की संज्ञा देना उचित होगा। अश्लीलता और असाहित्यिकता हमें उस समय प्रतीत होती है, जब हम रीतिकाव्य के चित्रों को उनके पूर्ण परिप्रेक्ष्य में न देखकर उन्हें अधूरी दृष्टि से देखते हैं। नैतिकता भी देश कालाश्रित है तथा वह सदा बदलती रहती है। वस्तुतः श्लीलता और अश्लीलता सुरुचि और कुरुचि से सम्बद्ध हैं, जो कि प्रत्येक देश और काल की अलग अलग हुआ करती है। हम पहले संकेत कर चुके हैं कि रीतिकाव्य चाहे शास्त्र की दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण न हो, किन्तु कवित्व की दृष्टि से यह बहुत मनोरम है। अतः इस काव्य का साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण है। रीतिकाव्य के प्रणयन का हेतु विशुद्ध साहित्यक प्रेरणा अर्थात् 'कला कला के लिए है।' यह काव्य किसी नैतिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक प्रेरणा की उपज नहीं है। अतः रीतिकाव्य की यथार्थ गरिमा और उसके मूल्य को आँकते समय हमें उपर्युक्त तथ्यों को सदा ध्यान में रखना होगा।"

1 काव्यशास्त्र के क्षेत्र में योगदान—काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रीति आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं—

(अ) उद्भावक आचार्य, जिन्हें मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है जैसे भरत, वामन, आनन्दवर्धन भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुन्तक आदि नये शास्त्रकारों की कोटि में आते हैं।

(ब) व्याख्याता आचार्य, जो नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धान्तों का आख्यान करते हैं। इनका कर्त्तव्य-कर्म होता है—मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज प्रतिभा भेद में से इसी वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे।

(स) तीसरा वर्ग है कवि शिक्षकों का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस सुबोध पाठ्यग्रन्थ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों का खण्डन मण्डन द्वारा सुलझाने की कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पय दीक्षित, केशव मिश्र भानुदत्त आदि की गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की जाती है।

हिन्दी के रीति आचार्य स्पष्टत प्रथम श्रेणी म नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य सिद्धान्त का प्रवतन नहीं किया, उनम स किसी म इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी मे सवाद निरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी, किन्तु खण्डन-मण्डन तथा स्पष्ट और विशद् व्याख्यान के अभाव म केवल प्रमुख काव्यागो के सक्षिप्त निरूपण के आधार पर, वे इस स्थान के अधिकारी भी नहीं हो सकते। अन्तत वे तृतीय वग के अन्तगत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। व न शास्त्रकार थे और न शास्त्र के भाष्यकार। उनका काम तो शास्त्र की परम्परा को सरल रूप में हिन्दी में अवतरित करना था और इसमें वे निश्चित ही कृतकाय हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।

हिन्दी के रीति आचार्यों का भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र का सवमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है। रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्राय असलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के अन्तगत अंग रूप मे ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतन्त्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहा शृंगारवाद एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप मे ही प्रतिष्ठित हो गया।

2 रसवाद की प्रतिष्ठा—रीति युग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिका भेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। वाक्य रसात्मक काव्यम् की प्रतिष्ठा—वाक्य रसात्मक काव्यम् या रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम् की कसौटी पर इसने मे रीतिकाव्य तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियाँ तो भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता किन्तु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य है—जीवन के माग मे धीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढना तो श्रेयस्कर है ही, किन्तु कुछ क्षणों के लिए किनारे पर घने वृक्षों की शीतल छाह म विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम से कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और वह आवश्यकता अभी निश्शेष नहीं हुई—कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरल काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

3 अभिशप्त जीवन मे सरसता का सचार—डॉ नगेन्द्र के मतानुसार, व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का योगदान इतना ही मान्य है। घोर पराभव के उस युग म समाज के अभिशप्त जीवन मे सरसता का सचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इसम सन्देह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था—उसमे जीवन भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अत उसके द्वारा प्राप्त आनन्द भी उतना उदात्त नहीं था। काव्य वस्तु के नैतिक

मूल्य का काव्य-रस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव निश्चित ही पड़ता है और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चित ही कम है, फिर भी अपने युग की आत्मघाती निराशा का उच्छिन्न करने मे उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमे सन्देह नही, इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। यहाँ इस सत्य का फिर से उद्घाटन आवश्यक है कि कला का एक अतक्य उद्देश्य मनोरंजन भी है। यह मनोरंजन मानव-जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है इसकी पूर्ति करने वाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चित ही उतना ही असंदिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर करना चाहिए—उसकी सूत्रवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति मे उसकी सिद्धि निहित है। शुभ नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल नहीं है, क्योंकि कवि शिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय-समाज की रुचि-परिष्कार का भी अत्यन्त उपादेय साधन था।

4 कलापरक योगदान—कला के क्षेत्र मे व्यावहारिक रूप से भी रीति-कवियों की उपलब्धि कम नहीं है। ब्रजभाषा के काव्य रूप का पूर्ण विकास रीति कवियों ने ही किया। उनकी भाषा क्रान्ति, माधुर्य और कोमलता जैसे गुणों से युक्त है। सवैया और कवित्त जैसे छन्दों के सार्थक प्रयोग इस काल की उपलब्धियाँ हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साज-सज्जा और अलंकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य वैभव पूर्ण है। डॉ नगेन्द्र ने लिखा है कि "यह ठीक है कि रीतिकाव्य मे अलंकरण-सामग्री का वैसा वैविध्य नही मिलता, जैसा सूर, तुलसी म मिलता है—वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नही है जैसा कि पन्त मे मिलता है, परन्तु विलास युग के रंगोज्ज्वल उपमानो और प्रतीको के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है।' रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है कि रीतिकाल य सौन्दर्य आकलन, संचय, और परिग्रह का सौंदर्य था। अनुभूति की सच्चाई, अभिव्यक्ति के सरलता तथा चुटीलापन और चित्रो की स्पष्टता रीतिकाल के मुख्य गुण हैं जो आज के पाठको को प्रभावित करते हैं। रीतिकाल की और चाहे जो निन्दा की जाए, किन्तु इतना माने बिना नही चल सकता कि यही वह काल है जब कि हिन्दी के कवियों ने पहले-पहल यह अनुभव किया कि वे कलाकार हैं और कला के पीछे अभ्यास युक्त साधना का होना आवश्यक है।"

रीतिकाल के प्रमुख कवि और आचार्य

रीतिकाल कला शिल्प का वैभवकाल था। इस काल म तीन प्रकार के कवि हुए हैं। इनमे पहला स्थान आचार्य कवियों को प्राप्त है तो दूसरा रीति सिद्ध बिहारी को और तीसरा स्थान स्वच्छन्द काव्य धारा के रीतिमुक्त कवियों को। इनमे रीतिमुक्त कवियों का परिचयात्मक विवेचन किया जा चुका है अत अब आचार्य कवियों और रीतिसिद्ध कवि बिहारी व पद्माकर, सेनापति आदि का परिचय ही यहाँ दिया जा रहा है—

1 केशवदास—इनका जन्म संवत् 1612 म और मृत्यु म 1674 के आस-पास हुई। इनकी रचना 'कविप्रिया' मे इनका कुछ परिचय प्राप्त होता है जिसमे

नुसार ये सनाढ्य ब्रह्मण थे । प कृष्णदत्त इनके बाबा और प काशीनाथ इनके पिता थे । परम्परागत कई पीढ़ियो से केशव के पूवज राजसम्मान प्राप्त करते चले आये थे । ओरछा नरेश महाराज रामशाह के अनुज इन्द्रजीत सिंह केशवदास जी को गुरुतुल्य मानते थे । ये उनके मत्री, गुरु और राजकवि सब कुछ थे । स्वय महाराज रामशाह केशव का अपना मत्री और मित्र मानते थे तथा उनके भाई वीरसिंह ने भी इन्ह सम्मानित किया था । सस्कृत का पठन पाठन इनके घराने म परम्परा से चला आ रहा था जिसके कारण इ हे भी सस्कृत साहित्य का विस्तृत अध्ययन करना पडा । पर य दूरदर्शी आचाय थ और इन्होन पारिवारिक परम्परा के प्रतिकूल अपनी रचनाएँ हिन्दी मे प्रस्तुत की । केशव बडे रसिक जीव थ और वृद्धावस्था तक इनकी यह रसिकता बनी रही जो इस दोहे से स्पष्ट है—

केसव केसन अस करी, जस अरिहू न कराहि ।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहि ।।

रसिकप्रिया', 'रामचन्द्रिका , 'नख शिख', 'कविप्रिया , 'रतन बावनी' 'वीरसिंह देव चरित', विज्ञान गीता' और 'जहागीर रस चन्द्रिका' इनकी प्रामाणिक रचनाएँ हैं । 'रसिकप्रिया' की रचना स 1648 में हुई । इसमे रस विवेचन और नायिकाभेद का वणन ह । शृ गार रस की इसम प्रधानता है । 'कविप्रिया' की रचना सवत् 1658 म हुई । यह केशव द्वारा विरचित अलकार ग्र थ है जिसम काव्यरीति, अलकार तथा कवि पथ का विवचन है । रसिकप्रिया और कविप्रिया के सम्ब ध म यह प्रचलित है कि केशव ने इन्द्रजीत की प्रिया और अपनी शिष्या प्रवीणराय का शिक्षा देने के लिए इन ग्र थो की रचना की थी । प्रवीणराय ने भी कविताएँ लिखी है ।

कविप्रिया' के चौदहव प्रभाव के अ त म 'नखशिख' का प्रसगवश समाविष्ट कर लिया गया ह । इसम राधा जी का नखशिख वणन है । कुछ लोगो का मत है कि नखशिख स्वतन्त्र रचना है और इसका रचना काल स 1658 वि है । 'रामचन्द्रिका की रचना स 1658 म हुई । यह एक प्रब ध काव्य है और इसम राम का चरित्र वर्णित है पर केशव के राम मे तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम का स्वरूप सुरक्षित नही रह पाया है । इस ग्र थ के सम्बन्ध मे यह प्रचलित है कि केशव न इसकी रचना एक रात म ही कर डाली थी । इस ग्रथ म कलात्मकता का अभाव है साथ ही पाण्डित्य प्रदशन क प्रति इतना आग्रह दिखलाई पडता है कि वण्य विषय के प्रति कही भी न्याय नही हो पाया है । इसमे इतन प्रकार के छन्दो का प्रयाग हुआ ह कि यह अलकार और छन्द का शास्त्र ही जान पडता है । लगता है इन छन्दा की रचना अलकार और छद की दृष्टि से केशव ने विभिन्न अवसरा पर की थी और बीच बीच म कुछ नवीन छन्दा को जोडकर इसे एक रात म प्रबन्ध का रूप दे दिया होगा । जिन सामन्ती जीवन की सुविधाओ का केशव उपभोग कर रहे थे, उसकी सारी विशेषताओ का आरोप उन्होंने रामचन्द्रिका मे किया है ।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र इसमे मध्यकालीन नायक और माता सीता का चरित्र मध्यकालीन नायिका के रूप में चित्रित किया गया है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि केशव ने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर इस काव्य की रचना नही की थी।

केशव ने पचवटी प्रसग मे सीता को वीणा बजाकर राम को रिझाते हुए चित्रित किया है। रावण वध के पश्चात् जब राम अयोध्या लौटते हैं तो उन्ह मध्यकालीन साम ता की भाँति जलक्रीडा करते दिखलाया गया है। राम सीता की दासियो के साथ भी क्रीडा करते चित्रित किए गए हैं। केशव के सम्मुख 'जे सपनेहुँ पर नारि न हेरी' वाला राम का रूप नही था, बल्कि उनकी आँखो के सामने इन्द्रजीत सिंह का विलासी अखाडा था जिसके वे स्वय एक खिलाडी थे। चरित्र चित्रण म तो केशवदास जी बुरी तरह असफल रहे हैं। उन्होने राम को उग्र रसिक और स्त्रैण रूप म चित्रित किया है तथा सीता के आदश चरित्र की भी वे रक्षा नही कर पाये हैं।

सवाद की दृष्टि से रामचन्द्रिका का विशेष महत्त्व माना जाता है। दरबारी कवि होने के नाते सवाद कला मे केशव स्वय पटु थे। यही कारण है कि इनके सवाद अच्छे बन पडे हैं। इसमें आए 'रावण बाणासुर सवाद', 'सूपणखा राम-सवाद' 'सीता-रावण सवाद', 'सीता हनुमान-सवाद', 'रावण अगद-सवाद' प्रमुख माने जाते हैं। यद्यपि ये सवाद केशव की मौलिक उद्भावनाएँ नही हैं क्योकि ये सस्कृत की प्रसिद्ध रचनाओ 'प्रसन्न राघव' तथा 'हनुमन्नाटक' से लिए गए है और उनके छायानुवाद हैं, पर अलकारो से बोझिल इस रचना मे ये सवाद पाठक को थोडी सी राहत प्रदान करते हैं जिससे वह अपेक्षाकृत इन पर मुग्ध हो जाता है। रामचन्द्रिका के सवादो मे नाटकीयता का पूर्ण निर्वाह हुआ है और छ द की एक एक पक्ति म दो पात्रो का परस्पर सवाद समाप्त कर देना केशव की अपनी मौलिक विशेषता है। इससे इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी के प्रबन्ध काव्यो मे इतना जीव त सवाद लिखने मे कोई भी कवि समर्थ नही हो सका है। 'विज्ञान गीता केशव के दार्शनिक विचारो का सकलन है। जहाँगीर जस चन्द्रिका' तथा 'वीरसिंह देव चरित्र' म जहाँगीर और वीरसिंह का यश वर्णन है।

2 चिन्तामणि—चिन्तामणि का जन्मस्थान तिकवाँपुर जिला कानपुर माना जाता है। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। भूषण और मतिराम इनके भाई बताये जाते हैं। इनका जन्म स 1666 के लगभग माना जाता है। ये बहुत दिनो तक नागपुर म सूयवशी भोंसला राजा मकरन्दशाह के आश्रय मे रहे और उन्ही के निर्देश से उन्होने डिंगल ग्रन्थ की रचना की। सोलकी राजा रुद्रशाह और दिल्ली के सम्राट शाहजहाँ ने इनको बहुत दान दिया था। ये सोलकी राजा वही है जिन्होने भूषण कवि को 'भूषण की उपाधि से विभूषित किया था।

चिन्तामणि के बनाये छ ग्रन्थ कहे जाते हैं—'काव्यविवेक 'कविकुल-कल्पतरु 'काव्यप्रकाश' 'रसमजरी छन्द विचार पिंगल और 'रामायण। इनके अतिरिक्त इनका एक अन्य ग्रन्थ शृ गारमजरी भी उपलब्ध हुआ है पर यह इनका मौलिक

न होकर अनूदित ग्रंथ है। यह ग्रंथ मूलत संत अकबरशाह उपनाम 'बड़े साहब' द्वारा आन्ध्र भाषा मे प्रणीत है। ये संत शाहराजा के पुत्र और गोलकुण्डा के सुलतान अबुलहसन के चिरमित्र तथा गुरुपुत्र थे। उक्त ग्रन्थ का अनुवाद फिर संभवत संस्कृत मे हुआ और संस्कृत अनुवाद से चिंतामणि ने उसकी हिंदी छाया प्रस्तुत की। चिन्तामणि के उक्त छः मौलिक ग्रंथो मे से केवल दो उपलब्ध हैं– 'कविकुल कल्पतरू' और 'छंद विचार-पिंगल'। प्रथम ग्रंथ विविध काव्यांग निरूपक है और द्वितीय ग्रंथ छंदशास्त्र है।

'कविकुलकल्पतरू' मे काव्यस्वरूप, गुण अलकार दोष, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, नायक नायिका भेद नामक काव्यांगो का इसी क्रम मे निरूपण है। इस ग्रंथ के निर्माण म मम्मट, विश्वनाथ, धनजय, अप्पयदीक्षित, विद्यानाथ और भानुमिश्र के ग्रंथ की सहायता ली गयी प्रतीत होती है। ग्रंथ का लक्षण भाग दोहा-सोरठा छंदो मे है और उदाहरण-भाग कवित्त सवैया छंदो मे। कुछेक स्थलो मे गद्य का भी प्रयोग किया गया है। चिंतामणि ने इस ग्रंथ मे संस्कृत काव्यशास्त्रो से अधिकाधिक स्थूल सामग्री का सकलन करते हुए प्राय उसे शाब्दिक के रूप मे प्रस्तुत किया है। शब्द शक्ति, गुण प्रकरण तथा दोष प्रकरण के कुछेक स्थलो को छोडकर शेष ग्रंथ भाग मे इनकी शैली गम्भीर, विषयानुकूल और व्यवस्थित होने के कारण विषय को स्पष्ट करने म पूर्ण समर्थ है।

अपने प्रकार के प्रथम हिंदी आचार्य का यह समग्र प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है। यह ठीक है कि इनके ग्रंथ से भावी आचार्यों ने सामग्री नही ली, पर विविधाग-निरूपण से सम्बद्ध जो मार्ग इन्होने दिखाया उसी का अनुकरण भावी विविधाग निरूपक आचार्यों न भी किया। यह अलग प्रश्न है कि इस श्रेणी के आचार्यों की सख्या अन्य श्रेणियो के आचार्यो से कम है। चाहे हम इसे एक सयोग कह दें, पर मम्मट के आदर्श को लेकर चलने वाले सर्वप्रथम आचार्य ये ही हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि नायक नायिका भेद अथवा अलकार-ग्रंथो के रीतिकालीन निर्माताओ ने इनके आदर्श का अनुकरण नही किया। नायक-नायिका-भेद प्रकरण म इन्होंने जिस ग्रंथ– रसमंजरी' का प्रधानत आधार ग्रहण किया, उसी का आधार कृपाराम आदि सभी पूर्ववर्ती आचार्य ग्रहण कर चुके थे। इसी प्रकार इनके परवर्ती अलकार निरूपक अधिकतर आचार्यों ने इनके समान मम्मट अथवा विद्यानाथ का आदर्श न लेकर अप्पयदीक्षित का ही आदर्श लिया, जिसे उपलब्ध ग्रंथो के अनुसार सर्वप्रथम जसवन्तसिंह न अपनाया था। इस प्रकार यद्यपि सभी परवर्ती आचार्य इनके स्वीकृत आदर्श पर नही चले, पर विविधांग निरूपक आचार्यों का इन्ही के स्वीकृत आदर्श पर चलना इनके लिए कम गौरव की बात नही है। आचार्यत्व के अतिरिक्त इनका कवित्व भी कम सफल नही है। उदाहरणो की सरसता एव शृंगार रस की स्निग्धता रीतिकालीन आचार्यों की प्रमुख विशिष्टता रही है। चिंतामणि भी इसी विशिष्टता स युक्त हैं।

3 जसवन्तसिंह—महाराजा जसवन्तसिंह का जन्म स 1683 मे हुआ। ये मारवाड के प्रतापी हिंदू राजा थे। ये बडे वीर नरेश थे। कहा जाता है कि औरंगजेब को इनका सदा भय रहता था। औरंगजेब ने इन्हें कुछ दिनो के लिए गुजरात का सूबेदार बनाया था। वहाँ से शाइस्ताखाँ के साथ ये छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजे गये थे। कहते हैं कि इस चढाई मे शाइस्ताखाँ की जो दुर्गति हुई, वह बहुत कुछ इन्ही के इशारे से। अन्त में ये अफगानो पर विजय प्राप्त करने के लिए काबुल भेजे गये जहाँ सवत् 1735 म इनकी मृत्यु हो गयी।

जसवन्तसिंह साहित्य ममज्ञ, गुणज्ञ एव शासक थे, कवियो के आश्रयदाता थे। आचार्य रूप मे इनकी ख्याति का कारण इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाषा भूषण' है। इस ग्रथ के अतिरिक्त इन्होने तत्व ज्ञान सम्बन्धी ग्रथ भी लिखे हैं। जैसे 'अपरोक्ष सिद्धान्त', अनुभव-प्रकाश, 'आनन्द विलास', 'सिद्धान्त बोध', सिद्धान्त-सार'। इनके अतिरिक्त इन्होने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक भी लिखा है। 'भाषा भूषण' जयदेव प्रणीत 'चन्द्रलोक' की सक्षिप्त शैली मे लिखा गया है। जयदेव के समान इन्होने भी एक ही दोहे म अलकार के लक्षण तथा उदाहरण को समाविष्ट करने का प्रयास किया है। इस शैली से यह लाभ तो अवश्य होता है कि ग्रथ सुखपूर्वक स्मरण योग्य बन जाता है पर अत्यधिक कसावट के कारण उदाहरणो मे अलकार की रूपरेखा के अतिरिक्त अन्य कोई काव्य चमत्कार नही आ पाया। निस्सन्देह 'भाषा भूषण अपने युग का पाठ्य ग्रथ रहा है। सोमनाथ आदि आचार्यों ने अपने अलकार प्रकरण मे इसी ग्रथ को आधार बनाया है। इसी ग्रथ पर सात प्राचीन टीकाएँ लिखी गयी हैं जिनम से वशीधर, रणधीरसिंह, प्रतापसिंह गुलाब कवि और हरिचरणदास की टीकाएँ प्राप्त हैं। पर इस ख्याति का प्रधान कारण ग्रथ की सुगम, सुबोध, सक्षिप्त शैली है न कि काव्यसौष्ठव।

यह ग्रथ मुख्यत अलकार ग्रथ है। इसमे शब्दगत और अर्थगत कुल मिला कर 108 अलकारों का निरूपण है। इसके अतिरिक्त इसमें सक्षिप्त रूप से नायक-नायिका भेद तथा हाव भाव वर्णन की भी चर्चा की गयी है। ग्रन्थकार ने जयदेव की शैली को अपनाते हुए भी अलकारो के लक्षण निर्माण के लिए अप्पयदीक्षित के ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' की भी सहायता ली है। इससे उसकी सारग्रहण प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। इस सक्षिप्त प्रणाली का नमूना देखिए—

द्वितीय प्रतीप— उपमेय को उपमान तें, आदर जब न होइ।
गरब करति मुख को कहा, चदहि नीकैं जोइ॥

मीलित— मीलित सोई सादृस्य तें, भेद जब न लखाय।
अरुन बरन तिय-चरन पर जावक लख्यौ न जाय॥

4 मतिराम—मतिराम का जन्म स 1674 मे तिक्वाँपुर जिला कानपुर मे हुआ था। ये चिन्तामणि और भूषण के भाई कहे जाते हैं। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। इनकी मृत्यु स 1773 के लगभग हुई। बूँदी के महाराजा भावसिंह जो बडे भावुक और कविता प्रेमी थे, इनके आश्रयदाता थे।

मतिराम की गणना रीतिकाल के प्रमुख कवियो मे की जाती है। मिश्रबन्धुओ ने इन्हें हिन्दी के नवरत्नो मे स्थान दिया है। इनके द्वारा रचित ग्रथ के नाम हैं—'रसराज', 'ललित-ललाम', 'अलकार-पचाशिका', 'मतिराम सतसई', 'छन्दसार', 'साहित्य सार' और 'लक्षण-सार'। परन्तु इनकी ख्याति प्रधानत 'रसराज' और 'ललित ललाम' नामक ग्रथो के कारण ही है।

रसराज इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रथ है। यह ग्रथ शृगार रस प्रधान है। इसमें नायिका के सौन्दय वणन की कुशलता प्रशसनीय है। उदाहरण के लिए यहाँ एक पद दिया जा रहा है—

कुन्दन को रगु फीको लगै, झलकै अति अगन चारु गोराई।
आखिन में अलसानि, चितौनि में मजु विलासिन्ह की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहे मुस्कानि मिठाई।
ज्यो ज्यो निहारिये नेरे ह्व नैननि, त्यो-त्यो खरी निकरै-सी निकाई॥

'ललित ललाम' और 'अलकार पचाशिका' ये दोनो ही अलकार ग्रथ हैं। इनमें केवल अर्थालकारो को स्थान मिला है जो कि अप्पयदीक्षित कृत 'कुवलयानन्द' की शैली पर निर्मित हुए हैं। लक्षण दोहो-सोरठो में प्रस्तुत किये गये हैं और उदाहरण प्राय कवित्त-सवैयो में। ग्रथ के उदाहरण-भाग में शृगार रस के मर्मस्पर्शी चित्रो की झाँकी देखने को मिलती है। एक उदाहरण देखिए—

तेरे अग-अग मैं मिठाई औ लुनाई भरी,
मतिराम कहत प्रगट यह पाइए।
नायक के नैननि मैं नाइए सुधा सो, सब,
सौतनि के लोचननि लोन सो लगाइए॥

'मतिराम—सतसई' 'बिहारी सतसई' की भाँति शृगार-प्रधान सात सौ दोहो का ग्रथ है। मतिराम का विरह-वणन स्वाभाविक और सरस है। ये बिहारी की भाँति नायिका और विरह ताप को लेकर खिलवाड नही करते। एक उदाहरण देखिए—

बाल अलप जीवन भई, ग्रीषम सरित सरूप।
अब रस परिपूरन करो, तुम घनश्याम अनूप॥

मतिराम की भाषा ब्रज है। भाषा सौंदय की दृष्टि से मतिराम का वही स्थान प्राप्त है जो देव, बिहारी, पद्माकर आदि कवियो को है। इनके काव्य में उल्लेखनीय विशेषता यह है कि देव बिहारी की भाँति इनकी भाषा में कृत्रिमता नही आने पाई। इनकी भाषा छन्दो की भर्ती मात्र नही है। मतिराम की रचनाओं में अलकार-योजना सुन्दर, रस को सहायक तथा परिपोषक है। विषम अलकार का एक उदाहरण देखिए—

सेत सारी ही सों सब सौतें रगी स्याम रग।
सेत सारी ही सों रगे स्याम लाल रग में॥

इस प्रकार कह सकते हैं कि मतिराम की समस्त रचना, उनका एक एक

पद, उनकी कवित्वशक्ति और मौलिकता का प्रमाण है। इनके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह लिखा है–"भारतीय जीवन से छाँटकर लिये हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं। रीतिकालीन प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़कर किसी अन्य कवि में मतिराम की-सी चलती भाषा और सरस व्यंजना नहीं मिलती।"

5 भूषण—भूषण कानपुर, तिकवापुर के रहने वाले थे और जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके जन्म संवत् के सम्बन्ध में मतभेद है। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म संवत् 1738 माना है और मिश्र बन्धुओं ने 1692 बतलाया है। चिटनीस और मीर गुलामअली ने भी इन्हें मतिराम का भाई लिखा है। इनको चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र के यहाँ से 'कवि भूषण' की उपाधि मिली थी और ये उसी के नाम से प्रख्यात हो गये। यद्यपि ये कई राज दरबारों में गये तथापि इनको अपनी चित्तवृत्ति के अनुकूल शिवाजी और छत्रसाल ही मिले। ये साहूजी के दरबार में भी गये थे। छत्रसाल के दरबार में भी इनका बड़ा सम्मान था। कहते हैं कि इनके विदा होते समय महाराजा छत्रसाल ने इनकी पालकी के नीचे कन्धा लगाया था। तभी उन्होंने लिखा है कि 'साहू को सराहों क सराहो छत्रसाल को।' कहीं कहीं ऐसा भी पाठ है कि 'सिवा को बखानों क बखानो छत्रसाल को।' भूषण गये तो कई दरबारों में किन्तु उनका चित्त रमा शिवाजी के यहाँ रमा बसा और कहीं नहीं। एक सौ वर्ष की पूर्णायु में इनका देहान्त हुआ।

इनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई—'शिवराज भूषण' 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक'। 'शिवराज भूषण' अलंकार ग्रंथ है। इसमें रीतिकाल का प्रभाव है। 'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा' नाम के तीन ग्रंथ और इनके बताये जाते हैं। भूषण रीतिकाल के कवि अवश्य थे और उसके प्रमाण में अलंकार ग्रंथ भी लिखे, किन्तु अलंकार उनके साध्य न थे वरन् वे उनके भावों के प्रकाशन के लिए साधन मात्र थे। उनके काव्य में उनके हृदय की उमंग का परिचय मिलता है। जैसे देव और मतिराम के हृदय की उमंग शृंगार रूप में प्रवाहित हुई थी, उसी प्रकार भूषण के हृदय की हिलोर वीर रस में उमड़ रही थी। भूषण ने अलंकारों का लक्षण ग्रंथ अवश्य लिखा परन्तु उनका उद्देश्य मुख्य रूप से शिवाजी की प्रशंसा करना ही था। लक्षण उन्होंने किसी एक ही ग्रंथ से नहीं लिये हैं, अपितु उनमें कुछ अपनी बुद्धि से भी काम लिया है–'लखि चारु ग्रंथन निज मतोयुत सुकवि मानहुँ साख', इसलिए इनके लक्षण प्रामाणिक ग्रंथों से नहीं मिलते हैं। भूषण ने केवल प्रसिद्ध अलंकार ही लिये हैं। इनके लक्षण भी कहीं कहीं गड़बड़ हैं जैसे पंचम प्रतीप, छेकानुप्रास लाटानुप्रास सामान्य, आदि में हैं। लक्षणों की गड़बड़ी को आचार्य की स्वतन्त्र सूझ कह भी लें किन्तु कहीं कहीं जैसे परिणाम निदर्शना, अर्थान्तरन्यास विभावना आदि में उदाहरण लक्षणों के अनुकूल नहीं हैं। विभावना के एक उदाहरण में असंगति का चमत्कार अधिक है– दीन्हों कुज्वाब दिलीपति को अरु कीन्हों वजीरन को मुँह कारो। भूषण की महत्ता आचार्यत्व

में नहीं है, वरन् इस बात में है कि उन्होंने शृंगार की पिटी हुई लकीर को छोड़कर वीर रस के उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित किये।

भूषण की विशेषताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—इन्होंने वीर रस की कविता की और शिवाजी मे चारो प्रकार का गौरव दिखाया है। मुख्य मुख्य अलकारो के उदाहरणों मे भी शिवाजी का यश वर्णन किया है। काव्य प्रणाली रीतिकाल की ही रही, किन्तु विषय बदल गया। इनकी वाणी में ओज गुण की प्रधानता है किन्तु यह कुछ अव्यवस्थित सा है। इसमे टवर्ग और मीलित अक्षर भी प्राचुर्य के साथ पाये जाते हैं। इनको हिन्दुत्व का पूर्ण अभिमान था। इन्होंने काव्य मे साथ-साथ इतिहास का अच्छा निर्वाह किया है। इनके अलकारो के लक्षण कुछ अस्पष्ट और दूषित से हैं। (इसे आचार्यों की परिभाषा से भिन्न इनका स्वतन्त्र मत 'अपनो मतो' कहा जा सकता है।) इनकी कविता के नीचे दिये गये उदाहरण देखिए—

> छूटत कमान और तीर गोली बानन के,
> मुसकिल होति मुरचान हू की ओट म।
> ताही सम सिवराज हाँकि मारि हल्ला कियो,
> दावा बाँधि पर हला बीरभट जोट मे॥
> ताथ द-द मूछन कँगूरन पै पाँव द द,
> अरिमुख घाव द द कूदि परे कोट म॥
>
> × × ×
>
> साज चतुरग वीर रग मे तुरग चढि,
> सरजा शिवाजी जग जीतन चलत है।
> भूषन भनत नाद विहद नगारन के,
> नदी नद मद गैंबरन के रलत है॥
> ऐल फल खैल भल खलक मे गल-गल,
> गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है।
> तारा सो तरनि धूरि धारा मे लगत जिमि,
> धारा पर पारा पारावारयो हलत है॥

6 कुलपति मिश्र—ये महाकवि बिहारी के भाग्नेय थे। इन्होंने अपने जन्म से आगरे को गौरवान्वित किया था। ये जाति के चौबे थे और इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। ये अपने मामा के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार मे रहते थे। इनका रस सम्बन्धी ग्रन्थ 'रस रहस्य' बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लिखा गया है। इसमे शब्द-शक्ति का भी निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके अग्रांकित ग्रन्थो का और पता चलता है—(1) 'द्रोणपर्व', (2) 'मुक्त तरगिणि' (3) नखशिख (4) सग्रह सार तथा (5) गुण रस रहस्य। इन ग्रन्थो मे दी हुई तिथियो के

आधार पर इनका कविता काल संवत् 1724 और 1743 के बीच में ठहरता है। कुलपति मिश्र की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, कहीं कहीं उसमें प्राकृत का भी मिश्रण है। निम्नलिखित उदाहरण को देखिए—

ऐसिय कुंज बनी छवि पुंज, रहैं अलि गुंजति यों सुख लीजै।
नैन बिसाल हिए बनमाल, बिलोकत रूप सुधा भरि पीजै॥
जामिनी जाम कौन कहै, जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै।
आनंद यों उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै॥

7 आचार्य श्रीपति—इनके जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। ये कालपी के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके ग्रन्थ ये हैं—कवि कल्पद्रुम, रस सागर, अनुप्रास विनोद, विक्रम विलास, सरोजकलिका, अलंकार गंगा, काव्य सरोज। दुर्भाग्यवश इनकी कोई भी रचना प्राप्त नहीं है। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं "जो हो आचार्य श्रीपति का अपने युग में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका परिचय इसी बात से मिल जाता है कि दास जैसे प्रौढ़ आचार्यों ने इनके विवेचन के लिए कतिपय स्थलों को अपने काव्य निर्माण में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है।" डा भागीरथ मिश्र ने इनके आचार्य कर्म को लक्ष्य करके कहा है—"इन्होंने काव्यशास्त्र के दशांग का अत्यन्त पांडित्य के साथ विवेचन किया है तथा अपने पूर्ववर्ती कवियों तक के उद्धरण देने में संकोच नहीं किया। इससे यह कहा जा सकता है कि श्रीपति ने आचार्य कर्म को अत्यन्त दक्षता से निभाया है। इनमें एक आलोचक की प्रतिभा और निर्णय देने का साहस था। इनकी कविता रसानुप्राणित है। इन्होंने अनुप्रास का भव्य प्रयोग किया है। इनकी शैली अत्यन्त सरल और बोधगम्य है।"

8 सोमनाथ—इन्हें शशिनाथ भी कहते हैं। इनके पाँच ग्रन्थ मिलते हैं—रसपीयूष निधि, शृंगार विलास, कृष्ण लीलावली, पंचाध्यायी, सुजान विलास और माधव विनोद। इनमें प्रथम दो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निर्माण किया, अतः उनकी शैली सरल और संक्षिप्त है। इन पर मम्मट के काव्य प्रकाश तथा भानु मिश्र की रस तरंगिणी का पर्याप्त प्रभाव है। इन्होंने रस-पीयूष निधि में छन्दों का भी विवेचन किया है। रीति निरूपण में इनकी विशेषता है इनकी सरल शैली। कवित्व की दृष्टि से भी सोमनाथ का स्थान रीतिकालीन कवियों में महत्त्वपूर्ण है। कविता क्षेत्र में इन्हें सहज में मतिराम और देव की परम्परा में रखा जा सकता है।

9 पद्माकर—पद्माकर रीतिकाल के परवर्ती खेवे के कवियों में सर्वश्रेष्ठ अन्तिम कवि हैं। पद्माकर और प्रतापसाहि की सरसवाणी के पश्चात् रीति कविता ह्रासोन्मुखी होती गयी। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता मोहनलाल का जन्म बाँदा में हुआ था। ये पूर्व पण्डित और अच्छे कवि थे। अनेक राजदरबारों में इन्हें गौरवपूर्ण सम्मान मिला। प्रतापसाहि के यहाँ इन्हें एक अच्छी जागीर भी मिली और कविराज शिरोमणि की पदवी से विभूषित कर लिया गया। पद्माकर जी के

पुत्र थे। इनका जन्म स 1810 म बाँदा मे हुआ और इन्होंने 1890 म कानपुर मे गगा तट पर शरीर छोडा। पद्माकर भी अनेक आश्रयदाताओ के पास गये थे और वहाँ उन्हे आशातीत सम्मान मिला। जीवन के अन्तिम दिनो म इनमे विरक्ति सी आ गयी थी।

इनके लिखे हुए ये ग्रन्थ उपलब्ध हैं—हिम्मत बहादुर विरुदावली, जगद्-विनोद, पद्माभरण, विनोद पचासा, राम रसायन तथा गगालहरी। हिम्मत बहादुर विरुदावली नामक ग्र थ मे इन्होंने गोसाई अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर जो कि बडे अच्छे योद्धा थे, के वीरता के कार्यों का वीररसमयी फडकती भाषा मे वर्णन किया है। इनका जगद्विनोद नामक ग्रन्थ जयपुर के राजा प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह के नाम पर लिखा गया है। यह इनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। 'पद्माभरण' एक अलकार ग्रन्थ है। इसकी रचना उन्होंने जयपुर दरबार मे की थी। उदयपुर के महाराणा भीमसिंह की आज्ञा पर इन्होंने गनगौर के मेले का वर्णन किया जो कवित्व की दृष्टि से अत्यन्त अनुपम है। एक किंवदन्ती है कि इन्होंने हितोपदेश का भी भावानुवाद किया था। आयु के अन्तिम दिनो मे ये रोग-ग्रस्त रहा करते थे। उसी समय इन्होंने प्रबोध पचासा नामक विराग और भक्ति से पूर्ण ग्रन्थ लिखा। कानपुर मे रहते समय इन्होंने गगालहरी नामक ग्रन्थ बनाया। रामरसायन वाल्मीकि रामायण का आधार लेकर दोहे चौपाइयो मे लिखा गया एकचरित काव्य है। इसमे इन्हे विशेष सफलता नही मिली। आचार्य शुक्ल का कहना है कि "सभव है, यह इनका बनाया हुआ न हो।"

पद्माकर की भाषा ब्रजभाषा है। शब्दो का लाक्षणिक प्रयोग तथा विशुद्ध मधुर पदावली इन्हे रीतिकालीन बिहारी आदि महाकवियो की पक्ति मे ला बिठाती है। इनके कवित्त-सवैय देव की रचना की तुलना करते हैं। भाषा की अनुप्रासमयता पर विशेष बल देने के ये अभ्यासी न थे, फिर भी यत्र तत्र ऐसा स्वरूप देखने को मिल जाता है। इन्होंने रीतिकालीन अन्य कवियो की भाँति शब्दो को तोडा मरोडा नही है। इनकी रचना म कोमलकान्त पदावली तथा सरस भावनाओ का मणिकाचन सयोग स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है। पद्माकर के कवित्त जैसे ओजपूर्ण होते थे वैसे ही ये स्वय पन्त भी ओजपूर्ण रीति से थे। कहते हैं कि इनकी ख्याति सुनकर ग्वालियर नरेश दौलतराव सिंधिया की इनसे मिलने की प्रबल इच्छा हुई थी। पद्माकर उस समय कुष्ट रोग से ग्रस्त थे। महाराज को मत्रियो ने शास्त्राज्ञा बताई कि कोढी आदि रोगियो को राजा के लिए देखना निषिद्ध है। महाराज की इच्छा प्रबल थी अत पद्माकर और राजा के बीच एक पर्दा डालने की व्यवस्था की गयी। किन्तु जब पदमाकर न अपने भडकील कवित्त महाराज की प्रशसा मे सुनाने आरम्भ किय तो महाराज से न रहा गया और उन्होंने पर्दे को एक ओर हटाकर पदमाकर को गले लगा लिया।

कहा जाता है कि 'गगालहरी' नामक ग्रन्थ पद्माकर का कोढी अवस्था म लिखा गया है। यह प्रसिद्ध है कि गगा की स्तुति मे कवित्तो को कहते रहने पर, इनका कुष्टरोग सर्वथा जाता रहा। सक्षेप म, पद्माकर के काव्य की विशेषताएँ हैं

उत्कृष्ट कल्पना की उड़ान, विषय-विवेचन की विशुद्धता और कोमलकान्त मधुर पदावली तथा शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग। इन्हीं गुणों के कारण ही पदमाकर की रीतिकाल के प्रमुख कवियों में गणना की जाती है। इनकी रचना के कुछेक उदाहरण देखिए—

घर ना सुहात ना सुहात वन बाहर हूँ,
बाग ना सुहात जे खुशाल खुशबोही सो।
कहे पद्माकर घनेरे धन धाम त्यों ही,
चन्द ना सुहात चाँदनी हूँ जोग जाही सो॥
साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माँझ कछू,
व्यापी यह बात, सो बखानत हौं तोही सो।
रीति न सुहात न सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सो॥

10 देव—देव भी रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों में माने जाते हैं। इनका पूरा नाम देवदत्त था। ये इटावा के रहने वाले थे—"द्योसरिया कवि देव को, नगर इटावो वास"। मिश्र बन्धुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण माना है और आचार्य शुक्ल जी ने इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण कहा है। 'भाव विलास' के हिसाब से (जिसको उन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में लिखा था) देव का जन्म सं 1730 में बैठता है। इनकी पुस्तकों से यह प्रतीत होता है कि वे कई राजा रईसों के दरबार में रहे किन्तु इनकी चित्तवृत्ति कहीं एक जगह नहीं रमी। शायद इनको अपने मन के अनुकूल आश्रयदाता न मिला। अपने आश्रयदाताओं में ये भोगीलाल से, जिनके लिए 'रस विलास' बनाया था, अधिक प्रसन्न रहे दीखते हैं। यदि एक ही राजा के आश्रित होते तो शायद इनकी प्रतिभा इतनी सर्वतोमुखी न होती। पर्यटन से इनका ज्ञान व्यापक और विस्तृत हो गया। ये औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के दरबार में भी रहे थे। वह हिन्दी का बड़ा प्रेमी था। उसको उन्होंने अपने 'अष्टयाम' और 'भाव विलास' सुनाये। इन्होंने अपना 'सुख सागर तरंग' नाम का ग्रन्थ पिहानी के अकबर अलीखाँ को समर्पित किया। इस आधार पर इनका संवत 1824 तक जीवित रहना सिद्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि ये 94 वर्ष से अधिक जिए।

इनके ग्रन्थों की संख्या कुछ लोग 76 कहते हैं और कुछ लोग 52 बताते हैं। इनमें से भाव विलास, अष्टयाम, भवानी विलास, कुशल विलास, प्रेम चन्द्रिका सुख सागर-तरंग, नीति शतक सुजान विनोद राग रत्नाकार, देव-चरित्र, सुन्दरी सिन्दूर (भारतेन्दु द्वारा किया हुआ देव काव्य का संग्रह), शिवाष्टक, प्रेम तरंग देव माया प्रपंच देव शतक, वृक्ष विलास पावस विलास रसानन्द लहरी, प्रेम दीपिका, प्रेम चन्द्रिका' में परमोच्च साहित्यिक गौरव है। शब्द रसायन में आचार्यत्व, 'भाव विलास में रीति कथन, वृक्ष विलास में अन्योक्ति देव माया प्रपंच' नाटक में (प्रबोध चन्द्रोदय के ढंग का) धर्म विवेचन, देव चरित्र में कृष्ण कथा तथा अन्य ग्रन्थों में अन्य अनेकानेक विषय हैं।

इन ग्रन्थो से इनके मानसिक क्रम-विकास का भी थोडा पता चलता है। यौवन की तरग मे उन्होंने खूब शृगारिक कविता लिखी थी। अन्त मे (सत्तर वर्ष की अवस्था के लगभग) इनका झुकाव ज्ञान और वेदान्त की ओर हो गया था। रीतिकाल के ग्रन्थकारो मे शायद ही किसी कवि ने इतनी विस्तृत रचनाएँ की हो। रचना बाहुल्य का यह कारण ज्ञात होता है कि इनके ग्रन्थो मे एक दूसरे ग्रन्थ से बहुत-सी सामग्री लेकर दुहराई गई।

देव आचार्य और कवि दोनो ही रूपो मे हमारे सामने आते हैं। इन्होंने नीति सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे हैं और उनमे काव्यांगो का अच्छा निरूपण किया है। 'शब्द रसायन' इनका प्रधान ग्रन्थ है। किन्तु इनके काव्यशास्त्र सम्बन्धी विचार जानने के लिए 'भाव विलास' और 'भवानी विलास' का भी पढना आवश्यक है। काव्य रसायन मे काव्यशास्त्र के प्राय सभी अगो का वर्णन है। नव रसो मे वे शृगार को प्रधानता देते हैं। वृत्तियो म वे अभिधा को मुख्यता देते हैं। देव में कुछ नवीनता लाने की प्रवृत्ति अधिक है। वे शान्ति के स्थायी भाव को समबुद्धि मानते है। सचारियो के दो भेद कर सात्विक भावो को उन्होने तन सचारी अथवा कायिक सचारियो मे रखा है। अन्य आचार्य इनको अनुभावो के अन्तर्गत मानते हैं। देव ने साधारण सचारियो को मन-सचारियो मे रखा है। देव ने चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, आदि विरह की दशाओ के भी अवान्तर भेद माने हैं। इस प्रकार देव मे भेद प्रभेद करने और कुछ लक्षणो के हेर-फेर करने की नवीनता अवश्य है किन्तु सद्धान्तिक विवेचन म वे विशेष मौलिकता न ला सके। यह बात और किसी रीति-कालीन आचार्य मे न थी।

मिश्र बन्धुओं के मत मे उन्होने 'तात्पर्य वृत्ति' और 'छल' सचारी को मानकर मौलिकता का परिचय दिया है। किन्तु वास्तविक बात ऐसी नही जान पडती है। तात्पर्य वृत्ति सस्कृत के आचार्यों तक ने भी मानी है। रीतिकाल के अन्य कवियो की अपेक्षा आचार्यत्व मे ये बहुत बढे चढे हैं और इनके मुकाबले के लिए कोई खडा हो सकता है तो वे केवल केशवदास ही है। यह कहना कठिन है कि देव और केशवदास मे आचार्यत्व की दृष्टि से कौन बडा है किन्तु रीतिकाल के प्रवर्तक होने के कारण केशव का कार्य स्तुत्य है। केशव मे पाण्डित्य अधिक है, पर देव की सी स्पष्टता नही। देव के उदाहरण निश्चय ही अधिक सरस हैं, प्रेम का विवेचन बहुत सुन्दर है। कवित्व की दृष्टि से चाहे वे बिहारी के बराबर न ठहरें तथापि अनुभव का विस्तार और सूक्ष्म दृष्टि से वे बिहारी से बडे हैं। उनकी उद्भावनाएँ कही कही बडी मौलिक हैं। 'मधु की मखियाँ अखियाँ भई मेरी', 'गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात' की उक्तियाँ बहुत सुन्दर बन पडी हैं।

देव की कविता म पद मैत्री तथा यमक और अनुप्रास मिलने का चमत्कार अच्छा दिखाया गया है। पदो के बीच म अनुप्रास मिलाने के लिए एक-से शब्दो का लाना उनकी भाषा की एक विशेषता सी है। इस कारण उन्होंने शब्दो को कही तोडा मरोडा नहीं है। भाषा का सौन्दर्य जो मतिराम म है, वह देव मे नही। देव

की नायिकाओं की भाँति उनकी भाषा भी सालकार है। उनकी भाषा में अलकारों की झनझनाहट खूब दिखाई देती है। देव के कवित्व और भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी का मत इस प्रकार है—

"कवित्व शक्ति और मौलिकता देव मे खूब थी, पर उसके सम्यक् स्फुरण मे उनकी रुचि-विशेष प्राय बाधक हुई है। कभी कभी वे कुछ बडे और पेचीदे मजमून का हौसला बाँधते थे, पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच मे ही उसका अग भग करके सारे पद्य को कीचड में फँसा छकडा बना देती थी। भाषा में रसार्द्रता और चलतापन कम पाया जाता है। कही कही शब्द व्यय अधिक है, और अर्थ बहुत अल्प। अक्षर मैत्री के हिसाब से इन्हे कही-कही अशक्त शब्द रखने पडते थे जो एक ओर तो भद्दी तडक-भडक दिखाते थे और दूसरी ओर अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुक और अनुप्रास के लिए वे कही-कही शब्दो को तोडते मरोडते ही न थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह से मिलता है या जहाँ उसमे कम बाधा पडी है, वहाँ की रचना बहुत ही सरस हुई है। रीतिकाल के कवियो मे ये बडे ही प्रगल्भ और प्रतिभा सम्पन्न कवि थे, इसमे सन्देह नही। इस काल के कवियो मे इनका विशेष गौरव का स्थान है। कही-कही इनकी कल्पना बहुत सूक्ष्म और गूढ है।"

देव के काव्य म भाषा, अलकार, भाव वर्णन आदि से सम्बन्धित अनेक विशेषताएँ हैं, जो सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(1) देव कवि और आचार्य, दोनो ही थे। आचार्य रूप से उन्होने शृंगार रस को मुख्यता दी है।

(2) देव शृंगार के सुमधुर कवि हैं। उनके काव्य म सयोग शृंगार के मधुर चित्र तो यत्र तत्र सवत्र हैं ही, वियोग के मार्मिक चित्रो की भी उनके काव्य मे कमी नही है।

(3) इनकी कविता मे चोरी बहुत कम है। अधिक निलज्जता भी नही पाई जाती। मौलिकता और शालीनता इनके विशिष्ट गुण हैं।

(4) देव का भाषा पर विशेष अधिकार था। उनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। भाषा-साहित्य में देव और मतिराम, इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। मिश्र बन्धुओं की राय मे देव की भाषा मतिराम की अपेक्षा अधिक उत्तम है क्योंकि इसमे अनुप्रास और यमक का अच्छा चमत्कार है। इन्होने प्रचलित लोकोक्तियों का अपनी कविता मे बडे मनोरम रूप मे प्रयोग किया है। प्रसाद, समता, माधुय, सुकुमारता, अर्थाभिव्यक्ति समाधि और उदारता नामक गुण देव की रचना म पाए जाते हैं।

(5) बाह्य प्रकृति की ओर देव की निगाह कम गई है किन्तु जो भी वर्णन हैं वे बहुत अच्छे और सजीव हैं।

(6) इनकी कविता में अलकार, गुण, लक्षणा, व्यजना का चमत्कार अच्छा दिखलाई देता है।

(7) देव ने ऊँचे ख्यालात बहुत अच्छे बाँधे हैं।

(8) देव ने बहुत से चोज भी कहे हैं, जैसे—'जोगहू ने कठिन संजोग परनारी को'।

(9) देव की बहुज्ञता बहुत बढी-चढी है।

(10) देव की भाषा मे अनुप्रासो की अच्छी छटा दिखलाई देती है।

11 भिखारीदास—रीतिकाल के सर्वांग विवेचक कवियो मे आचार्य भिखारीदास का नाम सर्वाधिक सम्मान के साथ लिया जाता है। उत्तरप्रदेश के जिला प्रतापगढ स्थित ट्योगा नामक ग्राम के कायस्थ कुल मे इनका जन्म हुआ था। इनका कविता काल 1725-1760 ई के बीच ठहरता है। 1734 से 1750 तक ये प्रतापगढ के अधिपति पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपतसिंह के आश्रय मे रहे। इनके रचे हुए ये सात ग्रन्थ उपलब्ध है—रससाराश, काव्यनिर्णय, शृगारनिर्णय, छन्दोर्णवपिंगल, शब्दनाम कोश, विष्णुपुराण, भाषा और शतरजशतिका। इनमे अन्तिम तीन के नामो से ही स्पष्ट है कि ये क्रमश शब्दकोश, विष्णुपुराण का भाषानुवाद तथा शतरज के खेल से सम्बधित हैं। शेष चारो का विषय काव्यांग-विवेचन है। इनमे 'रस सारांश' और 'शृगारनिर्णय' के अन्तर्गत क्रमश रस की सामग्री और उनके भेदो तथा नायक नायिका भेद का वर्णन किया गया है। इनका आधार भानुमिश्र की 'रसमजरी' और 'रसतरगिणी' तथा रुद्रभट्ट के शृगार-तिलक' के अतिरिक्त केशव, चिन्तामणि तोष आदि के एतद्विषयक ग्रन्थ रहे हैं। 'काव्यनिर्णय' मे मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, जयदेव तथा भानुमिश्र के अतिरिक्त हिन्दी के केशव, चिन्तामणि, तोष आदि अनेक पूर्ववर्ती रीति कवियो का आश्रय लेकर क्रमश काव्य प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-पुरुष स्वरूप, काव्य भाषा, उत्तम काव्य के रचयिता के गुण, शब्द शक्ति, रस सामग्री, अपरांग, ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य, अलकार, गुण, शब्दालकार, चित्रालकार तुक और दोष का गम्भीरता-पूर्वक विवेचन किया गया है। 'छन्दोर्णवपिंगल' मे सस्कृत, प्राकृत तथा ब्रजभाषा मे लिखे गए छन्दोविवेचन विषयक ग्रन्थो के आधार पर छन्दोनिरूपण अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है। इन चारो ग्रन्थो की रचना 1737 और 1750 के बीच हुई।

रीतिनिरूपण के क्षेत्र में आलोचक-दृष्टि एव मौलिक चिन्तन इनके विवेचन की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ कही जा सकती हैं। रीतिकाल के अन्तर्गत सम्भवत ये ही सबसे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होने सस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रकाश मे अपने पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य का सम्यक् अध्ययन कर उसमें से तदनुरूप उदाहरणो के चयन द्वारा अपनी आलोचक दृष्टि का ही परिचय नही दिया, आधुनिक हिन्दी आलोचना का शिलान्यास भी एक प्रकार से किया। काव्य के प्रयोजनो के प्रसग में प्रत्येक के भीतर आने वाली हिन्दी की विशिष्ट रचनाओ के रचयिताओं का नामोल्लेख तथा विभिन्न काव्य दोषो के लिए हिन्दी-कवियो की रचनाओ का उदाहरण रूप में चयन इसका पुष्टप्रमाण

है। इसके अतिरिक्त 91 अर्थालंकारों का 12 मूल अलंकारों के आधार पर वर्गीकरण तथा वामन सम्मत 10 गुणों का चार वर्गों में और अवस्थानुसार नायिकाओं के स्वाधीनपतिकादि आठ भेदों का दो वर्गों में विभाजन प्रस्तुत करके ही इन्होंने अपने मौलिक चिंतन का परिचय नहीं दिया है, शृंगार के सम और मिश्रित, सामान्य और संयोग तथा नायक जन्य और नायिका जन्य के नाम से भेद नए ढंग से प्रस्तुत कर यह भी प्रकट कर दिया है कि ये कितनी गहराई तक जा सकते थे। डॉ नगेन्द्र ने लिखा है—

"'काव्य प्रकाश' के आधार पर इन्होंने जिस रस ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है, उसका समुचित निर्वाह इनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह रही है कि ध्वनिपरक होने पर भी इनमें किसी प्रकार की क्लिष्टता नहीं आ पाई, सीधे-सरल बिम्बों की अनुरंजकता से इन्होंने उन्हें मर्मस्पर्शी बनाया है। दूसरी ओर इनकी भाषा व्याकरण और सौष्ठव, दोनों ही दृष्टियों से परिमार्जित है। विषयानुरूप संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का ही इन्होंने प्रयोग नहीं किया, अरबी और फारसी की शब्दावली को भी बिना किसी संकोच के ग्रहण किया है। वास्तव में शब्द चयन इनकी कविता में कुछ इस प्रकार से हुआ है कि प्रत्येक शब्द के अर्थ में निहित विशिष्ट व्यंग्य सूक्ष्म होता हुआ भाव को रस-कोटि तक पहुँचाता है। दूसरे शब्दों में, इनके काव्य में भाव और भाषा अथवा बिम्ब और उसकी अभिव्यक्ति का सहज एवं स्वाभाविक सामंजस्य हुआ है।"

12 रसिकगोविन्द—रीतिकाल के अन्तर्गत जिन भक्त-आचार्यों ने रीति साहित्य को समृद्ध किया, उनमें रसिकगोविन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म 1743 ई के आसपास राजस्थान के जयपुर नगर में नाटाणी गोत्रीय खण्डेलवाल वैश्य परिवार में हुआ था। कहा जाता है कि दैवी प्रकोप अथवा राजप्रकोप के कारण सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर ये वृन्दावन चले आए थे और निम्बार्क सम्प्रदाय की हरिव्यासीय गद्दी की परम्परा में सर्वेश्वरशरण देवाचार्य के शिष्य बन कर रहने लगे थे। यहीं पर इनकी मृत्यु 1938 ई में हुई। इनके द्वारा रचे हुए ये दस ग्रन्थ कहे जाते हैं—रामायणसूचनिका, कलियुग रासो, अष्टदेशभाषा, समयप्रबन्ध, युगलरसमाधुरी पदावली, रसिकगोविन्दानन्दघन, पिंगल, लछिमनचन्द्रिका और रसिकगोविन्द। इनमें प्रथम आठ ही आज उपलब्ध हैं। अनुपलब्ध ग्रन्थों के विषय में विद्वानों का कथन है कि 'लछिमनचन्द्रिका' काव्य के किन्हीं लछिमन नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मण को शिक्षा देने के लिए 'गोविन्दानन्दघन' की भूमिका के रूप में उसके समस्त लक्षणों का संग्रह मात्र है जबकि 'रसिकगोविन्द' 'भाषाभूषण' की शैली पर लिखा हुआ रस निरूपण का ग्रन्थ है। उपलब्ध ग्रन्थों में केवल 'गोविन्दानन्दघन' और 'पिंगल' ही रीतिग्रन्थ हैं शेष भक्ति अथवा नीतिविषयक छोटी बड़ी रचनाएँ हैं।

गोविन्दानन्दघन चार प्रबन्धों में विभक्त विशालकाय ग्रन्थ है। प्रथम प्रबन्ध

सचारी और स्थायी भावा के लक्षण उदाहरण दिए गए हैं। द्वितीय प्रबन्ध मे नायक-नायिका भेद, नायक सखा, दूती और उसके कर्मों का वणन मनोयोगपूवक किया गया है। तृतीय प्रबन्ध मे दोष लक्षण, दोष भेद तथा दोष-समाधान का सविस्तार वणन किया गया है जबकि चतुथ मे माधुर्यादि तीन गुणो, उपनागरिकादि तीन वृत्तियो तथा 5 शब्दालकारो और 123 अर्थालकारो के क्रम से 128 अलकारो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही स्थान स्थान पर काव्य लक्षण, काव्य-भेद शब्द-शक्ति आदि के विषय में भी इसके रचयिता का दृष्टिकोण व्यक्त होता गया है। कवित्व की दृष्टि से इनका अपना कोई महत्त्व नही—ग्रन्थकार के अपने छन्द एक तो सख्या मे बहुत कम हैं और उस पर भी उसमे कवित्व अत्यन्त साधारण कोटि का ही है। वसे भी, उसके ग्रथ इस दृष्टि से साधारण ही हैं।

13 प्रतापसाहि—प्रतापसाहि बुन्देलखण्ड निवासी रतनेस बन्दीजन के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता चरखारी के महाराज विक्रमसिंह थे। शिवसिंह सरोज' के अनुसार ये कवि महाराज छत्रसाल पन्नापुरन्दर के यहाँ भी रहे थे। इनका रचना-काल स 1880 से 1900 तक माना जाता है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ ये कहे जा सकते हैं—'जयसिंह-प्रकाश', शृगार मजरी 'व्यग्यार्थकौमुदी', शृगार-शिरोमणि', 'अलकार चिन्तामणि', काव्य-विनोद और जुगल-नखशिख'। इनके अतिरिक्त अपने काव्य विलास' मे इन्होने 'रसचन्द्रिका' ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। 'जयसिंह प्रकाश' को छोडकर शेष सभी काव्यशास्त्रीय ग्रथ प्रतीत होते हैं। इनमे से केवल दो ग्रथ उपलब्ध हैं—'काव्य विलास' और 'व्यग्यार्थकौमुदी'। इनके अतिरिक्त इन्हाने भाषा भूषण' (जसवन्तसिंह कृत) रसराज' (मतिराम कृत) 'नखशिख' (बलभद्र कृत) और 'सतसई' (सम्भवत बिहारी कृत) इन ग्रथो की टीकाएँ भी लिखी हैं।

'व्यग्यार्थकौमुदी' की रचना सवत् 1822 मे हुई थी। इसके दो भाग है—मूलभाग और वृत्तिभाग। लगभग सम्पूण मूलभाग मे इन्होने भानुमिश्र के नायक-नायिका भेदो का लक्ष्य मे रखकर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं और गद्यबद्ध वृत्तिभाग मे प्रत्येक उदाहरण से सम्बद्ध नायक-भेद अथवा नायिका-भेद का तथा शब्द शक्ति और अलकार के भेद का निर्देश करके इन भेदो के सामान्य परिचयात्मक लक्षण भी प्रस्तुत कर दिए हैं। इस प्रकार वृत्तिभाग से समन्वित यह एक लक्षण-ग्रथ है और इसके बिना मूलत लक्ष्य-ग्रथ। निस्सन्देह यह अपने प्रकार का विचित्र प्रयोग है। सम्भव है ऐसे ग्रथ उस युग मे अन्य भी लिखे गए हो। लगभग इसी आदश पर निर्मित राव गुलाबसिंह प्रणीत वृहद् व्यग्यार्थकौमुदी' नामक प्रकाशित ग्रथ हमारे सामने देखने मे आया है। स्पष्ट है कि प्रतापसाहि का उक्त ग्रथ मूलत ध्वनि तथा व्यग्यार्थ का विवेचक ग्रथ नही है, जसा कि लगभग सभी हिन्दी साहित्य के इतिहासकारा ने माना है।

'काव्य विलास' का निर्माण स 1886 मे हुआ। यह विविध काव्याग-निरूपक ग्रथ है। इसमे काव्य स्वरूप, शब्द शक्ति, ध्वनि, रस गुणीभूत व्यग्य गुण

और दोष का निरूपण है। इसमे नायक-नायिका भेद और अलकारो का निरूपण नही है। इसमे यत्र-तत्र गद्य का भी प्रयोग हुआ है। इस ग्रथ के प्रारम्भ म ही काव्य लक्षण प्रसग के अन्तर्गत भीषण भ्रान्तियो को देखकर ग्रथकार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है पर आगे वस्तुस्थिति लगभग सम्भल जाती है। आगामी प्रकरणो मे जो अशुद्ध विवेचन है, वे इतने भ्रामक नही हैं। उदाहरणार्थ शब्द शक्ति-प्रकरण मे सकेतग्रह प्रसग भ्रमपूर्ण है। लक्षणामूला व्यजना के भेद अशास्त्रीय हैं। लक्षणा के भेदोपभेदो की गणना शिथिल है। दोष प्रकरण मे च्युत सस्कृति सदिग्ध विरुद्धमतिकृत अपुष्ट आदि दोषो के लक्षण अथवा उदाहरण अशुद्ध हैं। इसी प्रकार इनका गुण-प्रकरण भी नितान्त शिथिल एव अव्यवस्थित है। इनके अतिरिक्त इस ग्रथ म नाम मात्र के लिए भी मौलिकता नहीं है। निस्सदेह इस ग्रथ का अधिकतर भाग शास्त्रसम्मत है, पर पद्य एव गद्य भाषा की असमर्थता इन्हें स्पष्ट करने म नितान्त अनुपयुक्त सिद्ध हुई है। ग्रथ के अधिकाश भाग म किसी सस्कृत के आचार्य का आधार ग्रहण न कर कुलपति का आधार ले लेना लेखक म आत्म-विश्वास के अभाव का सूचक है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रीय विषय से य अवगत अवश्य थे क्योकि इनके अधिकाश उदाहरण शास्त्रसम्मत एव विशुद्ध हैं। य उदाहरण काव्य-सौष्ठव से भी पूर्ण है। इनके दो पद्य लीजिए—

(1) मनिमय मदिर के आँगन अनोखी बाल
बठी गुरु लोगन मे सोभा सरसाई क।
गरक गुलाब नीर, अरक उसीरन के,
राखे उनै औरन सुगध बगराइ क।
कहै परताप पिय नन के इसारतनि,
सारति जनाई मुख मृदु मुस्क्याइ क।
बोली नहि बोल कछु सुदरि सुजान रही,
पुण्डरीक-सुमन सोहायो दिनराइ क॥

(2) तडपै तडिता चहुँ औरन त
छिति छाइ समीरन की लहरें।
मदमाते महा गिरिशृ गन प
गन मजु मयूरन के कहर।
इनकी करनी बरनी न पर
मगरूर गुमानन सो गहरें।
घन ये नभ मडल म छहरें,
घहरें कहूँ जाय, कहूँ ठहरें॥

14 तोषनिधि—इनका निवास स्थान शृ गवेरपुर था और इनके पिता का नाम चतुर्भुज शुक्ल था। इनका सुधानिधि नामक रस-भेद और भाव भेद सम्बन्धी ग्रथ बहुत प्रसिद्ध है। इनकी रचना स 1791 मे हुई मानी जाती है। विनयशतक' और नखशिख' नाम के दो और ग्रन्थो का पता चलता है। इनके लक्षण सुलभ एव

शास्त्रसम्मत हैं और उदाहरण बड़े सरस और हृदयग्राही हैं। इनकी भाषा स्वाभाविक प्रवाह के साथ आगे बढ़ती है इसलिए इनके भावों का विधान सघन होने पर भी कहीं उलझा नहीं है। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए—

एक रहे हँसि उद्धवजू ! ब्रज की जुवती तजि चन्द्रप्रभा सी।
जाय कियो कहँ तोष प्रभु ! इक प्रानप्रिया लहि कंस की दासी।।
जो हुते कान्ह प्रवीन महा सो, हहा ! मथुरा में कहाँ मति नासी।
जीव नहीं उबियात जब ढिग पौढ़ति है कुबिजा कछुआ सी।।

15 रसलीन—ये मुसलमान कवि हैं। इनका पूरा नाम सय्यद गुलामनबी था। इनका 'अंग-दर्पण' नाम का ग्रंथ सं 1794 में लिखा गया था। ये सूक्तियों के चमत्कार के लिए बड़े प्रसिद्ध हैं। 'अमिय हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार' वाला प्रसिद्ध दोहा इनका ही है जिसको लोग भूल से बिहारी का समझते हैं। इनकी कविता के कुछ उदाहरण देखिए—

मुख ससि निरख चकोर अरु, तन पानिय लखि मीन।
पद पंकज देखत भँवर होत नयन रसलीन।।
धरति न चौकी नगजरी, यातें उर में लाइ।
छाँह परे पर पुरुष की, जनि तिय धरम नसाय।।
तिय सैसव जोबन मिले, भेद न जान्यो जात।
प्रात समय निसि द्यौस के दुवौ भाव दरसात।।

16 दूलह—ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। इनका रचना काल सं 1825 से 1900 के लगभग माना जाता है। 'कवि कुल कण्ठाभरण' इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह ग्रंथ कवित्त और सवयों में है। इन्होंने एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण दिए हैं। इनका अलंकारों का विवेचन बड़ा स्पष्ट और सुबोध है। इसलिए किसी कवि ने कहा है—"और बराती सकल कवि, दूलह दूलहराय।" उदाहरणस्वरूप दूलह का दिया हुआ व्यतिरेक का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत है—

उपमेय उपमान तें विशेष व्यतिरेक सो,
अधिक न्यून सम त्रिविधि बखानो है।
कह कवि दूलह निहारे चकचौंधी लगे,
कुंदन सा रूप पै सुगंध सरसानो है।।
सुन्दर सरस सुकुमार मुख कमल सो,
रवि को उदोत होत ही में कुह्लानो है।
घनश्याम ही में बसै जगर-मगर होति,
दामिनि औ कामिनी कहेई भेद जानो है।।

17 बेनी प्रवीन—ये लखनऊ के रहने वाले वाजपेयी ब्राह्मण थे। इनका 'नवरस तरंग' नाम का ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है और अब यह प्रकाशित भी हो चुका है।

यद्यपि पुस्तक का नाम 'नवरस तरग' है तथापि इसमे विशेषकर शृगार और नायिका-भेद का ही वर्णन है, अन्य रसो का वर्णन बहुत ही सक्षेप मे ह। यही हाल प्राय सभी रीति ग्रथो का है। ऋतुओ का वर्णन परम्पराओ के अनुसार उद्दीपन विभाग के रूप मे है और उसमे तत्कालीन ऐश्वयवान लोगो के भोग विलास की सामग्री का चित्रण अच्छा है। भाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार ? । इनकी भाषा मतिराम और पद्माकर की टक्कर की है। इनके सवये बडे चुभते हैं। उदाहरणार्थ ये पक्तियाँ देखिए—

> घोखे कढी हुती पौरिलौं राधिका, नन्दकिशोर तहाँ दरसाने।
> बेनी प्रवीन देखा देखी ही में, सनेह समूह दोऊ सरसाने॥
> झाँकि झरोके सक न सकोचन, लोचन नीर हिये उरसाने।
> मेरी न बेरी सुन समुझ न बै, फेरि सी देति फिर बरसाने॥

18 ग्वाल—ये मथुरा के रहने वाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके पिता का नाम सेवाराम था। इनका रचना-काल स 1879 से 1918 तक माना जाता है। इनके ऊपर रीतिकाल का प्रभाव पूरी तरह से था। उन्होने सब ऋतुओ का वर्णन किया है, उन्ही के साथ तत्कालीन वभव का भी अच्छा चित्रण है। देखिए—

> जेठ को त्रास जाके पास मे विलास होय,
> खस के मवास प गुलाब उछल्यो कर।
> बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के बरक भरे,
> पेठे पाठ केवरे मे बरफ परयो कर॥
> ग्वाल कवि चदन चहल मे कपूर चूर,
> चन्दन अतर तर बसन खर्यो कर।
> कज मुखी कज नैनी कज के बिछौना प,
> कजन की पखी पर कज लै करयो कर॥

इन्होने 'रसिकानन्द', 'रसरग', 'कृष्णजू को नखशिख' और 'दूषण-दपण' नाम के चार ग्रथ लिखे हैं। और भी कई छोटे-छोटे ग्रथ जसे 'गापी-पचीसी', 'रामाष्टक', 'कृष्णाष्टक आदि लिखे हैं। साधारण जनता मे इनकी कविता का प्रचार अच्छा है।

19 सेनापति—इनका जन्म स 1646 के लगभग अनूपशहर म एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। ये राजदरबार के सम्पर्क म अवश्य रहे मालूम पड़ते हैं किन्तु इन्होंने अपने जीवन का उत्तरकाल सन्यास म ही व्यतीत किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इनको राजदरबार से घृणा हो गई थी—' वारि बरदान तजि पायक म्लेच्छन के, पायक म्लेच्छन के काहे को कहाइये"। इनकी कविता घनाक्षरिया में है। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनकी भाषा बहुत ही सुगठित, सजीव और प्रांजल है। ये बडे भावुक कवि थे। इनका हृदय भक्ति भावना से ओत प्रोत था। यद्यपि ये श्रीकृष्ण के विहार-स्थल वृन्दावन म रहते थे तथापि इनका हृदय रामोपासना मे रमा हुआ था। भावुकता के साथ ये काव्य का चमत्कार दिखान म

निपुण थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में अनुप्रास और श्लेषों का बड़ा चमत्कार दिखलाया है। मुक्तक काव्यकारों में सेनापति का स्थान बहुत ऊँचा है। इनके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—'काव्य-कल्पद्रुम' और 'कवित्त रत्नाकर'। इनकी भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है जिसमें तत्सम शब्दों की ओर झुकाव अधिक है। श्लेष और यमकों का चमत्कार संस्कृत-तत्सम शब्दों के सहारे अधिक दिखाया जा सकता है। इनका षट्ऋतु वर्णन बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह उद्दीपन के रूप में लिखा गया है, तथापि इसमें संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय मिलता है। इन्होंने प्रकृति का मानव-भावों के साथ सामंजस्य स्थापित किया है, जिसमें संस्कृत कवियों की परम्परा की कुछ झलक है। ऐसा सुन्दर ऋतु-वर्णन हिन्दी साहित्य में बहुत कम मिलता है—

वृष को तरनि तेज सहसौ करनि तपै,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि जग, झुरत झुरनि सीरी,
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है॥
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत,
धमका विषम, जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू,
घरी एक बैठि कहूँ घाम बितवत है॥
—कवित्त रत्नाकर

सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरि कै।
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
सेनापति गाई कछु सोचि कै सुमिरि कै॥
सीत तें सहसकर सहस चरन ह्वै कै,
ऐसे जाति भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौलौं कोक कोकी सौं मिलत तौलौं होत राति,
कोक अधबीच ही तें आवत है फिरि कै॥
—कवित्त रत्नाकर

20 बिहारी—जीवन के इतिवृत्तात्मक विवाद के लक्ष्य हिन्दी जगत में अकेले बिहारी ही नहीं हैं महात्मा सूर, तुलसी, कबीर आदि बाबा लोगों के साथ-साथ घनानन्द जैसे व्यक्तित्व भी टटोल-टटोल कर पहचाने जाने की अपेक्षा रखते हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति की अहं-व्यवच्छिन्न धारणा ने कवियों को अपना इतिवृत्त छिपाये रखने की प्रेरणा प्रदान की। अनुसन्धान से बहिर्साक्ष्य और अन्तर्साक्ष्यों के आधार पर कुछ अनुमान सामने आते हैं जिनके आधार पर कोई बिहारी को हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास का पुत्र घोषित करता है तो कोई इनमें गुरु शिष्य का सम्बन्ध स्थापित होने पर बल देता है। डॉ॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने केशव-बिहारी

के गुरु-शिष्य की धारणा को पुष्ट करते हुए एक ग्रन्थ केशवराय को बिहारी का पिता माना है। वस्तुत केशव-बिहारी में किसी भी सम्बन्ध की सूचना देने वाला निम्नलिखित दोहा माना जाता है—

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज ग्राय।
मेरो हरौ कलेस सब, केसौ केसौराय॥

इस दोहे में 'केसौराय' को सोद्देश्य मानते हुए प्राचीन टीकाकार बिहारी द्वारा अपने पिता के प्रति प्रकट की गई विनय-भावना की ओर संकेत करते हैं। यह तो ठीक है कि दोहे मे वृन्दावन बिहारी श्रीकृष्ण के साथ-साथ किसी लौकिक व्यक्ति को नमन किया गया है, किन्तु यह निश्चिततः ही बिहारी के पिता होंगे और वह भी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशव ही रहे होंगे, इस सम्बन्ध मे अभी पर्याप्त अनुसंधान की आवश्यकता है। डॉ गणपति चन्द्र गुप्त ने अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य में शृगार परम्परा और महाकवि बिहारी' मे तथा 'बिहारी सतसई की वैज्ञानिक समीक्षा' मे बहुत सारे तर्क और प्रमाण देकर यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उक्त 'केसौराय' से बिहारी का तात्पर्य अपने पिता केशवदास से ही है और वे 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया' आदि के रचयिता प्रसिद्ध केशवदास ही हैं। यद्यपि डॉ गुप्त ने बहुत से साक्ष्य एव प्रमाणो का सचयन किया है किन्तु उन सबसे ऐसा नहीं लगता कि वह विवाद समाप्त हो गया है। अब भी इस पर अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है।

वस्तुत पुष्ट प्रमाणो के अभाव और उचित सामग्री की अनुपलब्धि म कवि के जीवन-वृत्त पर कोई विशेष प्रकाश भी नहीं पड पाया है। हो सकता है इस सम्बन्ध मे अनुसंधित्सुओं ने यत्किंचित प्रमाद से काम लिया हो अन्यथा बिहारी को गुजरे कोई अधिक काल नहीं हो पाया है और उस समय की बहुत-सी बातें यथा तथ्य रूप में पाई जाने की सम्भावना भी समाप्त नही हुई है फिर भी भारतीय कवियो का स्वय के बारे में मौन एक बडे व्यवधान के रूप मे आता रहा है। जो कुछ कविवर बिहारी के विषय मे अब तक उपलब्ध हुआ है उसका सार इस प्रकार दिया सकता है—

बिहारी का जन्म स 1652 मे ग्वालियर में हुआ। उन्होंने अपने बचपन के दिन बुन्देलखण्ड में व्यतीत किए और यौवन काल उन्होने अपनी ससुराल मथुरा मे बिताया। इस सम्बन्ध में बिहारी का दोहा प्रसिद्ध है—

जनम ग्वालियर जानिये खण्ड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुखद मथुरा बसि ससुराल॥

जन-श्रुतियों के आधार पर प्रसिद्ध है कि कवि ने अपने एक दोहे—'नहि पराग नहि मधुरमधु' के आधार पर मिर्जा राजा जयसिंह को विलास के गर्त से निकालकर उनके दरबार में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था। कवि के कई नीतिपरक दोहे इस बात की साक्षी देते हैं कि जयसिंह के दरबार में अपना एक विशेष सम्मानपूर्ण स्थान बनाकर भी कवि को यदा-कदा दरबारी वातावरण के

कटु अनुभवो से पीडित होना पडा था। इस विषय मे निम्नलिखित दोहे विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

(अ) नहि पावस रितुराज यह, मुनि तरुवर मति भूल।
अपत भये बिन पाइ हैं, क्या नव दल फल मूल॥

(ब) दिन दस आदरपाइ क, करिलै आप बखान।
जौं लौं काग सराध पख, तो लौं तो सनमान॥

दरबारी वातावरण म रहकर भी कवि ने अपने आश्रयदाता को कडी फटकार सुनाई, यह उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व और प्रतिभाशाली होने का प्रमाण है। मध्यकाल के विलासपूर्ण सामन्ती वातावरण का चित्रण कवि के काव्य से झलकता है, इससे स्पष्ट ही उनके ऐश्वयशाली जीवन का परिचय मिलता है। हिन्दी जगत् की मान्यता के अनुसार कवि का देहावसान स 1721 मे माना जाता है।

बिहारी का काल वह काल था जिसमे राजनीतिक वीरता के स्थान पर विलासिता सामाजिक नैतिकता के स्थान पर उच्छृखलता, धार्मिक दार्शनिकता या भक्ति के स्थान पर आडम्बर प्रियता और आचरण-भ्रष्टता तथा साहित्यिक भावुकता एव सात्विकता के स्थान पर कलाप्रियता-चमत्कार प्रदर्शन एव भोगवादिता को समर्थन मिला हुआ था। बिहारी के काव्य और सम्भवत उनके जीवन पर भी इस वातावरण का यथासम्भव प्रभाव पडा है। वे सन्तो की तरह न तो इससे असम्पृक्त रह सके और न भक्तो की तरह इसकी धारा को मोडकर भगवद्भक्ति मे ही झुका सके। वे तो स्वय भी उसमे बहने लगे और अन्य रसिको को भी उसमे बहने की शिक्षा देने लगे। 'सतसई' जो बिहारी की एकमात्र रचना है, उनके इसी वातावरण के बहाव की कहानी है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे बिहारी को रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियो म स्थान देते हुए लिखा है—"बिहारी ने यद्यपि लक्षण ग्रन्थ के रूप मे अपनी सतसई नही लिखी है, पर नख-शिख, नायिका-भेद, षटऋतु वर्णन के अन्तगत उनके सब शृगारी दोहे आ जाते हैं दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था।" इस मत का खण्डन करते हुए डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "स्वय बिहारी भी रीति-ग्रथा के अच्छे जानकार रहे होंगे, इसमें सन्देह नही किन्तु उनके प्रत्येक दोहे मे किसी न किसी नायिका को खोज लेना यह सिद्ध नही करता कि वे रीतिग्रन्थ लिख रह थे।' वस्तुत बिहारी-सतसई का विभाजन अनेक टीकाकारो ने उस रूप मे प्रस्तुत किया है जिससे सतसई के लक्षण ग्रन्थ होने की सम्भावना को बल मिलता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिबद्ध और रीतिमुक्त के मध्य रीतिसिद्ध की स्थापना करके इस समस्या का समाधान निकालने का प्रयास किया है। शृगार काल में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों से उन कवियो को भी पृथक करना हागा जो रीतिसिद्ध हैं। जिन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी अर्थात् रचनाएँ जिन्होंने रीति की बँधी परिपाटी के अनुकूल ही की हैं पर लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत न करके स्वतन्त्र रूप

से अपनी रचनाएँ रची हैं। बिहारी के दोहे दूसरे लोगों से विशेषतया रीतिग्रन्थ लिखने वालों से जो पृथक किये जा सकते हैं, उसका हेतु यही है कि बिहारी रीति से बंधकर भी स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार के कवियों को, जो रीतिबद्ध नहीं हैं और लक्षण ग्रन्थ से ऐसे नहीं बंधे हैं कि तिल भर उससे हट न सकें, भले ही रीति परम्परा को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाते हों, रीतिसिद्ध कवि कहना चाहिए। डॉ गणपतिचन्द्र गुप्त ने इन सारे निष्कर्षों को एक ओर रखते हुए एक चौथे विशेषण 'रीति समन्वित' का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार ऐसी स्थिति में हमें मानना होगा कि बिहारी ने अपने काव्य में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य की प्रवृत्तियों का समन्वय करने का प्रयास किया है तथा इस तथ्य को सूचित करने के लिए उनके काव्य को रीतिबद्ध या रीतिमुक्त न कह कर रीति समन्वित कहना उचित होगा। यह स्थिति विचारणीय है। वस्तुतः विश्लेषणों की कोई कमी नहीं है और प्रत्येक प्रतिपादक अपना स्वतन्त्र मत दिखाने के लिए एक नए विश्लेषण का प्रयोग कर सकता है।

बिहारी सतसई उस अर्थ में रीति ग्रन्थ नहीं माना जा सकता जिस पारिभाषिक अर्थ में काव्य शास्त्र की मान्यता है। यह निर्णय कि बिहारी ने सभी अंगों का निरूपण सूची बना कर किया है, बहुत उचित नहीं जान पड़ता। सार रूप में, बिहारी को रीतिसिद्ध कवि मानते हुए इस परम्परा के कवियों की विशेषताओं को इस प्रकार रखा जा सकता है—

(1) रीतिसिद्ध कवि काव्यशास्त्र में निष्णात होते थे अर्थात् वे शास्त्रीय ज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित होते थे।

(2) रीतिसिद्ध कवियों का लक्ष्य शास्त्र स्थिति सम्पादन मात्र नहीं था, वे रीतिबद्ध कवियों की तरह गिनी गिनाई बातों का विवरण देने के लिए काव्य रचना नहीं करते थे।

(3) रीति ग्रन्थों के निर्माण में पहले से प्राप्त सामग्री का उपयोग होता है अर्थात लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है, किन्तु रीति-सिद्ध कवियों ने किसी भी लक्ष्य-ग्रन्थ के आधार पर लक्षण निरूपण नहीं किया, प्रत्युत काव्यशास्त्रीय धरातल को मान्यता देते हुए भी नई-नई कल्पनाओं और उद्भावनाओं की सृष्टि की।

(4) लक्षण-ग्रन्थों के लिए दोहा छन्द अपूर्ण है क्योंकि इसमें मैदान कम होने के कारण लक्षण और लक्ष्य की पूरी दौड़ नहीं लगाई जा सकती। बिहारी ने अपने काव्य निर्माण के लिए दोहा चुन कर भी रीतिबद्ध से अलग परिपाटी की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। बनावट से युक्त इस लघुकाय छन्द की अपेक्षा कवित्त-सवया की चौड़ी भूमि रीतिग्रन्थ के लिए अधिक उपयुक्त होती। बिहारी ने इस ओर न जाकर यह दिखा दिया है कि वे अपना अलग क्षेत्र निर्माण करना चाहते थे।

(5) रीतिबद्ध कवि अपनी कविता में नाद-सौन्दर्य पर अधिक बल देते थे उसमें चाहे कला की सूक्ष्मता अथवा भाव की उत्कृष्टता मारी जावे। बिहारी क

दोहे मे नाद-सौन्दय की कमी तो नही है, परन्तु ऐसा नही लगता कि नाद सौ दय की धुन म कवि ने कलात्मकता अथवा भावुकता की हत्या कर दी हो।

(6) बिहारी ने बिम्ब विधान और उनकी चित्र योजना को रीति पूर्ति के लिए बताना कवि के साथ अन्याय करना है। कवि का चित्रात्मक वणन केवल हाव सृष्टि या नायिका भेद की पूर्ति के लिए नही है, उनम निरीक्षण की सूक्ष्मता और भावो की गहराई है। इस पर विस्तृत विचार आगे किया जायगा। यहाँ इतना अपेक्षित है कि इन मुद्राओं और चित्र विधाना म कवि की तूलिका जिस बारीकी के साथ घूमी है, रीति ग्रथ उमसे कोसो दूर हैं।

(7) उनके दोहा मे नायिका भेद कुछ इस प्रकार का है कि तीन तीन प्रसगो की उद्भावना सम्भव हो जाती ह। एक ही दोहे को कोई धीरा धीरा के उदाहरण म रखता ह तो दूसरा सग्रहकर्ता अन्य सम्भोग दुखिता म और तीसरा टीकाकार उसे खण्डिता के उदाहरण म स्थान देता है। यदि बिहारी रीति के आधार पर सतसई का निर्माण करत तो एक वग के दोह दूसरे म और दूसर वग के तीसरे मे कभी नही आते। अतएव उन्हे रीति की लकीर का फकीर नही कहा जा सकता है।

(8) रीतिबद्ध कविता म कवि का व्यक्तित्व प्राय लुप्त हो जाता ह। वह भी एक रूढिबद्धता मे बध कर घिसा पिटा रूप ही दे पाता ह। बिहारी की कविता में उनका व्यक्तित्व खो नही गया है। यह दूसरी बात है कि उनका व्यक्तित्व किस रूप मे सामने आता है, किन्तु वह नितान्त लुप्त नही हो जाता। कवि ने जिन क्षण को जिया है और जिस जीवन का भोगा है उसे पूरी ईमानदारी के साथ हम उसकी कविता म चित्रित पाते हैं। यही एक बात इस बात के लिए पर्याप्त प्रमाण ह कि बिहारी ने रीति परम्परा की पूर्ति के लिए सतसई का निर्माण नही किया, अपितु अपने जीवन और युग की छायाओं के प्रभाव में जो कुछ देखा, भोगा और अनुभव किया, उसका चित्रण करने का प्रयत्न किया है। डॉ मिश्र ने ठीक ही लिखा है पर यह ठीक नही ह कि बिहारी ने रीति के प्रधानुकरण के कारण अपने व्यक्तित्व का लोप ही कर दिया। बिहारी सर्वविशेषता सम्पन्न रीतिसिद्ध कवियों के सिरमौर थे और उनकी सतसई रीति ग्रन्थ न होकर अनेक स्वादो म भरा हुआ शृगार प्रधान ग्रथ ह।

21 वृन्द—18वी शताब्दी के आरम्भ म सुप्रसिद्ध नीतिकार कवि वृन्द हुए जो कृष्णगढ के महाराज राजसिंह के गुरु थे। इनकी 'वृन्द सतसई' की उक्तियाँ उत्तर मध्यकाल मे बडे चाव से पढी जाती थी। नवीन खोजो के अनुसार इनके दो अन्य ग्रथों का भी पता चला है—'शृगार शिक्षा' और 'चौर पचाशिका'। परन्तु इनकी प्रसिद्धि नीतिविषयक दोहों म ही ह। इनके दोहो मे जीवन की गहन अनुभूतियाँ हैं। उदाहरणार्थ—

> भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नाहि।
> जानि परत हैं काग पिक ऋतु बसन्त के माँहि॥

22 गिरधर कविराय—अनुमान है कि गिरधर कविराय 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में होंगे। प्रसिद्धि में ये वृन्द और बैताल से भी बढ़कर हैं। इन्होंने नीतिविषयक कुण्डलियाँ लिखी हैं। कुछ कुण्डलियाँ 'साईं' शब्द से प्रारम्भ होती हैं। किंवदन्ती है कि ये कुण्डलियाँ इनकी पत्नी द्वारा लिखी गई हैं। गिरधर मध्य काल के सद्गृहस्थों के सलाहकार थे और आज भी जनता इन्हें बड़े चाव से पढ़ती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"वस्तुत साधारण हिन्दी जनता के सलाहकार प्रधानत तीन ही रहे हैं—तुलसीदास, गिरधर-कविराय और घाघ। तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरधर कविराय व्यवहार और नीति के क्षेत्र में तथा घाघ खेती बाड़ी के क्षेत्र में।" इनकी भाषा अत्यन्त सरल और बोधगम्य है— दौलत पाय न कीजिये सपने में अभिमान। इनकी कुण्डलियाँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं।

23 लाल—इनका पूरा नाम गोरेलाल था। ये मऊ (बुन्देलखण्ड) के रहने वाले थे। महाराज छत्रसाल के दरबारी कवि थे। इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—'छत्रप्रकाश', और 'विष्णु विलास'। प्रथम ग्रन्थ में महाराज छत्रसाल की कीर्ति गाथा है और यह दोहा चौपाइयों में लिखा हुआ प्रबन्ध काव्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपादेय बन पड़ा है। दूसरे ग्रन्थ में नायिकाभेद कहा गया है। इनकी प्रसिद्धि का कारण 'छत्रप्रकाश' ही है। यह इनकी एक काव्य-गुण-सम्पन्न प्रौढ़ रचना है। आचार्य शुक्ल इनकी काव्य कला के सम्बन्ध में लिखते हैं— 'लाल कवि में प्रबन्धपटुता पूरी थी। इनका सम्बन्ध निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार के लिए मार्मिक स्थलों का चुनाव भी। सारांश यह है कि लाल कवि का सा प्रबन्ध कौशल हिन्दी के कुछ इने-गिने कवियों में ही पाया जाता है। शब्द वैचित्र्य और चमत्कार के फेर में इन्होंने कृत्रिमता कहीं नहीं आने दी। भावों का उत्कर्ष जहाँ दिखाना हुआ है वहाँ भी कवि ने सीधी और स्वाभाविक उक्तियों का ही समावेश किया है न तो कल्पना की उड़ान दिखलाई और न ऊहा की जटिलता।'

24 सूदन—ये मथुरा के रहने वाले माथुर चौबे थे। सूदन भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के यहाँ रहते थे। इन्होंने अपने आश्रय दाता को लक्ष्य रखकर—'सुजान चरित' नामक प्रबन्ध काव्य लिखा है। सुजानसिंह एक आदर्श वीर थे और सूदन में भी वीर चरित के सम्मान करने की पर्याप्त शक्ति थी। सूदन वीर रस के एक उत्कृष्ट कवि हैं। आचार्य हजारीप्रसाद इनके सम्बन्ध में लिखते हैं— 'चन्द के पृथ्वीराज रासो में जिस प्रकार घोड़ों और अस्त्रों आदि की उपमा देने वाली सूची मिलती है उसी प्रकार सूदन के सुजान चरित में भी है। काव्य-रूढ़ियों का इसमें जम कर सहारा लिया गया है यद्यपि कथानक में रूढ़ियों की वैसी भरमार नहीं है जैसे कि रासो में है। शब्दों की तोड़-मरोड़ कर युद्ध के अनुकूल ध्वनिप्रसू वातावरण उत्पन्न करने में सूदन बहुत दक्ष हैं पर उसमें भाषा के प्रति न्याय नहीं हो सका है।'

रीतिकाल का गद्य-साहित्य

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल तक ही नही, बल्कि रीतिकाल तक जितनी रचनाएँ अपनी विशिष्टताओ के साथ सामने आई हैं, वे सभी पद्यात्मक रही ह छुटपुट मात्रा म भक्तिकाल मे गद्य लेखन हुआ किन्तु उससे कुछ अधिक गद्य लेख रीतिकाल मे हुआ। रीतिकाल म जो गद्य साहित्य लिखा गया वह केवल इस दृ से महत्त्वपूर्ण है कि हम आसानी से यह कह सकते है कि गद्य का लेखन आधुनि काल से पूव ही प्रारम्भ हो गया था। डा नगेन्द्र के इतिहास मे यह लिखा ह रीतिकाल का ब्रजभाषा और राजस्थानी का गद्य निश्चय ही पर्याप्त समृद्ध, प्रा प्रचुर और बहुमुखी है। खडी बोली, दक्खिनी और मथिली आदि अन्य विभाषा में भी इस काल में गद्य लेखन की प्रवृत्ति भक्तिकाल की तुलना मे अधिक सक्रि रही है। टीकात्मक अनूदित रचनाओ की सख्या इस काल म अधिक है पर मौलिक ललित गद्य का भी परिमाण विरल नही है। इस काल की प्रमुख ग विधाएँ कहानी, वार्ता, वचनिका, वचनामृत, जीवनी, नाटक, ख्यात, वशावली पट्टावली, टीका, वार्तिक, पुस्तक परिचय, निबधात्मक रचनाएँ और जीवनी गद्य की रचनाएँ आदि है।

4
हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल

'आधुनिक' शब्द का अर्थ और स्वरूप

सामान्यतः 'आधुनिक' शब्द का अर्थ नवीनता का भाव लिए हुए है। जब हम हिन्दी साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में आधुनिक शब्द का प्रयोग करते हैं अथवा आधुनिक काल की बात करने लगते हैं, तब यही आधुनिक शब्द इस बात की सूचना देने लगता है कि यह काल पूर्व कालों से भिन्नता लिए हुए है। इसमें प्रचलित और विकसित धारणाएँ रीतिकाल अथवा समूचे मध्यकाल से भिन्न हैं। डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' के अन्तर्गत इस विषय में यह टिप्पणी दी गयी है—

"आधुनिक" शब्द दो अर्थों—मध्यकाल से भिन्नता और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण—की सूचना देता है। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका था, एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे पुनः गत्यात्मक बनाया। मध्यकालीन जड़ता और आधुनिक गत्यात्मकता को साहित्य और कला के माध्यम से समझा जा सकता है। रीतिकाल में कला और साहित्य अपने अपने कथ्य, अलंकृति और शैली में एकरूप हो गए थे। वे घोर शृंगारिकता के बंधे घाटों से बह रहे थे। न छन्दों में वैविध्य था और न विन्यास में। एक ही प्रकार के छन्द एक ही प्रकार के ढंग। आधुनिक काल में बँधे हुए घाट टूट गए और जीवन की धारा विविध स्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के वृहत्तर सुख-दुख के साथ पहली बार जुड़ा। आधुनिक शब्द से जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है वह है इहलौकिक दृष्टिकोण। धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र सभी के प्रति नए दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध ही नहीं थी पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिक और धार्मिक व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ उनकी मूल चिंताधारा इहलौकिक ही है। सुधार, परिष्कार और अतीत का पुनराख्यान नवीन दृष्टिकोण की देन है। आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गयी—ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली ने ले ली।"

आधुनिक शब्द विशेषण के रूप मे मनमाने ढग से इस्तेमाल होता रहा है। आधुनिक, आधुनिकता, आधुनिकतावादी, आधुनिक बनना, आधुनिकीकरण तथा आधुनिकता के अनुसार कुछ ऐसे शब्द प्रयोग हैं जो पर्याप्त रूप मे प्रयुक्त होते रहते हैं। इन शब्द प्रयोगो को परम्परा का विरोधी माना जाता है। वास्तव मे यह बात नही है। अग्रेजी का 'मॉडन' शब्द आधुनिक साहित्य मे पर्याप्त लोकप्रिय हुआ है। हिन्दी मे इसी मॉडन शब्द का रूपान्तरण आधुनिक अर्वाचीन, वतमान अथवा आधुनिक समय का तथा आजकल के रूप मे होती है। इतना ही नही, नया, नए युग का, नए ढग का, नूतन, आधुनिक परिपाटियो पर चलने वाला, नये फशन का, नवयुगीन तथा आधुनिक काल का व्यक्ति के निमित्त भी आधुनिक शब्द ही प्रयुक्त होता है। नयापन, आधुनिक दृष्टिकोण या विचारधारा, प्राचीन धार्मिक परम्पराओ का नवीन विचारो से सामजस्य करना, नवीन शैली, नवीनता और नवीन अभिव्यजन का बोध कराने के लिए आधुनिकता शब्द का व्यवहार चल पडा है। इन पद्धतियो को सैद्धातिक रूप मे ग्रहण करने वाला नवीनतावादी अथवा आधुनिकतावादी कहलाता है। नवजीवन पद्धति को स्वीकार करने वाले को आधुनिकतावादी तो कहते ही हैं, उसकी कोशिश की परिणति को आधुनिकीकरण की सज्ञा भी दी जाती है। इस प्रकार क्रम से अग्रेजी शब्द 'मॉडन, माडनिज्म, माडनाइज, माडर्नाइजेशन और माडर्नली शब्द के तौल पर गढे हुए हिन्दी शब्दों का प्रयोग आधुनिक साहित्य मे धडल्ले से हो रहा है। जो विवेचन सामने आए हैं, उनमे से अधिकाश ऐसे हैं जिनमे अपने ढग से लोगो ने आधुनिकता का अथ ग्रहण किया है। परम्परा से विछिन्न करके आधुनिकता को समझ पाना कठिन है। अग्रेजी साहित्य मे आधुनिकता के पुरस्कर्ता 'टी एस इलियट' ने लिखा है, "मधुकाल मे जीवन्त वृक्ष अपने जीण पत्तो को झाड देता है, उनकी जगह लाल-लाल कोमल पत्ते निकलते हैं। मरे पत्तो को डाल से चिपकाना बेमाने हैं। पर वास्तविक कवि जीवन्त और अजीवन्त तत्वो की पहचान मे दक्ष होता है। इस प्रकार उपयोगिता के आधार पर पुरानी बातें भी चलती रहती हैं। परम्परा का गलत अथ लगा लेने के कारण आधुनिकता को परम्परा विरोधी मान लिया गया है।" जब कि सत्य यह है कि परम्परा भी एक गतिशील प्रक्रिया की देन है। हमने अपनी पिछली पीढी से जो कुछ प्राप्त किया है, वह समूचे अतीत की पूजीभूत विचार राशि नहीं है। सदा नये परिवेश मे कुछ पुरानी बातें छोड दी जाती हैं और नई बातें जोड दी जाती हैं। एक पीढी दूसरी पीढ़ी को हू ब-हू वही नही देती, जो अपनी पूववर्ती पीढी से प्राप्त करती है। कुछ न कुछ छँटता रहता है, बदलता रहता है, जुडता रहता है। यह एक निरन्तर चलती रहने वाली प्रक्रिया है। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "परम्परा का शब्दाथ है, एक का दूसरे को, दूसरे का तीसरे को दिया जाने वाला क्रम। वह अतीत का समानार्थक नहीं है। परम्परा जीवन्त प्रक्रिया है जो अपने परिवेश को सग्रह त्याग की आवश्यकताओ के अनुरूप निरन्तर क्रियाशील रहती है। कभी-कभी इसे गलत ढग से अतीत के सभी आचार-विचारो की बोधक मान लिया जाता है।"

आधुनिककाल का वर्गीकरण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल को गद्यकाल कहकर पहले गद्य की दृष्टि से गद्य का आविर्भाव, विकास और विभिन्न विधाओं के उत्कर्ष के इतिहास के रूप में साहित्य के इतिहास को अंकित किया है। फिर उन्होंने हिन्दी के आधुनिक काव्य को पुरानी धारा और नई धारा दो प्रकरणों में विभक्त किया। नई काव्य धारा को प्रथम, द्वितीय और तृतीय उत्थान के नाम से विभाजित करके प्रस्तुत किया है। उनका गद्य और पद्य को साहित्य के अविच्छिन्न प्रवाह में अलग अलग भागों में बाँटना युग प्रवृत्ति को अनदेखा करना है। मुख्यत आधुनिकता की प्रवृत्ति तो हिन्दी के गद्य और पद्य दोनों में ही उभर रही थी और अपने विकास की ओर अभिमुख थी। गद्य पद्य की अलग-अलग प्रवृत्तियाँ नहीं थी अत आधुनिक काल का उप विभाजन प्रवृत्तिगत ही होना चाहिए। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि में निरन्तरता का बोध टूटा है किन्तु शुक्ल जी का इतिहास आगे आने वाले इतिहासकारों के लिए प्रकाश स्तम्भ ही बना हुआ है और बना रहेगा। अनेक इतिहासकारों ने उसी आधार पर आधुनिक काल का उपविभाजन स्वीकार कर लिया है।

यदि भारतेन्दु के सृजन काल से आधुनिक काल का प्रारम्भ मानते हैं तो स्पष्ट ही इस काल का पहला उप विभाजन भारतेन्दु की प्रवृत्तियों से प्रभावित साहित्य के सृजन तक स्वीकार किया जा सकता है। इस काल में पुनर्जागरण का मन्त्र हवाओं में गूंजने लगा था। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, इसी काल में पुनर्जागृति का शंख फूंक रहे थे अत भारतेन्दु को केन्द्रित मानकर इस युग को भारतेन्दु काल या पुनर्जागरण काल कहा जा सकता है। फिर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भाषा भाव, छन्द सुधारों को लेकर आए। उस काल में सामाजिक, राजनीतिक सुधारों को भी बल मिला। अत उस उप-विभाग को द्विवेदी युग या सुधारकाल कहा जा सकता है। इसके बाद छायावाद काल तो स्पष्ट ही है। फिर छायावाद के बाद का काल प्रगति प्रयोग का काल रहा है और उसके बाद नई कविता या नवलेखन काल का श्रीगणेश हुआ। इस उपविभाजन को इस सारणी के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

1	भारतेन्दु-युग या पुनर्जागरण काल	1857 से 1900 ई० तक
2	द्विवेदी युग या सुधार काल	1900 से 1915 ई० तक
3	छायावादी काल	1915 से 1935 ई० तक
4	प्रगति-काल	1935 से 1942 ई० तक
5	प्रयोगकाल	1942 से 1960 ई० तक
6	नई कविता या नवलेखन काल	1960 से आगे।

इस विभाजन के बीच में एक लघु ज्वार हालावाद का भी आया जो सन् 1935 के आसपास दिखाई दिया जिसके गायक कवि हरिवंशराय बच्चन हैं। यह उप विभाजन प्रति बार प्रवृत्तिगत परिवर्तन का सूचक है। हिन्दी काव्य ने अपने

आधुनिक बोध को अनेक आयामों मे आत्मसात किया और बदलते युगीन मूल्यो के साथ उसमे भी परिवर्तन होता गया। साहित्यिक गतिविधियो तथा कलागत मानदण्डो के बदलाव के पीछे कुछ ऐसे कारण होते हैं जो परिवतन को एक निश्चित दिशा मे गतिशील बनाते रहते हैं।

आधुनिक काल प्रेरक परिस्थितियाँ

आधुनिक काल का प्रारम्भ अपने युग की गतिशील स्थितियो की देन है। नए मूल्यो का बोध और उनको विचार-व्यवहार मे उतार देने की छटपटाहट ही नए युग का सूत्रपात करती है। आधुनिक काल को मध्ययुगीन मानसिकता से अलग करने में कुछ व्यापक परिस्थितियो की भूमिका ने काय किया है। युगीन परिस्थितियाँ ही किसी भी प्रकार की क्रान्ति को जन्म देती हैं।

(1) राजनीतिक स्थिति—आधुनिक काल के साहित्य को निश्चित कथ्य और शिल्प के परिवतन सन्दभ प्रदान करने मे युग की राजनीतिक स्थिति का विशेष हाथ है। इस काल मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के बाद सन् 1857 ई का प्रथम स्वाधीनता सग्राम, उसकी विफलता के बाद अग्रेजी राज्य की विधिवत् स्थापना और उससे राजनीतिक एकता का सूत्रपात इण्डियन नेशनल कांग्रेस की सन् 1885 ई मे स्थापना, सन् 1905 ई में बगाल का विभाजन करना और उसके विरुद्ध जन आक्रोश का प्रसार मार्ले-मिन्टो सुधारको के नाम पर साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का प्रारम्भ प्रथम विश्व युद्ध, जापानी राष्ट्रीयता के सामने रूस की पराजय, रोलट एक्ट और दमनचक्र, जलियाँवाला काण्ड, खिलाफत आन्दोलन, महात्मा गाँधी का भारतीय राजनीति मे प्रवेश और असहयोग आन्दोलन, स्वराज्य प्राप्ति के लिए प्रयत्नो की तेजी, मुस्लिम लीग का पृथक् अस्तित्व, कांग्रेस और सरकार के बीच अनेक बातचीतें तथा कमीशनो की स्थापना, सन्धियाँ, निर्वाचन, सन् 1939 में कांग्रेस द्वारा मन्त्रिमडलो का त्याग, सन् 1940 मे पाकिस्तान की माँग, क्रिप्स मिशन, 1942 का भारत छोडो' आन्दोलन, सुभाष और उनकी आजाद हिन्द सेना के प्रयत्न, इगलैंड में मजदूर दल की सरकार, 1946 मे अन्तरिम सरकार की स्थापना देश का विभाजन और 15 अगस्त, 1947 को भारत की स्वाधीनता आदि अनेक राजनीतिक घटनाएँ आधुनिक काल के कला-साहित्य को प्रभावित करने वाली सिद्ध हुई हैं। सन् 1757 ई की प्लासी की लडाई से सन् 1857 ई तक भारत मे ब्रिटिश राज्य की स्थापना और विस्तार के सौ वर्षों मे अग्रेजो ने पराधीन लोगों पर अपनी शासन-पद्धति थोप दी। उन्हें राज-काज में सहयोग के लिए भारत के सस्ते क्लर्क चाहिए थे अत इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्कूल और कॉलेज खोले गए। रेल, तार, छापाखाने का विकास और देशी राज्यो की तेजी से समाप्ति के कारण रीतिकाल की शृगारिकता का पटाक्षेप होने लगा। सम्पूर्ण राजनीतिक परिस्थितियो को हम सक्षेप में अग्रलिखित शीर्षकों से भली भाँति व्यक्त कर सकते हैं—

(क) ब्रिटिश राज्य का विस्तार—अंग्रेज यहाँ व्यापारी बनकर आए थे और अपने व्यापार की सुरक्षा तथा कर विहीन व्यापार की सुविधा उन्होंने जहाँगीर के शासनकाल में ही प्राप्त कर ली थी। आगे चलकर यही सुविधाएँ व्यापारिक साम्राज्य स्थापित करने में अनुकूल सिद्ध हुईं। अपने व्यावसायिक हितों के लिए अंग्रेज व्यापारी भारतीय शासकों से सेना रखने की आज्ञा लेते रहे, शक्ति बढ़ाते रहे और सन् 1757 में प्लासी की लड़ाई के बाद तो बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना कर दी गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य प्रारम्भ हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को इंग्लैण्ड की संसद मार्ग बताती थी तथा गवर्नर नियुक्त करती थी। इस प्रकार परोक्ष रूप में ब्रिटिश संसद का शासन प्रारम्भ हो गया। राजाओं की आपसी लड़ाई में अंग्रेजों की सेना सोच-समझ कर विजेता पक्ष से संधि करती और लड़ाई में सहायता के बदले कम्पनी के राज्य की सीमा का विस्तार कर लेती थी। 1857 ई० में प्रथम स्वाधीनता संग्राम हुआ जो असफल हुआ और उसके बाद महारानी विक्टोरिया ने कम्पनी का राज्य समाप्त करके प्रत्यक्ष रूप से भारत में ब्रिटिश राज्य स्थापित कर दिया। यहीं से सम्पूर्ण भारत राजनीतिक दृष्टि से एक ही शासन के अन्तर्गत आ गया। जो देशी राजा थे, वे भी अंग्रेजों की अधीनता को स्वीकार कर चुके थे। अंग्रेजों ने देश को कानून का राज्य और व्यवस्थाएँ प्रदान कीं। वे भारतीयों के धर्म में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप न करने की नीति पर चलते रहे। भारत की पढ़ी लिखी पीढ़ी मानसिक रूप से अंग्रेजों और अंग्रेजी की दासता में बंधती गई। अंग्रेजों ने देश का राजनीतिक शोषण जितना हो सकता था, किया। भारतेन्दु ने अंग्रेजों की कूटनीति को सूक्ष्म कर मुकरियाँ लिखी थीं—

> भीतर भीतर सब रस चूसे।
> हँस हँस कर तन मन धन मूसे॥
> जाहिरबातन में अति तेज।
> क्या सखि साजन नहीं, अंगरेज॥

(ख) स्वाधीनता आन्दोलन—ब्रिटिश शासन के सम्पर्क में आने पर भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा से दीक्षित किया जाने लगा। तब पढ़े लिखे भारतीयों को यह ज्ञात हुआ कि जो अंग्रेज हमारे ऊपर शासन करते हैं उनके देश का सम्पूर्ण शासन वहाँ की जनता के चुने हुए प्रतिनिधि चलाते हैं और तब उन्होंने यहाँ भी वैसा ही शासन के स्वप्न देखना प्रारम्भ किया। एक अंग्रेज डॉ० ह्यूम ने 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, विपिनचन्द्र पाल आदि नेताओं ने अंग्रेजों से शासन-व्यवस्था में सहयोगी बनाने के लिए याचना प्रारम्भ कर दी। यही प्रारम्भिक निवेदन आगे चलकर स्वाधीनता के लिए व्यवस्थित आन्दोलन में बदल गया। साहित्य में स्वाधीनता सम्बन्धी आधुनिक बोध ने अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर दिया। 1916 ई० में महात्मा गांधी अफ्रीका से भारत आए और राजनीतिक नेतृत्व उनके हाथ में चला गया। इससे पूर्व लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल ने

गाँधीजी की तरह देश को नेतृत्व दिया था। गाँधीजी ने अहिंसक आन्दोलन और सत्याग्रह का अभिनव प्रयोग किया। इससे अंग्रेजी शासन की नींव हिल गई। इसी बीच भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और बलिदानी युवकों ने आतंकपूर्ण कार्यवाहियाँ प्रारम्भ कर दीं। अंग्रेजी शासन चारों ओर से आन्दोलनों की गिरफ्त में आ गया। सन् 1942 में महात्मा गाँधी ने अपना प्रसिद्ध नारा और आन्दोलन 'भारत छोड़ो' प्रारम्भ किया। सुभाष के नेतृत्व में आजाद हिन्द सेना ने बर्मा में होकर आक्रमण कर दिया और शक्ति के बल पर देश को आजाद कराने के प्रयास भी गम्भीरता से प्रारम्भ हो गए। इन सब आन्दोलनों के विचारों ने साहित्य को भी नए रास्तों पर चलने का संकेत दिया। काव्य के स्वर भी बदलने लगे।

(ग) दमन और भेद—अंग्रेजों ने स्वाधीनता आन्दोलनों को दबाने के लिए 1919 में रोलट एक्ट बनाया, फिर 1935 में साम्प्रदायिक शासन व्यवस्था का ढोंग रचा। जलियाँवाला बाग में हजारों लोग अंग्रेजों की गोलियों से शहीद हो गए। नेताओं को गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। तिलकजी ने छः वर्ष तक बर्मा की माण्डले जेल में यातना भोगी। वीर सावरकर को काला पानी भेज दिया गया। गाँधी, नेहरू, जयप्रकाश, राजेन्द्र बाबू, सरदार पटेल आदि नेता जेल के शिकंजों में डाल दिए गए। इसी के साथ जनता में फूट डालने का कार्य भी अंग्रेजों ने बड़ी सफाई से किया। मुस्लिम लीग की स्थापना के बाद शासकों ने लीग का अन्धे होकर समर्थन किया जिससे जिन्ना का मनोबल बढ़ा और मुस्लिम साम्प्रदायिकता पनपी। सन् 1940 में लीग ने पाकिस्तान की माँग कर दी। अन्त में देश को दो टुकड़ों में बाँटकर ही अंग्रेज यहाँ से गए। आज भी साम्प्रदायिकता का यह विष समाप्त नहीं हुआ है। साहित्य इस प्रवृत्ति से प्रभावित हुआ और हिंसा, कुण्ठा, मरोड़ तथा आत्म-ग्लानि साहित्य का स्पर्श किए हुए है।

(घ) स्वाधीनता-प्राप्ति—सन् 1946 में भारत में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल बना और 15 अगस्त, 1947 को भारत दो टुकड़ों में बँटकर आजाद हुआ। आजादी की प्राप्ति तक भारत के साहित्य का संघर्ष, संक्रमण, नवीन प्राचीन का संघर्ष, राज भक्ति और देश भक्ति का द्वन्द्व तथा जन आक्रोश की नई प्रवृत्तियों से सम्पन्न है। आजादी के बाद राजनीतिक परिस्थितियाँ भिन्न हो गईं। हमारा अपना संविधान और कानून प्रचलित हुए। देश का शासन राजनीतिक पार्टियों की घृणित कूटनीतिज्ञता द्वारा नियन्त्रित है। दल-बदल, अवसरवाद, सिद्धान्तहीनता, कुर्सीवाद आदि दुष्प्रवृत्तियाँ हमारे राजनीतिक तन्त्र को खोखला कर रही हैं। सन् 1975 में आपातकाल की घोषणा और जन-आन्दोलन से उत्पन्न जन आकांक्षाएँ क्षुब्ध हैं। आज की राजनीति भी साहित्य को निरन्तर प्रभावित कर रही है। भारतेन्दु युग से आठवें दशक तक की कविता में जो नए तत्त्व आए हैं, या परिवर्तन दिखाई देता है, उसके पीछे राजनीतिक हलचल भी है।

आर्थिक परिस्थितियाँ व परिवेश—आर्थिक और विचारगत परिवर्तन से अभिरुचियों और संवेदनाओं में भी परिवर्तन आता है। यह परिवर्तन सीधा

साहित्य को प्रभावित करता है। आधुनिक काल से पूर्व बहुत बड़े राजनीतिक परिवर्तन के बावजूद भारतीय गाँवों का आधुनिक ढाँचा अपरिवर्तित ही था। सर चार्ल्स मेटकॉफ ने लिखा है "गाँव छोटे छोटे गणतन्त्र थे। उनकी अपनी आवश्यकताएँ गाँव में पूरी हो जाती थीं। बाहरी दुनिया से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। एक के बाद दूसरा राजवंश आया, एक के बाद दूसरा उलट फेर हुआ, हिंदू, पठान, मुगल, सिक्ख, मराठों के राज्य बने और बिगड़े, पर गाँव बस के बसे बने रहे।' गाँव की जमीन पर सबका हक था। जातियों में बँटकर सारे व्यवसाय चलते थे। नगर और गाँव अपनी अपनी इकाइयों में पूर्ण और अलग अलग थे। नगरों में मूल्यवान वस्तुएँ बनती थीं और गाँवों में घरेलू उद्योग स्थापित थे। अंग्रेज व्यापारियों ने इस व्यवस्था को चौपट कर दिया। अंग्रेजों ने आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवादी व्यवस्था का सूत्रपात किया। गाँव की जमीन का बंदोबस्त करने के कारण उन्हें थोड़ी माल गुजारी मिलने लगी। जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा पनपने लगी। अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ के लिए इस देश को लूटा और यहाँ का व्यापार नष्ट कर दिया। भारतेंदु ने स्वयं अपनी कविता के माध्यम से इस स्थिति पर चिन्ता व्यक्त की थी—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥

लार्ड कार्नवालिस ने यहाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा में जमींदारी प्रथा प्रारम्भ की। 1820 ई० में सर टामस मुनरो ने इस्तमरारी बंदोबस्त लागू करके जमीन का परस्पर क्रय विक्रय प्रारम्भ कर दिया था। अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गई और खेती में व्यावसायिकता आने लगी। कृषि उत्पादन अब गाँवों से दूर के बाजारों में आने लगे। वस्तु विनिमय की प्रणाली का स्थान रुपये के चलन ने समाप्त कर दिया। किसानों को एक ओर मालगुजारी अदा करने की चिन्ता रहती थी दूसरी ओर महाजन का ऋण चुकाने की। मालगुजारी की दर बढ़ा देने से किसान महाजन के चंगुल में बुरी तरह फँस जाते थे। अकाल, महामारी तथा प्राकृतिक प्रकोपों से बचाने में अंग्रेज अधिकारी असमर्थ थे। भारतेंदु के समकालीन लेखकों के साहित्य में ये सब सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

(3) सामाजिक स्थितियाँ—अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ साथ इस देश की सामाजिक संघटना में विघटन और परिवर्तन दिखाई देने लगा। अंग्रेजों ने भारत को अपने साम्राज्य में मिलाया इसका कारण केवल यहाँ की आर्थिक स्थिति के बजाय सामाजिक व्यवस्था भी है। यह समाज अनेक जातियों उप जातियों में बँटा हुआ था जिसमें सामाजिक एकता का सर्वथा अभाव था। विदेशी मुसलमानों की विजय का भी यही कारण था और अंग्रेजों की जीत भी इसी विभक्त सामाजिक व्यवस्था के कारण ही हुई थी। आज भी जबकि देश में तेजी से आधुनिकीकरण हो रहा है यही स्थिति बनी हुई है। पुरानी आर्थिक व्यवस्था के टूटने के साथ जाति प्रथा भी कुछ शिथिल तो अवश्य हुई किन्तु मिट नहीं सकी। आधुनिक साहित्य

मे जाति प्रथा पर अनेक प्रकार से आघात किया गया है। जो आर्थिक परिवतन अंग्रेज इस देश म लाये, वे मुस्लिम आक्रमणकारियो द्वारा सम्भव नही थे। मुसलमाना के आगमन से कई सामाजिक रीति रिवाजो मे सकोच कर विस्तार हुआ। मुसलमान घुमक्कड थे अत सामाजिक विकास की दृष्टि से वे स्वय बहुत पिछडे हुए थे। उनकी स्थिति पूव सामन्ती थी। इसलिए विजयी होकर भी वे यहाँ की उच्चतर सभ्यता के हाथो पराजित हो गए थे और समाज के ढाँचे मे कोई बुनियादी परिवतन नही ला सके थे। अंग्रेजो ने सामन्ती व्यवस्था मे एक कदम आगे बढकर पूजीवादी व्यवस्था का प्रचलन किया अत सामाजिक विकास की दृष्टि से भी यहाँ के लोगो से एक कदम आगे थे। इसलिए उन्होने समाज को भी प्रभावित किया और एक नई आर्थिक व्यवस्था कायम करने मे भी सफल हुए।

पहले समाज मे झगडो का निपटारा करने के लिए पचायतें समथ थी किन्तु नई अथव्यवस्था ने समाज का यह स्वरूप भी बदल दिया। अब पचायतो द्वारा दूर दूर तक विस्तृत व्यापारी मुकदमो का फैसला नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति मे पुरानी सामाजिक सस्थाओ के स्थान पर कई कचहरियाँ कायम की गइ। इनसे लोगो मे समाज के अलगाव का भाव बढा। यद्यपि अंग्रेजो द्वारा प्रदत्त नई आर्थिक व्यवस्था से जनता को घोर सकटो का सामना करना पडा। खेतो का बँटना, बिचौलियो की भूमिका पैदावार घटना, उद्योगो का चौपट होना आदि अनेक विकृतियाँ समाज मे उत्पन्न हो गई थी, फिर भी पुरानी अथव्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था स्थापित होने से ऐतिहासिक विकास की अनिवाय प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय समाज विकास की ओर बढने लगा। गावो की जडता टूटी। दूसरे गावो और शहरो के सम्पक के कारण राष्ट्रीय एकता का माग प्रशस्त हुआ। जाति प्रथा अब आर्थिक वर्गों मे बदलने लगी किन्तु जातीय उच्चता का भाव समाप्त नही हुआ। अंग्रेजो द्वारा प्रदत्त सुविधाओ का लाभ भी उच्च और सम्पन्न जातियो ने ही प्राप्त किया। शासन और राष्ट्रीय आन्दोलना मे भी उच्च जातियो का ही प्रभाव बना रहा। अंग्रेजो ने हमारी फूट, जाति-प्रथा का लाभ उठाया। आधुनिक काल म जाति प्रथा के प्रति थोडा-सा लचीला दृष्टिकोण अवश्य उभरा। नए एक वर्ग—मध्यम वग—का भी जन्म इसी युग मे हुआ।

(4) **शिक्षा की स्थिति**—अठारहवी शताब्दी के अन्त मे भारत को भी ज्ञान विज्ञान के सम्पक मे आना पडा। एक नई शिक्षा प्रणाली का विकास हुआ जिसने नई अथव्यवस्था से उत्पन्न समस्याओ के निराकरण का प्रयास किया। भारतीय शिक्षा का दृष्टिकोण आध्यात्मिक और पारलौकिक था। यह विद्या भी वग या जाति विशेष तक ही सीमित थी, किन्तु अंग्रेजो ने जिस पश्चात्य शिक्षा का यहाँ सूत्रपात किया वह सब सुलभ थी। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्रो मे भारत ने बहुत प्रगति की थी। दशन, ज्योतिष, गणित, औषधि विज्ञान धमशास्त्र, काव्यशास्त्र व्याकरण मे भारत अद्वितीय रूप से सम्पन्न था किन्तु उस ज्ञान का विकास रुक गया था। जो ज्ञान सदियो से था, उसी को दोहराया जा रहा था। वेदो की शिक्षा वर्णाश्रम श्रेष्ठता पारलौकिकता के प्रति उदासीनता कुछ लोगो के अनुकूल थी, अत वे उसी रूप म

चला रहे थे। हिन्दुओं और मुसलमानों की शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में एक पाश्चात्य विद्वान् ने लिखा है—"इनमें बहुत कुछ समानता थी। वे उस भाषा में शिक्षा देते थे जो जनता की भाषा नहीं थी। वे नए अभिनिवेश और परिवर्तन के विरुद्ध थे।" ऐसी स्थिति में आधुनिक शिक्षा प्रणाली गतिशीलता का उद्घोष बनकर आई। इनमें तीन शक्तियों का योगदान उल्लेखनीय रहा—

(क) ईसाई मिशन—प्लासी के युद्ध के बाद ही ईसाई मिशनरी धर्म प्रचार के लिए भारत में आ गए थे। बाद की मिशनरी में अलेक्जेण्डर डफ का नाम उल्लेखनीय है जिसे धर्म-प्रचार में तो अधिक सफलता नहीं मिली किन्तु इसी बहाने अंग्रेजी शिक्षा देने वाले बहुत से स्कूल और कॉलेज खुल गए। ईसाई मिशनरियों के साथ थे मूल में न तो आध्यात्मिकता थी, न प्रेरणा। वे हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मों की निन्दा करके उनके विश्वास को तोड़ते थे। ईसाइयों के स्कूलों में धर्म की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। ईसाई धर्म की श्रेष्ठता से प्रभावित होकर धर्म बदलने वालों की संख्या नगण्य ही थी, किन्तु आर्थिक लाभ के कारण लोगों ने धर्म बदला। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में भी कुछ गति आई।

(ख) सरकारी शिक्षण संस्थाएँ—कम्पनी को अपना काम चलाने के लिए अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय लोगों की आवश्यकता थी। मुसलमानों को तुष्ट करने के लिए वारेन हेस्टिंग्ज ने सन् 1780 ई० में कलकत्ता मदरसा खोला और सन् 1791 ई० में बनारस के रेजिडेंट ने बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना की। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में सरकार भी सीधे तौर पर संलग्न हो गई। कलकत्ते में सन् 1801 ई० में फोर्ट विलियम कालेज खोला गया, जिसमें पाठ्यक्रम की पुस्तकें कॉलिज के अध्यापक ही देशी भाषा में तैयार करते थे। इससे भारतीय भाषाओं के गद्य का विकास हुआ। सन् 1824 में कलकत्ता एजूकेशन प्रेस की स्थापना की गई जिसमें संस्कृत और अरबी की पुस्तकें छपती थीं। दूसरी ओर राजा राममोहन राय ने यह विचार व्यक्त किया कि व्याकरण आदि रटाने से बच्चे की शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है अतः उसे विज्ञान की उपयोगी शिक्षा दी जावे।

इसी समय मकाले ने सुझाव दिया कि संस्कृत कॉलेज और अरबी फारसी मदरसों के स्थान पर अंग्रेजी माध्यम के स्कूल-कॉलेज खोलने चाहिए क्योंकि अंग्रेजी भाषा में संसार के ज्ञान भण्डार की प्राप्ति हो सकती है तथा भविष्य में यह पूर्व के समुद्रों की व्यापारिक भाषा बन सकती है। लार्ड बैंटिंग ने मकाले का सुझाव स्वीकार कर लिया और शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा को बना दिया। इस व्यवस्था से देश में एकता की भावना तो अवश्य पैदा हुई, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से समाज का पतन भी हुआ। सन् 1854 ई० में घोषित नीति के अनुसार व्यापक शिक्षा प्रचार के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार बंगाल में सबसे अधिक हुआ क्योंकि अंग्रेजी पढ़कर लोग वहाँ की व्यापारिक फर्मों में या कम्पनियों में नौकरी करने लगते थे। अन्य प्रदेशों में ईसाई मिशनरियों के कारण अंग्रेजी शिक्षा को भी शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा। जो लोग यह समझते हैं कि

अंग्रेजी शिक्षा से ही राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ है वे भ्रम में हैं। भारतेन्दु बाबू ने कौनसी पाश्चात्य अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी, किन्तु उनमें राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी थी। इस शिक्षा से एक ओर तो धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का विकास हुआ, दूसरी ओर वैयक्तिक स्वतन्त्रता का महत्त्व भी लोग समझने लगे।

(ग) व्यक्तिगत प्रयत्न—शिक्षा के क्षेत्र में सरकार के साथ साथ व्यक्तिगत प्रयास भी हुए। समाज द्वारा भी स्कूल और कॉलेज खोले गए। महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय व्यक्तिगत प्रयास का ही परिणाम है। राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्य से स्वाधीनता संग्राम में ऐसे कई विद्यालय प्रारम्भ किए गए।

(5) वैज्ञानिक प्रगति—आधुनिक काल के विचार और व्यवहार को बल देने में वैज्ञानिक प्रगति का बड़ा हाथ है। साहित्य और कलाओं में आधुनिक दृष्टिकोण की झलक के पीछे निश्चित ही विज्ञान भी है। विज्ञान के अनेक छोटे बड़े आविष्कार हो चुके थे। भारत में भी अंग्रेजी सरकार ने वैज्ञानिक सुविधाएँ जुटाना उनमें प्रारम्भ कर दिया था, जो साधन जनसाधारण को प्रभावित कर रहे थे, उनसे कुछ का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) यातायात के साधन—उन्नीसवीं सदी में सारे संसार में यातायात की दृष्टि से क्रान्ति ही आ गई। ब्रिटिश काल से पूर्व व्यापार केवल अपने ही गाँव तक सीमित था, अतः बैलगाड़ी से अधिक किसी अन्य साधन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती थी, किन्तु आर्थिक विकास, व्यापारिक प्रसार और उद्योगों की स्थापना के कारण यातायात की विकसित सुविधाओं की भी जरूरत पड़ी। भारत में भी उन्नीसवीं शताब्दी में रेल, मोटर, स्टीमर आदि का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, जिससे लोगों में राष्ट्रीयता की भावनाओं का भी विकास हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैंड में उद्योगपतियों के पास इतना माल बनकर तैयार था कि उसकी खपत के लिए बाजारों की तलाश की जाने लगी। भारत से अच्छा और बड़ा बाजार और मिल भी कहाँ सकता था। फलस्वरूप यहाँ रेलवे की स्थापना और सड़क-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ। फौजों को शीघ्रता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में, कच्चा माल इकट्ठा करके इंग्लैंड भेजने में रेल सड़क और जल-यातायात की भूमिका महत्वपूर्ण बन गई। दुनिया छोटी होने लगी। एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के लोगों से मिलने जुलने लगे। छुआछूत और भेदभाव भी इसी यातायात के कारण कुछ कम हुए। अकाल का सामना करने के लिए वस्त्र, अन्न शीघ्रतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने में इन साधनों से मदद मिली। किताबें और पत्र पत्रिकाएँ भी शीघ्र उपलब्ध होने लगीं।

(ख) प्रेस और पत्र-पत्रिकाएँ—नई शिक्षा-पद्धति के आर्थिक लाभों के कारण उस ओर लोगों का झुकाव हुआ और वे अपनी शिक्षा में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास करने लगे। पुर्तगालियों ने सन् 1550 ई० में ही दो प्रेस स्थापित कर दिए थे, जिनमें धार्मिक पुस्तकें छपती थीं। सन् 1674 ई० में ईस्ट इण्डिया

कम्पनी ने बम्बई में छापाखाना खोला और फिर तो मद्रास, कलकत्ता, हुगली और बम्बई में कई छापेखाने खोले गए। इस सुविधा से अंग्रेजो और मिशनरियों ने समाचार पत्र निकालना प्रारम्भ किया। राजा राममोहन राय ने 'संवादकौमुदी' नामक बंगला साप्ताहिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। सीरामपुरा मिशन ने 'समाचार' दर्पण और 'दिग्दर्शन' दो पत्र भी निकाले। फारसी में भी दो पत्र प्रकाशित हुए। बम्बई में गुजराती में 'बाम्बे समाचार' सन् 1822 में निकलने लगा था। 1830 ई० में 'जगदूत' नामक दैनिक निकला। हिंदी का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' सन् 1826 ई० में प्रकाशित हुआ। 1854 ई० में हिंदी का दैनिक समाचार पत्र 'समाचार सुधा वर्षण' कलकत्ते से ही निकला। इन पत्रों के द्वारा सामाजिक सड़ी गली रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयत्न किया गया। सरकार ने प्रेस की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने का प्रयास किया। राजा राममोहन राय ने उच्च न्यायालय में अर्जी देकर इस प्रजातान्त्रिक कानून का विरोध किया।

भारतीय पुनर्जागरण के लिए तो प्रेस वरदान सिद्ध हुआ। मुद्रणालय साहित्य के प्रचार-प्रसार और सृजन में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। पत्र पत्रिकाओं में साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन, समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश और नए-नए विचार प्रस्तुत किए जाने लगे। छापेखाने से साहित्यकारों को पाठक और श्रोता मिलने लगे जिससे उनका उत्साह बढ़ता रहा। आधुनिक युग का साहित्य मुद्रण-कला के ही कारण अपने रूप-रंग, अभिव्यंजना और प्रभाव में मध्यकालीन साहित्य से पृथक और स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है।

(6) धार्मिक परिस्थितियाँ—आधुनिक काल भारत में ब्रिटिश राज्य का ही काल है। अंग्रेजी राज्य में भारत की अर्थ नीति, शिक्षा पद्धति और यातायात के साधनों में मूलभूत परिवर्तन हुए। इस कारण समाज आधुनिकता की ओर अधिक वेग से आगे बढ़ा। इस आधुनिकता के साथ सामाजिक रूढ़ियों और पुराने धार्मिक विश्वासों का कोई तारतम्य नहीं था, अतः नए यथार्थ और पुराने संस्कारों के मध्य सामंजस्य के सूत्र ढूँढे जाने लगे। भारत में धर्म समाज को नए सिरे से संगठित और सुसंबद्ध करने वाला यह काल भारत का पुनर्जागरण काल कहलाता है। इस काल में धर्म का कायाकल्प करने के लिए तथा समाज में धर्म की युगसम्मत प्रतिष्ठा करने के लिए कुछ नई संस्थाओं ने जन्म लिया जो धार्मिक भी थीं और समाज के परिवर्तन में भी दिलचस्पी रखती थीं। मध्यकाल में समाज की जाति प्रथा, छुआछूत, बाह्याडम्बर को दूर करने का प्रयास भक्ति आंदोलन ने किया, किन्तु फिर भी मध्यकालीन जड़ता में कहीं कमी नहीं आ पाई थी। भक्त और सन्त स्वयं अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों के शिकार थे। आधुनिक काल में भावनाओं के स्थान पर तर्क विवेक और बुद्धि का काल है अतः धर्म में भी मात्र भावनाओं के स्थान पर तर्क पूर्ण स्थापनाओं को साकार करने के लिए ब्रह्म समाज, प्रार्थना सभा, आर्य समाज आदि संस्थाओं की स्थापना की गई।

(क) ब्रह्म समाज—आधुनिक भारत के जन्म-दाताओं में प्रथम स्थान के अधिकारी राजा राममोहन राय ही ठहरते हैं। वे अरबी, फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत

और बगला भाषाओ के विद्वान थे। उन्होंने प्लेटो एव अरस्तू के दार्शनिक विचार और गीता, उपनिषदो का भी गम्भीर अध्ययन किया था। ईसाई धर्म से भी वे प्रभावित थे। उपनिषदो से उन्होने कर्मकाण्ड और अन्ध-विश्वासो से अनुपयोगिता का रास्ता ग्रहण किया था। वे मूर्ति पूजा को बाह्याडम्बर मानते थे। जाति प्रथा को वे अमानवीय और राष्ट्र-विरोधी मानते थे। विधवा विवाह और स्त्री-पुरुष के समान अधिकारो के वे समर्थक थे। अग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सस्कृति को उन्होने देश के लिए उत्तम समझा। अपने इन्ही विचारो का प्रचार प्रसार करने के लिए उन्होने सन् 1828 ई मे ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। देवेन्द्र नाथ टैगोर और केशव चन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज का और अधिक विकास किया। वे वेदो को अपौरुषेय नहीं मानते थे। उनकी आस्था आन्तरिक दृष्टि प्राप्त करने मे थी। राजा राममोहन राय वैष्णव भजन-कीर्तन की ओर भी आकृष्ट हुए। उनका ईसाई धर्म की ओर भी झुकाव था।

(ख) प्रार्थना सभा—सन् 1864 ई मे केशवचन्द्र सेन पूना और बम्बई आए। तभी वहाँ प्रार्थना-सभा की स्थापना उनके प्रभाव से सन् 1867 ई मे हुई। इस सभा के उन्नायक थे महादेव गोविन्द रानाडे। वे उन्नीसवी शताब्दी के प्रमुख बुद्धिजीवी, विधिवेत्ता और मेधावी व्यक्ति थे। समाज के सभी पक्षो पर रानाडे की दृष्टि थी। रूढियो और अन्धविश्वासो से वे निरन्तर सघर्ष करते रहे। उन्होने धार्मिक और सामाजिक समस्याओं का तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत किया और भागवत धर्म के अनुयायी होकर भी सकीर्ण विचारधारा से मुक्त रहे। मध्यकाल के महाराष्ट्रीय सन्तो मे उनकी गहरी आस्था थी, किन्तु वे पुरातन पथी नही थे। पुराने आचार विचारो की अनुपयोगिता देखकर वे पुनरुत्थान के विरोधी थे। वे कहते थे मृत अतीत को कभी जीवित नहीं किया जा सकता। समाज जीवित अगों का सगठन है जिसमे नित्य परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। रानाडे मनुष्य मात्र की समानता के पक्षधर थे। जाति-पाँति विरोध, अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन, पाश्चात्य विचार धारा का पोषण, तर्क और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण उनके जीवन-मूल्य थे। भारतीय सस्कृति को वैज्ञानिक आधार देने वालो मे रानाडे का नाम अग्रिम पक्ति मे रहेगा।

(ग) रामकृष्ण मिशन—रामकृष्ण परमहस अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व मे परमहस थे। उनके लिए कहा जाता है कि इस अनपढ गरीब, गँवार, रोगी, अन्ध-मूर्तिपूजक, मित्रहीन हिन्दू भक्त ने बगाल को झकझोर कर रख दिया। इनके शिष्य विवेकानन्द हुए जो इन्हें बाहर से भक्त और भीतर से ज्ञानी कहते थे। सन् 1893 ई मे शिकागो में विश्व धर्म सम्मेलन हुआ। उसमे विवेकानन्द का भाषण हुआ। न्यूयॉर्क हेराल्ड ट्रिब्यून ने लिखा था—"विश्व धर्म ससद् मे विवेकानन्द सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे। उनको सुनने के बाद ऐसा लगता था कि उस महान् देश मे धार्मिक मिशनों को भेजना कितनी बडी मूर्खता थी।" स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहस की मृत्यु के बाद 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना

की थी जिसका उद्देश्य रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का प्रचार करना, मानवीय समता की स्थापना, जाति, सम्प्रदाय, छुआछूत का विरोध करना था। उन्हें गरीबों से सच्ची सहानुभूति थी। शिक्षित उच्च वर्ग की भर्त्सना करते हुए उन्होंने लिखा है—"जब तक देश के हजारों लोग भूखे हैं, अज्ञानी हैं, मैं, प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को धोखेबाज कहूँगा। गरीबों के पैसे से पढ़कर भी वे उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। उच्च वर्ग शारीरिक और नैतिक दृष्टि से मर चुका है।" वे धर्म उसी को स्वीकार करते थे जो शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करे तथा आत्म-सम्मान और राष्ट्रीय गौरव में वृद्धि करे। विवेकानन्द ने देश की महान् संस्कृति और धर्म की अद्वितीयता स्थापित करके हीनता की भावना को समाप्त करके गौरव से सिर ऊँचा किया। समता, एकता, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया। पाश्चात्य सभ्यता की भौतिकता से चमत्कृत लोगों को पहली बार यह बोध हुआ कि हमारी अपनी परम्पराएँ, धर्म और संस्कृति ऐसी हैं जिन्हें संसार के सामने गौरवपूर्ण ढंग से रखा जा सकता है।

(घ) आर्य समाज—महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन् 1867 ई० में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की थी जिसका प्रचार प्रसार गुजरात, उत्तर प्रदेश और पंजाब में खूब है। ये प्रदेश पौरुष और अक्खड़ता से सम्पन्न हैं। दयानन्द असाधारण व्यक्ति थे। वे संस्कृति के प्रकाण्ड पण्डित, मेधावी और प्रखर वक्ता थे। उनका व्यक्तित्व दृढ़ और सिद्धान्तों की कीमत पर समझौता न करने वाला था। वे स्पष्टतावादी आत्म विश्वासी महापुरुष थे जो वेदों को अपौरुषेय और वैदिक धर्म को सार्वभौमिक मानते थे। सामाजिक और नैतिक उत्थान के लिए भी आर्य समाज ने कार्य किया। जाति भेद, छुआछूत, लिंग भेद के वे विरोधी थे। यह दृष्टि लोकतान्त्रिक थी। वे वैदिक धर्म के समर्थक होकर भी भौतिक उन्नति के लिए पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान की शिक्षा को आवश्यक समझते थे। सन् 1886 ई० में दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलेज की स्थापना हुई। आगे चलकर डी० ए० वी० स्कूल और कॉलेज अनेक स्थानों पर खोले गए। हिन्दूवादी होते हुए भी दयानन्द ने राष्ट्रीय विचारधारा को आगे बढ़ाया। अंग्रेज सरकार आर्य-समाज को दबाने का प्रयास करती रही। सम्पूर्ण उत्तर भारत के आचार विचार रहन-सहन, साहित्य-संस्कृति पर आर्य समाज का प्रभाव पड़ा। गद्य की भाषा का परिष्कार करने में इस आन्दोलन का योग था। छुआछूत पर सबसे प्रबल आघात आर्य-समाज ने ही किया। समाज में से अस्पृश्यता जाति भेद मिटा देने की दृष्टि, प्रगतिशील और अन्य धर्मों के प्रति आक्रामक दृष्टि में प्रतिक्रिया की झलक मिलती है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के अनेक कांग्रेसी, गैर-कांग्रेसी नेता आर्य-समाज की ही देन थे।

(ङ) थियोसोफिकल सोसायटी—सन् 1875 ई० में मद्रास ब्लावत्स्की और ओल्काट ने न्यूयार्क में इस संस्था की स्थापना की। यह आन्दोलन भारतीय धर्म-परम्परा का आन्दोलन था। सन् 1879 ई० में इस संस्था के प्रचारक और संस्थापक भारत में आए और सन् 1882 ई० में मद्रास में इसकी शाखा खोली गई। इंग्लैण्ड

मे इस सस्था की प्रधान श्रीमती एनीबेसेंट थी जो सन् 1893 ई मे भारत ग्राई ग्रौर सोसायटी के विकास मे तन-मन से जुट गई। ग्रपने गतिशील व्यक्तित्व ग्रौर ग्रसाधारण वक्तृत्व-कला से उन्होंने ग्रनेक शिक्षित भारतीयो को ग्रपनी ग्रोर ग्राकर्षित किया। श्रीमती एनीबेसेंट ने सारे भारत मे हिन्दू धम की ग्राध्यात्मिकता के पक्ष में भाषण दिए। उन्होने ग्रपने विचारो को मूत रूप देने के लिए शिक्षण सस्थाएँ भी खोली। बनारस का सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज इसी तरह की सस्था है।

(घ) ग्रन्य सस्थाएँ—उपयुक्त धार्मिक सामाजिक ग्रान्दोलनो के विरोध में पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ हो गईं। राधाकान्त देव ने ब्रह्म समाज के विरोध मे सन् 1830 ई मे धम समाज की स्थापना की किन्तु सन् 1857 तक ब्रह्म समाज का प्रभाव कम नही हुग्रा। इसके बाद पुरातनवादी प्रवृत्तियाँ फिर उभरने लगी। इनमे राष्ट्रीयतावादी ग्रौर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं। दोनो के मूल मे व्यक्तिवादिता ग्रतीत का गौरव गान, विदेशी सत्ता के प्रति ग्राक्रोश, गाँव की गरीबी के प्रति सहानुभूति, स्वतन्त्रता ग्रौर समानता के प्रति ग्राग्रह का ग्रभाव था। पुरातत्व-वेत्ताग्रो ने विस्मृति में डूबे भारतीय ज्ञान, साहित्य, कला दशन शिल्प ग्रादि का पुनरुद्धार किया जिससे नवीन हिन्दूवाद का जन्म हुग्रा। इसके भी दो दल थे। एक दल प्रत्येक नए सुधार का विरोधी था दूसरा मुख्य धारा में मौलिक परिवर्तन किए बिना नवीनता का सन्निवेश करना चाहता था। बंकिमचन्द्र चटर्जी निष्काम कमयोग के समथक थे। उन्होने कृष्ण चरित्र की रचना की। वे धम ग्रौर नतिकता के पुनर्जागरण से समग्र सुधार के पक्षपाती थे। बकिम के उपन्यासो में देश प्रेम का स्थान सर्वोपरि है। उनका धम ही देश प्रेम और देश-प्रेम ही धर्म है।

महाराष्ट्र में ग्रग्रेजो ने ही पेशवा राज्य को समाप्त किया था ग्रत जनता में एक पीडा थी। उन्हें ग्रपनी परम्पराग्रो के प्रति पूरा लगाव था। महाराष्ट्र ने देश की गरीबी, भुखमरी और पीडाग्रो का सारा दायित्व ग्रग्रेजो पर डाल दिया। चिपलूणकर ने ग्रपने निबन्धो में देश के पराभव का कारण ग्रग्रेजी शासन को बताया है। तिलक ने रानाडे के सुधारो का विरोध किया क्योकि वे सुधार समाज को विभक्त करने वाले तथा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने में बाधक थे। उत्तर भारत में ग्राय समाज के विरोध में सनातन धर्मावलम्बियों ने ग्रपना स्वर बुलन्द किया। इन विरोधो से सुधार ग्रवश्य शिथिल पडे किन्तु राष्ट्रीयता की लहर तेज गति से चलने लगी।

(7) साहित्यिक परिस्थितियाँ—ग्राधुनिक काल का साहित्य अपने पूववर्ती काल के साहित्य से विषय ग्रौर शली दोनो ही दृष्टियों से भिन्न है। इस भिन्नता के मूल में तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक, धार्मिक ग्रौर ग्रार्थिक परिस्थितियाँ तो हैं ही, बाहरी देशो से सम्पक ग्रौर विविध साहित्यो का प्रभाव भी इसके पीछे है। रीति-काल का साहित्य दरबारी था जो राजमहलो में पल रहा था। ग्राधुनिक काल में साहित्य को जन सामान्य के ग्रामने सामने ग्राकर उसके दु ख-दद की बात करनी पडी। रीतिकाल की दृष्टि केवल नारी के कुचो ग्रौर कटाक्षो में ही बन्द हो

गई थी जबकि आधुनिक काल में दृष्टिकोण ही बदल गया। उसमें उदारता, व्यापकता और विविधता का समावेश होने लगा। रीतिकाल में ऐन्द्रिकता एवं रसिकता शृंगारिकता, अलंकरण वृत्ति के प्रति मोह, रीति निरूपण, प्रकृति का परम्परागत चित्रण, विशिष्ट अभिव्यंजना प्रणाली, सामंती वातावरण के कारण संकुचित और सीमित दृष्टिकोण, रूढ़िबद्ध और अवैयक्तिक जीवन दर्शन, वीर, भक्ति और नीतिगत वक्तव्य, मुक्तक शैली की प्रधानता तथा विविध काव्य रूपों का अभाव और ब्रजभाषा का प्रयोग रीतिकाल की विशिष्टता थी। आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य के सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण क्रांति हुई। भारतेन्दु युग ही हिंदी में आधुनिक काल का संवाहक है। इस युग में संक्रांति काल की विशेषताएँ मौजूद हैं जिसमें रीतिकाल और आधुनिक काल में साहित्य की संधि को स्पष्टत देखा जा सकता है। यह युग हिन्दी में आधुनिक काल के स्वाभाविक विकास का परिचायक है। द्विवेदी युग में विषयगत और कलागत आमूल चूल परिवर्तन दिखाई देते हैं। छायावादी साहित्य तो पूर्व परम्पराओं की जबरदस्त प्रतिक्रिया का धमाका है। आधुनिक काल के साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है गद्य पद्य के माध्यम से अभिव्यक्ति का संतुलन। हिन्दी में विभिन्न काव्य रूपों की सम्पन्नता तथा गद्य में विभिन्न विधाओं कहानी उपन्यास नाटक, निबन्ध, जीवन चरित्र, आलोचना एकांकी, रिपोर्ताज आदि का विकास अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इन विधाओं पर पाश्चात्य साहित्य तथा बंगला, गुजराती और मराठी भाषाओं के साहित्य का भी प्रभाव पड़ा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु के सन्दर्भ में इस सत्य को स्वीकार किया है कि संवत् 1922 वि में भारतेन्दु जब परिवार सहित जगन्नाथ जी गए, तब उनका परिचय बंगाल के नए साहित्य से हुआ और उन्होंने हिन्दी में वैसी पुस्तकों के अभाव का महसूस किया।

संगीत और चित्रकला के क्षेत्र में भी आधुनिकता ने प्रवेश प्रारम्भ कर लिया था। अकबर के दरबार में तानसेन बहुत बड़ा संगीतज्ञ था। मानसिंह ने कई रागों का आविष्कार किया था। मुगल साम्राज्य की समाप्ति के बाद संगीत का मौलिक अन्वेषण समाप्त हो गया। पाश्चात्य संस्कृति के प्रचार प्रसार से रहा-सहा भारतीय संगीत भी लुप्त होने लगा। इस समय भारतीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप रवीन्द्रनाथ टैगोर ने नए संगीत की कल्पना की जिसमें पूर्व और पश्चिम के संगीत का मिश्रण है जिसे रवीन्द्र संगीत की संज्ञा दी गई है। सन् 1919 ई में भारतीय संगीत परिषद् की स्थापना हुई जिसने भारतीय संगीत का पुनरुद्धार का कार्य हाथ में लिया। इसमें सर्वाधिक योग देने वाले थे विष्णु नारायण भातखण्डे।

इसी प्रकार भारतीय चित्रकला भी आधुनिक काल में पश्चिम का अनुकरण करती रही। ट्रावनकोर के राजा रवि वर्मा की विषय वस्तु पौराणिक और धार्मिक थी। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में रवि वर्मा के चित्र प्रकाशित किए। सन् 1854 में कलकत्ता आर्ट स्कूल की स्थापना के साथ भारतीय चित्रकला का नया मोड़ आया। आनन्द कुमार स्वामी ने भारतीय चित्र कला को नया रूप दिया। सन्

1907 ई० में गगनेन्द्र नाथ ठाकुर ने इण्डियन सोसायटी आफ ओरिएण्टल आर्ट्स की स्थापना की। इससे भारतीय चित्र शैली स्वतन्त्र आधार पर खड़ी हुई। भारतीय नव जागरण की अभिव्यक्ति चित्रों के माध्यम से भी हुई।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काल को आधुनिक बनाने में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का बड़ा हाथ रहा है। आधुनिक ज्ञान विज्ञान ने मनुष्य को बौद्धिक बना दिया। नीत्शे ने जब यह कहा कि 'ईश्वर मर गया' तो बौद्धिक जगत् में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया। पाप पुण्य, धर्म अधर्म, अच्छे-बुरे की जो कसौटियाँ धर्म ग्रन्थों में निर्धारित की गई थीं, उनकी प्रामाणिकता समाप्त हो गई। पुराने मूल्य ढह गये थे। अस्तित्ववादी दर्शन का उदय हुआ जिसने पूर्ववर्ती दर्शन और विज्ञान की अमूर्तता पर आक्रमण किया। उसने अपने को ठोस अनुभवों तथा व्यक्ति के बुनियादी सवालों से जोड़ा। व्यक्ति की व्यग्रता, दुःख, निराशा, अकेलापन, मृत्यु बोध, सन्त्रास, स्वतन्त्रता आधुनिक मनुष्य के बुनियादी सवाल हैं। यह विचार मनुष्य के अस्तित्व को नकारने वाले सभी दृष्टिकोणों के विरुद्ध है। आधुनिकता के इस बोध का कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

आधुनिक गद्य का आविर्भाव और विकास

आधुनिक काल से पूर्व ब्रज और अवधी ही साहित्यिक भाषाएँ रहीं। अमीर खुसरो को छोड़कर शेष किसी भी कवि ने खड़ी बोली का मूल रूप से नहीं अपनाया। इसका प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि भ्रमवश इसे मुसलमानों की भाषा समझ लिया गया था। यहाँ तक कि कुछ विद्वानों ने इस म्लेच्छ भाषा कहने में भी संकोच नहीं किया। इतिहास साक्षी है कि आरम्भ में खड़ी बोली का प्रयोग केवल मुसलमानों ने ही किया, जिन हिन्दू लेखकों ने इसे कहीं अपनाया भी तो भाषा का पात्रानुकूल बनाने के उद्देश्य से मुस्लिम पात्रों के मुँह से कहलवाया है। हिन्दुओं की इस उपेक्षा से खड़ी बोली मुस्लिम संस्कृति की गोद में पलकर उर्दू बन बैठी। और आगे चलकर खड़ी बोली को हिन्दू लेखकों ने भी अपनाना शुरू कर दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस भाषा को सर्वप्रथम गद्य साहित्य के माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया, अमीर खुसरो को छोड़कर और किसी भी प्रसिद्ध हिन्दी कवि ने इसे पद्य रूप में नहीं अपनाया। यह अलग प्रश्न है कि हिन्दी साहित्य के प्रथम तीन कालों की पद्यबद्ध रचनाओं में इसका प्रयोग भी इधर उधर बिखरा हुआ मिल जाता है जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(अ) आदिकाल 1 खड़ी बोली के प्राचीन रूप अपभ्रंश ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए—

"भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि। म्हारा कन्तु।"

इस पंक्ति में रेखांकित पद—अपभ्रंश की अपेक्षा खड़ी बोली की ओर ही अधिक झुके हुए हैं।

2 इसी प्रकार 'बीसलदेव रासो' मे भी, जो मूलत पिंगल भाषा का ग्रंथ है, कुछेक स्थलो पर खडी बोली की 'अकारान्त प्रवृत्ति' स्पष्ट दिखलाई देती है। उदाहरणार्थ—

(क) मोती का आखा किया
(ख) चित्त फाट्या मन उचट्या

3 अमीर खुसरो ने तो अपनी पहेलियो और मुकरियो की रचना पूर्णत खडी बोली मे ही की है। एक पहेली का उदाहरण देखिए—

आदि कटे तो सब को पार ।
मध्य कटे तो सब को मार ॥
अन्त कटे तो सब को मीठा ।
कहे खुसरो मैं आंखो दीठा ॥

(आ) भक्तिकाल—कबीर, नानक, दादू आदि सन्त कवियो की भाषा पर भी खडी बोली का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है—

(1) कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगानीर।
(2) घीव दूध मे रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर ।
दादू बकता बहुत है मथि काढ़ै ते और ॥
(3) सोच विचार करे मत मन मे, जिसने ढूढा उसने पाया ।
नानक भक्तन दे पद परसे, निसदिन रामचरन चित लाया ॥

(इ) रीतिकाल—(1) भूषण की 'शिवा बावनी' मे भी खडी बोली के कुछेक रूप द्रष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ—

(अ) भूषण भनत बाजे जीत के नगारे-भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके ॥
(ब) अफजल खान गहि जाने मयदान मारा,
बीजापुर गोलकुण्डा मारा जिन आज है ॥
(स) बन्धु तौ मुरादबक्स बादि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है ॥
(द) भूली खान पान फिरें बन बिललाती हैं ॥

(2) रीतिकालीन अन्य कवियों में सीतल, तोष, सूदन, ग्वाल रघुनाथ आदि की कविता मे भी खडी बोली के रूप इधर-उधर बिखरे पडे हैं। रघुनाथ की कविता का नमूना देखिए—

वह मोहताज आप की है आप उसके न
आप क्यो चलोगे ? वह आप पास आवेगी।

यह रही पद्यबद्ध रचना मे खडी बोली के विभिन्न प्रयोगो की चर्चा। आधुनिक काल से पूर्व खडी बोली के कुछेक गद्य ग्रंथ तथा कुछ उल्लेख भी उपलब्ध हो जाते हैं। इनके लेखको मे से गग तथा दौलतराम के अतिरिक्त 'मण्डोवर वर्णन'

के किसी अज्ञात लेखक का नाम उल्लेखनीय है। अकबर के समकालीन गंग कवि की 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' उपलब्ध है। इस ग्रंथ की भाषा का एक उदाहरण देखिए—"सिद्धि श्री 108 श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबर-साहजी आमखास म तख्त ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है, जिसमे तमाम उमराव आय कुनिश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नही सो रेशम मे रस्से मे रेशम की लूमे पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम मे रहे।"

स 1818 में पण्डित दौलतराम ने 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया था, जिसकी भाषा अरबी फारसी के सम्पर्क से दूर खड़ी बोली है। निम्नलिखित उदाहरण से इस कथन की पुष्टि हो जाएगी—"जम्बूद्वीप के भारत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं इन्द्र के लोक समान सदा भोगोपभोग कर हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े सोभमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नो के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे है।"

स 1830 में किसी अज्ञात लेखक ने 'मण्डोवर का वर्णन साधारण बोलचाल की भाषा में लिखा है। भाषा का एक नमूना देखिए—

"अवल में यहाँ माण्डव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम माण्डव्याश्रम हुआ। इस लफ्ज का बिगड़ कर मण्डोवर हुआ है।"

इधर डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 200 वर्ष प्राचीन गद्य का नमूना, जो कि पत्रो के रूप में है, प्रकाशित कराया है। मजे की बात यह है कि इन पत्रो की भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' भी दिया हुआ है। इससे इस नाम की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है—

"अथ हेंदुस्थानीय भाषा या (या) पत्र लिखन प्रकार।"

'स्वस्ति श्री सकल उपमा योग्य हमारे आप्त अमुक को महाराज के सन्देश आग हमको तुम्हारे मुलुक की फलानी चीज चहती है। तिस वास्ते हमारा पास (से) फलाना शक्स को भेजा है। पर्से (पर्से) तो तिस्के पास दिए हैं तुमने किताब लिखी है।" (विशाल भारत अप्रेल, 1940)

हिन्दी मे गद्य का जो विकसित रूप आधुनिक काल म दृष्टिगोचर होता है, वह वीरगाथा काल भक्तिकाल और रीतिकाल मे नही था। इन कालो मे हिन्दी गद्य को द्रुतगति से विकसित न होने के कारण अनेक कारण हैं—प्रथम, हिन्दी के प्रारम्भिक तीन कालो म साहित्यिक भाषा का कोई सर्वसम्मत रूप स्वीकृत नही हो पाया था। भिन्न भिन्न प्रदेशो म भिन्न भिन्न साहित्यिक भाषाओ का प्रयोग हो रहा था जसे—राजस्थानी, ब्रज, अवधी और बुन्देलखण्डी। दूसरे, हिन्दी साहित्य की धार्मिक एव शृंगारिकता के कारण भी गद्य का प्रचार नही हो पाया था। मुद्रण कला के अभाव के कारण भी हिन्दी गद्य का विकास नही हो पाया।

खड़ी बोली गद्य—खड़ी बोली दिल्ली और मेरठ के आसपास की जन भाषा थी, दिल्ली पर मुसलमानो का शासन स्थापित होने और हिन्दुओ को एक बहुत बड़ी

सख्या मे मुसलमानी राजकाय मे नौकरी करने के कारण खडी बोली शाना जानिया के विचार विनिमय का साधन बनी रही। खडी बोली गद्य की सवप्रथम उल्लेखनीय रचना अकबर के दरबारी कवि गग की 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' है जिसम ब्रज मिश्रित खडी बोली का प्रयोग किया गया है। स 1798 म पटियाला नरेश के दरबारी रामप्रसाद निरजनी ने 'भाषा योग वशिष्ठ' नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रौढ एव परिमार्जित भाषा मे लिखा। स 1818 म पण्डित दौलतराम ने हरिषेणाचार्यकृत जैन पद्मपुराण भाषा का अनुवाद किया लेकिन इसकी भाषा काफी त्रुटिपूर्ण है। आगे चलकर स 1830-40 के बीच किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक ने 'मण्डोवर का वणन' नामक पुस्तक लिखी, जिसकी भाषा बोलचाल की भाषा के निकट है।

हिन्दी के गद्य लेखक—हिन्दी खडी बोली गद्य के विकास की परम्परा म चार गद्य लेखकों का विशेष योगदान रहा है। इनके नाम हैं—मुन्शी सदासुखलाल, सय्यद इन्शा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। फोर्ट विलियम कालिज के हिन्दी उदू अध्यापक जॉन गिलक्राइस्ट ने हिन्दू उदू मे गद्य पुस्तकें तयार करने की व्यवस्था की। लाला लल्लूलाल और सदल मिश्र दोनो फोर्ट विलियम कालिज म नौकरी करते थे। इन दोनो ने अग्रेजो के आदेश से हिन्दी गद्य रचनाएँ प्रस्तुत कीं। मुन्शी सदासुखलाल चुनार मिर्जापुर मे नौकरी करते थे। इन्होंने हिन्दी उदू मे अनेक पुस्तक लिखीं और श्रीमद्भागवत का सुखसागर के नाम से हिन्दी अनुवाद किया। इशा अल्लाखाँ उदू के प्रसिद्ध शायर थे। इनकी रानी केतकी की कहानी हिन्दी गद्य की पहली मौलिक रचना है। लल्लूलाल आगरा के निवासी थे और फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ता मे अध्यापक थ। इन्होने प्रेमसागर नाम से भागवत के दशम स्कन्ध का हिन्दी अनुवाद किया। सदल मिश्र ने खडी बोली गद्य मे नासिकेतोपाख्यान की रचना की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूव हिन्दी गद्य के विकास मे इन चारो गद्यकारो का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

ईसाई मिशनरियों का योगदान—अब तक हिन्दी गद्य के प्रचार एव प्रसार का सर्वाधिक लाभ ईसाई धम प्रचारकों ने उठाया। कुछ लोग ईसाइयो को आधुनिक खडी बोली गद्य का जनक मानते हैं जो नितान्त भ्रामक है। ईसाइयो का मात्र उद्देश्य ईसाई धम का प्रचार करना था, हिन्दी गद्य की उन्नति करना नहीं। उन्होंने बाइबिल का हिन्दी मे अनुवाद किया और पुस्तको तथा पम्फलेटो द्वारा ईसाई धम का प्रचार एव प्रसार करने लगे। अपनी गद्य-पुस्तको मे ये लोग हिन्दू धम को हीन, पुराण और कुरान को तुच्छ बताकर अपने धम की श्रेष्ठता सिद्ध करते थे। इनकी भाषा मे साहित्यिक सौन्दय और स्वाभाविकता का अभाव था। इनकी भाषा और शैली का हिन्दी साहित्यिक रचनाओ पर कोई प्रभाव नहीं था। लेकिन ईसाई गद्य का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। हिन्दी गद्य के विकास का उद्देश्य न होने हुए भी ईसाइयो का हिन्दी गद्य के विकास म योग तो रहा ही है।

हिन्दी उर्दू सघष—सन् 1835 मे मैकाले की सिफारिश पर सरकार ने अग्रेजी शिक्षा प्रसार प्रस्ताव पास किया। मुगलकाल से ही फारसी अदालतो की

भाषा के रूप में चली आ रही थी। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ में भी यही भाषा थी, लेकिन इस भाषा और लिपि की कठिनाइयों को देखकर कम्पनी सरकार ने अदालती कामकाज के लिए प्रान्तीय भाषाओं को स्वीकार कर लिया। अत संयुक्त प्रान्त में हिंदी खड़ी बोली का अदालती भाषा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा, लेकिन कम्पनी सरकार अपने इस निर्णय पर टिक न सकी और एक वर्ष बाद उत्तरी भारत के सभी कार्यालयों में उर्दू का प्रयोग अनिवार्य कर दिया गया। आजीविका और मान मर्यादा के लिए लोगों को उर्दू सीखना अनिवार्य हो गया। इसके परिणामस्वरूप हिंदी पढ़ने वालों की संख्या निरन्तर घटती गई। हिंदी की इस दशा को देखकर राजा शिव प्रसाद ने बनारस, तारामोहन मित्र आदि ने सुधाकर, मुंशी सदासुखलाल ने बुद्धिप्रकाश पत्र निकाले। इस प्रकार हिंदी के प्रति सरकारी नीति अच्छी न होते हुए भी हिंदी गद्य परम्परा का विकास होने लगा। फ्रांसीसी विद्वान् गार्साद तासी ने भी इस संघर्ष में पर्याप्त योग दिया। वे पहले हिन्दी को एक भाषा के रूप में स्वीकार करते थे, लेकिन मुसलमानों के विरोध और सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति के कारण वे भी हिंदी को एक विभाषा घोषित करने लगे।

हिंदी और उर्दू की इस खींचतान के बीच राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी के समर्थक के रूप में आए। राजा शिवप्रसाद सिंह अंग्रेजों के कृपापात्र थे। उन्हीं के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हिंदी को कम्पनी सरकार के स्कूलों में स्थान मिला। हिंदी में पाठ्य पुस्तकों के अभाव को दूर करने के लिए उन्होंने स्वयं पुस्तकें लिखीं और अपने साथियों से लिखवाई। राजा शिवप्रसाद ने शिक्षा विभागों में मुसलमानों का बहुमत देकर उनसे समझौता कर लिया था, लेकिन राजा लक्ष्मणसिंह इस समझौतावादी नीति के कट्टर विरोधी थे। वे हिंदी में उर्दू शब्दों की अपेक्षा तत्सम शब्दों के पक्षपाती थे। उन्होंने सदासुखलाल की विशुद्ध भाषा का आदर्श सामने रखा और आगरा से प्रजा हितैषी नामक पत्र निकाला। इस प्रकार इन दोनों राजाओं के प्रयासों से हिंदी को पर्याप्त बल मिला और हिंदी गद्य का मार्ग प्रशस्त हुआ।

भारतेन्दु युग—हिंदी गद्य में परिष्कार तथा बहुमुखी सृजन भारतेन्दु युग में हुआ। भारतेन्दु ने गद्य तथा पद्य दोनों विधाओं में साहित्य सृजन किया तथा हिंदी पत्रों के प्रकाशन क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया और स्वयं पत्रों का प्रकाशन किया। हिंदी लेखन के लिए प्रेरक परिस्थितियों का निर्माण किया, फलत बहुत से लेखक प्रतिस्पर्धात्मक रूप में साहित्य क्षेत्र में उतरे। भारतेन्दु जी का लेखन—नाटक, कहानी, निबंध, कविता आदि रचनाएँ थीं—स्वयं में हिंदी गद्य के विकास का महान् कार्य किया था। इस युग में राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों के आन्दोलन उठे और शिक्षित वर्ग की भावनाओं में राष्ट्रीयता का उदय हुआ। इस युग में हिंदी गद्य की प्रगति निश्चय ही बहुमुखी हुई। शब्दों के स्वरूप तथा प्रयोग की दृष्टि से भाषा में स्थिरता आई, किन्तु व्याकरण के नियमों का अनुसरण स्थिरता से न हो

सका। वाक्यों की रचना दोषपूर्ण होती थी। विराम चिह्नों की ओर लेखक अधिक आकृष्ट नहीं था।

द्विवेदी युगीन गद्य—द्विवेदी युग में गद्य शैली को प्रौढ़ता प्राप्त हुई और उसमें विविधता का प्रवेश हुआ। भाषा का रूप पूर्व की अपेक्षा विशुद्ध रूप में ग्रहण किया गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती मासिक पत्रिका के माध्यम से भाषा परिमार्जन का कार्य किया। आचार्य ने स्वयं खड़ी बोली गद्य में लिखा, जो संस्कृत शब्द बहुला थी और सरस्वती के लेखकों को शुद्ध खड़ी बोली के प्रयोग के लिए प्रोत्साहन दिया। इस युग में कविता, निबन्ध जीवन चरित्र नाटक आदि रचना विधाओं का सम्यक् विकास हुआ। द्विवेदी युग में लघु कथा रचना शैली का जन्म हुआ। द्विवेदी युग के प्रणेताओं ने भिन्न भिन्न शैलियों का अनुसरण किया। पं पद्मसिंह शर्मा ने उर्दू शैली की चपलता और व्यंग्य विनोद-पूर्णता अपनी रचनाओं में अपनाई। सरदार पूर्णसिंह विशुद्ध हिन्दी में आलंकारिक गद्य में निबन्ध रचना कर रहे थे। मुंशी प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में हिन्दी गद्य शैली का स्वरूप स्थिर किया तथा उसे व्यावहारिकता से सजाया। द्विवेदी युग के लेखक कवि हैं—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, श्यामसुन्दर दास गुलाबराय प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर प्रसाद आदि। इस युग में रचना के विषयों में विविधता आई, भाषा का स्वरूप परिष्कृत हुआ तथा रचना शैली स्थिर हुई। विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों शैलियों में साहित्य-रचना हुई। लेखकों की शैलियों में संयम एवं शालीनता का विकास हुआ।

शुक्ल युग और गद्य—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विषय विश्लेषण प्रधान शैली के साथ साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया। हम भारतेन्दु युग को हिन्दी गद्य का शैशव मानते हैं, द्विवेदी युग में उसका निरन्तर परिष्कार तथा विस्तार हुआ और शुक्ल युग ने उसे प्रौढ़ता तथा साहित्यिक गरिमा से विभूषित किया। निबन्ध रचना इसी युग में विकसित हुई। आचार्य शुक्ल के साहित्य-सृजन में निबन्ध तथा समालोचना की प्रधानता है। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखकर हिन्दी की परम्परा को दूर से खोज निकाला और साहित्य से भरपूर आप्लावित सिद्ध किया। प्रसाद इस युग के प्रधान लेखक हैं जिनकी उत्तम तथा सशक्त शैली का अपना और अप्रतिम स्थान है। इस काल में गद्य की सभी विधाएँ उत्कर्ष तक पहुँचीं इस युग में विचार-प्रधान तथा समर्थ निबन्ध लिखे गए—प्रेमचन्द उपन्यास सम्राट कहलाए। नाटय-साहित्य में प्रसाद नाटय सम्राट कहलाने लगे। कथा-साहित्य में प्रसाद प्रेमचन्द, सुदर्शन कौशिक जी जनेन्द्र कुमार आदि प्रतिमायें अविस्मरणीय हैं। साहित्य-समीक्षा तथा निबन्ध के क्षेत्र में श्याम सुन्दरदास गुलाबराय, डॉ नगेन्द्र, डॉ सत्येन्द्र आदि ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। माखनलाल चतुर्वेदी इसी युग के गद्य लेखक तथा कवि थे। शुक्ल युग तो गद्य शैली के विकास की पूर्णावस्था थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ श्याम सुन्दरदास ने ऐसे अछूते विषयों पर ग्रन्थ लिखे जिनका हिन्दी में अभाव था। इन्हीं दोनों महारथियों के भगीरथ प्रयासों से हिन्दी उच्च कक्षाओं की शिक्षा के लिए प्रयुक्त हुई।

शुक्लोत्तर युग—इस युग मे भाषा, शैली और विषय सभी क्षेत्रो मे एक नवीन कलात्मकता, मसृणता और विविधता थी। छायावाद और छायावादोत्तर युग मे नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि का पर्याप्त विकास हुआ। आलोचना के क्षेत्र मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि ने अपनी कृतियो मे एक नवीन चिन्तनधारा, भावुकता और ममस्पर्शिता का परिचय दिया। गद्य के क्षेत्र मे जनेन्द्र, डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ सत्येन्द्र, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र, प्रभाकर आदि ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। इस युग के साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओ एव सिद्धान्तो ने भी पर्याप्त प्रभावित किया, जसे—साम्यवाद, प्रकृतिवाद बौद्धिकता, भौतिकवाद, यथार्थवाद आदि। इसके अतिरिक्त समीक्षाशास्त्र के नये रूप भी प्रकाश मे आए और सस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा, इन्टरव्यू, रिपोर्ताज, डायरी आदि अनेक विधाओ का विकास हुआ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हिन्दी गद्य के सम्पूर्ण विकास-क्रम पर दृष्टि रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी गद्य का जन्म चाहे पहले हुआ हो, लेकिन उसका वास्तविक स्वरूप आधुनिक काल तक ही स्थिर हो पाया। उसकी प्रगति बडी तीव्र है। यद्यपि भविष्य अज्ञात है, फिर भी हमारा ऐसा विश्वास है कि हिन्दी गद्य साहित्य अपनी समस्त विधाओ के साथ उत्तरोत्तर विकास करेगा और प्रत्येक क्षेत्र मे समृद्धि और सम्पन्नता को प्राप्त करेगा।

खडी बोली गद्य और लेखक चतुष्ट्य

रीतिकाल तक खडी बोली के पद्य और गद्य क्षेत्र म प्रवेश करने की गाथा यही समाप्त नही हो जाती। आधुनिक साहित्य मे जिसका वास्तविक प्रारम्भ भारतेन्दु से मानना चाहिए, इस भाषा के प्रवेश करने से पूर्व इस अनेक गद्यबद्ध निर्माण-भागो से गुजरना पडा। इस निर्माण को हम दो भागो म विभक्त कर सकते हैं—रीतिकालीन और रीतिकालोत्तर। (अ) रीतिकालीन निर्माण (सवत 1850–1900), (ब) रीतिकालोत्तरवर्ती निर्माण (सवत 1900–1925)।

हिन्दी साहित्य के इतिहास म सवत् 1850 (लगभग सन् 1800 ई) से लेकर स 1900 (लगभग सन् 1850) तक के पचास वर्ष बडे महत्त्व के है। इन वर्षों का महत्त्व इस बात मे है कि बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उदय के साथ हिन्दी साहित्य की जो महती उन्नति हुई उससे लगभग 50 वर्ष पूर्व–फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से लेकर–जिस समुचित तयारी की आवश्यकता थी, वह इस समय मे यथेष्ट रूप मे हो चुकी थी। कुछ प्रत्यक्ष और परोक्ष शक्तियो ने मिलकर खडी बोली गद्य को 'मॉंजना' प्रारम्भ कर दिया था जिससे उसमे महान् साहित्य के निर्माण की क्षमता आने लग गई थी। इसमे जो कुछ कमी रह गई थी उसे आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पूरा कर दिया। इन 50 वर्षों मे जिन शक्तियो न गद्य-निर्माण में सहायता दी, वे ये हैं—

1 फोर्ट विलियम कॉलेज
2 धार्मिक आन्दोलन ईसाई और ब्रह्मसमाज
3 कतिपय स्वतन्त्र लेखक—इंशा अल्लाखाँ, सदासुखलाल और रामप्रसाद निरंजनी।
4 पत्र पत्रिकाएँ—उदन्त मार्तण्ड, बनारस अखबार, आदि आदि।

इन शक्तियों में से धार्मिक आन्दोलनों द्वारा हिंदी गद्य को आनुप्रासंगिक लाभ पहुंचा है। अतः इन्हें परोक्ष शक्ति मानना चाहिए और शेष तीन को प्रत्यक्ष शक्तियाँ। प्रत्यक्ष शक्तियों ने हिंदी खड़ी बोली गद्य के निर्माण में अपूर्व योगदान दिया है। इन सबका संक्षिप्त परिचय लीजिए।

1 फोर्ट विलियम कॉलेज—फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना भारत में शिक्षा जगत् में एक अपूर्व घटना है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार को आभास मिल गया था कि भारत में मुस्लिम शासन की नींव हिल चुकी है और हिन्दू शक्ति परस्पर बँटी हुई है, अतः भारत में साम्राज्य स्थापन कोई कठिन काम नहीं है। कम्पनी के सर्वोच्च अधिकारी शुरू से ही ऐसी नीति पर चल रहे थे, जिससे ऊपर से यह मालूम पड़े कि अंग्रेज केवल अपने व्यापार के साधन जुटा रहे हैं पर वस्तुतः वे उन साधनों को जुटाने में लगे हुए थे जिससे अंग्रेजी साम्राज्य की नींव पक्की हो। इस कूटनीति की अनेक शाखाएँ थीं जिनमें 'शिक्षा नीति' भी एक थी।

फोर्ट विलियम कॉलेज' मि जॉन ग्रीथविक गिलक्राइस्ट से सुनहले सपनों का और मार्क्विस वेलजली के कूटनीतिक आदर्शों का प्रत्यक्ष परिणाम था। गिलक्राइस्ट सन् 1783 में कम्पनी में सर्जन बनकर आए थे। आते ही उन्होंने यह निश्चय किया कि कम्पनी को सुचारू रूप से चलाने के लिए हिन्दुस्तानी भाषा की जितनी आवश्यकता है, उतनी फारसी की नहीं। अतः उन्होंने स्वयं हिंदुस्तानी सीखनी शुरू की। बहुत जल्दी उन्होंने दक्षता भी प्राप्त कर ली। इसका प्रमाण है कि उन्होंने सन् 1790 में हिंदुस्तानी डिक्शनरी और सन् 1796 में 'हिंदुस्तानी ग्रामर' की रचना कर ली थी। गिलक्राइस्ट की असाधारण योग्यता देखकर कम्पनी ने अपने कर्मचारियों को हिंदुस्तानी की शिक्षा देने के लिए उनकी सेवाएँ प्राप्त कीं। सन् 1798 में ओरियण्ट सेमिनरी संस्था स्थापित की गई। मार्क्विस वेलजली ने इस संस्था के विकास में गहरी रुचि ली। दो वर्ष से भी कम समय में 9 जनवरी 1800 से गिलक्राइस्ट को परीक्षा लेने का अधिकार मिल गया। संस्था की संतोषजनक प्रगति से प्रेरित होकर मार्क्विस वेलेजली ने 4 मई 1800 को ओरियण्ट सेमिनरी संस्था को फोर्ट विलियम कालेज में बदलने का निश्चय कर लिया। इसके लिए सब व्यवस्था कर ली गई यथा—

1 संरक्षक और विजिटर (निरीक्षक)—गवर्नर जनरल।
2 गवर्नर (व्यवस्थापक)—दिवानी अदालत के जज और सुप्रीम कौंसिल के सदस्य।
3 इसके लिए विधान भी बना दिया गया।

तीस वर्ष तक कॉलेज यथेष्ट प्रगति के साथ चला और जितना कार्य किया गया, वह इतना पर्याप्त और सन्तोषप्रद था कि साहित्य जगत् में उसे यथोचित मूल्य मिलता रहेगा। पर कॉलेज के डाइरेक्टरों ने इस संस्था में यथेष्ट रुचि नहीं ली बल्कि उन्होंने सदा विरोधी रुख अपनाए रखा। परिणामतः सन् 1804 में कॉलेज का कार्य संक्षिप्त कर दिया गया और धीरे धीरे कॉलेज 2 फरवरी, 1854 को बन्द कर दिया गया। कॉलेज के पहले चार वर्षों में भारतीय भाषाओं का विकास हुआ जिनमें हिन्दी भी एक है। जिसे हम हिन्दी कह रहे हैं, उसे कालेज के वातावरण में हिन्दुई कहा गया, जिसे हम 'उर्दू' मान रहे हैं, उसे वहाँ पर 'हिन्दी' नाम से पुकारा गया। 'भाषा' के अन्तर्गत यद्यपि ब्रजभाषा का विकास हो रहा था तथापि खड़ी बोली भी ब्रजभाषा के साथ साथ पल-पुस रही थी। हिन्दी साहित्य के विकास में इस कालेज ने जो कार्य किया है, उसका विवरण इस प्रकार है—

1. 1800 में लल्लूजीलाल की भाषा मुंशी के रूप में नियुक्ति।
2. 1801 में 'सिंहासन बत्तीसी' का प्रकाशन।
3. 1802 में 'बेताल पच्चीसी' और 'माधोनल कामकन्दला' का प्रकाशन।
4. 1803 में 'प्रेमसागर' का प्रकाशन।
5. 1806 में खड़ी बोली के 'अध्यात्म रामायण' पर पुरस्कार।
6. 1803–06 में तीन थीसिस (निबन्ध) का लिखा जाना।
7. 1810 में ब्रजभाषा व्याकरण का प्रकाशन।

फोर्ट विलियम कॉलेज के विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय इस प्रकार है—

(1) जॉन बॉर्थविक गिलक्राइस्ट—जॉन गिलक्राइस्ट का जन्म 1759 ई० में एडिनबरा में हुआ था। सामान्य विद्याभ्यास के बाद इन्होंने जॉर्ज हेरियट्स अस्पताल में चिकित्सा ज्ञान प्राप्त किया। अप्रैल, 1783 को वे कम्पनी के सहायक सर्जन नियुक्त होकर भारत आए। यहाँ पहुँच कर इन्होंने 'हिन्दुस्तानी' के अध्ययन, प्रचार और साहित्य सृजन में विशेष रुचि ली। गिलक्राइस्ट ने लगभग 9–10 पुस्तकें भी लिखी। उनकी लिपि यद्यपि रोमन है, तथापि उनका वर्ण्य विषय हिन्दी है। कालेज डाइरेक्टरों के विरोधी रुख से खिन्न होकर इन्होंने कॉलेज से त्याग पत्र दे दिया और 1804 में इंग्लैण्ड वापिस चले गये। एडिनबरा विश्वविद्यालय से उन्हें एल एल डी की उपाधि मिली। 9 जनवरी, 1841 को पेरिस में इनका देहान्त हो गया।

जान गिलक्राइस्ट की भाषा सेवायें तो अपूर्व हैं, पर उनकी भाषा सम्बन्धी परिभाषाओं ने भ्रान्ति फैलाने में कोई कमी नहीं छोड़ी। उनके विचारों में 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी', 'उर्दू', 'उर्दुवी' और 'रेख्ता' सब नाम एक ही भाषा के हैं। वे हिन्दी का अर्थ हिन्द की भाषा लेते थे। 'हिन्दवी' से हिन्दुओं की भाषा का अर्थ गिलक्राइस्ट ने इसलिए ले लिया कि यह नाम सदियों से हिन्दुओं की भाषा के लिए मुसलमानों में रूढ़ चला आता था। उनके मत में हिन्दवी ब्रजभाषा, अवधी और संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली का नाम है।

(2) लल्लूजीलाल—लल्लूजीलाल आगरा के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् 1820 तथा मृत्यु सं 1882 में हुई। ये संस्कृत, ब्रजभाषा और उर्दू के ज्ञाता थे। संवत् 1857 में इनकी भाषा मुंशी के रूप में फोर्ट विलियम कॉलेज में नियुक्ति हुई। दो वर्ष बाद वह नियुक्ति स्थायी हो गई। लल्लूजीलाल को जान गिलक्राइस्ट के अधीन काम करने का अवसर मिला था। यदि इनके भाषा सम्बन्धी विचारों पर इनके अधिष्ठाता की छाप हो तो यह सर्वथा सम्भव जान पड़ता है। इनकी रचनायें ये हैं—

(क) 'सिंहासन बत्तीसी' और 'शकुन्तला' (1801 ई)
(ख) 'बेताल पच्चीसी' और 'माधोनल कामकंदला' (1802 ई)
(ग) 'प्रेम सागर' (1803)
(घ) 'राजनीति' (1809)
(ङ) 'ब्रजभाषा व्याकरण' (1811)
(च) 'सभा विलास' (1815)।

इन रचनाओं में से प्रेमसागर की विशेष प्रसिद्धि है। लेखक ने इसे ठेठ हिन्दी का मन्तव्य लेकर लिखा था। यद्यपि इसकी भाषा हिन्दुई है, पर इसे ब्रजभाषा और खड़ी बोली का मिश्रित रूप मान सकते हैं। जो हो, हिन्दी गद्य के निर्माण में लल्लूजीलाल का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इनकी भाषा का एक उदाहरण देखिए—

'एक समय व्यासदेव कृत श्रीमद् भागवत के दसम स्कन्ध की कथा को चतुर्भुज मिश्र ने दोहे चौपाई में ब्रजभाषा किया। सो पाठशाला के लिए महाराजाधिराज सकल गुणनिधान पुण्यवान, महाजान मारकुइस वलिजलि गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलक्रिस्त की आज्ञा संवत् 1860 में लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने जिसका सार ले यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली, आगरे की 'खड़ी बोली' में कह नाम प्रेम सागर' धरा।'

(3) सदल मिश्र—ये बिहार के रहने वाले थे। ये भी लल्लूजीलाल की तरह कालिज में भाषा मुंशी की हैसियत से काम करते थे। इन्हें एक बार कालिज से पृथक् कर दिया गया था, पुनः अपने पद पर नियुक्त भी कर दिया गया। ये सन् 1804 से 1809 तक कालिज में विद्यमान रहे। इनकी नियुक्ति भाषा मुंशी की हैसियत से हुई थी पर इनसे फारसी सम्बन्धी कार्य भी ले लिया जाता था। इनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(क) 'अध्यात्म रामायण (1806 ई)
(ख) हिन्दी फारसी शब्द सूची (1809 ई)
(ग) 'नासिकेतोपाख्यान।

प्रथम दो पुस्तकों का निर्माण कालिज व्यवस्था के अधीन हुआ था, तथा इन पर पुरस्कार प्राप्ति की घोषणा भी की गई थी। इनमें से प्रथम रचना अप्राप्य है। तीसरी रचना सदल मिश्र ने कालिज में जाने से पूर्व ही लिखी होगी—अनुमान

से ऐसा ज्ञात होता है। इनकी भाषा है तो हिन्दुई पर उसका रूप व्यावहारिक खड़ी बोली का है। ब्रजभाषा और अवधी के शब्द यत्र-तत्र पाये जाते हैं। इनकी भाषा का एक उदाहरण देखिए—

'इस प्रकार से नासिकेत मुनियम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन-जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते हैं, वो झूठी साक्षी भरतें, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते औरों को पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता पिता की हित-बात को नहीं सुनते, सब से बैर करते हैं, ऐसे जो पापीजन हैं सो महा डरावन दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज ने अध्ययन, साहित्य प्रणयन, पुरस्कार आदि द्वारा अनेक मार्गों से हिन्दी गद्य के निर्माण में पूरी-पूरी सहायता दी, जिसे इतिहास भुला नहीं सकता।

स्वतन्त्र-चेता कतिपय लेखकों का परिचय इस प्रकार है—

(1) रामप्रसाद निरंजनी—रामप्रसाद निरंजनी पंजाब के रहने वाले थे। इनका जन्म अनुमानतः संवत 1798 ठहराया जाता है। हिन्दी-साहित्य में इनके रचित 'योग वसिष्ठ' की पर्याप्त चर्चा की जाती है। पटियाला नरेश साहबसिंह संवत 1838 में राज्य सिंहासन पर बैठे। इनके दरबार में निरंजनी जी का आना-जाना था। कुछ ही वर्षों के बाद महाराज की दो बहिनें विधवा हो गई, जिनकी शोक-शान्ति के लिए रामप्रसाद निरंजनी से 'योगवसिष्ठ' की कथा सुनाने के लिए प्रार्थना की गई। रामप्रसाद जी कथा बाँचते जाते और दो द्रुतलेखक जो पास ही पर्दे में छिपे रहते थे उनकी मौखिक भाषा को लेखनीबद्ध करते जाते थे। यही रचना 'योगवसिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस रचना की भाषा पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह प्रथम प्रयास है। पुस्तक प्रकाशन के समय उसमें से पंजाबीपन निकाल दिया गया। इससे आचार्य शुक्ल ने इस पुस्तक की भाषा को शृंखलाबद्ध साधु और व्यवस्थित भाषा कहा है। उनका यह कथन प्रकाशित पुस्तक के लिए यथार्थ है, पर रामप्रसाद निरंजनी के मुख से निसृत मूल भाषा के लिए यथार्थ नहीं है। इस ग्रन्थ की भाषा का एक उदाहरण देखिए—

"हे राम जी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। × × × × मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्ता हुए भी निर्लेप रहोगे और हर्ष-शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित रहोगे। × × × जिसने आत्मतत्व पाया है वह

जसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्व को देखो तब विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म मरण के बंधन में न आवोगे।'

(2) **इशा अल्लाखां**—गद्य निर्माण काल में इशा अल्लाखां का नाम शीर्ष स्थान पर आता है। इनके पिता मीर माशा अल्ला खां कश्मीर से चलकर दिल्ली आकर रहे। इशा का जन्म मुर्शिदाबाद मे हुआ था और सिराजुद्दौला के मरने के बाद इशा दिल्ली आ रहे और शाह आलम द्वितीय के दरबारी कवि बनकर रहे। इशा ने सवत 1855 और 1860 के मध्य 'रानी केतकी की कहानी' लिखी थी। यह कहानी एक निश्चित विचार रखकर लिखी गयी थी। इस कहानी का निर्माण करते समय हिन्दवी की छुट और किसी बोली की पुट न आने देने' का शुभ सकल्प इशा के मस्तिष्क मे था और वह अपने प्रयत्न मे पूर्णतया सफल भी रहे। हिन्दवी शब्द, जिसे आधुनिक विद्वान हिंदी कहते हैं, मुसलमानो मे खड़ी बोली के लिए रूढ चला आ रहा था, अपनी इस कृति से खड़ी बोली के रूप निर्धारण मे इशा का स्थान सर्वप्रथम है। इशा को खड़ी बोली गद्य का सही मानों मे, पिता माना जा सकता है। इनकी भाषा का एक नमूना देखिए—

'जब दोनों महाराजो में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन भादो के रूप रोने लगी, और दोनो के जी मे यह आ गया—यह कैसी चाहत जिसमे लहू बरसन लगा और अच्छी बातों को जी तरसन लगा।''

(3) **मुंशी सदासुखलाल नियाज**—सदासुखलाल दिल्ली के रहने वाले कायस्थ थे। इनका जन्म स 1803 म हुआ तथा मृत्यु स 1881 म हुई। ये सवत 1850 से चुनार मे कम्पनी सरकार द्वारा किसी अच्छे पद पर नियुक्त थे। वे उर्दू के अच्छे शायर थे। इन्होने फारसी और उर्दू मे बहुत-सी रचनाएँ लिखी हैं। ये नौकरी से कार्यमुक्त होकर प्रयाग मे आ बसे। वहीं इन्होंने 'सुखसागर' की रचना की। इनकी भाषा परिमार्जित, व्यावहारिक और सरल खड़ी बोली है। उर्दू-ज्ञान के कारण इनकी भाषा ठेठ बन सकी है। 'नियाज' ने अपने सामने उर्दू का उत्थान और खड़ी बोली हिन्दी—जिसे मुसलमान 'भाखा' भी कहा करते थे—का पतन देखा था, जिसका उल्लेख इन्होंने स्वय किया है—

रस्मो रिवाज भाखा का दुनियाँ से उठ गया।

इनकी रचना का एक उदाहरण देखिए—

'विद्या इस हेतु पढते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है, वह प्राप्त हो जाए और उससे निज स्वरूप मे लय हूजिए। इस हेतु नहो पढते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगो को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरा पान कीजिए और धन द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, जो कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।''

हिन्दी साहित्य के गद्य निर्माण की प्राथमिक दशा मे इन तीन लेखको की सेवाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। इनकी भाषा प्रारम्भिक खड़ी बोली का यथार्थ प्रतिनिधित्व करती है। लल्लूजीलाल और सदल मिश्र तो कालिज-क्षेत्र में चले गए थे, उनकी स्वतन्त्र चेतना पर कालेज की नीति छाई हुई थी। अत बिना किसी अवलम्बन के तन्त्र भाव से लिखने वाले इन तीन लेखको का नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास म सदा गद्य के साथ स्मरण किया जाता रहेगा।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द—आप उर्दू, फारसी, हिन्दी तथा संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इन्हे अग्रेजी का अच्छा ज्ञान था। हिन्दी भाषा के सम्बन्ध म सर्वप्रथम इनकी नीति यह रही कि ठेठ हिन्दी को अपनाया जाय। इनका 'राजा भोज का सपना' इसी नीति का प्रमाण है। इसके पश्चात् ये कुछ समय तक संस्कृत-मिश्रित भाषा के पक्ष मे भी रहे। 'मानवधर्मसार' नामक कृति में इन्होंने संस्कृत-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया। पर आगे इनकी नीति बदल गयी। अब वे हिन्दी को सर्वप्रिय बनाने तथा स्कूलों मे स्थान दिलाने के लिए इसे 'आम फहम' बनाने का प्रचार करने लगे। इसी कारण आप हिन्दी गद्य मे उर्दू के शब्दो और मुहावरो का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में करने लगे।

सन् 1913 मे आप शिक्षा विभाग मे इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। उन दिनो हिन्दी मे पाठ्यपुस्तकें नही थी। आपने 35 पुस्तकें स्वय लिखी तथा दूसरो से लिखवाई। इन पुस्तको की भाषा उर्दू-मिश्रित हिन्दी थी। इन्होंने नागरी लिपि मे 'बनारस अखबार' नामक एक पत्र भी निकाला था। इसमे उर्दू शब्दो की इतनी भरमार होती थी कि इसे हिन्दी कहते हुए सकोच होता है। राजा साहब अपनी धुन के पक्के तथा अध्यवसायी व्यक्ति थे। वे हिन्दी को शिक्षा विभाग मे स्थान दिलाना चाहते थे। अपनी भाषा सम्बन्धी नीति को परिवर्तित कर देने का भी यही कारण था। अन्त में वे अपने उद्देश्य मे सफल हो गए—हिन्दी को शिक्षा विभाग म स्थान मिल गया। इनकी भाषा के दोनो नमूने प्रस्तुत हैं—

(क) भोज! मैं अभी तेरे पाप कर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता क्योंकि तूने अपने तई निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्य-कर्म कौन कौन से किए हैं कि सर्वशक्तिमान जगदीश्वर सन्तुष्ट होगा।

(ख) यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओ के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है।

राजा लक्ष्मणसिंह—राजा साहब आगरा निवासी थे। इनका जन्म म 1883 म हुआ। मातृ भाषा मे इन्हें बडा प्रेम था संस्कृत और फारसी का भी अच्छा ज्ञान था। ये ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से उच्च सरकारी पद पर नियुक्त थे। सन 1857 के गदर मे अग्रेजो की सहायता करने के पुरस्कार स्वरूप इन्हे 'राजा' की उपाधि मिली थी। इन्होंने संस्कृत के 'मेघदूत', 'रघुवश' और 'शकुन्तला' के हिन्दी अनुवाद किए। 'दण्ड-सग्रह' नाम से 'ताजीरात इ हिन्द' का

भी अनुवाद किया। आप शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे और राजा शिवप्रसाद की उर्दू मयी भाषा के घोर विरोधी थे। अपने *'प्रजाहितैषी'* पत्र में आपने संस्कृत प्रधान शैली का अनुसरण किया। 'शकुन्तला' के अनुवाद ने आपकी प्रसिद्धि में चार चाँद लगा दिए। इनकी भाषा शुद्ध, सरल और सुन्दर है। कहीं-कहीं आगरा की बोली का पुट भी विद्यमान है। इनकी भाषा का एक उदाहरण देखिए—

"काव्य बेटी सुन। जब तू रणवास में वास पावे तब पति का आदर और गुरुजनों की शुश्रूषा करियो। सौता में सपत्नी भाव से मत रहियो। सहेली की भाँति टहल करियो। कदाचित पति तिरस्कार भी करे तो भी उसकी आज्ञा से बाहर मत हूजियो। नौकर-चाकरों को एक-सा समझियो और अपस्वार्थी मत हूजियो।"

आधुनिक कविता की विविध प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु युगीन काव्य-धारा

भारतेन्दु युग के कवियों की दृष्टि आधुनिक बोध के कारण व्यापक हो गई थी। उनके विषय और शैली का क्षेत्र भी बहुत फैल चुका था। एक ओर वे अपनी रचना प्रवृत्तियों में भक्ति तथा रीतिकाल से बँधे हैं तो दूसरी ओर समकालीन आधुनिक चेतना के प्रति भी सतर्क हैं। इस विषय की व्यापकता के कारण उनकी काव्य प्रवृत्तियों को कई भागों में विभक्त करके ही परखा जा सकता है। यथा—

सामाजिक उन्मेष—भारतेन्दु युग के काव्य का प्रधान स्वर सामाजिक चेतना उत्पन्न करके समाज को नए मूल्यों और दायित्वों को वहन करने के योग्य बनाने वाला है। पहली बार कवियों ने समाज की समस्याओं का निरूपण करके समाज से प्रतिबद्धता का प्रयास किया है। इससे पूर्व रीतिकाल में कवियों ने राजा महाराजाओं की एन केन-प्रकारेण गाजी करके केवल अपने लिए सुविधाएँ जुटाने का कार्य किया था। जन समस्याएँ जनता के दुख दर्द, समाज की विकृतियाँ उनके लिए न तो जानने की वस्तु थी और न उस पर काव्यात्मक संवेदना ही उडेलना ही आवश्यक था। भारतेन्दु युग में समाज के विभिन्न पक्षों पर ध्यान दिया गया। उन्होंने इस कार्य के लिए दो पद्धतियाँ अपनाईं—(1) विकृतियों की बुराई तथा उपहास करना और (2) नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के स्पष्ट मानदण्डों की घोषणा।

सामाजिक उन्मेष की दृष्टि से इस युग के कवियों ने स्त्री शिक्षा, विधवाओं की पीड़ा, छुआ छूत की अमानवीय स्थिति आदि पर सहानुभूतिपूर्वक कविताएँ लिखीं। विषय का प्रतिपादन भी इतनी सहजता से किया जाता था कि सहृदय समाज की चेतना झकृत होती थी। इन विषयों को व्यावहारिकता की सीमा में लाने के लिए कवियों ने *मध्यम वर्ग की सामाजिक स्थिति का चित्रण किया* जिसमें रूढ़ियों का विरोध करते हुए नए समाज की स्थापना की आकांक्षा जगाने का प्रयास रहता था। आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि ने जिस सामाजिक चेतना का प्रारम्भ किया था भारतेन्दु और उनके सहयोगी प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र आदि कवियों ने उसी के अनुरूप काव्य में सुधारों का श्रीगणेश कर दिया। अम्बिकादत्त व्यास की

'भारत धर्म' नामक कविता में वर्णाश्रम धर्म का दृढतापूर्वक अनुमोदन किया गया और राधाचरण गोस्वामी ने विधवा विवाह को शस्त्र विरुद्ध बताया था किन्तु भारतेन्दु मण्डल के कवियों ने सुधारों के मामले में धर्म शास्त्रों की चिन्ता नहीं की। स्वयं भारतेन्दु ने 'भारतेन्दु ददशा' नाटक में वर्णाश्रम धर्म की सकीर्णता का विरोध किया —

बहुत हमने फैलाये धर्म।
बढाया छुआछूत का कर्म॥

इसी प्रकार 'मन की लहर' में प्रताप नारायण मिश्र ने बाल-विधवाओं की करुण दशा की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया—

कौन करेजो नहिं कसकत।
सुनि विपत्ति बाल विधवन की॥

भारतेन्दु युग के कवियों की दृष्टि बड़ी व्यापक थी। वे आर्थिक विपन्नता के कारणों का निर्धारण करके भी समाज में चेतना लाने को कृत सकल्प थे इसलिए उन्होंने स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने वाली कविताओं की भी रचना की। भारतेन्दु स्वय विदेशी वस्तुओं पर जीने की प्रवृत्ति को अपमानजनक समझते थे, अत उन्होंने उनके बहिष्कार का उद्घोष भी कर दिया। भारतेन्दु की 'प्रबोधिनी', बद्रीनारायण प्रेमघन की 'आर्याभिनन्दन', प्रतापनारायण मिश्र की 'होली है' और अम्बिकादत्त व्यास की 'भारत धर्म कविताओं में विदेशी वस्त्रों और वस्तुओं के बहिष्कार का उद्बोधन है। कुछ कविताओं में इन कवियों ने शिक्षा प्रसार, यातायात के साधनों का विकास तथा जनता के लिए अन्य सुविधाएँ जुटाने के लिए ब्रिटिश शासन की प्रशंसा भी की है।

सामान्य जनता और किसानों की बढ़ती हुई दरिद्रता का कारण भी वे विदेशी शासन को ही बताते थे। देश का आर्थिक शोषण उन्हें पीडा पहुँचाता था। उन्हें रह-रह कर यह बात कष्ट देती थी कि प्राचीन भारत में भौतिकता और सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्नता थी और अब यह विपन्नता! भारतेन्दु और मिश्रजी की कविताएँ इस प्रकार लेखा जोखा प्रस्तुत करती थीं—

रोवहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
सबहिं लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ को तरसत॥

[illegible] कार भारतेन्दु युग के काव्य में जनता की कुरीतियाँ, सामाजिक [illegible] ेशी शासन के सघात और गरीबी के करुणापूर्ण चित्रण से समाज का उन्मेष करने का प्रयास है।

राष्ट्रीय चेतना—इस युग के कवियों ने राष्ट्रीयता का प्रचार प्रसार करने के लिए उन भारतीय वीरों को आलम्बन बनाया, जिन्होंने क्षेत्र विशेष की

भी अनुवाद किया। आप शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे और राजा शिवप्रसाद की उर्दू मयी भाषा के घोर विरोधी थे। अपने 'प्रजाहितैषी' पत्र म आपने संस्कृत प्रधान शैली का अनुसरण किया। शकुन्तला' के अनुवाद ने आपकी प्रसिद्धि में चार चाँद लगा दिए। इनकी भाषा शुद्ध, सरल और सुन्दर है। कहीं-कहीं आगरा की बोली का पुट भी विद्यमान है। इनकी भाषा का एक उदाहरण देखिए—

"काव्य बेटी सुन। जब तू रणवास म वास पावे तब पति का आदर और गुरुजनों की शुश्रूषा करियो। सौता मे सपत्नी भाव स मत रहियो। सहेली की भाँति टहल करियो। कदाचित पति तिरस्कार भी करे तो भी उसकी आज्ञा स बाहर मत हूजियो। नौकर-चाकरो को एक-सा समझियो और अपस्वार्थी मत हूजियो।"

आधुनिक कविता की विविध प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु युगीन काव्य-धारा

भारतेन्दु युग के कवियो की दृष्टि आधुनिक बोध के कारण व्यापक हो गई थी। उनमे विषय और शैली का क्षेत्र भी बहुत फल चुका था। एक ओर व अपनी रचना प्रवत्तिया मे भक्ति तथा रीतिकाल से बँधे हैं तो दूसरी ओर समकालीन आधुनिक चेतना के प्रति भी सतर्क हैं। इस विषय की व्यापकता के कारण उनकी काव्य प्रवत्तियो को कई भागा मे विभक्त करके ही परखा जा सकता है। यथा—

सामाजिक उन्मेष—भारतेन्दु युग के काव्य का प्रधान स्वर सामाजिक चेतना उत्पन्न करके समाज को नए मूल्या और दायित्वा को वहन करने के योग्य बनाने वाला है। पहली बार कवियो ने समाज की समस्याओ का निरूपण करके समाज से प्रतिबद्धता का प्रयास किया है। इससे पूर्व रीतिकाल में कवियो ने राजा महाराजाओं को येन केन प्रकारेण राजी करके केवल अपने लिए सुविधाए जुटाने का काय किया था। जन समस्याएँ, जनता के दुख दर्द, समाज की विकृतियाँ उनके लिए न तो जानने की वस्तु थी और न उस पर काव्यात्मक संवदना ही उँडेलना ही आवश्यक था। भारतेन्दु युग म समाज के विभिन्न पक्षो पर ध्यान दिया गया। उन्होंने इस काय के लिए दो पद्धतियाँ अपनाई—(1) विकृतिया की बुराई तथा उपहास करना और (2) नये मूल्या की प्रतिष्ठा के स्पष्ट मानदण्डो की घोषणा।

सामाजिक उन्मेष की दृष्टि से इस युग के कवियो ने स्त्री शिक्षा, विधवाओ की पीडा, छुआ छूत की अमानवीय स्थिति आदि पर सहानुभूतिपूर्वक कविताए लिखी। विषय का प्रतिपादन भी इतनी सहजता से किया जाता था कि सहृदय समाज की चेतना जागृत होती थी। इन विषयो को व्यावहारिकता की सीमा म लाने के लिए कवियो ने मध्यम वग की सामाजिक स्थिति का चित्रण किया जिसमे रूढिया का विरोध करते हुए नए समाज की स्थापना की आकांक्षा जगाने का प्रयास रहता था। आय समाज ब्रह्म समाज आदि ने जिस सामाजिक चेतना का प्रारम्भ किया था भारतेन्दु और उनके सहयोगी प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र आदि कविया न उसी के अनुरूप काव्य म सुधारों का श्रीगणेश कर दिया। अभिव्यक्ति व्याग का

'भारत धर्म' नामक कविता में वर्णाश्रम धर्म का दृढ़तापूर्वक अनुमोदन किया गया और राधाचरण गोस्वामी ने विधवा विवाह को शास्त्र विरुद्ध बताया था किन्तु भारतेन्दु मण्डल के कवियों ने सुधारों के मामले में धर्म शास्त्रों की चिन्ता नहीं की। स्वयं भारतेन्दु ने 'भारतेन्दु ददशा' नाटक में वर्णाश्रम धर्म की सकीर्णता का विरोध किया —

बहुत हमने फैलाये धर्म।
बढाया छुआछूत का कर्म॥

इसी प्रकार 'मन की लहर' में प्रताप नारायण मिश्र ने बाल विधवाओं की करुण दशा की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया—

कौन करेजो नहिं कसकत।
सुनि विपत्ति बाल विधवन की॥

भारतेन्दु युग के कवियों की दृष्टि बड़ी व्यापक थी। वे आर्थिक विपन्नता के कारणों का निर्धारण करके भी समाज में चेतना लाने को कृत सकल्प थे इसलिए उन्होंने स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने वाली कविताओं की भी रचना की। भारतेन्दु स्वयं विदेशी वस्तुओं पर जीने को प्रवत्ति को अपमानजनक समझते थे, अतः उन्होंने उनके बहिष्कार का उद्घोष भी कर दिया। भारतेन्दु की 'प्रबोधिनी', बद्रीनारायण प्रेमघन की 'आर्याभिनन्दन', प्रतापनारायण मिश्र की 'होली है' और अम्बिकादत्त व्यास की 'भारत धर्म' कविताओं में विदेशी वस्त्रों और वस्तुओं के बहिष्कार का उद्बोधन है। कुछ कविताओं में इन कवियों ने शिक्षा प्रसार, यातायात के साधनों का विकास तथा जनता के लिए अन्य सुविधाएँ जुटाने के लिए ब्रिटिश शासन की प्रशंसा भी की है।

सामान्य जनता और किसानों की बढ़ती हुई दरिद्रता का कारण भी वे विदेशी शासन को ही बताते थे। देश का आर्थिक शोषण उन्हें पीड़ा पहुँचाता था। उन्हें रह रह कर यह बात कष्ट देती थी कि प्राचीन भारत में भौतिकता और सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्नता थी और अब यह विपन्नता! भारतेन्दु और मिश्रजी की कविताएँ इस प्रकार लेखा जोखा प्रस्तुत करती थीं—

रोवहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुदशा न देखी जाई॥
तबहि लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ को तरसत॥

[illegible] भारतेन्दु युग के काव्य में जनता की कुरीतियाँ, सामाजिक [illegible] शी शासन के सत्राम और गरीबी के करुणापूर्ण चित्रण में समाज का उन्मेष करने का प्रयास है।

राष्ट्रीय चेतना—इस युग के कवियों ने राष्ट्रीयता का प्रचार प्रसार करने के लिए उन भारतीय वीरों को आलम्बन बनाया, जिन्होंने क्षेत्र विशेष की

रक्षा के लिए या मान मर्यादा और लोक की रक्षा के लिए विशेष वीरता का प्रदर्शन किया था। चाहे वे किसी भी क्षेत्र के थे किन्तु उनका नाम समस्त भारत के लोगों में श्रद्धा से लिया जाता था। राणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल आदि ऐसे ही वीर थे। इन कवियों ने भूषण की क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति को भी छोड़ा और व्यापक राष्ट्रीय परिवेश में उक्त वीरों के वीर कार्यों का आनन्दपूर्वक बखान किया। इन कवियों ने भारतीय इतिहास के गौरवपूर्ण पृष्ठों का खाल दिया। उन्होंने अंग्रेजी की विचारधारा और देशभक्तिपूर्ण कविताओं से प्रेरणा लेकर राष्ट्रीयता को *व्यापक आधार प्रदान किया। इस देश का स्तवन सम्पूर्ण देश को एक मान कर* किया गया। यह भारत भूमि उत्तम और समस्त रत्नों की खान है। ऐसी ही भावनाएँ कविता में प्रस्तुत की जाने लगी। देश के उत्थान-पतन के लिए जिम्मेदार परिस्थितियों का भी कविता में आकलन किया गया। मैथिलीशरण गुप्त ने भारत भारती में जिस देशभक्ति की भावना का निरूपण किया उसके बीज भारतेन्दु युग की कविताओं में ही देखे जा सकते हैं। भारतेन्दु की 'विजयिनी विजय वैजयन्ती', प्रेमघन की 'आनन्द अरुणोदय' प्रतापनारायण मिश्र की 'महापर्व' तथा 'नया संवत', राधाकृष्णदास की 'भारत बारह मासा और विनय' कविताएँ देशभक्ति की प्रेरणा से सम्पन्न हैं। कहीं अन्योक्तियाँ, कहीं प्रेरणादायक प्रसंग और कहीं शोषण विरोधी चर्चा करके उन्होंने नवयुवकों को चेतना से सम्पन्न किया। कहीं इतिहास का नाम लेकर प्राचीन गौरव को जगाने का प्रयास किया—

हाय ! पंचनद, हा ! पानीपत।
आजहुँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हा चित्तौर निलज तू भारी।
अजहुँ खरा भारतहि मँझारी॥

भारतेन्दु युग की कविता के दो भाग थे जिनमें वे राष्ट्रीय चेतना का लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे, देश प्रेम और राज भक्ति देश प्रेम का बीजारोपण करने के लिए वे हिन्दी, हिन्दू हिन्दुस्तान को आधार बनाते थे। मिश्रजी की ये पंक्तियाँ—

चहहु जो साँचहु निज कल्यान तो सब मिलि भारत सन्तान।
जपो निरंतर एक जबान हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान॥

दूसरी ओर राजभक्ति का भी कारण था। मुस्लिम काल में हिन्दुओं को जजिया कर देना पड़ता था। ब्रिटिश शासन में धर्म के सम्बन्ध में शासकों का दृष्टिकोण निरपेक्ष था अतः कवियों [illegible] की प्रशंसा भी मुक्तकण्ठ से की। इस वर्ग की [illegible] में भारतेन्दु की [illegible] वायवल्लरी प्रेमघन की हार्दिक हर्षादर्श [illegible] राधाकृष्णदास [illegible] पुष्पांजलि जुबिली और विजयिनी [illegible] बताएँ [illegible] [illegible]-हास्यमय कवि [illegible] युग में रा[illegible] थीं [illegible] चेतना की प्र[illegible] था [illegible] में [illegible] जैसा प्रव[illegible] गया

लाभ पाया और लुटाया, उस परम्परा का निर्वाह यद्यपि भारतेन्दु युग में पूरी तरह नहीं हो सका किन्तु इस युग के कवियों ने भक्तिपूर्ण काव्य का आनन्दपूर्ण सृजन किया है। निर्गुण भक्ति, वैष्णवभक्ति और देश-प्रेम पर आधारित ईश्वर-भक्ति से सम्बंधित कविता की रचना में परम्परा और नवीनता का सुन्दर सम्मिश्रण है। निर्गुण सगुण भक्ति-भाव तो परम्परा का ही निर्वाह था किन्तु देश प्रेम के साथ भक्ति को मिला देना पूर्णतः मौलिक दृष्टि ही तो थी।

निर्गुण भक्ति गौण रूप से ही अभिव्यक्त हुई जिसमें संसार की नश्वरता, माया मोह का फन्दा, विषय वासनाओं की निन्दा आदि विषयों पर उपदेश दिए गए हैं—

साधो मनवाँ अजब दिवाना।
माया मोह जनम के ठगिया, तिनके रूप भुलाना॥

—प्रतापनारायण मिश्र

भक्ति का दूसरा पक्ष यानी सगुण भक्ति के अन्तर्गत भगवान राम, कृष्ण, राधा व अन्य देवी देवताओं को मग्न होकर काव्य के माध्यम से याद किया गया। हरिनाथ पाठक का 'श्री ललित रामायण' (सन् 1893), अक्षयकुमार का 'रसिक विलास रामायण' (सन् 1896 ई॰), आदि माधुर्य भक्ति की रचनाएँ हैं। इस दिशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम सर्वोपरि है जिनके बनाए पद उन्हीं के जीवन-काल में मन्दिरों में गाये जाने लगे थे। वे राधा कृष्ण के अनन्य भक्त थे और वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे। उनके कृष्ण काव्य में तन्मयता, सरसता और माधुर्य भक्ति का रसास्वादन है। उन्हें तो एकमात्र आधार नन्दलाला और वृषभानु दुलारी का ही था। वे 'मेरा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के थे।

इस युग के अन्य कवि भी भक्ति-काव्य की रचना में पीछे नहीं थे। प्रेमघन की 'अलौकिक लीला' अम्बिकादत्त व्यास का कंस वध, राधाकृष्णदास के विनम्र-भाव युक्त कृष्ण भक्ति के पद तथा ठाकुर जगमोहनसिंह की दुर्गा स्तुति प्रेमघन की सूर्य स्तोत्र, भारतेन्दु कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' प्रतापनारायण मिश्र के नवरात्र पद, राधाचरण गोस्वामी की 'नवभक्तमाल' आदि कृतियाँ इस युग की भक्ति रचनाओं का प्रकट करती हैं।

देश प्रेम पर आधारित ईश्वर-भक्ति की रचनाएँ किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं। प्रेमघन का 'आनन्द अरुणोदय', भारतेन्दु का 'जैन कुतूहल' आदि ग्रन्थ सभी धर्मों में निहित सत्य और समन्वय भाव को प्रकट करते हैं। भारत की समस्याओं का निवारण करने के लिए युग के कवि ईश्वर से प्रार्थना करते हैं—

कहाँ करुणानिधि केशव सोए?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।

—भारतेन्दु

हम आरत भारतवासिन पै
अब दीनदयाल दया करिये।

—प्रतापनारायण मिश्र

अपने या भारत के पुनि दुःख दारिद हरिये ।

—राधाकृष्णदास

शृंगार चित्रण—भारतेन्दु युग के कवि रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे । अतः रसोद्रेक के लिए विभिन्न रसों का निरूपण किया । इनमें शृंगार रस सर्वप्रमुख है । प्रतापनारायण मिश्र के अतिरिक्त अन्य कवियों ने शृंगारी काव्य को प्रमुखता दी । रीतिकाल के अनुकरण पर राधा कृष्ण को आलम्बन बनाकर इन्होंने भी प्रेम और सौंदर्य के सुन्दर चित्र प्रदान किए । राधाकृष्णदास ने 'राम जानकी' हरिनाथ पाठक ने 'श्रीललित रामायण', भारतेन्दु ने प्रेम सरोवर, प्रेम माधुरी, प्रेम तरंग, प्रेम फुलवारी आदि में भक्ति के साथ विशुद्ध शृंगार प्रस्तुत किया है । इन कवियों ने भक्तिकाल के अनुसरण पर माधुर्य-भक्ति पर आधारित शृंगार रीतिकाल की पद्धति पर नखशिख, षड्ऋतु और नायिका भेद, उर्दू की प्रेम व्यथा और अंग्रेजी कविताओं से प्रेम का प्रभाव ग्रहण किया है । भारतेन्दु और प्रेमघन में सौन्दर्य, प्रेम और विरह कहीं कहीं उर्दू काव्य से प्रभावित है । भारतेन्दु के बाद शृंगार के क्षेत्र में ठाकुर जगमोहनसिंह का नाम लिया जा सकता है । उदाहरणार्थ—

जो हरीचन्द भई सो भई अब, प्रान चले चहैं तासों सुनाय ।
प्यारे जू है जग की यह रीति, बिदा की समै सब कंठ लगावै ।।

— भारतेन्दु

अब यों डर आवत है सजनी मिलि जाऊँ गरे लगि कै छतियाँ ।
मन की करि भाँति अनेकन औ, मिलि कीजिय री रस की बतियाँ ।।
हम हारि अरी करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेह भरी पतियाँ ।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिना कैसे कटैं दुःख की रतियाँ ।।

—ठाकुर जगमोहन सिंह

प्रकृति चित्रण— यद्यपि भारतेन्दु युग के कवियों ने प्रकृति का स्वच्छ वर्णन प्रारम्भ कर दिया था किन्तु अधिकतर कवि केवल परम्परा का निर्वाह करने के लिए ही प्रकृति का चित्रण करते थे । भारतेन्दु कृत बसन्त होली अम्बिकादत्त व्यास की पावस पचासा, गोविन्द गिल्लाभाई की षड्ऋतु और पावस पयोनिधि आदि ग्रन्थों में तथा ठाकुर जगमोहनसिंह के काव्य में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण किया गया है । भारतेन्दु की गंगा वर्णन तथा यमुना वर्णन कविताएँ यद्यपि प्रकृति की स्वतन्त्र रचनाएँ हैं किन्तु अलंकारों के बोझ से दबी हुई प्रतीत होती है । हाँ भारतेन्दु की प्रेम समीरन, प्रेमघन की मयंक महिमा, प्रतापनारायण मिश्र की प्रेम पुष्पान्जलि में भी प्रकृति को स्वतन्त्र रूप से अंकित करने का प्रयास किया गया है । जगमोहन सिंह की प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और नैसर्गिक दृश्यों का स्वाभाविक चित्रण है । रीतिकाल में प्रकृति केवल उद्दीपन के रूप में रह गयी थी । भारतेन्दु युग के कवियों ने संस्कृत कवियों के आदर्श पर प्रकृति का आलम्बनगत रूप प्रस्तुत किया—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति ।
बिचबिच छहरति बूंद मध्य मुक्तामनि पोहति ।।
× × ×
तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये ।
भुके कूल सो जल परसन हित मनहुँ सुहाये ।।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्रकाश पतग मो चोटिन के विकसें अरविन्द मलिन्द सुभूम ।
लसै कटि मेखला के जगमोहन वारी घटा घन घोरत घूम ।।

—जगमोहनसिंह

रीति निरूपण—भारतेन्दु युग से रीतिकाल की यह प्रमुख प्रवृत्ति क्षीणतर होती चली गई। केवल लछिराम भट्ट, बालगोविन्द मिश्र, कवि राजा मुरारीदान आदि कुछ कवियो ने रीतिग्रन्थो की रचना की। लछिराम भट्ट का महेश्वर विलास', मुरारीदान का जसवन्तजसोभूषण, बालगोविन्द मिश्र का भाषा छन्द प्रकाश प्रताप नारायण सिंह का रस कुसुमाकर, कन्हैयालाल पोद्दार का 'अलकार प्रकाश आदि कृतियाँ रीति निरूपण करने वाली हैं। इन ग्रन्थो के काव्य का स्वरूप, शब्द शक्ति गुण और रीति तथा अलकारो के लक्षण देकर उनकी व्याख्या गद्य मे भी की गई है। यह भी नई व्यवस्था ही कही जायेगी कि लक्षण निरूपण के लिए पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग किया गया। ये कवि भारतेन्दु युग के आचार्यों मे स्थान नही पा सकते। इन्हे केवल यह गौरव प्राप्त है कि इन कवियों ने हिन्दी काव्य शास्त्र को पद्य की सीमाओ से बाहर निकालकर नए गद्य-पथ पर चलना सिखा दिया।

हास्य व्यग्य—भारतेन्दु युग के सभी कवि बहुत जिन्दा दिल थे। उनमे हास्य-व्यग्य की प्रवृत्ति बहुतायत से विद्यमान थी। इन कवियो ने हास्य और व्यग्य के नये विषयो से लोगो को अवगत कराया। पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन अध विश्वास, कुरीतियाँ आदि विषय उनके व्यग्यो के आलम्बन बने। विषयो के साथ-साथ शैली में भी नयापन लाना इनकी विशेषता है। स्वय भारतेन्दु ने अपने नाटको के गीतो में कहीं कहीं शिष्ट हास्य और कहीं-कहीं व्यग्योक्तियो तथा मुकरियो से तीखे व्यग्यो की रचना की है। भारतेन्दु की हास्य कविताएँ परोडी, स्यापा तथा गाली—इन तीन वर्गों मे विभाजित की जा सकती हैं। बन्दर सभा और इन्दर सभा के गीत परोडी श्रेणी मे, उर्दू का स्यापा तथा उर्दू मारी गई, है है उर्दू हाय हाय, कहाँ सिधारी हाय हाय आदि व्यग्यो मे उर्दू फारसी की स्यापा श्रेणी और समधिन मधुमास गाली श्रेणी की कविताएँ हैं। सामाजिक राजनीतिक बुराइयो को दूर करने के लिए उन्होंने सुन्दर मुकरियो मे भी व्यग्योक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। ये मुकरियें अमीर खुसरो की याद दिलाती हैं। शराब की बुराई पर यह मुकरी दर्शित—

मुहँ जब लाग तब नही छूटे, जाति मान धन सब कुछ लूटे।
पागल करि मोहि करे खराब, क्यो सखि साजन ? नही शराब ।।

प्रेमघन ने भी हास्य बिन्दु प्रकरण मे समसामयिक स्थितियो का विनोदपूर्ण चित्रण किया है। प्रताप नारायण मिश्र की तृप्यन्ताम, हरगगा, बुढ़ापा और ककाराष्टक आदि कविताएँ नये ढंग की हास्य कविताएँ हैं। अग्रेजी फशन का विरोध व्यग्य म—

जग जान इगलिश हमे वाणी वस्त्रहि जोय।
मिट बदन कर स्याम रग जन्म सुफल तब होय॥

समस्या पूर्ति—रीति काल मे राजदरबारो मे समस्या पूर्ति काव्य दगल का सुन्दर दृश्य उपस्थित करती थी। भारतेन्दु युग मे रीति काल का यह अवशेष मौजूद था। कवियों की प्रतिभा और रचना कौशल की परीक्षा लेने के लिए कवि गोष्ठियों मे समस्या पूर्ति करायी जाती थी। भारतेन्दु ने काशी मे स्थापित कविता वर्द्धिनी सभा कानपुर की रसिक समाज तथा अन्य काव्य प्रेमियो द्वारा निजामाबाद म कवि समाज नामक सस्थाओ की स्थापना की गई जिनमे कविगण नियमित रूप से दी गई समस्याओ की पूर्ति करते थे। बडे बडे कवि नि सकोच इनमे भाग लेते थ। भारतेन्दु प्रताप नारायण मिश्र और प्रेमघन समस्या पूर्ति करने मे सिद्धहस्त थे। कवि सम्मेलनो मे समस्या पूर्ति करने पर खूब वाहवाही होती थी। इन पूर्तियो म सूझबूझ, उक्तिवचित्र्य और आशु कवित्व का परिचय प्राप्त होता था। भारतेन्दु की यह पूर्ति देखिए जिसमे 'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अखियाँ दुखिया नही मानती है' की पूर्ति चार पक्षो मे की गई है—

मह सग मे लागिये डोले सदा बिन देखे न धीरज धारती है।
छिनहू जो विदेश परे हरिचन्द तो काल प्रलय की ठानती हैं॥
बरुनी मे थिरै न भपै उभपै पल मे न समाइबो जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अखियाँ दुखिया नही मानती हैं॥

प्रेमघन की वह समस्या पूर्ति तो उस युग की सुन्दर स्मृति बनी हुई है जब एक कवि सम्मेलन मे समस्या दी गई थी 'काफिर हैं वे जो बन्दे नही इसलाम के।' इस पर प्रेमघन जी ने इस प्रकार की पूर्ति प्रस्तुत की और वाहवाही लूटी—

नाभ के मानिन्द हैं गेसू मेरे घनश्याम के।
काफिर हैं वे जो बन्दे नही इस लाम के॥

उस युग मे सामान्यत समस्या-पूर्ति के लिए शृगारपरक या सामाजिक विषय लिए जाते थे। समस्या पूर्ति करने वालो मे उस युग म भारतेन्दु के अतिरिक्त प्रेमघन, लछिराम, विजयानन्द त्रिपाठी गोविन्द गिल्लाभाई, बलवीर, अम्बिकादत्त व्यास गंगाधर आदि प्रमुख कवि थे।

कला पक्ष

काव्य रूप—भारतेन्दु युग मुख्यत मुक्तक काव्य का युग रहा है। कुछ अपवाद स्वरूप प्रबन्ध काव्य भी हैं, जसे हरिनाथ पाठक की श्री ललित रामायण, प्रेमघन की जीर्ण जनपद और मयक महिमा अम्बिकादत्त व्यास की कसवध भारतेन्दु की रानी छद्मलीला देवी छद्म लीला आदि। भारतेन्दु की विजयिनी विजय

वजयन्ति और हिन्दी भाषा निबन्ध काव्य रचनाएँ हैं। बाबू बाल मुकुन्द गुप्त और राधाकृष्णदास ने भी इस पद्धति का अनुसरण किया। हरिऔध न कृष्ण शतक (1882), अम्बिकादत्त व्यास ने 'सुकवि सतसई' मे सतसई और शतक परम्परा का निर्वाह किया। प्रगति मुक्तक रूप मे भी पर्याप्त रचनाएँ लिखी गइ, राग रागनियो पर आधारित पद शैली की काव्य-रचना प्रगीत मुक्तक काव्य रूप की उदाहरण हैं। लोक गीतो पर आधारित प्रेमघन और प्रताप नारायण मिश्र की कजलियाँ, भारतेन्दु का वरण विनोद और प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी तथा जगमोहन सिंह की लावणियाँ, उर्दू का स्यापा तथा इन्द्र सभा म व्यग्यात्मक नई शली के काव्य रूपो के दशन होते है। मुकरियो मे भी लोक रुचि की झलक है। भारतेन्दु, प्रेमघन आदि ने उर्दू गजलें भी लिखी थीं। प्रताप नारायण मिश्र कसीदा, शेर, मरसिया भी लिखते रहते थे। तात्पय यह है कि इस युग के काव्य का स्वरूप मुक्तक काव्य म ही बद्ध रहा।

भाषा—जिस समय उर्दू को राज्याश्रय प्राप्त था उस समय भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा काव्य निबन्ध के माध्यम से हिन्दी को उसका स्थान दिलाने का प्रयास किया था। भारतेन्दु उर्दू के एकान्त विरोधी नही थे। वे स्वय और प्रेमघन तथा मिश्र मे उर्दू शब्दावली के समुचित प्रयोग की प्रवृत्ति थी। यह प्रवृत्ति क्षेत्रीय भाषाओ के मिश्रण की सीमा तक थी। मिर्जापुरी कनौजी, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, अवधी उर्दू और अग्रेजी के शब्दो का मिश्रण हिन्दी मे स्वभावत किया जाने लगा था। जिन शब्दो न अपनी साथकता समाप्त कर दी थी, उनको त्यागा जा रहा था और नए शब्दो की खोज की जाने लगी थी।

इस युग मे प्रयुक्त ब्रजभाषा यद्यपि पद्माकर और घनानन्द की ब्रज भाषा के समान परिष्कृत नही थी किन्तु शब्द जाल म उलझी केवल कला का नमूना भी नही थी। भाषा मे रागात्मकता, स्वच्छता, व्यावहारिकता वृत्त म प्रभाव क्षमता, मुहावरों और लोकोक्तियो की प्रासगिकता आदि विशेषताएँ स्पष्ट झलकती थी। शृगार और भक्ति सम्बन्धी रचनाओ में कोमलकान्त पदावली और वीर रस म ओजपूर्ण शब्दा का प्रयोग किया गया है। वणन प्रधान इतिवृत्तात्मक शली के साथ *इनकी भाषा में चित्रात्मकता, उद्बोधन विशिष्टता, और रचना-कौशल विद्यमान* है। भारतेन्दु और प्रताप नारायण के होली वणन में प्रतीक शली के दशन होते हैं। अम्बिकादत्त व्यास, बालमुकुन्द गुप्त, राधाकृष्ण दास में व्याकरण दोषो को दूर करने की प्रवत्ति भी है।

भारतेन्दु युग में ही कुछ कवियो ने खडी बोली में भी काव्य रचना प्रारम्भ कर दी थी। भारतेन्दु का फूलो का गुच्छा प्रेमघन का मयक महिमा, श्रीधर पाठक का एकान्तवासी योगी, बाल मुकुन्द गुप्त का स्फुट कविता तथा प्रताप नारायण मिश्र और राधाकृष्ण दास की भी अनेक कविताएँ खडी बोली में हैं। इस युग की खडी या ये की कविताएँ ही आगे द्विवेदी युग में मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियो के उत्कष का आधार बनी। काव्य में ब्रज भाषा और खडी बोली दोनो का ही प्रयोग चल रहा

था। अयोध्या प्रसाद खत्री ने खड़ी बोली आंदोलन (1888) में अवधी और ब्रज भाषा की रचनाओं को स्थान ही नहीं दिया। भारतेन्दु की एक खड़ी बोली कविता का उदाहरण प्रस्तुत है—

श्री राधा माधव युगल चरण रस का अपने को मस्त बना।
पी प्याला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा॥

अलंकार-योजना—यद्यपि भारतेन्दु युग के कवियों में अलंकारों के प्रयोग से रचना को सुन्दर और आकर्षक बनाने की प्रवृत्ति है किन्तु उसमें रीतिकाल की अलंकरण प्रवृत्ति की नकल मात्र नहीं है। युग की नीति-बद्ध शृंगारिक रचनाओं और भारतेन्दु की यमुना छवि जैसी कुछ कविताओं में उत्प्रेक्षा, उपमा, सन्देह आदि अर्थालंकारों के साथ अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों का प्रयोग मिलता है किन्तु अधिकतर कवियों ने अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही किया है।

छन्द-योजना—भारतेन्दु युग की रचनाएं अधिकतर गेय पद शैली में हैं किन्तु परम्परागत दोहा, चौपाई, सोरठा, कुण्डलिया रोला, हरिगीतिका आदि मात्रिक तथा सवैया, कवित्त शिखरिणी मन्दाक्रान्ता वंशस्थ, वसन्ततिलका आदि वर्ण छन्दों का भी विशेष प्रचलन रहा है। भारतेन्दु और राधाकृष्ण दास ने बिहारी और रहीम के कुछ दोहों को कुण्डलियों में विस्तार दिया है। भारतेन्दु ने बंगला छन्द 'पयार', अम्बिकादत्त व्यास ने दीर्घ ललित और असुकान्त छन्द का भी प्रयोग किया है।

द्विवेदी-युगीन काव्य-प्रवृत्तियां

काव्य भाषा मे परिवर्तन—काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग भारतेन्दु-युग मे प्रारम्भ हो गया था, किन्तु इस प्रयोग की वास्तविक स्थापना और निरन्तरता द्विवेदी-युग मे ही प्रकट हुई। ब्रजभाषा के स्थान पर द्विवेदी युग में कविता के लिए भी खड़ी बोली का प्रयोग ब्रजभाषा से द्वेष के कारण या उसे हीन समझने के कारण नहीं किया गया अपितु यह युग की आवश्यकता की पूर्ति के रूप में ही प्रारम्भ हुआ था। विगत कुछ शताब्दियों से काव्य में एकछत्र ब्रजभाषा का ही शासन था। इस समय खड़ी बोली हिन्दी समस्त हिन्दी भाषी प्रान्तों में लोक व्यवहार की भाषा के रूप में तेजी से विकसित हो रही थी। जन-जागृति और जन आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए खड़ी बोली हिन्दी ही एक मात्र माध्यम हो सकती थी। इसकी वास्तविकता भारतेन्दु-युग में ही स्वीकार कर ली गई थी। भारतेन्दु-युग में गद्य-साहित्य-नाटक उपन्यास निबंध जीवन चरित्र आदि खड़ी बोली में लिखे गए थे और इस कारण खड़ी बोली इतनी अधिक लोकप्रिय हो गई थी कि द्विवेदी युग में यह अनुभव किया जाने लगा कि गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की ब्रजभाषा, यह दोहरापन जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अनुचित और अप्रामाणिक है अतः पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कामता प्रसाद गुरु के हिन्दी व्याकरण के आधार पर खड़ी बोली का

शुद्ध और परिष्कृत करने का आन्दोलन चलाया और कवियों को उसे काव्य में प्रस्तुत करने के लिए प्रेरणा भी दी। द्विवेदी-युग को हिंदी पद्य का स्वर्ण काल कहा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककार प्रेमचन्द और गुलेरी जैसे कथाकार, बाबू श्याम सुंदर और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे समालोचक-निबंधकार इसी युग की देन हैं।

हिंदी काव्य भी द्विवेदी जी के आदर्शों से अछूता न रह सका। उन्होंने खड़ी बोली में कविता लिखने का जो आह्वान किया था, उसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। भारतेन्दु युग के कवियों को सन्देह था कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा सा माधुर्य नहीं है, अतः वह कविता के उपयुक्त नहीं हो सकती। द्विवेदी जी ने इस सन्देह को दूर किया। उनकी प्रेरणा से मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली में कविता लिखना शुरू किया। प्रारम्भ में उसमें नीरस तुकबंदियों के अतिरिक्त कुछ नहीं था किन्तु धीरे धीरे खड़ी बोली का परिमार्जन होता गया और उसमें मधुरता तथा प्रौढ़ता और भावों का वहन करने की क्षमता का विकास होने लगा। गुप्त जी का लिखा 'जयद्रथ वध' खड़ी बोली का ऐसा प्रबल आधार सिद्ध हुआ कि ब्रजभाषा को काव्य क्षेत्र से पलायन ही करना पड़ा। बाद में 'भारत भारती' ने तो खड़ी बोली की विजय का झण्डा ही फहरा दिया। द्विवेदी-युग में काव्य भाषा का ब्रजभाषा से खड़ी बोली में परिवर्तन का इतिहास, इस बात का साक्षी है कि खड़ी बोली की अक्खड़ता, अपरिपक्वता, अव्यवस्था और कठोरता किस प्रकार परिपक्वता, व्यवस्था और मधुरता में परिवर्तित हुई। इस युग की खड़ी बोली के दिशा निर्देशक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ही थे जिन्होंने सुबोध, शुद्ध और रसानुरूप भाषा का रूप सवारा।

नैतिकता और आदर्श—द्विवेदी युग का काव्य आदर्शवादी और नीतियुक्त है। कवि किसी आदर्श के लिए ही काव्य रचना करता है। कविता केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं है, वह तो गुप्तजी के शब्दों में यह है—

> केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
> उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥
> क्या आज रामचरित मानस सब कहीं सम्मान्य है।
> सत्काव्य युत उसमें परम आदर्श का प्राधान्य है॥

—मैथिलीशरण गुप्त

इस युग के कवियों ने इतिहास पुराण से प्रसंग लेकर तथा कल्पना पर आधारित आदर्श चरित्रों पर प्रबंध काव्यों की सृष्टि की। इन काव्यों में असत्य पर सत्य की विजय दिखाई गई। स्वार्थ त्याग कर्त्तव्य पालन, आत्म गौरव और उच्चादर्शों की स्थापना करना इन काव्यों का उद्देश्य है। हरिऔध का प्रिय प्रवास, मैथिलीशरण गुप्त का साकेत, जयद्रथवध, रंग में भंग विकट भट, गोकुलचन्द्र शर्मा का गाँधी गौरव रामनरेश त्रिपाठी का मिलन आदि काव्य आदर्शवादी प्रेरणा से सम्पन्न हैं। अनेक पद्यबद्ध लघु कथाओं का ध्येय भी नैतिकता और आदर्श की

स्थापना करना ही रहा है। इस युग में कथात्मक काव्य कृतियों के अतिरिक्त मुक्तक रूप में भी नीति और आदर्श से युक्त काव्य रचा गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि इस युग की उक्त प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कवि हैं। इस युग में प्रेम को भी आदर्श उदात्त आसन पर प्रतिष्ठित किया गया। प्रिय प्रवास की राधा सम्पूर्ण विश्व की सेवा का आदर्श उपस्थित करती है। 'साकेत' की उर्मिला अपने निजी सुख दुःख से दूर रहकर *प्रिय के सुख स्वप्नों में चूर रहती है।* रामनरेश त्रिपाठी प्रेम का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं—

> गन्ध विहीन फूल हैं जैसे चन्द्र चन्द्रिकाहीन।
> यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम विहीन॥
> प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।
> ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक॥

राष्ट्र प्रेम—पुनर्जागरण के बाद देश में प्रत्येक क्षेत्र में जागृति की लहर दिखाई देने लगी थी। राजनीतिक चेतना और संस्कृति के पुनः उत्थान के परिणामस्वरूप द्विवेदी युग के काव्य में देश भक्ति का स्वरूप और भी स्पष्ट तथा सही दिशा का सूचक बनकर आया। इस युग की कविता का जन्म और विकास ही ऐसे समय हुआ जब भारत के लोगों में ब्रिटेन की तरह अपना शासन स्वयं चलाने की इच्छा बलवती होती गई और कांग्रेस के आन्दोलनों तथा प्रस्तावों में राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य और स्वशासन के लक्ष्य का निर्धारण किया जाने लगा। सच तो यह है कि द्विवेदी युग के काव्य ने गम्भीरतापूर्वक राष्ट्र का चिन्तन करना प्रारम्भ कर दिया था। देश भक्ति की कविताएँ लिखकर युग के कवि ने मातृ भूमि के चरणों में अपनी वन्दना प्रस्तुत की। पराधीनता को सबसे बड़ा अभिशाप और स्वतन्त्रता प्राप्ति जीवन की सबसे बड़ी साधना बन गई जिसके लिए आत्माहुति और बलिदान का नारा बुलन्द किया गया।

मैथिलीशरण गुप्त ने जागृति के अपने महान् काव्य भारत भारती में देश भक्ति के प्रेरक और श्रेष्ठ रूप को प्रस्तुत किया। इस काव्य में उद्बोधन है दिशा है और साधना का कण्टकाकीर्ण मार्ग है।

द्विवेदी युग के कवियों ने अपनी ओजस्वी वाणी में प्राणोत्सर्ग करने का आह्वान किया। रामनरेश त्रिपाठी ने अपने खण्ड काव्यों में पराधीनता का नाश करने का सन्देश दिया है। अन्य कवियों ने भी देश के गौरव का श्रद्धा और भक्ति के साथ स्मरण किया है और वर्तमान दशा पर क्षोभ व्यक्त किया है।

इस कविता ने देश की फूट स्वार्थ, आलस्य झूठी कुलीनता आदि को कोस कर आत्म निन्दा भी की है और इस प्रकार देश का नवजागरण का प्रयास किया है।

इस प्रकार द्विवेदी युग के जागरूक कवि ने देश की प्रत्यक्ष हीन दशा का चित्रण किया और प्राचीन गौरव के आदर्श को सामने लाकर राष्ट्रीयता जगाने का प्रयास किया।

विषय वस्तु का वैविध्य—द्विवेदी युग के नए विचार और नए नए विषयों तथा काव्य की नई भूमि का स्पर्श करने के सम्बन्ध में डॉ॰ नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं— नए विचार और नई भाषा तथा शरीर और नई पोशाक दोनों ही हिन्दी को द्विवेदी जी की देन है। इसी कारण वे हिन्दी के प्रथम और युग प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। द्विवेदी जी और उनके साथियों का महत्त्व नए निर्माण के लिए प्रचुर और अनेकमुखी सामग्री भेंट करने में है। द्विवेदी युग के कवियों ने विषय की दृष्टि से नए नए क्षितिजों का स्पर्श किया है। उनके वर्ण्य विषय का विस्तार, गहरा और विविधयुक्त है। इस काव्य में परम्परागत नायिका भेद के अतिरिक्त अन्य विषय तो आए ही, साथ में अनेक नए विषयों को भी काव्य में स्थान मिला। द्विवेदी जी के वर्ण्य विषय की विविधता के सम्बन्ध में निवेदन है— चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत–सभी पर कविता हो सकती है।" तात्पर्य यह है कि जीवन और जगत् का विस्तृत क्षेत्र कविता का विषय हो सकता है। छोटे छोटे विषयों पर काव्य-सृजन करने से तो अनन्त क्षेत्र पड़ा है, इसलिए द्विवेदी युग में विषयों का विस्तार और वैविध्य मिलता है जैसे—परोपकार, मुरली, कृषक, सत्य, लड़कपन, बालक, ईर्ष्या, प्रणय, निद्रा, भूल, मानव, नकटाई, कलियुगी साधु, महन्त, कामना, मनोव्यथा, कुलीनता, पौरुष, सुखमय जीवन, भारतीय, छात्रों से नम्र निवेदन, समाचारपत्र, नगण आदि सभी क्षेत्रों तक काव्य का प्रसार हो गया।

मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, रामचन्द्र शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह, लोचन प्रसाद पाण्डेय, गिरिधर शर्मा, नवरत्न आदि ने प्रकृति का स्वतन्त्र रूप में चित्रण किया। जो प्रकृति केवल उद्दीपन के रूप में सिमिट कर नायक नायिका के भावों को और बढ़ाने में सहायक मात्र थी, वह स्वयं कवियों के लिए मनोहर भावों का अवलम्बन बन गई। यद्यपि द्विवेदी युग के प्रकृति चित्रण में इतिवृत्तात्मकता के कारण शुष्कता है फिर भी उसमें नयापन है, ताजगी है। प्रिय प्रवास के प्रारम्भ में ही सन्ध्या का यह चित्र कितना मनोहर है—

> दिवस का अवसान समीप था
> *गगन था कुछ लोहित हो चला*
> तरु शिखा पर थी अब राजती
> कमलिनी–कुल–वल्लभ की प्रभा।

मैथिलीशरण गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, नाथूराम शर्मा शंकर आदि ने कविता के लिए सामान्य से सामान्य विषय का चयन किया और इस प्रकार इस युग के काव्य की इस प्रवृत्ति को गहरा कर दिया कि हिन्दी कविता इसी युग में भक्ति, शृंगार और देश भक्ति की सीमा से निकल कर सृष्टि में प्रसार पा गई।

मानवतावाद—रीतिकाल में और भारतेन्दु युग में भी कवियों की संवेदना ईश्वर, अवतार, राजा सामन्त, सुन्दर नायक नायिका आदि तक ही सीमित थी।

सामान्य मनुष्य की पीडा, उसकी आशाएँ—आकांक्षाए दुःख सुख और परिस्थितियाँ कवियो के लिए अनजानी और उपेक्षणीय ही थी। इस युग में कवियों ने सहृत भाव से मानव मात्र के दुःख सुख और उसकी यातनाओ तथा विषय परिस्थितियों को अपने काव्य में स्थान दिया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कल्लू अल्हैत को अपने काव्य का विषय बनाया। रसिक शकर जी के व्यग्य का लक्ष्य विदशोपन बना और उन्होने लिखा—

छडी धार छला छबीले बनो, रंगीले, रसीले, फबीले बनो।
न चूको भले भोग भोगी बनो, किसी बेडनी के वियोगी बनो ॥

गरीब किसान और करुणापूर्ण विधवा का अत्यन्त कारुणिक चित्र अंकित करने में ये कवि आगे ही रहे। मैथिलीशरण गुप्त ने सन् 1917 ई में किसान सियाराम शरण गुप्त ने भी इसी वर्ष 'अनाथ' और सनेही ने कृषक क्रन्दन रचनाओ में किसानो की दीन-हीन दशा का चित्रण किया है। नाथूराम शर्मा ने गर्भ रण्डा रहस्य में विधवाओ को दी जाने वाली सामाजिक तथा पारिवारिक यातनाओ का बडा मार्मिक चित्रण किया है। अशिक्षित नारियाँ भी इस काव्य का कथ्य बनी हैं। इस युग के कवियो ने सामान्य मनुष्य के प्रति मानवीय सहानुभूति और सवेदना को आकर्षित किया है। छोटे लोगो के प्रति बडो के तिरस्कार भाव को हरिऔध ने इस प्रकार वाणी दी है—

आप आँखें खोल करके देखिये
आप जितनी जातियां सिर-धरी।
पेट मे उनके पडी दिखलाएँगी
जातिया कितनी सिसकती या मरी ॥

इस युग के कवि भारतेन्दु युग के कवियो की अपेक्षा सामान्य व्यक्ति के प्रति अधिक सवेदनशील थे, अत उन्होने उस मामूली बात को कविता का विषय बनाकर महत्त्वपूर्ण बना दिया।

हास्य व्यग्य—भारतेन्दु युग के कवि अपनी जिन्दादिली और प्रत्युत्पन्नमति, फक्कडपन तथा विनोदी स्वभाव के कारण प्रचुर हास्य व्यग्ययुक्त साहित्य की रचना कर सके किन्तु आचार्य द्विवेदी का युग नियम, मर्यादा, सयम नैतिकता और आदर्श का युग था अत उनके व्यक्तित्व का प्रभाव काव्य की हास्य व्यग्य प्रवृत्ति पर भी पडा और वह पूर्व की अपेक्षा सयत और मर्यादित हो गई। हास्य व्यग्य अधिकतर राजनीतिक विषयो मे सामाजिक कुरीतियो, धर्माडम्बर लकीर के फकीर आदि विषयो की विविधता से हटकर द्विवेदी युग मे गाँव छोडकर शहर आने वाले कल्लू मे विदेशी सभ्यता के अन्धानुकरण मे सीमित रह गया। हास्य भी पर्याप्त शिष्ट हो गया। बाबू बालमुकुन्द गुप्त इस युग के सशक्त व्यग्यकार है। लार्ड कर्जन ने एक बार भारतीयो को झूठा कह दिया था उसी पर यह व्यग्य देखिए—

हमसे सच की सुनो कहानी जिससे मरे झूठ की नानी।
सच है सभ्य देश की चीज तुमको उसकी कहाँ तमीज।

औरो को झूठा बतलाना, अपने सच की डींग उडाना।
ये ही पक्का सच्चापन है, सच कहना तो कच्चापान है ॥
बोले और करे कुछ और, यही सभ्य सच्चे के तौर।
मन मे कुछ, मुँह मे कुछ और, यही है सत्य कर लो गौर ॥

नाथूराम शकर शर्मा द्विवेदी युग के हास्य-व्यग्यकार हैं जिनका 'गर्भ रण्डा रहस्य' ग्रन्थ बालिका विधवा के माध्यम से समाज की पोल खोलता है। इसमे आर्य-समाज की दृष्टि से अपनी सभ्यता, सस्कृति को छोडकर पश्चिम का अधानुकरण करने वालो की भी खबर ली गई। ब्रजराज श्री कृष्ण को भी पाश्चात्य फैशन में आन का सन्देश है—

गौर वरण वृषभानसुता का काढो काले तन पर तोप।
नाथ उतारो मोर मुकुट को, सिर पर सजो साहिबी टोप ॥
पौडर चन्दन पोंछ लपेटो, आनन की श्री ज्योति जगाय।
अजन आँखियो मे मत आँजो, आला ऐनक लेहु लगाय ॥

इतिवृत्तात्मकता—द्विवेदी युग के काव्य पर यह आरोप लगाया जाता है कि इसमे अत्यधिक नैतिकता मर्यादा और उपदेशो की भरमार होने के कारण यह काव्य रसहीन होकर शुष्क विचार मात्र रह गया है। यह सत्य है कि इस युग की कविता वर्णन प्रधान है और विशेषत आचार्य द्विवेदी के निर्देशो के कारण यह रीतिकाल की शृ गारिक प्रवृत्ति से मुक्त रहने के प्रयास मे सरसताहीन-सी दिखाई देती है। सुधार, देश-प्रेम, सदाचार, ईमानदारी, समाज की उन्नति के साधन, शिक्षा का स्वरूप, व्यापार उद्योग पर पद्यात्मक निबन्धो के कारण ही इस युग की कविता को इतिवृत्त-प्रधान कविता कहा गया है। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने युग की प्रत्येक समस्या पर कविता की भाषा मे व्याख्यान दे डाला है। स्त्री शिक्षा, अछूत-उद्धार, स्वदेशी सादा-जीवन श्रम का महत्त्व, गृहस्थ जीवन, गुरुकुल प्रणाली आदि अनेक विषयो पर विचार करने के लिए वे पद्य का सहारा लेते हैं। 'साकेत' का वह गीत जो चित्रकूट मे सीता द्वारा कहा गया है, गाँधीवाद का प्रचार करता दिखाई देता है—

"मेरी कुटिया मे राजभवन मन भाया।"

इसमे आदिवासियो के प्रति उदार और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा तकली या चर्खा उद्योग वन्य प्राणियो से प्रेम आदि समस्याओ का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार अयोध्यासिंह उपाध्याय ने चुभते चौपदे, चोखे चौपदे केवल नीतिगत उपदेश देने के लिए ही पद्य रूप मे प्रस्तुत किए गए हैं। 'एक बूद' कविता मे घर छोडकर महान् बनाने का लक्ष्य है—

लोग यो ही हैं झिझकते सोचते
जब कि उनको छोडना पडता है घर।
किन्तु घर का छोडना अक्सर उन्हे
बूद लौं कुछ और ही देता है कर ॥

विचारों की अधिक अभिव्यक्ति तथा उपदेशों की भरमार और केवल मुमुक्षु मर्यादियों के योग्य सदाचार की बातों के कारण ही यह काव्य इतिवृत्तात्मक हो गया है। यह दूसरी बात है कि इतिवृत्तात्मकता में अधिक इसमें काव्यात्मकता है।

काव्य रूप—द्विवेदी युग में कवियों ने सभी प्रचलित काव्य रूपों का प्रयोग किया है। रीतिकाल और भारतेन्दु काल में भी अधिकतर काव्य मुक्तक रूप में ही लिखा गया था किन्तु द्विवेदी युग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से काव्य के अन्य रूपों का भी उत्कृष्ट प्रयोग इस युग में हुआ। मुक्तक के साथ-साथ प्रगीत और प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में गुणात्मक और गणनात्मक मानदण्ड स्थापित किए गए। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध कृत प्रिय प्रवास, मैथिलीशरण गुप्त के साकेत का अधिकांश, रंग में भंग जयद्रथ वध, किसान प्रसाद कृत प्रेम पथिक 1912 सियारामशरण गुप्त कृत मौर्य-विजय 1914, रामनरेश त्रिपाठी कृत मिलन 1917 गोकुलचन्द्र शर्मा कृत गाँधी गौरव इसी युग की प्रबन्ध कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भी विकट भट, केशों की कथा, शकुन्तला जन्म सरगौ नरक निवास नाहीं रुक्मणी सन्देश, सती-सीता वीर पंचरत्न आदि अनेक पद्य-कथाओं की रचना हुई। मुक्तक काव्यों से अनेक विषयों में सम्बद्ध पद्य रचे गए। शंकर तथा हरिऔध ने समस्यापूर्ति के रूप में सुन्दर कविता प्रस्तुत की। मैथिलीशरण गुप्त मुकुटधर पाण्डेय और माखनलाल चतुर्वेदी ने प्रगीतों की भी रचना करके उस क्षेत्र में अगुवाई की।

छन्द-योजना—जिस प्रकार द्विवेदी युगीन काव्य विषय वस्तु की विविधता और अनेकमुखता के लिए प्रसिद्ध है, उसी प्रकार इस युग के काव्य में छन्दों का भी बहुमुखी प्रयोग किया गया। परम्परागत छन्द विधान इस युग के भाव और विचार प्रकाशन में अपूर्ण लगता था अतः रीतिकाल और भारतेन्दु युग के प्रचलित छन्द, दोहा, सोरठा, चौपाई हरिगीतिका, रोला, छप्पय, लावनी, कुण्डलियाँ तक ही इस युग का छन्द-विधान सीमित नहीं रहा वरन् उसमें नए और पुराने छन्दों को और जोड़ दिया गया। संस्कृत के वर्ण वृत्त और उर्दू की बहरों को भी अपनाया गया और उनका उत्कर्ष दिखाया गया। हरिऔध के प्रिय-प्रवास में संस्कृत के सभी गण-वृत्तों का अत्यन्त प्रवाहमय प्रयोग किया गया है। गुप्तजी और शंकर ने तथा हरिऔध ने वर्णित छन्द उर्दू छन्द चौपदे कवित्त कुण्डलियाँ सवैया आदि का सुन्दर प्रयोग किया है।

उपरिविवेचित प्रवृत्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी युग का काव्य राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का काव्य है जिसमें धर्म, प्रान्त और सम्प्रदाय से ऊपर उठकर राष्ट्र का चिन्तन है। देश के लिए बलिदान होने की भावना है। समाज की कुरीतियों मिथ्या आडम्बरों से मुक्त करने की लालसा है। मानव मात्र के प्रति उसके दुःख दर्द के प्रति सार्वदेशिक संवेदना की उद्भावना इस काव्य के माध्यम से होती है। इस युग के काव्य की भूमि भी विस्तृत और व्यापक है। प्रत्येक विषय पर काव्य रचना की अनन्त सम्भावनाओं का पता इस काव्य का अध्ययन करने में ही

होता है। आचार्य द्विवेदी के सफल साहित्यिक नेतृत्व का ज्ञान भी इसी काव्य के परिचय से मिलता है जिन्होंने सैकड़ों वर्षों से चली आई काव्य-भाषा ब्रजभाषा को सिंहासन से हटा कर युग-सम्मत तथा युग प्रचलित विकास की अनन्त सम्भावनाओं से ओतप्रोत 'खड़ी बोली' को गद्य की भाँति पद्य में प्रतिष्ठित कर दिया।

छायावाद की परिभाषा, प्रवर्तन और प्रेरणाएँ

छायावाद एक ऐसा शब्द है जो स्पष्ट परिभाषा के घेरे में आता ही नहीं है। कवियों और आलोचकों ने भिन्न भिन्न प्रकार से छायावाद की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। सब परिभाषाएँ भिन्न भिन्न और स्पष्ट ही दिखाई देती हैं। स्वयं छायावादी कवियों ने भी इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

जयशंकर प्रसाद— 'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया' तथा "छाया भारतीय दृष्टि से अनुमानित और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य, प्रकृति विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमयी होती है' अर्थात् प्रसादजी की दृष्टि में दार्शनिकता, कल्पना-प्रवणता, प्राचीन समर्थ प्रतीकों का पुनर्जागरण और निर्माण छायावाद है जिसमें स्वानुभूति का प्रसार हो, प्रकृति का सजीव चित्रण हो, युगानुरूप वेदना हो तथा शैली में ध्वन्यात्मकता लाक्षणिकता और उपचार-वक्रता हो।"

सुमित्रानन्दन पन्त—कविवर पन्त ने छायावाद के सम्बन्ध में अपने विचार पल्लव की भूमिका में प्रस्तुत किए हैं। वे छायावाद को पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिसिज्म से प्रभावित मानते हैं इसलिए पन्त का छायावादी काव्य भी अंग्रेजी रोमांटिक काव्य के आदर्श पर ही है। उन्होंने वेदनानुभूति को 'रोमांटिक शोक' के रूप में प्रकट किया है। वर्ड्सवर्थ ने प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ प्राकृतिक करुणा और निराशा का चित्रण किया है। प्रसाद छायावाद को पूर्णतः भारतीय परम्परा में स्थान देते हैं जबकि पन्त इस पाश्चात्य रोमांटिक काव्य का प्रभाव मानते हैं।

महादेवी वर्मा—"छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीनकाल से बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुःख में उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई। अतः अब मनुष्य के अश्रु मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही कारण एक ही मूल्य है तथा "मनुष्य को बाह्य सौन्दर्य की ओर से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अपने अविच्छिन्न सम्बन्ध की स्मृति दिलाने का श्रेय भी छायावाद को ही है।' आगे इसके उद्भव

होने के कारण प्रकाश डालती हुई महादेवी कहती है—"छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न हुआ था। छायावाद ने कोई रूढ़िगत आध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तो का सचय न देकर हमे केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।"

मुकुटधर पाण्डेय—वस्तुगत सौन्दर्य और उसमें अन्तर्निहित रहस्य की प्रेरणाएँ ही कविता की जड़ें हैं। यहीं कविता में अव्यक्त का सर्वप्रथम सम्मिलन होता है जो कभी विच्छिन्न नही होता। इस रहस्यपूर्ण सौन्दर्य वर्णन से हमारे हृदय सागर मे जो भाव-तरगें उठती हैं वे प्राय कल्पना रूपी वायु के वेग से ही ज्ञात होती हैं, क्योकि यथार्थ की साहाय्य प्राप्ति इस समय उन्हें असम्भव हो उठती है। यही कारण है कि कवितागत भाव प्राय अस्पष्टता के लिए होते हैं। उसी का दूसरा नाम छायावाद है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"छायावाद का प्रयोग दो अर्थों से समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ मे जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार से प्रेम की व्यजना करता है" तथा 'छायावाद का सामान्यत अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यजना करने वाली छाया के रूप मे अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी भी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।" इस प्रकार शुक्ल जी छायावाद का रहस्यवाद तथा एक शैली के रूप मे स्वीकार करते हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—'मानस अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य मे आध्यात्मिक छाया का भाव भरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिए। इस व्याख्या म सूक्ष्म और व्यक्त इन गम्भीर शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नही है साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नहीं ले सकेंगे।'

हजारीप्रसाद द्विवेदी—'छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था यद्यपि इसमे नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिह्न स्पष्ट हैं तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था कवियो की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा शैली मे अपने को अभिव्यक्त किया है।

छायावाद की प्रेरणा—यह प्रश्न सामान्यत उठाया जाता है कि छायावादी काव्य के पीछे मूल प्रेरणाएँ क्या क्या हैं। यह तो सही है कि युग की परिस्थितियो का ही छायावादी काव्य को आकार देने में महत्वपूर्ण हाथ है किन्तु उन प्रेरणाओं पर भी विचार कर लेना चाहिए जिन्होंने अदृश्य रहकर छायावाद को मुखर कर दिया। वे प्रेरणाएँ इस प्रकार हैं—

1 छायावाद के बीज रीतिकाल के स्वच्छन्दतावादी काव्य मे भी देखे जा सकते हैं, जिसके सकेत बोधा, घनानन्द, ठाकुर और भारतेन्दु मे मिलते हैं। जब कविता की भाषा खडी बोली हो गई तब परम्परा से मुक्ति और स्वच्छन्दता की ओर उन्मुखता श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि के काव्य मे दिखाई देती है। यदि उपनिषदो के भावो से छायावाद को सम्बद्ध मानते है तो इसकी प्रेरणा कबीर, मीरा, रसखान, घनानन्द की भावधारा मे निष्पन्न दिखाई देती है। दिनकर का मत है कि "घनानन्द का एक पैर रीतिकाल मे था तो दूसरा छायावाद के द्वार पर खडा था। यह स्पष्ट है कि छायावादी काव्य हिन्दी की ही अविच्छिन्न धारा का अग है। कुछ लोग इसे बगाल के महाकवि रवीन्द्र की प्रेरणा का फल मानते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि छायावादी कवि पन्त और निराला पर तो बग साहित्य का कुछ प्रभाव है किन्तु महादेवी और प्रसाद रवीन्द्र के प्रभाव से मुक्त हैं।

2 एक मत यह भी है कि द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता नीरसता, उपदेशात्मकता की प्रतिक्रिया मे छायावाद का जन्म हुआ है।

3 पश्चिमी साहित्य से सम्पर्क और उसका प्रभाव ग्रहण करने का कारण हिन्दी मे छायावादी प्रवृत्ति पनपी थी।

4 दयानन्द सरस्वती के पवित्रतावादी और सुधारवादी दृष्टिकोण तथा आन्दोलन की छाप से छायावादी कवि भी मुक्त नही हो पाए थे अत छायावादी कवियो मे नारी के प्रति कुठाएँ और दमित इच्छाएँ हैं उनके मूल मे वही आर्य समाजी आन्दोलन की प्रेरणा है।

5 दिनकर जी की मान्यता है कि छायावाद की कविता उस भारतीय मनुष्य की कविता है जिसकी आत्मरक्षा की चिन्ता दूर हो गई है और जो स्वेच्छया योरोप के गुणो का प्रसन्नता से वरण कर रहा है।

छायावाद का प्रवतन—हिन्दी काव्य की छायावादी धारा बहुत महत्त्वपूर्ण और हिन्दी साहित्य की सम्पन्नता का प्रतीक है। इस काव्य आन्दोलन का प्रवतन किस कवि की कौन सी कविता के साथ किस समय हुआ यह बडा विवादास्पद है। छायावाद अपने आप मे अस्पष्ट और विवादो के घेरे मे है, अत स्पष्टता के कारण यह कहना भी अत्यन्त कठिन है कि अमुक कवि ही छायावाद के प्रवतक कवि है। हिन्दी के मुख्य आलोचको ने अपने अपने दृष्टिकोण से छायावाद के प्रवतक कवि और उसकी कविता पर विचार किया है।

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सन् 1918 ई से छायावाद का प्रादुर्भाव स्वीकार किया है जब तत्कालीन पत्र पत्रिकाओ मे छायावादी शैली की कविताएँ प्रकाशित होने लगी थी। द्विवेदी युग मे ही 'सरस्वती मे कुछ छायावादी कविताएँ प्रकाशित हुई थी। आचार्य शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, बदरीनाथ तथा पदुमलाल बक्षी को छायावाद का प्रवतक मानते हैं। उनका आधार उनकी ये कविताएँ हैं —

(1) दे रहा दीपक जल कर फूल।
रोपी उज्ज्वल प्रभा पताका अंधकार हिय फूल।
—प० बदरीनाथ भट्ट (सन् 1913 ई)

(2) तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है, कैसे भीतर जाऊँ मैं ?
—मथिलीशरण गुप्त (1918 ई)

(3) हुआ प्रकाश तमोमय मग में
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में
दम्पति के मधुमय विलास में
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में
—मुकुटधर पाण्डेय (सन् 1917 ई)

(ख) श्रीपालसिंह क्षेम ने 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित जयशंकर प्रसाद की कविताओं के आधार पर प्रसाद को छायावाद का प्रवर्तक कवि माना है। कानन कुसुम और झरना में संगृहीत अनेक कविताएँ 1913–14 में रची गई थीं और इन्दु में पहले ही प्रकाशित हो चुकी थी—

भींग रहा है रजनी का वह सुन्दर कोमल कबरी भार।
अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो प्रियतम द्वार॥
—प्रसाद (सन् 1914 ई)

(ग) कुछ लोग पंत और निराला को छायावाद का प्रवर्तक कवि मानते हैं। इन दोनों कवियों ने सूक्ष्म शब्द चेतना, स्वरों का उपयोग और भाषा संगीत का गहरा बोध और प्रकृति के प्रति उनका सहज स्फूर्त भाव उन्हें न केवल अपने पूर्ववर्ती कवियों और दूसरी शैली के समवर्तियों से अलग करता है बल्कि नए छायावादी कवियों से भी। इस प्रकार छायावाद की चेतना का प्रसार देखें तो पंत और निराला ही इसके प्रवर्तक दिखाई देते हैं।

छायावाद के सम्बन्ध में इलाचन्द्र जोशी का मत है—"छायावाद ने हिन्दी काव्य जगत् में जो युगान्तर उपस्थित किया उसके प्रबल तरंगाभिघात से हमारी साहित्य धारा की प्रकृति ही बदल गई। गोस्वामी तुलसीदास के बाद यह सबसे बड़ी साहित्यिक क्रांति है।"

छायावादी काव्य की प्रवृत्तियाँ

छायावादी कविता ने चली आती हुई काव्य परम्परा का परिवर्तन उपस्थित किया और जिस नवीनता की प्रतिष्ठा की वह निश्चित ही महान् उपलब्धि है। विषय वस्तु, भाव-सौंदर्य, भाषा प्रवाह, अभिव्यक्ति सौष्ठव आदि सभी क्षेत्रों में इस काव्य का उत्कर्ष क्रान्तिकारी और गौरवपूर्ण रहा है। रीतिकाल के नायिका भेद तथा नख शिख वर्णन की जड़ता और पिष्टपेषण के विरुद्ध इस काव्य में नवीनता स्फूर्ति, आवेग और सौन्दर्य को प्राणवान बनाकर उपस्थित करने की क्षमता है।

इस काव्य की इन प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि छायावादी काव्य अपने पूर्व और बाद के काव्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

सौंदर्य चेतना—छायावादी कविता की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति सौंदर्य की आनंदपूर्ण अनुभूति है। छायावाद से पूर्व रीतिकाल तथा भारतेंदु और द्विवेदी युग में भी सौंदर्य के प्रति स्थूल दृष्टिकोण था। वह केवल बाह्य शरीरगत ही था। उन्मुक्त प्रेम के गायक कवियों ने थोड़ा बहुत आन्तरिक सौंदर्य का भी साक्षात्कार कराया था किन्तु प्रवृत्ति केवल नख शिख और नायिका भेद में उलझे स्थूल तथा मांसल सौंदर्य का दिग्दर्शन कराने की ही थी। द्विवेदी युग की नैतिकता ने उसमें अश्लीलता के दर्शन किए और उधर से आँखें ही मूंद ली। यहाँ सौंदर्य केवल वर्णन की वस्तु रह गया। उसका अनुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं था। साहित्य-सौंदर्य की शाश्वत परम्परा को विकसित और नया करती रहना है। छायावादी काव्य में अमूर्त अशरीरी सौंदर्य प्रियता के दर्शन होते हैं।

(क) छायावादी काव्य ने सौंदर्य का व्यापक तौर पर दोहन किया। प्राकृतिक सौंदर्य के माध्यम से उन्होंने मानव के आंतरिक सौंदर्य के कपाट खोल दिए। प्रकृति के नाना रूपों में इन कवियों ने अंतरात्मा की खोज की। पन्त कहते हैं कि "मैंने प्रकृति को अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है।"

यहाँ प्रकृति पर चेतना का आरोप किया गया है। निराला की संध्या सुन्दरी भी चेतनामयी नारी ही है—

> दिवसावसान का समय
> मेघमय आसमान से उतर रही है
> वह संध्या सुन्दरी परी सी
> धीरे धीरे धीरे।

इन कवियों के प्राकृतिक सौंदर्य में विस्मय की प्रवृत्ति भी है। साथ ही जीवन की समस्त भावनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में कवि प्रकृति के माध्यम से ही करते हैं। प्रकृति में उन्हें करुणा तथा वेदना की अनुभूति होती है—

> प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन।
> यह क्षितिज बना धुंधला विराग,
> नव अरुण अरुण मेरा सुहाग
> छाया सी काया वीतराग।

—महादेवी वर्मा

नारी सौंदर्य—प्रकृति के विभिन्न सौंदर्यपूर्ण चित्रों के माध्यम से छायावादी कवि अपने मन की सौंदर्य पिपासा ही शान्त करता रहा है। इसी सौंदर्य दृष्टि से उन्होंने नारी को शत शत रूपों में देखा है। इसी काव्य में नारी के शरीर का स्थूल

सौन्दर्य नही है अपितु आन्तरिक सौन्दर्य का प्रकाश है। कहीं तो प्रकृति के माध्यम से नारी के अंग सौन्दर्य को और कहीं उसकी आत्मा के अनुराग को चित्रित किया गया है। इन कवियो ने सौन्दर्य के शुष्क वर्णन की अपेक्षा उसके प्रभाव का अधिक गहराई से चित्रण किया है—

तुम्हारे छूने मे था प्राण, संग मे पावन गंगा स्नान।
तुम्हारी वाणी मे कल्याणि, त्रिवेणी लहरो का गान।।

पुरुष सौन्दर्य—पुरुष के विभिन्न भावो से युक्त चित्र भी छायावादी कवियो ने अंकित किए हैं। कामायनी में मनु का यह चित्र देखिए।

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियां।
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का।
होता था जिनमे संचार।।

इसी प्रकार शिशु के सौन्दर्य को भी इन कवियो ने अत्यन्त सरलता और भोलेपन के साथ अंकित किया है। इन कवियो की दृष्टि में नारी का व्यापक अशरीरी सौन्दर्य, पुरुष की विभिन्न स्थितियो का सौन्दर्य और बच्चो की भिन्न भिन्न मुद्राएं तथा प्रकृति के मनोरम सौन्दर्य चित्र हमारी सौन्दर्य भावना को तृप्त करते हैं और स्वस्थ सौन्दर्य-चेतना उत्पन्न करते हैं।

प्रेम भावना—छायावादी कवियो ने प्रेमभाव उदात्तीकरण किया है। उन्होंने प्रेम को स्त्री पुरुष की वासना के पंक से निकाल कर व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। उनके प्रेमभाव को भी प्रकृति प्रेम, शिशु प्रेम और अज्ञात प्रिय के प्रति प्रेम आदि विभागो मे बाँटकर समझना आसान होगा—

प्रकृति प्रेम— छोड़ द्रुमो की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल जाल मे
कैसे उलझा दूं लोचन?
भूल अभी से इस जग को।

नारी प्रेम—नारी प्रेम की मूर्ति है, उसके हृदय में प्रेम की तरंग उठा करता है। छायावादी कवि भी नारी के प्रेम में अपने आपको विसर्जित कर देता है—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे?
जब सावन घन सघन बरसते इन आँखो की छाया भर थे।

आध्यात्मिक प्रेम—इस प्रकार का प्रेम भाव महादेवी वर्मा की कविताओं में अधिक है। वे प्रेम की उस उच्च दशा में पहुँच जाती हैं जहाँ प्रेम और प्रिय का अन्तर मिट जाता है—

मैं कण-कण में ढाल रही हूँ
आँसू के मिस प्यार किसी का।
मैं पलकों में पाल रही हूँ,
यह सपना सुकुमार किसी का।

मानव प्रेम— सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।
निर्मित सबकी तिल सुषमा से।
तुम निखिल सृष्टि मे चिर निरुपम॥

—सुमित्रा नन्दन पंत

मानवतावादी विचारधारा—छायावादी कवि अपनी सूक्ष्म और तीव्र मानवीय संवेदना के लिए भी प्रसिद्ध है। इस काव्य मे मनुष्य की संकुचित जाति, वर्ण, देश-भेद पर आधारित विचारधारा मे व्यापक परिवर्तन आया और मनुष्य को केवल मनुष्य के रूप मे देखने का नया अन्दाज इन कवियों ने प्रदान किया। यहाँ तक कि ये कवि नारी को भी मनुष्य तत्त्व स निमज्जित मानकर ही उसके बन्धनों को तोडने का आग्रह करते हैं। निराला न भिक्षुक कविता मे सहज मानवीय संवेदना की मन्दाकिनी बहाई है। सामान्य भिक्षुक बच्चा के दुःख को अपने हृदय मे खींच लेन की कामना निराला न की है। बादल राग मे किसानो के दुःखो से पसीज कर कवि कहता है—

ऐ विप्लव के वीर।
तुझे बुलाता कृषक अधीर।
चूस लिया है उसका सार
हाड मात्र ही है आधार।

पंत को दुःखी मानवता का उपचार किए बिना ताजमहल का सौन्दर्य भी क्षुब्ध करता है—

हाय मृत्यु का एसा अमर अपार्थिव पूजन।
जब विषण्ण निर्जीव पडा हो मानव जीवन॥

वह तो मानववाद मे ही स्वर्ग के दर्शन करता है—

मनुज प्रेम से जहाँ रह सके मानव ईश्वर।
और कौन सा स्वर्ग चाहिए मुझे धरा पर॥

वैयक्तिकता—द्विवेदी युग मे वर्णन प्रधान कविता मे दूसरो का महत्त्व दिया जाता था। उसमे स्थूल का वर्णन रहता था। छायावादी कविता सूक्ष्म सौन्दर्य की स्थापना करने वाली काव्य धारा है जो कवि के अपन राग-तत्त्व को लेकर चली है। इस काव्य न विषय की अपेक्षा विषयी को अधिक महत्त्व दिया है।

• द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और वस्तुनिष्ठता की प्रतिक्रिया म छायावादी कविता भावात्मक एव आत्मगत हो गई। द्विवेदी युग की कविता का बाहरी सामाजिक जीवन था कवि भी बहिर्मुख होकर कविता लिखता था, किन्तु छायावादी कवि अन्तर्मुखी हो गया। वह आत्मगत होकर कविता लिखने लगा। इसी वैयक्तिकता के कारण प्रसाद म आनन्दवाद निराला में अद्वैतवाद पंत में आत्मरति और महादेवी मे परोक्ष रूप में अपने प्रिय को भाव सुमन अर्पित करने में

है। अज्ञेय तो छायावादी युग को स्वतन्त्र व्यक्तित्व की खोज में उड़ान का युग मानते हैं। भारतीय साहित्य में कृतिकार की अपेक्षा उसका युग अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है, किन्तु छायावादी काव्य में पहली बार कृतिकार को एक व्यक्ति के रूप में आत्म साक्षात्कार का अवसर मिला। यह विषयी प्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की *प्राणशक्ति है। यह प्रथम महायुद्ध के बाद की देन है जब देश में उच्छृङ्खलता और* निराशा के कारण तरुण कवि का हृदय तीव्र अन्तर्द्वन्द्व से भर उठा था। अतीत छूट चुका था, नवीन सब अस्त-व्यस्त और निराशाजनक था। ऐसी स्थिति में उस असाधारण मनोवैज्ञानिक क्षोभ था। यही विक्षोभ या आन्तरिक विकलता ही छायावादी काव्य में कवि की निजता या वैयक्तिकता बनकर उपस्थित हुई है। कवि का अहं, निराशा, दर्शन, चिन्तन, क्षोभ, हर्ष विस्मय यहाँ खुलकर ईमानदारी से अभिव्यक्त हुए हैं। इसी का दूसरा नाम आत्माभिव्यंजना है। निराला का विश्वास देखिए—

अभी न होगा मेरा अन्त।
अभी अभी ही तो आया है मेरे वन में मृदुल बसन्त॥

पंत की ग्रंथि कविता में उनकी प्रेमानुभूति सघन हो गई। प्रसाद की कामायनी उनके निजी चिन्तन की उद्घाटक बन गई।

युग चित्रण—छायावादी कवियों ने प्राचीन जीवन मूल्यों में अनास्था प्रकट की। इस काव्य में थोथी नैतिकता, रूढ़ि सड़ी-गली मान्यताएँ और परम्पराएँ तथा सामन्ती संस्कृति के मानदण्डों का घोर विरोध किया गया। ये कवि लोक कल्याण और विश्व मानव के मंगल की कामना करते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि— 'मानवीय आचारों क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए मूल्य को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी।' छायावादी कविता में प्रेम सौंदर्य, करुणा मानवता, नारी भाव आदि को नए रूप में प्रस्तुत किया गया था। नारी के प्रति समानता का नारा उद्घोषित होने लगा था। उसे मध्यकाल की दासता से मुक्त करने का नया दृष्टिकोण सामने आया तथा पंत इसीलिए कहते हैं—

योनि नहीं है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।'

इसी प्रकार राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों में भी परिवर्तन हो रहे थे। प्रेम के सम्बन्ध में स्वच्छन्दतावादी विचार पनप रहा था जो स्पष्ट ही धार्मिक आदेशों की अवहेलना का उद्घोष था। मध्यकाल के दृष्टिकोण को छायावादी काव्य में परिवर्तन का रास्ता मिला। इस काव्य में सामन्ती और पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति पर रोक का आग्रह है। व्यक्ति और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के आदर्श की स्थापना है। बुद्धिवाद के विरुद्ध यहाँ हृदय का और स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह चित्रित है। इस काव्य में ही प्रगतिवाद के लक्षण दिखाई देने लगे थे जो कि युगीन परिस्थितियों और विश्व के घटना-चक्र से परिचालित था। डॉ॰ शम्भूनाथ सिंह लिखते हैं—"इस युग में धर्म का प्रभुत्व बहुत कुछ घट गया था और उसकी जगह आध्यात्मिकता और दार्शनिकता ने ले ली। छायावादी कवियों ने

प्राचीन भारतीय दर्शन और भक्तिकालीन काव्य से प्रभाव ग्रहण किया और साथ ही रीतिकालीन काव्य-धारा का खुले रूप मे विरोध किया। इस तरह इस युग मे सामन्ती और दरबारी सस्कृति के बन्धनो से कवियों ने मुक्ति प्राप्त की।"

रहस्य-भावना—कई आलोचक छायावाद के मूल मे रहस्यवाद को ही देखते हैं। महादेवी जी कहती हैं—"विश्व के अथवा प्रकृति के सभी उपकरणो मे चेतना का आरोप छायावाद की पहली सीढी है तो किसी असीम के प्रति अनुराग-जनित आत्म विसर्जन का भाव अथवा रहस्यवाद छायावाद की दूसरी सीढी है।" स्वय महादेवी वर्मा और प्रसाद जी का काव्य इस छायावाद-रहस्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। पन्त के प्रकृति-चित्रण मे भी रहस्य-भाव है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी छायावाद को रहस्यवाद के ही अर्थ मे लेते हैं। वे इसे पुराने सन्तो और साधकों की वाणी का अनुकरण मानते हैं जिसमें समाधि-अवस्था मे नाना रूपकों के रूप में आध्यात्मिक ज्ञान का विषय रहता है। नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं—'आध्यात्मिक चिन्तन के नियमो एव प्रेरणाओं से भिन्न एक स्वतन्त्र चिन्तनधारा" को वे छायावादी कविता की आध्यात्मिकता मानते हैं। उनका कहना है कि छायावादी काव्य की आध्यात्मिकता प्राचीन काव्य के आध्यात्मवादी सीमा निर्देशको से आबद्ध नहीं है। वे भावना के क्षेत्र मे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती। इस भावना का विकास महादेवी के गीतों मे देखा जा सकता है—

मधुर मधुर मेरे दीपक जल।
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर॥

शुक्ल जी का कथन है कि "छायावादी कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा मे प्रेम की अनेक प्रकार से व्यजना करते हैं।"

वेदना की अभिव्यक्ति—छायावादी काव्य मे प्रणयानुभूति से सम्बद्ध मानसिक दशाओं का—आशा, आकुलता, आवेश, पीडा, निराशा, तल्लीनता, अतृप्ति, स्मृति, विषाद आदि का अभिनव एव मार्मिक चित्रण मिलता है। छायावादी कवि प्रणय के साथ वेदना की साधारणीकृत अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है जिससे कवि और पाठक एक ही रागात्मक भूमि पर पहुँच जाते हैं। यह वेदना इतने गहरे स्तर पर अनुभूत सत्य की भाँति कुरेदती रहती है कि कवियो से तादात्म्य होना अवश्यम्भावी हो जाता है और एक टीस बनी रह जाती है। इस वेदना के कई रूप उपलब्ध होते हैं। कहीं यह अनन्त वेदना के रूप में, कहीं करुणा तथा कहीं निराशा के रूप में झलकती है। प्रसाद और महादेवी मे वेदना का दर्शन ही सेवावाद तथा अध्यात्मवाद है। महादेवी इस दुख के अस्तित्व को स्वीकार करती हैं—"एक वह जो मनुष्य के सवेदनशील हृदय को सारे ससार से एक अविच्छिन्न बन्धन मे बाँध देता है और दूसरा वह काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतना का क्रन्दन है।" इस प्रकार दुख की श्रेणियाँ व्यजित की गई हैं। प्रसाद और महादेवी

की वेदनाभूति मे निराशा का अन्धकार और भौतिक दु ख का सन्ताप नही है। यह तो शुद्ध आध्यात्म बनकर काव्य का विषय बना है—

प्रिय, जिसने दुख पाला हो
वर दो, यह मेरा आँसू
उसके उर की माला हो
मैं दु ख से शृंगार करूँगी।

कभी यह अपनी वेदना की सृष्टिव्यापी विस्तार करती है—

मैं नीर भरी दु ख की बदली।
विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यही, उमडी कल थी मिट आज चली॥

पन्त जीवन की अनित्यता के ऊपर दु ख का भाव व्यक्त करते हैं तथा निराला सामाजिक जीवन की कठोरता मे एक विचित्र निराशा और झुँझलाहट प्रकट करते हैं—

जीवन चिरकालिक क्रन्दन।
मेरा जीवन वज्र कठोर।
देना जी भर भर झकझोर॥

प्रसाद और महादेवी के वेदना भाव के मूल मे बौद्धों का दु खवाद भी है।

शृंगारिकता और ऐन्द्रिकता—छायावादी काव्य विशुद्ध सौंदर्य और प्रेम भाव का काव्य है। इसीलिए कई विद्वान् इसे अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी (रोमांटिसिज्म) के समकक्ष रख देते हैं किन्तु स्वच्छंदतावाद और छायावाद म अनेक स्तरो पर अन्तर भी है। स्वच्छंतावादी काव्य ने धार्मिक, नैतिक और काव्य शास्त्रीय बन्धनो का आग्रहपूर्वक तिरस्कार किया था, जबकि छायावादी काव्य मे स्वच्छन्दता कम है और पुनरुत्थान अधिक है। इसमे रीतिकालीन शृंगारिकता और ऐन्द्रिकता कम है और पुनरुत्थान मात्र है इसीलिए प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की कविता म शृंगार का मासल रूप भी मिलता है। यद्यपि उस पर दर्शन और सयम का आवरण चढा दिया गया है। प्रसाद सजीले सौन्दय को इस प्रकार प्रस्तुत करते है—

तुम कनक किरन के अन्तराल म
लुक छिप कर चलते हो क्या?
अधरो के मधुर कगारो मे
कल कल ध्वनि की गुंजारो मे
मधु सरिता-सी यह हँसी तरल
अपनी पीते रहते हो क्या?

निराला की 'जुही की कली' और शेफालिका म एन्द्रिकता है—

बन्द कचुकि के सब खोल दिए
प्यार म यौवन उभार न
पल्लव-पर्यंक पर
सोती शेफालिके।

उत्तर छायावादी कवियो मे ऐन्द्रिकता और भी अधिक गति से प्रकट हुई है—
प्रिये अभी मधुराधर चुम्बन गात गात गूँथे आलिंगन।
सुने अभी अभिलाषी अन्तर मृदुल उरोजो का मृदु कम्पन ॥

—नरेन्द्र शर्मा

स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह—छायावाद के मूल मे स्थूल से पराग मुखता और सूक्ष्म से लगाव का भाव रहा है। छायावादी कवि काव्य मे बहिर्मुखी अभिव्यक्ति से निराश हो चुके थे। उन्हे स्थूल और ऊपरी परत का चित्रण रुचता नही था। कविता के क्षेत्र मे आत्मोन्मुखी अन्तरग अभिव्यक्ति ही छायावाद का स्वरूप स्पष्ट करती है। छायावाद प्रारम्भ से बाह्य स्थूल जीवन को उदासीन दृष्टि से देखता रहा है। ये कवि अधिकतर स्वप्नजीवी थे अत उनकी दृष्टि स्थूल से विमुख होकर सुदूर रहस्यमय सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। यही अन्तर्मुखी दृष्टि काव्य का अतीन्द्रिय स्वरूप प्रदान करती है। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी के काव्य मे सूक्ष्म को ही प्रदर्शित किया गया है। पन्त कहते हैं—

दृष्टि जब जाती हिमगिरि ओर
प्रश्न करता मन अधिक अधीर।
धरा की यह सिकुड़न भयभीत
आह कैसी है ? क्या है पीर ?

इसमे हिमालय की स्थूल भव्यता, महानता, विशालता प्राचीनता, अभेद्यता आदि का अनदेखा करके उसके अन्तस की पीडा को कवि ने अपने भीतर अनुभूत किया। यही स्थूल विरुद्ध सूक्ष्म का चित्रण है।

प्रकृति प्रेम—छायावादी कवि जीवन को अकृत्रिमता और सरलता की ओर ले जाना चाहता है। उसे समकालीन सभ्यता के रूपो मे कठोरता और कर्कशता की अनुभूति हो रही थी तथा वह पाश्चात्य विचारक थोरो, इमर्सन वर्ड्सवर्थ कालरिज आदि के सरल जीवन आदर्शों से प्रेरित था अत जीवन को प्रकृति की ओर लौटा ले चलने के लिए वह प्रयत्नशील हो गया, किन्तु उसका आग्रह इस दिशा मे स्थाई नही रहा। उनका प्रकृति प्रेम प्रारम्भिक आकर्षण मात्र है जो बाद मे लोक, समाज और मानवता की ओर अभिमुख हो जाता है। कुछ विद्वान् छायावाद का प्राण तत्व इस काव्य के प्रकृति चित्रण को ही मानते हैं। यह सही भी है। पन्त का पल्लव, प्रसाद का झरना, निराला की अनामिका, महादेवी की रश्मि आदि रचनाएँ उनके प्रकृति प्रेम की द्योतक हैं। छायावादी कवियो का प्रकृति चित्रण प्रकृति का मानवीकरण करने मे सफल हुआ है। कहीं भी छायावादी कवियो ने प्रकृति का स्वतन्त्र या आलम्बनगत चित्रण नही किया। प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोप करके वह उसे उद्दीपन विभाग के अन्तर्गत ही काम मे लेता रहा है। छायावादी कवि प्रकृति मे अपने ही अस्तित्व के समान जीवन स्पन्द का अनुभव

करता है। डॉ नगेन्द्र का कथन है—"जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोपण करती है, वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है, वह मन की कुण्ठित वासना ही है। जो अवचेतना मे पहुँच कर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा अपने को व्यक्त करती है।" छायावादी कवियों ने जीवन के कोलाहल से दूर विश्राम-भूमि के रूप मे तथा जीवन मे जो रूप, ऐश्वर्य, स्वच्छन्दता प्राप्त न हो सकी, उसे प्रकृति के अंचल मे प्रतीक रूप मे प्राप्त करने मे प्रकृति का अंकन किया है। तभी तो पन्त जी कभी कहते थे—

छोड द्रुमो की मृदु छाया, तोड प्रकृति से भी माया।
बाले तेरे बाल जाल मे कैसे उलझा दू लोचन ॥

वही पन्त बाद मे जीवन के निकट आने पर कहते हैं—

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।
निर्मित सब की तिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि मे चिर निरुपम।

प्रसाद संसार मे प्रणय से निराश होकर ही प्रकृति की गोद म आश्रय लेते हैं—

ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन मे सागर लहरी, अम्बर के कानो मे गहरी।
निश्छल प्रेम कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे ॥

राष्ट्रीय चेतना—छायावादी काव्य में देश प्रेम और राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति भी नवीन और मौलिक उद्भावनाओं के साथ हुई है। पराधीन देश को बन्धन से मुक्त कराने के लिए अतीत गौरव और वर्तमान की विषम स्थितियों का चित्रण आवश्यक होता है। छायावादी कवि अपनी प्रकृति से भावुक है। दिनकर ने इस काव्य की भाव प्रवणता के विषय म लिखा है—"यह आन्दोलन विचित्र जादूगर बनकर आया था जिधर को भी इसने एक मुट्ठी गुलाल फेंक दी, उधर का क्षितिज लाल हो गया। हिन्दी की राष्ट्रीय कविताएँ जो अब तक उपदेशों और प्रवचनों का नीरस भार ढोती आयी थी इसी काल म आकर अनुभूतियों के सच्चे आलोक से जगमगा उठी और सीधे उपदेशों का आश्रय छोड़कर उन्होंने अनुभूति के जोर से जनता का हृदय हिलाना शुरू कर दिया। राष्ट्रीय कविताएँ भी प्रचार न होकर अनुभूतियों का जीवित कोष होती हैं।' सभी छायावादी कवियों ने राष्ट्रीय चेतना के लिए काव्यमय अनुभूतियों को प्रेरक बनाकर प्रस्तुत किया—

(1) अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा ॥
- प्रसाद

(2) मुझे तोड लेना बन माली
उस पथ पर देना तुम फेंक

मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक ।।

—माखनलाल चतुर्वेदी

(3) भारत माता ग्राम वासिनी
खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला सा आँचल
गंगा यमुना में आँसू जल
मिट्टी की प्रतिमा, उदासिनी ।।

—सुमित्रानन्दन पन्त

प्रगीतात्मकता—इस काव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि छायावादी गीत रहे हैं। इन गीतों में सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध और लौकिक रूपकों का माध्यम ममस्पर्शी चित्र अंकित करने में समर्थ रहे हैं। इन गीतों की वेगवती धारा में पुरानी सस्ती भावुकता वासना की विकृति सहज ही बह गए। यह नए ढंग का गीतिकाव्य है जिसमें जीवन और कला दोनों का परिष्कार है। यह काव्य आन्दोलन शुद्ध कविता का आन्दोलन था जो प्रगीति शैली में बह निकला। वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण छायावादी भाव केवल गीत मार्ग से ही आगे बढ़ सकते थे। अंग्रेजी का रोमांटिक काव्य भी प्रगीत मुक्तक शैली में ही अपना प्रभाव जमा सका था। हिन्दी के छायावादी कविता पर भी पाश्चात्य स्वच्छन्दता का कुछ प्रभाव तो था ही, बाद में देश की स्थितियाँ साहित्य की आवश्यकता के अनुसार प्रसाद, पन्त, निराला महादेवी ने नयी चेतना और नए विचारों को प्रकट करने के लिए नए छन्द, नए शिल्प और नयी भाषा को भी स्थान कर लिया। प्राचीन ढंग के मुक्तक काव्य रूप में छायावाद के भावावेग को नहीं बाँधा जा सकता था अतः प्रगीतों में भावावेग के सरगम को आकार देने में ये कवि सफल हुए। ये प्रगीत गेय तत्त्व से भी सम्पन्न हैं। इस प्रकार छन्द और संगीत का अत्यन्त स्फूर्त मिश्रण इस काव्य में है। रामनाथ सुमन के शब्दों में—'इस कवि में जो मस्ती है, भावना अनुभूति की मृदुता है और मनुष्य जीवन के उत्कर्ष का जो गौरव है उसे देखते हुए उसकी प्रतिभा गीति काव्य की रचना के अत्यन्त उपयुक्त थी।'

भाषा और शैलीगत विशिष्टता—छायावादी काव्य की कलागत भूमि भी नवीनता और ताजगी से सम्पन्न है। द्विवेदी युग में जो खड़ी बोली खड़ी बोली का स्वरूप था, छायावाद में भाषा का अंग सौष्ठव भिन्न तत्त्वों से ही सज्जित किया गया था। द्विवेदी युग की भाषा वर्णनात्मक, स्थूल और शुष्क थी किन्तु छायावादी काव्य की भाषा में उपचार वक्रता सूक्ष्म भाव प्रकाशन की क्षमता, मानवीकरण, चित्रात्मकता, वक्रता सूक्ष्मता आदि विशेषताओं में सजीव हो उठी है। इस काव्य की अभिव्यंजना पद्धति नई और मौलिक है। उसमें अर्थ गाम्भीर्य और अर्थोत्कर्ष के गुण विद्यमान हैं। आचार्य शुक्ल ने छायावाद की इस विशेषता का लक्ष्य कर लिखा है—"आभ्यंतर प्रभाव साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रचुर विकास

छायावाद की काव्य शैली की असली विशेषता है।" पन्त जी के काव्य म प्रयुक्त लाक्षणिक पदावली का सौन्दय देखिये—

(1) धूल की ढेरी मे अनजान छिपे हैं मेरे मधुमय गान।

(2) मम पीडा के हास

भाषा मे चित्रात्मकता की शक्ति है। प्रसाद का यह छन्द देखिये—

शशि मुख पर घूघट डाले, अंचल मे दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली मे, कौतूहल से तुम आये॥

भाषा और शब्द शोधन की प्रवृत्ति प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी चारो ही कवियो मे श्रेष्ठता के साथ मौजूद है। अमूत का मूर्तिकरण और मूत का अमूर्तिकरण करना भाषा की साधना का ही अग है।

छायावादी कविया की शैली मे प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता की विशिष्ट छवि है। इन कवियो ने प्रकृति मे ही अपने जीवन को निकटता से देखा है अत इनके प्रतीक भी प्राकृतिक उपकरणो से ही लिए गए हैं। सुख के अथ म फूल दु ख के अथ शूल, प्रफुल्लता के लिए उषा, उदासी के लिए सन्ध्या, मानसिक द्वन्द्व के लिए झझा झकार आदि प्रतीको के माध्यम से ये कवि अपने मन की भावनाओ को प्रकट करते हैं।

इन्होंने प्राचीन अलकारा के स्थान पर नय ढग के अलकारो का प्रयोग करके अथ प्रसार का काय किया है। अग्रेजी ढग के अलकारो म मानवीकरण और विशेषण विपयय का भी अत्यन्त सुन्दर और सयत प्रयोग देखने मे मिलता है। जसे—अश्रु म जीता सिसकता गान मे पन्त ने विशेषण का स्थान अभिधा से हटाकर लक्षणात्मक कर दिया है। 'सिसकता गान मे विशेषण का नवीन उत्कर्ष है।

डॉ नगेन्द्र छायावादी काव्य का महत्व बताते हुए कहते हैं—"इस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की क्षमता केवल भक्ति काव्य ही कर सकता है।"

डॉ देवराज का विचार है—"यह सत्य है कि छायावाद आधुनिक हिन्दी साहित्य मे एक महान् आन्दोलन के रूप मे आया। इसने भाव तथा शली जगत म एक जबरदस्त क्रान्ति उपस्थित की।

छायावादी काव्य ने हिन्दी साहित्य को नये भावो और नये शिल्पा से सज्जित सम्पन्न किया फिर भी वह काव्य आन्दोलन अधिक समय तक स्थायी नही रह सका। डा केसरी नारायण का कथन है—"उसका काव्य मन्दिर ऐसा बन गया जिसम सबका प्रवेश न था और उसका वह स्वय ही पुजारी बना। पूजाविधि तथा पूजा के उपादान के चयन मे वह पूर्ण स्वतन्त्र था। अपने अस्तित्व की पृथक्ता दिखाने के लिए वह नवीनता और मौलिकता के नाम पर असामान्य की ओर कभी कभी बहुत दूर तक बढ गया। भाषा भावना तथा भावाभिव्यजना का असामान्य रूप कभी-कभी इसी कारण दिखाई पडता है। कविवर पन्त ने भी छायावाद के

पलायन पर टिप्पणी करते लिखा है—"छायावाद इसलिए अधिक समय का नही रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारो का रस नही था।" यह सब होते हुए भी छायावाद की उपलब्धियो म मानवता, आदर्श, राष्ट्रीयता, नवीन सौन्दय चेतना, नई अभिव्यजना पद्धति आदि का मान रहेगा।

वैयक्तिक कविता

छायावादी काव्य चेतना का एक पक्ष प्रखर एव समग्रत व्यक्तिवादी चेतना के रूप में विकसित हुआ। इसमें समग्रत एव सम्पूर्णत वैयक्तिक चेतनाओ को ही काव्यमय स्वरो और भाषा में सजोया सवारा गया है। डॉ नगेन्द्र प्रभृति विद्वानों न इस प्रकार की वयक्तिक चेतना से सम्पन्न कविता को छायावाद एव प्रगतिवाद की मध्यवर्तिनी धारा कहा है। इस धारा के प्रमुख कवि हैं—हरिवशराय बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामेश्वर शुक्ल अचल, नरेन्द्र शर्मा आदि। विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि कुछ इतिहासकारो न इस व्यक्ति चेतना से विनिर्मित काव्यधारा को हालावाद' के नाम स भी अभिहित किया है क्योकि इसमें एक अपनी ही मस्ती, अल्हडता एव अक्खडता है, अत इस प्रकार का नामकरण अनुपयुक्त नही कहा जा सकता है। इस हालावादी कविता के दो पक्ष स्वीकारे गये हैं—एक विशुद्ध भौतिक एव दूसरा आध्यात्मिक। पहले पक्ष के दर्शन बच्चन में होते है जबकि दूसरे पक्ष के भगवतीचरण वर्मा की कविता मे। अन्य कवि इन्ही मे स किसी एक के अन्तगत आते हैं। वसे इस वयक्तिक या हालावादी कविता या काव्यधारा का प्रतिनिधि हरिवशराय बच्चन को ही स्वीकार किया जाता है। इन्ही के काव्य म इसका निखरा, प्रखर और प्रभावी स्वरूप दिखलाई देता है।

छायावादी कविता भी प्राय 'मैं' के माध्यम से अपना अनुभव उभारती है और व्यक्तिवादी गीतिकविता भी। किन्तु, छायावाद का 'म' सकोच या मर्यादा के आतक का अनुभव करने के कारण तीव्रता मे आलोकित होने के स्थान पर मन्द मन्द दीप्त होता है जबकि व्यक्तिवादी गीतिकविता का 'मैं' अपने समूचे राग विराग के साथ निर्व्याज भाव स फूट चलता है। यदि हम इस धारा में आने वाली कृतियो की प्रवृत्तियो का विश्लेषण कर तो ज्ञात होगा कि लौकिक प्रेम इनकी केन्द्रीय प्रवृत्ति ह। डा नगन्द्र द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्य का इतिहास म लिखा है कि, प्रेम के सयोग वियोगजन्य उल्लास, पीडा, उदासी घुटन, असन्तोष आदि का सघन स्वर इन कविताओ म मुखर हुआ। परिस्थिति, अनुभव और सस्कार के अनुसार कवियो के स्वरो म भिन्नता अवश्य है किन्तु मूल वृत्ति म अन्तर नही। इनका प्रेम किसी लौकिक सौन्दय-आलम्बन पर ठहरा होने के कारण अधिक मूत रूप धारण करता है। इनका हृदय विषाद न तो आदश का छल ओढता है और न धरती आकाश के बीच भुकता है, वह शुद्ध धरती पर यात्रा करता है—धरती क परिवेश क बीच और अपने-अपने रूप म बहुत ही उघडा हुआ होता है। बच्चन क 'निशा निमत्रण' और 'एकात सगीत' काव्य मनि प्रेम

के अवसाद के घनत्व को मुखर करते हैं तो 'मिलन-यामिनी' मिलन की मादकता और उमंग को। नरेन्द्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' मे यदि लौकिक विरह की व्यथा की प्रधानता है तो अन्य कृतियो मे प्रेयसी के सौन्दर्य, भोग और संयोग की उष्मा के मादक चित्र भी हैं। यह स्थिति अंचल, नवीन, दिनकर आदि की इस धारा मे आने वाली कृतिया मे भी देखी जा सकती है।"

वास्तव मे इस धारा की कृतियो का मूल स्वर प्रेम है और प्रेमजन्य व्यथा तथा उदासी यहां से वहां तक व्याप्त है। इनकी स्वच्छन्द वृत्ति सौंदर्य और प्रेम की भूख लिए हुए उडती थी, वह भूख तृप्त नही हो पाती थी, स्वच्छन्द उडान सामाजिक प्रतिबन्धो से टकराती थी और टूटकर विरह की पीडा बन जाती थी। कवि अनुभव करता था कि ससार को उसके ये गान वासना के गान लग रहे हैं, इसलिए उसे स्वीकार्य नही है। किन्तु कवि इन्हे अपने अनुभव का गान मानता है। इन अनुभव-सत्यो को उसका स्वच्छन्द हृदय अनियन्त्रित भाव से गाना चाहता था। बच्चन ने अपने और समाज के इस तनाव को स्पष्ट अनुभव करते हुए 'मधुकलश' मे कहा है —

(अ) कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।

(आ) वृद्ध जग को क्यो अखरती है क्षणिक मेरी जवानी ?

(इ) शत्रु मेरा बन गया है छलरहित व्यवहार मेरा।

इस धारा की कृतियों मे निराशा और उदासी का जो स्वर है, वह केवल प्रेममूलक नही है, वह जीवन के अन्य सन्दर्भों मे भी मुखर हुआ है। देश की पराधीनता, सामाजिक रूढियो, आर्थिक रिक्तता के भयकर अहसास से गुजरता हुआ अकेला, स्वच्छन्द सवेदनशील युवा मानस बार-बार अपने को टूटता हुआ सा रहा था। उसका व्यक्तिवादी आक्रोश स्वर सारी असुन्दर वस्तुओ को अस्वीकार करता हुआ और स्वय कही स्वीकृत न होता हुआ, अपने ही मे लौट आता था। वह आत्मपीडन टूटन, कुण्ठा और उदासी की एक नयी पर्त लपेट लेता था और उसे गाता चलता था। इनके पास जीवन दृष्टि नही थी—न तो पुरानी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि और न नवीन समाजवादी दृष्टि। ये कवि अपने अनुभवो से परिचालित हो रहे थे, उनके अनुभव भावुक हृदय के अनुभव थे। उनकी दृष्टि रोमानी थी अत वे व्यक्ति को न तो सामाजिक शक्ति से जोड सके, न आध्यात्मिक आदर्शों से। जीवन दृष्टि के अभाव मे ये व्यक्तिवादी अनुभव निराशा मृत्यु की छाया और निर्यात बोध से ग्रस्त हैं। ये अनुभव जहां अपनी तीव्रता में सूक्ष्म, परन्तु खुले हुए बिम्बों की रचना मे एक नये साहित्यिक सौंदर्य की सृष्टि करते हैं वहां अपने आत्यतिक अकेलेपन, उदासी और दुहराव मे क्षयोन्मुख दीखने लगते हैं और जहां, ये काव्यात्मक दृष्टि से सपाट हो जाते हैं वहां अपनी सार्थकता किसी भी प्रकार प्रमाणित नही कर पाते —

कितना अकेला आज मैं

संघर्ष में टूटा हुआ

दुर्भाग्य से लूटा हुआ।
परिवार से छूटा हुआ, किन्तु अकेला आज मैं।

वह चारो ओर अवसाद देखता है। जो अवसाद है, वह खुला हुआ लौकिक अवसाद है। कवि के साथ ईश्वर नहीं है, देवता नहीं है, रूढ़ समाज नहीं है, संस्था नहीं है इसलिए वह किसी प्रकार के आश्रय का आभास नहीं पाता उसे यदि कोई सहारा नजर आता है तो केवल प्रेयसी से मिलन का, किन्तु वह भी कहाँ हो पाता है ? इसलिए कवि अपनी नगी पीड़ा, असफलता, निराशा को प्रत्यक्ष बेलौस झेलता हुआ जीवन को असफल और निराधार अनुभव करता है।

इस धारा के कवियो की प्रमुख कृतियो मे कहीं कहीं प्रगतिवादी कविता का सा विद्रोह ध्वनित होता है जैसे बच्चन के 'बंगाल का काल', नरेन्द्र शर्मा के अग्निशस्य', अचल की 'किरण वेला', शम्भुनाथ के 'मन्वन्तर' आदि मे इन कवियों मे लक्षित होने वाला विद्रोह का स्वर व्यक्तिगत अस्वीकृत तथा सामाजिक असन्तोष दोनों रूपो मे हैं। लेकिन इस धारा का समस्त विद्रोह स्वर मूलत समान है। उसमे व्यक्तिगत भावावेश अधिक है, सामाजिक दर्शन और रचनात्मक चिन्तन कम। डा रामदरश मिश्र ने वयक्तिक कविता के शिल्प पर विचार करते हुए लिखा है कि वयक्तिक गीतिकविता की अभिव्यक्तिमूलक सादगी उसकी एक बहुत बडी देन है। कवि सीधे सादे शब्दो, परिचित चित्रो और सहज कथन-भंगिमा के द्वारा अपनी बात बडी सफाई से कह देता है। इसलिए कवि की शक्तियाँ और अशक्तियाँ दोनो बडी स्पष्टता से उभरती हैं। शक्तियां अस्पष्ट बिम्बों मे उलझकर अपनी तीव्रता और प्रभाव नहीं खोती और अशक्तियां रहस्यात्मक का लाभ उठाकर महान् होने का आभास नहीं दे पाती। यद्यपि इन कवियो की संवेदना व्यक्तिवादी है, किन्तु ये अपने को जिस माध्यम परिवेश, प्रकृति-चित्र बिम्ब, उपमा, भाषा आदि के द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं वह हमारा अति परिचित होता है लोक के निकट का होता है अतएव मांसल और मूर्त प्रतीत होता है। यद्यपि इस धारा की कविता की भी भाषा मूलत संस्कृतनिष्ठ है, किन्तु उसके शब्द या पद हमारे निकट के लगते हैं। बोल चाल के शब्द और मुहावरे भी इनमें पर्याप्त मात्रा म आये हैं। कुल मिलाकर यह जीवन्त भाषा प्रतीत होती है।"

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता

छायावादोत्तर काव्य म वयक्तिक गीतिकविता का जितना महत्व है उससे कम महत्व राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता का भी नहीं है। 'राष्ट्रीय' शब्द आधुनिक युग की देन है। अंग्रेजो ने समूचे देश मे जो शासन पद्धति प्रचारित की थी उसी के विरुद्ध देश भक्ति और राष्ट्रीय चेतना का स्वर अभिव्यक्ति पाने लगा। इससे ऐसा लगता है कि आधुनिक युगीन राष्ट्रीयता का स्वरूप तीन आधारों पर विकसित हुआ है। एक तो सम्पूर्ण देश मे ब्रिटिश शासन की स्थापना के कारण दूसरे, सम्पूर्ण भारतीय प्रजा द्वारा अंग्रेजी शासन से उत्पन्न पीडा के अनुभव के कारण और तीसरे, स्वाधीनता आन्दोलन और उसके देशव्यापी प्रसार के कारण। यों

राष्ट्रीयता की भावना आधुनिक हिन्दी कविता में भारतेन्दु के समय से ही प्रारंभ हो गयी थी किन्तु राष्ट्रीयता का स्वरूप तब से लेकर अब तक विकसित और परिवर्तित होता रहा है। नयी नयी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां न उसे नवान रूप दिया है। द्विवेदी युग तक यह राष्ट्रीयता बहुत कुछ हिन्दू राष्ट्रवाद के रूप में दिखलाई देती है और छायावादोत्तर युग में यह राष्ट्रीयता एक सही और मंथन स्वरूप लेकर सामने आई है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता ऐसी ही राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत है।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता सन् 1938 के आसपास विकसित हुई और धीरे धीरे सघन होती चली गयी। राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता में वैयक्तिक चेतना तो है किन्तु वह राष्ट्रीयता के पथ पर अग्रसर होती हुई दिखलाई देती है। उदाहरण के लिए बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की ये पंक्तियाँ देखिए—

मैं हूँ भारत के भविष्य का
मूर्तिमान विश्वास महान
मैं हूँ अटल हिमाचल सम थिर
मैं हूँ मूर्तिमान बलिदान।

अपलक, रश्मि रेखा और क्वासि के गीतों में क्रान्ति एवं विप्लव का स्वर बड़ी तीव्रता के साथ मुखरित हुआ है। शोषित की दयनीय दशा को देखकर कवि की वाणी में क्रांति का विस्फोट हो उठता है—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
नियम और उपनियम के ये,
बंधन टूटकर छिन्न भिन्न हो जायें।
विश्वम्भर की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जायें।

'विनोबा स्तवन' में सन्त विनोबा भावे के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गयी है। उर्मिला और प्राणार्पण इनके प्रबन्ध और खण्डकाव्य हैं।

राष्ट्रीयता का सम्बन्ध राष्ट्र की आत्मा या चेतना की पहचान से होता है तो संस्कृति का सम्बन्ध उसी आत्मा या चेतना से होता है यह संस्कृति जहाँ इतिहास के रूप में हमारे लिए प्रेरणा और पृष्ठभूमि तैयार करती है वहाँ वर्तमान चेतना से स्पंदित होकर हमारा जीवन बन जाती है। प्रतिभावान और नवदृष्टि सम्पन्न कवियों ने संस्कृति के उदात्त अतीत रूप को वर्तमान जीवन संदर्भों में पुनर्परीक्षित करके ही स्वीकार किया है। मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी बालकृष्ण शर्मा नवीन भगवतीचरण वर्मा रामधारीसिंह 'दिनकर' और सियारामशरणगुप्त इस धारा के प्रमुख कवि हैं। सभी के व्यक्तित्व में एक तरह का फक्कड़पन मस्ती लापरवाही और बलिवेदी पर चढ़ने की ललक मिलती है। इन कवियों में ओज और चिन्तन का भावनात्मक स्वर मिलता है। अपनी साधना के फलस्वरूप दिनकर ने अपना विशिष्ट व्यक्तित्व बना लिया है।

मैथिलीशरण गुप्त इस धारा के श्रेष्ठ कवि हैं। कवि ने अपने समय की समस्त राष्ट्रीय चेतना को अपने शब्दों में स्वर दिया है। काव्यात्मक दृष्टि से यह स्वर बड़ा ही विषम है, कहीं गहन, कहीं एकदम विवरणात्मक फिर भी जहाँ अपने युग को उसके बहुरंगी रूप में पकड़ने का प्रश्न है गुप्तजी बहुत जागरूक कवि रहे हैं। माखनलाल चतुर्वेदी अपने राष्ट्रीय काव्य के लिए ही प्रसिद्ध हैं। 'पुष्प की अभिलाषा' नामक कविता अपने जमाने में काफी लोकप्रिय हुई थी। 'हिम किरीटिनी', 'हिम तरंगिनी', 'वेणु लो गूँजेधारा' आदि इनके काव्य संग्रह हैं। इन्होंने पराधीन राष्ट्र की व्यथा, अंग्रेजी शासन के अत्याचारों, स्वाधीनता सेनानियों के अदम्य-उत्साह, कारागार यात्रा और उसकी बेबसियों आदि के चित्रण में ही अपनी लेखनी चलाई है, सांस्कृतिक पक्ष इनमें प्रायः छूट ही गया है।

बालकृष्ण शर्मा नवीन कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्त्ता, पत्रकार और साहित्यकार थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण उनकी कविताओं में राष्ट्रीय आन्दोलनों और देश-भक्ति की भावना का स्वर मुखर है। उनका सारा व्यक्तित्व क्षोभ और विश्रान्ति के ताने-बाने से बुना हुआ है। केवल भावना पर आश्रित होने के कारण नवीन का काव्य ललकार या हार का काव्य बनकर रह जाता है। भगवती चरण वर्मा भी भावनात्मक कवि हैं। ललकार और लाचारी उनकी कविता के मुख्य स्वर हैं। इनकी ललकारों में अराजकता सर्वत्र दिखलाई देती है। वर्माजी काव्य के क्षेत्र में बहुत दिनों तक नहीं रह सके, फिर भी उनका प्रभाव परवर्ती कवियों पर पड़ा है। इस दृष्टि से इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। रामधारी सिंह 'दिनकर' इस धारा के कालावधि के सबसे सशक्त कवि हैं। दिनकर में संवेदना और विचार का बड़ा सुन्दर समन्वय दिखलाई पड़ता है। चाहे व्यक्तिगत प्रेममूलक कविताएँ हों चाहे राष्ट्रीय कविताएँ सभी कवि की संवेदना से स्पंदित है। दिनकर में आरम्भ से ही अपने को अपने परिवेश से जोड़ने की तड़प दिखायी पड़ती है इसलिए उनमें सर्वत्र एक खुलापन है, लोकोन्मुखता है, सहजता है। दिनकर की सबसे बड़ी विशेषता है—अपने देश और युग के सत्य के प्रति जागरूकता। कवि ने राष्ट्र को उसकी तात्कालिक घटनाओं यातनाओं विषमताओं समताओं आदि के साथ ही उसकी संश्लिष्ट सांस्कृतिक परम्परा के रूप में भी पहचाना है। दिनकर ने राष्ट्रीयता की पहचान को मात्र भावनात्मक प्रतिक्रिया से उबारकर स्वस्थ रूप देने का प्रयास किया।

'रेणुका' दिनकर का प्रथम काव्य संग्रह है। इस संग्रह ने कवि को लोकप्रिय बनाया। 'हुंकार' को कवि ने राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह कहा। 'सामधेनी' में कवि की दृष्टि अपेक्षाकृत व्यापक हो गयी है। 'कलिंग विजय' तथा 'मेरे स्वदेश' में उनका दृष्टिकोण बदला हुआ लगता है। 'द्वन्द्वगीत' में जीवन और जगत सम्बन्धी रहस्यों को उभारा गया है। वस्तुतः 'कुरुक्षेत्र' के प्रकाशन के बाद ही दिनकर गंभीर कवि के रूप में स्थापित हुए। 'उर्वशी' के माध्यम से कवि एक कामाध्यात्म की दुनिया सिरजता है। 'रश्मिरथी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' उनके प्रबंध काव्य हैं।

'इतिहास के आँसू', 'धूप और धुँआ', 'दिल्ली' 'नीम के पत्ते,' 'नील कुसुम, 'हार के हरिनाम' उनके प्रमुख काव्य संग्रह है। सियाराम शरण गुप्त भी गुप्तजी और दिनकर के समान इस धारा के विशिष्ट कवि है। इनकी कृतियों मे सवत्र गांधीवाद की अभिव्यक्ति दीखती है। देश की ज्वलन्त घटनाओं और समस्याओं का इन्होंने बड़ा चित्र प्रस्तुत किया है। 'उन्मुक्त' आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सदर्भ मे बहुत महत्वपूर्ण कृति है। इसमे अपने ढग से युद्ध की अनिवार्यता, त्याग, बलिदान, यातना, विभीषिका और मानवीय करुणा का अद्भुत समन्वय हुआ है।

आलोच्य धारा की कई रचनाओं मे प्रत्यक्ष रूप से देश की स्वाधीनता की माँग का, 'होमरूल' का समर्थन किया गया है। हमारा देश किसी और का अधिकार नहीं छीनना चाहता, हम तो केवल स्वराज्य अपने देश के वर्तमान और भविष्य को बनाने का अधिकार चाहते है। रामनरेश त्रिपाठी ने अपने युग की इस आकांक्षा को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है—

करेंगे क्या लेकर अपवर्ग, हमारा भारत ही सुख स्वर्ग।
नही है किसी लक्ष्यपर ध्यान, चाहिए केवल स्वत्व समान॥
इस तजकर क्या तरु निर्मूल, करेंगे लेकर किंशुक फूल।
प्रकृत पुरुषों का जीवन-मूल, चाहिये केवल घर का रूल॥

काव्य मूल्यों की दृष्टि से राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य को स्पष्ट रूप से दो वर्गों मे रखा जा सकता है। पहले वर्ग मे वे रचनाएँ आती है जो अपने युग धर्म के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही सार्थक है। ऐसी रचनाएँ प्रायः वे है जो इस युग के विशिष्ट आन्दोलनों या तात्कालिक उद्देश्यों को ध्यान मे रखकर लिखी गयी थी। दूसरे वर्ग मे वे रचनाएँ आती है जो अपने युग के लिए तो सार्थक हैं ही साथ ही उनमे युग निरपेक्ष उत्कर्ष की स्थिति भी दिखाई देती है। इन रचनाओं मे केवल तात्कालिक सामाजिक राजनीतिक उद्देश्य ही अभिव्यक्त नहीं हुए, अपितु इनमे मानव जीवन को शक्ति प्रदान करने वाले साम्य साधना न्याय स्वाधीनता आदि सामान्य मूल्यों की भी प्रतिष्ठा की गई है।

प्रगतिवाद जन्म व विकास

प्रगतिवादी साहित्य का जन्म सर्वप्रथम सन् 1907 ई. मे इटली मे मारनेति की भविष्यवादी विचारधारा के साथ हुआ। मारनेति विश्व मे नई सामाजिक व्यवस्था का वाहक बन कर आया था। समाज के साथ वह साहित्य की पुरानी मान्यताओं को भी बदलना चाहता था। 1917 ई. मे रूस मे बोलशेविक क्रान्ति के द्वारा जार की सत्ता को समाप्त कर दिया गया। इसी के साथ रूसी साहित्य मे यथार्थवाद का जन्म हुआ। वहाँ के साहित्यकारों ने मार्क्सवादी बोलशेविकवाद को अपने साहित्य का आधार बनाया। साहित्य के द्वारा आर्थिक विषमता दूर करके वर्गहीन समाज की स्थापना करना इन साहित्यकारों का लक्ष्य बना। 1932 ई. मे रूस के लगभग सभी साहित्यकारों पर प्रतिबन्ध इसके लगा दिया गया क्योंकि वे श्रमिकों मे क्रान्ति का भाव जगाना चाहते थे।

इसके बाद सामाजिक यथार्थवादी साहित्य का जन्म हुआ । मार्क्सवाद इस नई विचारधारा के अनुकूल था । 1930 के बाद अंग्रेजी साहित्य में भी मार्क्सवादी विचारधारा का प्रवेश हो गया । वहाँ के साहित्यकारों ने पूजीवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा हाथ में ले लिया ।

भारत में प्रगतिवाद का प्रवेश—1917 की रूसी क्रान्ति ने समस्त संसार को प्रभावित किया था । भारत में भी अंग्रेजी शासन का दमन चक्र और श्रमिकों के शोषण पर आधारित पूजीवाद अपने उत्कर्ष पर थे । निम्नवर्ग पर समाज का उच्च वर्ग मनमाना अत्याचार कर रहा था । 1925 में यहाँ के युवको ने साम्यवादी दल की स्थापना की । हिन्दी काव्य उस समय व्यक्तिवादी विचारधारा छायावाद रहस्यवाद की भावनाओं में बह रहा था । 1930 में लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था जिससे व्यापक आन्दोलनो का श्रीगणेश हुआ । इन आन्दोलनो में देश के किसान, मजदूर भी बड़ी संख्या में सम्मिलित होने लगे थे । महात्मा गांधी का नेतृत्व जन जागृति कर रहा था । इस समय देश के नेतृत्व में पूजीपतियो का बड़ा सहयोग था । साहित्यकारो ने भी राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ साथ नई दिशा देने के लिए अपने संगठन बनाए । 1935 में डा मुल्कराज आनन्द सज्जाद जहीर भवानी भट्टाचार्य, जे सी घोष तथा एस सिन्हा आदि नए लेखको ने लन्दन में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की । उन्होने अपने परिपत्र में कहा—"भारतीय समाज में निरन्तर परिवर्तन होते जा रहे है । प्राचीन रूढ़िवादी विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही है और इस प्रकार एक नए समाज का जन्म होता जा रहा है अत यह नितान्त आवश्यक है कि भारतीय साहित्यकार वहाँ के जन जीवन में होने वाले इस क्रान्तिकारी परिवर्तन को शब्द और रूप दे और इस प्रकार राष्ट्र की प्रगति में सहायक हो । हमें भारतीय सभ्यता की परम्परा की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों की बड़ी आलोचना करनी है तथा अपनी आलोचनात्मक एव रचनात्मक कृतियो के द्वारा वे साधन जुटाने हैं जो हमें अपने लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हो सकते है ।"

1936 में इस लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन लखनऊ में हुआ जिसकी अध्यक्षता प्रसिद्ध कथा शिल्पी मुशी प्रेमचन्द ने की । उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा—'उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जिससे हममें दृढ़ता और कार्य शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुरावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँचे गए और उन्हें दूर करने की कोशिश करें ।

इसी समय नागपुर में भारतीय साहित्य परिषद् का सम्मेलन भी हुआ जिसमें महात्मा गांधी जवाहरलाल नेहरू डॉ राजेन्द्र प्रसाद आचार्य नरेन्द्र देव कन्हैयालाल, माणिक्यलाल मुशी अख्तर हुसैन रायपुरी आदि ने भाग लिया और भारतीय लेखको का आह्वान किया कि 'जीवित और शाश्वत साहित्य वही है जो

जीवन को बदलना चाहता है और उसे उन्नति का मार्ग दिखाता है और समूची मानवता की सेवा उसका मन्तव्य है।'

भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षता 1936 में रवीन्द्रनाथ टगोर ने की। इस समय तक हिन्दी के छायावादी कवियों का भी मोह भंग हो चुका था। पन्त ने 1936 में युगान्त और युगवाणी में ही प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि स्वीकार कर ली थी। 1939 के द्वितीय विश्व-युद्ध ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि मानव मूल्यों को फासिज्म से बचाने की समस्या उपस्थित हो गई। 1942 में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का तृतीय सम्मेलन तो फासिज्म विरोधी सम्मेलन ही बन गया। 1943 में सम्मेलन की अध्यक्षता साम्यवादी नेता श्री पाद अमृत डांगे ने की। संघ का अन्तिम अधिवेशन दिल्ली में डॉ नीहाररंजन राय की अध्यक्षता में हुआ। 1947 में अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक संघ का एक अधिवेशन महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की अध्यक्षता में हुआ। उन्होंने कहा कि प्रगतिवाद का काम है प्रगति के रास्ते खोलना, उनका पथ प्रशस्त करना। इस संघ का विस्तार प्रान्तों और जिलों तक किया गया। इसके विभिन्न जिला तथा प्रान्तीय सम्मेलनों की अध्यक्षता हिन्दी के साहित्यकारों ने की। हिन्दी में कुछ पत्रिकाएँ भी प्रगतिवादी विचारधारा को प्रश्रय दे रही थीं। प्रेमचन्द के सम्पादन में 'हंस' इसका प्रचारक था। बाद में शिवदान सिंह चौहान के सम्पादकत्व में हंस पूर्णत प्रगतिवादी बन गया। कवि पन्त और नरेन्द्र शर्मा ने 'रूपाभ', आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रेमचन्द तथा सम्पूर्णानन्द ने 'जागरण' पत्र निकाले। इनमें प्रगतिवादी साहित्यकारों—रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द गुप्त, रांगेय राघव केदारनाथ अग्रवाल, नरेन्द्र शर्मा शिवदानसिंह चौहान प्रभृत की रचनाएँ प्रकाशित होती थीं।

प्रगतिवादी काव्य की पृष्ठभूमि—किसी भी साहित्य में कोई भी प्रवृत्ति अकस्मात उपस्थित नहीं हो जाती। प्रत्येक युग की नई विचारधारा अपनी युगीन परिस्थितियों की देन होती है।

राजनीतिक पृष्ठभूमि—1857 ई का प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम व्यापक राष्ट्रीय भावना के अभाव में असफल हो गया था। 1857 ई में भारतीय संघ नामक एक संस्था का जन्म हुआ जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करना था। 1885 ई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एक प्रकार से हो चुकी थी। यह पहली संस्था थी जिसका उद्देश्य अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक कार्य करना था। कांग्रेस ने कुछ समय बाद स्वराज्य की मांग शुरू कर दी। अंग्रेजी शासन ने कांग्रेस के विरुद्ध दमन चक्र जारी किए जिससे अंग्रेजों की सद्भावना से भारतीय जनता का विश्वास उठ गया। 1905 में कर्जन ने बंगाल के दो टुकड़े कर दिए। कांग्रेस ने शासन की विभाजन प्रवृत्ति का घोर विरोध किया। उस समय 1905 में जापान ने रूस जैसे महान साम्राज्य को पराजित कर दिया था। अत भारतीयों के मन में भी आत्म विश्वास का उदय हो रहा था।

कांग्रेस मे ही एक गरम दल का उदय हुआ जो अंग्रेजो को प्रसन्न रखने मे विश्वास नही करता था। लाल बाल पाल नाम से प्रसिद्ध ये उग्रवादी नेता स्वतन्त्रता को जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। 1914 मे प्रथम विश्व युद्ध हुआ। इसी समय महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति का नेतृत्व सम्भाला। युद्ध समाप्त होने पर स्वतन्त्रता देने का वायदा अंग्रेज भूल गए और रालट एक्ट द्वारा दमन चक्र प्रारम्भ हुआ। लगभग इसी समय 1917 मे रूस मे समाजवादी क्रान्ति हो चुकी थी, जिसने पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और शोषण के विरुद्ध मानववाद तथा समानता का उद्घोष कर दिया। कांग्रेस के आन्दोलन धीरे धीरे किसानो और मजदूरो को भी व्यापक रूप से प्रभावित करने लगे थे। 1931 के करांची अधिवेशन में कांग्रेस ने समाजवादी विचारधारा में आगे बढने का सकल्प लिया। 1936 मे अखिल भारतीय किसान सभा तथा श्रमिकों के हितो की रक्षा के लिए भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना कांग्रेस पार्टी ने ही कर दी। 1935 तक आते-आते समाजवादी विचारधारा का प्रचार प्रसार हो चुका था। पण्डित नेहरू ने 1936 के लखनऊ अधिवेशन मे कहा था—"चाहे समाजवादी सरकार की स्थापना सुदूर भविष्य की ही बात क्यो न हो और हम मे से बहुत लोग उसे चाहे अपने जीवन मे न देख सकें, किन्तु वर्तमान स्थिति मे समाजवाद ही वह प्रकाश है जो हमारे पथ को आलोकित करता है।"

भारत की इस राजनीतिक स्थिति का हमारे जीवन और साहित्य पर गहरा प्रभाव पडा और साहित्य मे नए मार्ग का सधान करने के क्रम प्रगतिवादी साहित्य ही परिस्थिति प्रसूत बन बैठा।

सामाजिक पृष्ठभूमि—मुस्लिम शासनकाल मे समाज की स्थिति बडी भयावह थी। अंग्रेजो के शासन में भी इस स्थिति मे कोई अन्तर नही आया। मुस्लिम काल मे धर्म परिवर्तन का जो भय था वह नए रूप 'ईसाई धर्म प्रचार' के रूप मे सामने आ रहा था। राजा राममोहन राय और उनके ब्रह्म समाज ने सती प्रथा, बाल विवाह को रोककर तथा विधवा विवाह की योजना बनाकर समाज की जडता को तोडा। 1867 ई मे महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज ने भी भारतीय समाज को दोषमुक्त करके जगाने का प्रयास किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना करके हिन्दू समाज में प्रचलित कुप्रथाओं, अन्धविश्वासो, पाखण्डो, छुआछूत, जाति प्रथा धर्म परिवर्तन का कडा विरोध किया और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति की पुनर्स्थापना मे योग दिया। दयानन्द ने वैदिक धर्म की आवश्यकता प्रतिपादित की। अंग्रेजी भाषा साहित्य के समर्थक होकर भी उन्होने अपने उपदेशो का माध्यम हिन्दी को ही बनाया। सामाजिक जीवन में क्रान्ति उपस्थित करने का श्रेय दयानन्द को ही प्राप्त है।

रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना के द्वारा भारत मे और विदेशो में हिन्दू धर्म और जीवन मूल्यो की रक्षा का प्रयास किया। इससे भारतीय राष्ट्रीयता के अनुकूल वातावरण बना। बीसवीं सदी

के प्रारम्भ में एक ओर तो स्वतन्त्रता संग्राम में गति आई, दूसरी ओर समाज सुधार का अभियान भी तेजी पर चलने लगा। अंग्रेजी शिक्षा के कारण, वैज्ञानिक आविष्कारों तथा यातायात के नए साधनों के कारण लोगों का पारस्परिक सम्पर्क बढ़ गया, जिससे जाति प्रथा शिथिल होने लगी। 1906 में भारतीय दलित समाज की स्थापना हुई। फिर इण्डियन सोशल कान्फ्रेंस ने दलित वर्ग उत्थान स्त्री शिक्षा, बाल-विवाह निषेध, जाति भेद उन्मूलन का काम प्रारम्भ किया। 1917 में भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं में महिलाओं के प्रतिनिधित्व की माँग भी जागृति की सूचक थी। महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्यों में हरिजनों का उत्थान तथा समाज सुधार के अन्य कार्यक्रम भी शामिल थे।

इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य में मानव मात्र का बिना जाति, वर्ग भेद के उत्थान करने का उद्घोष इन्हीं सामाजिक स्थितियों की देन है।

आर्थिक पृष्ठभूमि—अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आए थे और शासक बन बैठे थे। साथ ही बड़े उद्योगपति और पूँजीपति के रूप में भी वे विश्व विख्यात थे। भारत के कुटीर उद्योगों को उन्होंने समाप्त कर दिया। बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना से भारतीय कुशल कारीगर और श्रमिक बेरोजगार हो गए। यातायात के जल और स्थल मार्गों ने उनके व्यापारिक एकाधिपत्य को बढ़ा दिया। अंग्रेजों की व्यापार नीति उन्मुक्त प्रतियोगिता और स्वतन्त्र बाजार नीति पर आधारित थी जिससे शोषण का भीषण चक्र चला। बड़ी मछली छोटी को निगलने लगी। सारे व्यापार पर कुछ ही व्यक्तियों का नियन्त्रण हो गया। ग्रामीण क्षेत्रों में भी किसान मजदूर जागीरदारों तथा सामन्तों के अत्याचारों में पिस रहे थे। साहूकार के ऋण भार से किसान की कमर टूट गई थी। तीन वर्गों की स्थिति दिखाई देने लगी थी। उच्च वर्ग उद्योगपतियों पूँजीपतियों और जमींदार तथा मालगुजारों का था। मध्यम वर्ग में शिक्षित सरकारी कर्मचारी, छोटे व्यापारी कारीगर आदि थे तथा निम्नवर्ग में किसान और मजदूर थे। मध्यम और निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति प्रतिदिन शोचनीय होती जाती थी। इस वर्ग असन्तोष को दिखाने के लिए पहला आन्दोलन 1903 में हुआ और बाद में 1921 में महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन का श्रीगणेश किया, जिसके द्वारा विदेशी वस्तु का बहिष्कार और स्वदेशी प्रचार का नारा बुलन्द हुआ। मजदूर और किसान संगठनों का जन्म हुआ जो उत्तम आर्थिक स्थिति के लिए संघर्ष में जूझने लगे।

साहित्यिक पृष्ठभूमि—हिन्दी के आधुनिक काल का प्रारम्भ ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। वे सच्चे युग द्रष्टा और युग-स्रष्टा थे। उन्होंने समाज स्थितियों का गहन अध्ययन करके प्रगतिवादी विचारधारा के कुछ तत्त्व साहित्य में समारोपित कर दिए थे। उन्होंने अंग्रेजों की शोषक वाणिज्यवृत्ति को उसी समय धिक्कारा था—

> अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
> पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

बालमुकुन्द गुप्त, बदरी नारायण प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र आदि साहित्यकारों ने यथार्थवादी साहित्य का सृजन करके इस दिशा में पहल कर दी थी। भारतीय समाज की बुराइयों को भी इस युग के लेखक सामने ला रहे थे।

द्विवेदी युग में भी समाज के प्रति लगाव का भाव बना रहा। इस युग में शासन के विरुद्ध क्षोभ और असन्तोष में वृद्धि हुई। महात्मा गांधी के नेतृत्व ने समाज, राजनीति और संस्कृति को समान रूप में प्रभावित किया था। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, नाथूराम शर्मा शंकर, महावीर प्रसाद द्विवेदी श्रीधर पाठक आदि अपने युग का यथार्थ चित्रांकन भी कर रहे थे। गुप्त जी के भारत भारती में वर्तमान की हीन दशा का यथार्थ चित्रण प्रगतिवाद का प्रेरक ही रहा है—

> भरते हैं निज पेट, अन्य के घर को भरके
> घर पर है, पर बने हुए हम पर के घर के।

द्विवेदी युग के कवियों ने राजनीतिक पराधीनता, विपन्न आर्थिक स्थिति सामाजिक कुरीतियों और अशिक्षा पर खूब प्रहार किए।

इसके बाद हिन्दी काव्य में जो युग आया, वह अत्यन्त स्वच्छन्द व्यक्तिवाद का युग था। द्विवेदी युग की मर्यादा, संयम शृंगार विरोध नैतिकता उपदेश वृत्ति समाज की रट के विरोध में अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म जैसा एक काव्य-आन्दोलन हिन्दी में भी उठ खड़ा हुआ जिसे छायावाद के नाम से जाना जाता है। इस काव्य-आन्दोलन पर बंगला साहित्य का भी प्रभाव था। प्रसाद और निराला ने तत्कालीन बंगला साहित्य की आध्यात्मिकता और दर्शन का अध्ययन किया था। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और अरविन्द की विचारधारा छायावाद की मानववादी दृष्टि में झलकती है। छायावादी काव्य यद्यपि व्यक्तिवाद से ग्रस्त है किन्तु उसमें भी प्रगतिशीलता के चिह्न मिल जाते हैं। पंत की परिवर्तन तथा गुंजन की कुछ कविताएँ निराला की भिक्षुक, वह तोड़ती पत्थर, जागो फिर एक बार प्रसाद की कामायनी में वर्ग संघर्ष का सुन्दर उदाहरण है जहाँ सारस्वत प्रदेश में यान्त्रिक सभ्यता ने सबकी रोजी-रोटी को प्रभावित किया है। छायावाद से ये कवि स्वयं उकता गए थे।

पन्त की 1932 व 1934 के मध्य की रचनाएँ प्रारम्भिक रचनाओं से भिन्न हैं। उनकी कल्पना के पंख जल गए और विवश होकर उन्हें ठोस धरती पर आना पड़ा। निराला ने तो स्पष्ट ही घोषणा कर दी थी कि छायावाद के पास जीवन निर्माण के योग्य सामग्री नहीं है। उत्तर छायावादी कवि नरेन्द्र शर्मा भगवती चरण वर्मा, नवीन बच्चन आदि ने भी वैयक्तिकता का विसर्जन यथार्थवादी, मानवतावादी प्रगतिशील दृष्टिकोण में कर दिया था। डॉ. रांगेय राघव के अनुसार छायावाद में यथार्थ प्रत्यक्ष रूप से नहीं था, किन्तु उसने चेतना को झकझोर दिया और व्यापकता की ओर व्यक्ति को आकर्षित किया। इसी झकझोर ने छायावाद के उत्तर-काल में अनेक कवियों को यथार्थवादी काव्य रचना के लिए प्रेरित किया

था। यथार्थवादी काव्य का यह रूप पन्त, निराला, नवीन, दिनकर आदि कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है। 1934 तक आते-आते हिन्दी-काव्य वर्ग-संघर्ष से प्रभावित होने लगा था। पूँजीवाद के अत्याचार, गाँधीजी की हरिजन उद्धार योजना, श्रमिकों में चेतना आदि के कारण प्रगतिवादी काव्य के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी।

प्रगतिवादी काव्य की प्रवृत्तियाँ

प्रगतिवाद आलोचना और रचना के क्षेत्र में बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण लेकर आया। वह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को ही काव्य या साहित्य का मूल प्रयोजन मानता है। समाज की ऊपरी सतह पर दिखाई देने वाली निर्जीव और पतनोन्मुखी विकृतियों को वे सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत गिनते हैं। सत्य तो यह है कि प्रत्येक युग में सामाजिक यथार्थ के दो रूप विद्यमान रहते हैं एक रूप उन शक्तियों का है जो मरणोन्मुख हैं, जजर हैं दूसरा रूप उन जीवन्त शक्तियों का होता है जो भविष्य में अनन्त विकास की सम्भावनाओं से संयुक्त दिखाई देती हैं और जीवन्त होती हैं। प्रगतिशील साहित्य भिन्न-भिन्न युगों के यथार्थ का मूल्यांकन करता है और युग-सम्बन्धों से कटी किसी काल्पनिक मान्यता को नकली और निर्जीव मानता है। प्रगतिवादी साहित्यकारों के अनेक दृष्टिकोण उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुए हैं। उनकी प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों को हम इन कुछ शीर्षकों में विभक्त करके भली प्रकार परख सकते हैं।

1 समाज-व्यवस्था के प्रति आक्रोश—जार के शासन में रूसी समाज की अत्यन्त दयनीय अवस्था थी। सम्पूर्ण देश अधिनायकवाद और एकतन्त्रीय शासन के शिकंजे में छटपटा रहा था। कार्ल मार्क्स के विचारों को लेनिन ने मूर्त रूप दिया। रूसी जनता को उनकी वास्तविक स्थिति से अवगत कराया गया जिससे उनमें व्यवस्था के विरुद्ध असन्तोष और आक्रोश भर गया तथा वे अव्यवस्था तथा दुरावस्था को मिटाने के लिए क्रान्ति करने को तैयार हो गए। प्रत्येक देश और जाति का प्रगतिशील साहित्य इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था का नग्न चित्रण करके समाज में असन्तोष के बीज बो देता है। हमारे देश की सामाजिक स्थिति भी इस से भिन्न नहीं थी। अंग्रेजी शासन की जड़ें ही शोषण पर आधारित थीं। समाज की व्यवस्था के नाम पर जर्जर रूढ़ियाँ रीतियाँ, अन्धविश्वास आदि ने व्यक्ति को भी दबा रखा था। प्रगतिवाद से पूर्व गाँधीजी के सामाजिक रचनात्मक कार्यों ने समाज की पतनोन्मुखता को उजागर कर दिया था कि उसमें सुधार की अत्यन्त आवश्यकता थी। दिनकर नवीन आदि कवियों ने समाज की यथार्थ अवस्था का चित्र अंकित करने में सफलता प्राप्त की। समाज में उपस्थित ईश्वर की सत्ता, आत्मा परलोक भाग्यवाद धर्म स्वर्ग नरक प्रारब्ध, धार्मिक मान्यताएँ ब्राह्मण-शूद्र गोरा-काला, मंदिर-मस्जिद, गीता-कुरान, अन्धविश्वास और रूढ़ियों की व्यर्थता का बोध कराकर इनके विरुद्ध असन्तोष और आक्रोश को जन्म दिया—

भ्रान्त है प्रतिरंजित इतिहास ?
व्यर्थ है गौरव गान
दर्प से एक महान्, अपर मुख म्लान
किसी को आर्य, अनार्य
किसी को यवन
किसी को हूण यहूदी द्रविड
किसी को शीश किसी को चरण
मनुज को मनुज न कहना आह !

2 मार्क्सवाद का गुणगान—प्रगतिवादी विचारधारा का आधार ही कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद है। रूस की तरह हमारे देश में भी वर्ग संघर्ष की शुरूआत हो गई थी। शासक शासित, शोषक शोषित, अमीर-गरीब, मिल मालिक-श्रमिक, जमीदार कृषक उच्चवर्ग निम्नवर्ग आदि का संघर्ष चल रहा था। कम्युनिस्ट पार्टी और उससे सम्बद्ध कवि साहित्यकार मार्क्स के सिद्धान्तों का काव्य के माध्यम से प्रचार कर रहे थे और उसके परिणामस्वरूप विषमता के अन्त का दृश्य देखने को लालायित थे। कम्युनिस्ट पार्टी से प्रतिबद्ध साहित्यकारों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार अपने काव्य में किया था। सुमित्रानन्दन पन्त की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

धन्य मार्क्स ! चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर ॥

3 रूस और उसके शासन की प्रशंसा—प्रगतिवादी काव्य में केवल मार्क्स की विचारधारा ही नहीं, अपितु मार्क्स की विचारधारा के अनुसार स्थापित राज्य एवं समाज व्यवस्था वाले सर्वप्रथम और प्रमुख कम्युनिस्ट देश रूस की भी प्रशंसा की गई है। रूस इस प्रशंसा का श्रेय इसलिए लेता है कि वहाँ वर्गहीन समाज की स्थापना करने वाला शासन है जिसके अन्तर्गत कोई किसी का शोषण नहीं कर सकता व्यक्तिगत पूंजी का दानव समाज के दुर्बल वर्ग को नहीं निगल सकता तथा सब लोग समान भाया और समान क्रियाशीलता के द्वारा मानव मात्र के सुखों का संधान करने में लगे हैं। वहाँ की साम्यवादी शासन-व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए शिवमंगलसिंह सुमन कहते हैं—

ऐसा वैसा दुर्ग नहीं यह, मजलूमों का प्यारा है।
यह इस युग के संघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है।
लाल फौज ने लाल खून से आज बनाई लीक है॥
इस जागृति के स्वर में जन-जन कण-कण आज शरीक है,
दस हफ्ते दस साल बन गये, मास्को अब भी दूर है॥

4 समाज का यथार्थवादी चित्रण—प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति समाज का यथार्थवादी चित्रण करना है। यही प्रवृत्ति उनके सामाजिक असन्तोष को जगाती है। प्रारम्भ में ही हिन्दी काव्य में समाज यथार्थ स्थान पाता रहा है।

भक्तिकालीन कवियों में सूर और तुलसी, कबीर और नानक ने समाज का यथार्थ रूप में अंकित किया और आदर्श की कामना की। तुलसी का कलियुग वर्णन तो घोर यथार्थ का ही चित्रण है। यह प्रवृत्ति आधुनिक काल में और स्पष्ट और मुखर हुई। भारतेन्दु और द्विवेदी युग के कवियों ने सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हीनता का यथार्थ चित्रण किया। छायावादी कवियों ने भी जब कभी उनकी नभचारिणी कल्पना को झपकी आ जाती थी तब उन्होंने भी यथार्थ का विशद चित्रण अपने काव्य में किया है। सामाजिक यथार्थ के चित्रण में निराला बहुत आगे थे। वस्तुतः उन्हें हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद का जन्मदाता कहा जा सकता है। उनकी भिक्षुक कविता समाज की दयनीय स्थिति को अंकित करती है—

> वह आता ,
> दो टूक कलेजे के करता पछताता
> पथ पर आता।
> पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
> चल रहा लकुटिया टेक
> मुह फटी पुरानी झोली का फलाता।

पन्त ने भी समाज के ऐसे अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं—

> यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित।
> यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित ॥
> झाड़ फूस के विवर यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?
> कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धि प्राण नारी नर ?

5 राष्ट्र एवं विश्व के प्रति संवेदनशीलता—महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाले असहयोग आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्रीयता को अखिल भारतीय रूप प्रदान किया। भारतेन्दु युग से चली आ रही राष्ट्रीय काव्य धारा प्रौढता पाने लगी थी। माखनलाल चतुर्वेदी नवीन, दिनकर सुभद्राकुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी आदि द्वारा रचित राष्ट्र प्रेम की कविताएँ आदर्श का काम कर रही थीं। स्वच्छन्दतावादी, छायावादी कवियों ने भी राष्ट्र प्रेम का अपने काव्य में स्थान दिया। इसी समय मार्क्सवादी विचारधारा ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। इसमें राष्ट्र प्रेम भी था और संसार के समस्त शोषितों के प्रति विश्व बन्धुत्व का भाव भी था। भारत सदा से ही वसुधैव कुटुम्बकम् का समर्थक रहा है। अतः मार्क्सवाद का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण यहाँ के हिन्दी कवियों को रुच गया।

संसार को साम्राज्यवाद पूंजीवाद की जकड़न से मुक्त कराने का आग्रह प्रगतिवाद में है। हमारे देश में और अन्य देशों में शोषण अत्याचार दमन आदि का रूप समान ही था। अतः प्रगतिवादी कवि ने राष्ट्र प्रेम के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम की भी पुरजोर अभिव्यक्ति की। इनकी यह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि विशेषतः दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ तक ही सीमित रही। यह भाव कहीं पर व्यापक मानववाद के परिप्रेक्ष्य में भी आया है—

नही छोड सकते र यदि जन,
देश, राष्ट्र, राज्यो के हित नित्य युद्ध करना,
हरित जनाकुल धरती पर विनाश बरसाना,
तो अच्छा हो छोड दे अगर हम
अमरीकन, रूसी औ, इगलिश कहलाना
देखो म प्राण धरा निखर
पृथ्वी हो सब मनुजो का घर
हम उनकी सतान बराबर।

6 समस्याओ के प्रति जाग्रत दृष्टि—मार्क्सवादी विचारधारा म सम सामयिक समस्याओ के प्रति सजगता रहती है। वर्तमान की "अर्थ व्यवस्था समाज की हीन दशा के मूल मे होती है। प्रगतिवादी काव्य मे जन-जीवन की आर्थिक समस्याओ को लेकर अनेक कविताओ का सृजन किया गया। डॉ रामविलास शर्मा का कथन है—"समाज के भीतर जो जीर्ण और मरणशील तत्त्व है जो जीवित और उदीयमान तत्त्व हैं, इनके बाहर सौन्दर्य की सत्ता नही। जो जीर्ण और मरणशील है, उनके लिए सुन्दरता मृत्यु म है, अन्याय और अत्याचार के फरेब को ढूढने म है, भविष्य स त्रस्त होने और क्षण मे ही जीवन की साध पूरी करने मे है। जो जीवित और उदीयमान है, उनके लिए सुन्दरता सत्य म है मृत्यु का जीतने म है अज्ञान, अत्याचार और अन्याय की दुनिया को दफनाने मे है, सुख और शान्ति के उज्ज्वल भविष्य की ओर बढने मे है। साहित्य उस मजिल तक पहुँचाने का शक्तिशाली साधन है।"

मार्क्सवादी दृष्टि मे सामयिक समस्याओ का अर्थ है भौतिक परिस्थितिया म उत्पन्न जन जीवन की समस्याएँ। प्रगतिशीलता की इमारत भौतिक सम्बन्धो और विचारो की नीव पर खडी है। इसलिए प्रगतिवादी काव्य मे अपने युग की भौतिक परिस्थितियो का चित्रण है—केदारनाथ अग्रवाल की कविता द्रष्टव्य है—

बाप बेटा बेचता है,
भूख म बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर
हो रही अनीति बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है।
बाप बेटा बेचता है।

7 साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद का विरोध—प्रगतिवादी काव्य किसी भी प्रकार क एकाधिकार का विरोधी है। वह चाहे साम्राज्यवाद हो पूजीवाद हो या सामन्तवाद हो। य तत्त्व समाजवाद के विरोधी है। सामाजिक विषमता, अन्याय अत्याचार, शोषण और दमन की यन्त्रणा देने वाले यही तत्त्व है। इन्ही के कारण समाज म वर्ग विभाजन हुआ है। शासक और शोषित का अस्तित्व इन्ही तत्त्वो ने उत्पन्न किया है। दरिद्रता और विषमता इन्ही की देन है। मार्क्स का इस मत

भौतिकवाद समाज के इसी वस्तुपरक सत्य पर आधारित है। इसी भावना को व्यक्त करने वाला, इन प्रवृत्तियों का खुलकर विरोध करने वाला काव्य ही प्रगतिवादी काव्य है। भारतेन्दु युग में भी कवियों ने शोषकों को ललकारा था। भगवती चरण वर्मा साम्राज्यवाद का पर्दाफाश करते हुए कहते हैं—

यह राज-काज जो मचा हुआ है, इन भूखे कंगालों पर।
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिल तिल मिटने वालों पर॥

8 **शोषितों के प्रति सहानुभूति**—प्रगतिवादी काव्य में किसान और मजदूर को शोषितों का मुख्य प्रतिनिधि मानकर उनके प्रति अतिशय सहानुभूति प्रकट की गई है। मार्क्सवाद में मजदूर का विशेष स्थान है। भारतीय प्रगतिवादी कवि भी मजदूरों को शोषण के विरुद्ध उकसाते हैं। जमींदार, मिल मालिक और शासक किसान मजदूर का शोषण करते रहते हैं। किसान-मजदूर की दीन-हीन दशा को हिन्दी के प्रगतिवादी कवि ने अपने काव्य का आलम्बन बनाया है। निराला ने तो अपनी बादल राग जैसी प्रकृति प्रेम की कविता में भी शोषण के विरुद्ध बिगुल बजा दिया है—

चूस लिया है उसका सार
हाड़ मात्र ही है आधार
ए, जीवन के पारावार।

एक अन्य प्रगतिवादी कवि कहता है—

वस्त्र के अम्बार रचता जा रहा हूँ,
पर न टुकड़ा एक तन को पा रहा हूँ।
नग्न बच्चे, चीथड़ों में हाय नारी,
सिसकती है, पर न कुछ कहती बिचारी।

9 **नई व्यवस्था का आह्वान**—प्रगतिवादी काव्य में पुरानी सड़ी-गली व्यवस्थाओं को छोड़कर नई युगानुरूप व्यवस्थाएँ अपनाने का आह्वान किया गया है। कुछ समय तो परिवर्तन की पुकार एक फैशन की सीमा तक बढ़ गई थी। इस परिवर्तन में अच्छा बुरा, उपयोगी-अनुपयोगी सबको बदलने का अविवेक समा गया था। कुछ समाजिक व्यवस्थाएँ आज भी उपयोगी हो सकती हैं किन्तु प्रगतिवादियों ने इस पर ध्यान नहीं दिया और परिवर्तन की झोंक में सभी व्यवस्थाओं को नया करने का पैगाम दिया। लेनिन ने कहा है—'जो सुन्दर है, वह चाहे जितना पुरातन हो, हमें ग्रहण करना चाहिए और उसमें भावी विकास में सहायता लेनी चाहिए। हमें नवीन के प्रति केवल इसलिए आत्म-समर्पण नहीं करना चाहिए कि वह नवीन है। कला के क्षेत्र में यह वस्तुतः पाखण्ड है।"

पन्त ने इसलिए अनुपयोगी पुरातन को चले जाने के लिए कहा ताकि नया जीवन लहलहा सके—

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र।"

किन्तु अंचल सारे समाज को ही ध्वस्त करने का आग्रह करते हैं—

हो यह समाज चिथड़े चिथड़े
शोषण पर जिसकी नींव पड़ी ।

तो बड़ा विचित्र लगता है क्योंकि सम्पूर्ण समाज का अस्तित्व मिटा देने से शोषण समाप्त नहीं होगा ।

10 बौद्धिकता और व्यंग्यात्मकता—प्रगतिवादी काव्य में बौद्धिकता और व्यंग्यात्मकता की प्रवृत्ति भी खूब है । यह बौद्धिकता मार्क्स के विचारों का तर्क वितर्क द्वारा पोषण करने तक ही सीमित है । जो लोग मार्क्स के विचारों से अपरिचित हैं, उनके लिए इस काव्य के बौद्धिक तत्व व्यर्थ हैं । इस प्रकार यह बौद्धिकता विशिष्ट कोटि की है, इसलिए इसमें रसानुभूति नहीं हो सकती । व्यंग्य की दृष्टि से निराला के कुकुरमुत्ता काव्य सकलन को देखा जा सकता है । कवि अशोक का व्यंग्य—

जै हो राधारानी की, या जिसने मनमानी की ।
राधा या अनुराधा से, छिपकर अपने दादा से
कैसी बढ़िया चाल की, बलिहारी गोपाल की ।

इस प्रकार प्रगतिवादी कवि ने जीवन के छद्म को भी व्यंग्य का विषय बनाया है ।

11 क्रान्ति का उद्घोष—प्रगतिवादी कवियों ने सामन्ती, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाओं को बदलने के लिए क्रान्ति का आह्वान किया है । वे साम्यवादी विचारों के अनुसार रक्त क्रान्ति से भी नहीं डरते, बल्कि उसे ही अभीष्ट समझते हैं । केवल परम्पराओं और रूढ़ियों का विनाश ही पर्याप्त नहीं है, शोषक वर्ग का ध्वस विांछनीय है । पूंजीपतियों के गगनचुम्बी प्रासादों के विरुद्ध वे क्रान्ति का बिगुल बजाते हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल पुथल मच जावे ।

—नवीन

उठ समय से मोर्चा ले
धूल धूसर वस्त्र मानव
देह पर फबते नहीं हैं
देह के ही रक्त से तू
देह के कपड़े रंगा ले ॥

—बच्चन

12 कला सम्बन्धी मान्यताएँ—प्रगतिवादी काव्य ने अनुभूति-पक्ष में तो सर्वथा नई उद्भावनाएँ ही की थीं, उसका अभिव्यक्ति पक्ष भी प्रगतिवादी विचारधारा का पोषक रहा है । प्रगतिवादी कवि अपने विचारों को सरल निरलंकृत

भाषा में आम आदमी तक पहुँचाना चाहता है। पन्त ने ही यह घोषणा कर दी थी—

तुम वहन कर सको जन मन म मेरे विचार ।
वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिए अलकार ।।

प्रगतिवादी कवि समाज रचना के जिन माध्यमो को अपनाना चाहता है वे सामान्य व्यक्ति की चेतना को झकझोरने वाले हैं। इसी दृष्टि से अपनी अनुभूति के विषय को वे कला के घेरे में बाँधने के पक्षपाती नही हैं। उसम बोधगम्यता, सरलता और सहजता है। भाषा, छन्द, अलकार प्रतीक आदि सभी कला के मापदण्ड अपनी सरलता मे ही इस काव्य का सौन्दर्य बढाते हैं। इस काव्य में छायावादी काव्य की सस्कृतनिष्ठ पदावली, क्लिष्ट प्रतीक योजना, लाक्षणिकता आदि के प्रति विद्रोह किया गया है। जसे सरल जन-साधारण के योग्य भाव, वसी ही भाषा। सगीतात्मकता भी इसमे कम है। रूढ उपमानो का परित्याग करके नए-नए रूपक और उपमानो से इस काव्य का कलात्मक सौन्दय बढाया गया है।

प्रयोगवाद का प्रवर्तन और नामकरण

यह प्रश्न इस काव्य आन्दोलन के प्रारम्भ मे भी उठा था और आज भी इस पर अपने ढग से वक्तव्य देकर इस प्रश्न का उत्तर सदिग्ध बनाने वालों की कमी नहीं है कि प्रयोगवाद का प्रवतक कौन है? लोगो ने इस सम्बन्ध मे अपने-अपने दावे प्रस्तुत किए हैं तथा अपने अपने तक दिए हैं। काव्य मे नए प्रयोग का सिलसिला कब और किसने शुरू किया? इस पर विचार प्रकट करते हुए कई लोग प्रसाद को, कई पन्त को और कई निराला को प्रयोगकर्त्ता के रूप म स्वीकार करते हैं किन्तु छायावादी कवियो के काव्य प्रयोग बहुत कुछ परम्परा से जुडे हुए थे। नलिन विलोचन शर्मा का मत है कि सन् 1943 ई के बाद ही प्रयोगवाद एक सगठित आन्दोलन के रूप में सामने आया। श्री शर्मा इस प्रयोगवादी काव्य को रचना की स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं। कुछ विद्वान् और तार सप्तक म सकलित कुछ कवियो का कहना है कि तारसप्तक की मूल योजना नेमीचन्द जैन और प्रभाकर माचवे की बुद्धि की उपज है। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण योजना सकलित कविताओ के साथ अज्ञेय के सामने प्रस्तुत की और अज्ञेय ने तार-सप्तक नाम से उस ग्रन्थ का सम्पादन किया तथा भूमिका लिखी। वस्तुत यह तो प्रयोग मात्र के आविष्कर्ताओं का माध्यम मात्र है, किन्तु यह सत्य है कि प्रयोगो से सम्पन्न कविताएँ 1943 ई से पूर्व ही हिन्दी मे आ गई थी, किन्तु 1943 ई मे अज्ञेय न तार-सप्तक का प्रकाशन करके प्रयोगों की प्रवृत्ति और सौन्दयगत विशेषता को रेखांकित किया तब प्रयोगवाद ने एक काव्य आन्दोलन का रूप धारण किया, अत सभी आलोचक और विद्वान् अब इस पर एकमत हैं कि हिन्दी मे प्रयोगवाद के प्रवतक सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन अज्ञेय ही हैं।

नामकरण—'प्रयोगवाद नाम से जो काव्य प्रवृत्ति अज्ञेय द्वारा सामने लाई गई थी, उम प्रयोगवाद के नाम का विरोध स्वय प्रयोगवादी कवियो ने किया। तार

सप्तक तथा दूसरा सप्तक की भूमिका तथा वक्तव्य मे अज्ञेय ने स्वय का तथा अपने साथियो का किसी भी वाद से निरपेक्ष रहना स्वीकार किया था। वे मानते थे—"प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नही रहे, न ही हैं। प्रयोग अपने आप मे इष्ट या साध्य नही है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नही है, कविता भी अपने-आप मे इष्ट या साध्य नही है, अत हमे प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमे कवितावादी कहना।"

सन् 1943 ई के पश्चात् लाया गया प्रयोगो का रूप ही प्रयोगवाद कहलाया। दूसरे सप्तक के कवि शमशेर अपने वक्तव्य मे कहते हैं—"मैं अगर दो शब्दो का प्रयोग करूँ तो ज्यादा अच्छा होगा—प्रयोग और प्रयोग। प्रयोग, जैसा कि अज्ञेय ने स्पष्ट किया है, निरन्तर होते आए हैं। प्रयोग के अन्तगत मेरा निवेदन है कि वह, वह रुझान है, जो उपरोक्त दो कविता सग्रहो (तार सप्तक, दूसरा सप्तक) मे और आम तौर पर 'प्रतीक' की कविताओ मे पाया जाएगा और वह हिन्दी मे नई आज की चीज है।" यद्यपि प्रयोग प्रत्येक युग मे हुए हैं, किन्तु पिछले प्रयोग चाहे वे विषय-वस्तु के स्तर पर हो या अभिव्यजना के स्तर पर या विशिष्ट दिशा या सीमा रेखा द्वारा मर्यादित ही हुए हो किन्तु उन्ह प्रयोगधर्मा नही कहा गया। इस काव्य मे किए गए प्रयोग नए ढग के थे जो हिन्दी की अपनी परम्परा से हटकर थे, अत इन प्रयोगों से युक्त हिन्दी कविता को प्रयोगवाद नाम ही व्यक्त कर सकता है। इस नाम का आविष्कर्ता कौन है ? यह प्रश्न भी अनुत्तरित ही रहेगा। सम्भव है यह नाम प्रगतिवादी कवियो ने नए रूपाकारो पर प्रयुक्त कविताओ के लिए प्रचलित कर दिया था।

शनै-शनै प्रयोगवाद नाम लोकप्रिय हो गया और सभी विद्वान् विचारक, आलोचक इस नाम पर सहमत या असहमत होते हुए भी इसी नाम का प्रयोग करने लगे। नकेनवादी भले ही इस प्रयोगवाद का विरोध करके उसे प्रपद्यवाद कहते रहे, किन्तु उनके विरोध ने भी प्रयोगवाद नाम का प्रचलन करने मे सहायता ही की। सन् 1943 से 1953 ई तक हिन्दी कविता पर प्रयोगवादी प्रवृत्ति का व्यापक प्रभाव रहा है, अत प्रयोगवाद नाम ही इस कविता का व्यावहारिक, प्रचलित और प्रवृत्तिगत नाम है। किसी के चाहने न चाहने, विरोध या समर्थन से लोक की जबान पर आया नाम बदल नही जाता। इस बात ने भी अपना अस्तित्व स्थापित कर दिया है।

प्रयोगवादियों की मान्यताएँ

अज्ञेय और उनके अनुयायियो ने प्रयोगों की वांछनीयता को स्वीकार करते हुए समय समय पर प्रयोगवाद के सम्बन्ध म कुछ सिद्धान्त सूत्रो का प्रतिपादन किया जो प्रयोगवाद की मान्यता के लिए आवश्यक थे। तार सप्तक की भूमिका, दूसरा सप्तक की भूमिका, प्रतीक मे सम्बन्धित लेख तथा त्रिशकु मे प्रकाशित अज्ञेय के निबन्धो म प्रयोगवाद के दर्शन पक्ष का अनेक दृष्टियो से विवेचन किया गया है, अत यहाँ प्रयोगवादी कवियो की विभिन्न मान्यताओ का सक्षिप्त रूप प्रस्तुत है—

भाषा मे आम आदमी तक पहुँचाना चाहता है। पन्त न ही यह घोषणा कर दी थी—

तुम वहन कर सको जन मन मे मेरे विचार ।
वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिए अलकार ॥

प्रगतिवादी कवि समाज रचना के जिन माध्यमो को अपनाना चाहता है वे सामान्य व्यक्ति की चेतना को झकझोरने वाले हैं। इसी दृष्टि से अपनी अनुभूति के विषय को वे कला के घेरे मे बाँधने के पक्षपाती नही हैं। उसमे बोधगम्यता, सरलता और सहजता है। भाषा, छद, अलकार प्रतीक आदि सभी कला के मापदण्ड अपनी सरलता में ही इस काव्य का सौन्दर्य बढाते हैं। इस काव्य में छायावादी काव्य की सस्कृतनिष्ठ पदावली, क्लिष्ट प्रतीक योजना, लाक्षणिकता आदि के प्रति विद्रोह किया गया है। जैसे सरल जन-साधारण के योग्य भाव, वैसी ही भाषा। सगीतात्मकता भी इसमे कम है। रूढ उपमानो का परित्याग करके नए नए रूपक और उपमानो से इस काव्य का कलात्मक सौन्दय बढाया गया है।

प्रयोगवाद का प्रवर्तन और नामकरण

यह प्रश्न इस काव्य-आन्दोलन के प्रारम्भ मे भी उठा था और आज भी इस पर अपने ढग से वक्तव्य देकर इस प्रश्न का उत्तर सदिग्ध बनाने वालो की कमी नही है कि प्रयोगवाद का प्रवतक कौन है? लोगो ने इस सम्बन्ध मे अपने अपने दावे प्रस्तुत किए हैं तथा अपने अपने तक दिए हैं। काव्य मे नए प्रयोग का सिलसिला कब और किसने शुरू किया? इस पर विचार प्रकट करते हुए कई लोग प्रसाद को, कई पन्त को और कई निराला को प्रयोगकर्त्ता के रूप म स्वीकार करते हैं किन्तु छायावादी कवियो के काव्य प्रयोग बहुत कुछ परम्परा से जुडे हुए थे। नलिन विलोचन शर्मा का मत है कि सन् 1943 ई के बाद ही प्रयोगवाद एक सगठित आन्दोलन के रूप में सामने आया। श्री शर्मा इस प्रयोगवादी काव्य को रचना की स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं। कुछ विद्वान् और तार सप्तक म सकलित कुछ कवियो का कहना है कि तारसप्तक की मूल योजना नेमीचन्द जैन और प्रभाकर माचवे की बुद्धि की उपज है। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण योजना सकलित कविताओ के साथ अज्ञेय के सामने प्रस्तुत की और अज्ञेय ने तार-सप्तक नाम से उस ग्रन्थ का सम्पादन किया तथा भूमिका लिखी। वस्तुत यह तो प्रयोग मात्र के आविष्कर्ताओ का माध्यम मात्र है किन्तु यह सत्य है कि प्रयोगो से सम्पन्न कविताएँ 1943 ई से पूव ही हिन्दी में आ गई थी, किन्तु 1943 ई मे अज्ञेय ने तार-सप्तक का प्रकाशन करके प्रयोगो की प्रवृत्ति और सौन्दयगत विशेषता को रेखांकित किया तब प्रयोगवाद ने एक काव्य-आन्दोलन का रूप धारण किया, अत सभी आलोचक और विद्वान् अब इस पर एकमत हैं कि हिन्दी मे प्रयोगवाद के प्रवतक सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय ही हैं।

नामकरण—'प्रयोगवाद' नाम से जो काव्य प्रवृत्ति अज्ञेय द्वारा सामने लाई गई थी, उस प्रयोगवाद के नाम का विरोध स्वय प्रयोगवादी कवियों ने किया। तार

सप्तक तथा दूसरा सप्तक की भूमिका तथा वक्तव्य मे अज्ञेय ने स्वय का तथा अपने साथियो का किसी भी वाद से निरपेक्ष रहना स्वीकार किया था। वे मानते थे— "प्रयोग का कोई वाद नही है। हम वादी नही रहे, न ही हैं। प्रयोग अपने आप मे इष्ट या साध्य नही है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नही है, कविता भी अपने आप मे इष्ट या साध्य नहीं है, अत हमे प्रयोगवादी कहना उतना ही साथक या निरथक है जितना हमे कवितावादी कहना।"

सन् 1943 ई के पश्चात् लाया गया प्रयोगो का रूप ही प्रयोगवाद कहलाया। दूसरे सप्तक के कवि शमशेर अपने वक्तव्य मे कहते हैं—"मैं अगर दो शब्दों का प्रयोग करूँ तो ज्यादा अच्छा होगा—प्रयोग और प्रयोग। प्रयोग जसा कि अज्ञेय ने स्पष्ट किया है, निरन्तर होते आए हैं। प्रयोग के अन्तगत मेरा निवेदन है कि वह, वह रुझान है, जो उपरोक्त दो कविता सग्रहो (तार सप्तक, दूसरा सप्तक) मे और आम तौर पर 'प्रतीक' की कविताओ मे पाया जाएगा और वह हिन्दी मे नई आज की चीज है।" यद्यपि प्रयोग प्रत्येक युग मे हुए हैं, किन्तु पिछले प्रयोग चाहे वे विषय-वस्तु के स्तर पर हो या अभिव्यजना के स्तर पर या विशिष्ट दिशा या सीमा-रेखा द्वारा मर्यादित ही हुए हो किन्तु उन्हें प्रयोगधर्मा नही कहा गया। इस काव्य मे किए गए प्रयोग नए ढग के थे जो हिन्दी की अपनी परम्परा से हटकर थे, अत इन प्रयोगो से युक्त हिन्दी कविता को प्रयोगवाद नाम ही व्यक्त कर सकता है। इस नाम का आविष्कर्ता कौन है? यह प्रश्न भी अनुत्तरित ही रहेगा। सम्भव है यह नाम प्रगतिवादी कवियो ने नए रूपाकारो पर प्रयुक्त कविताओ के लिए प्रचलित कर दिया था।

शनै-शनै प्रयोगवाद नाम लोकप्रिय हो गया और सभी विद्वान् विचारक, आलोचक इस नाम पर सहमत या असहमत होते हुए भी इसी नाम का प्रयोग करने लगे। नकेनवादी भले ही इस प्रयोगवाद का विरोध करके उसे प्रपद्यवाद कहते रहे, किन्तु उनके विरोध ने भी प्रयोगवाद नाम का प्रचलन करने मे सहायता ही की। सन् 1943 से 1953 ई तक हिन्दी कविता पर प्रयोगवादी प्रवृत्ति का व्यापक प्रभाव रहा है, अत प्रयोगवाद नाम ही इस कविता का व्यावहारिक प्रचलित और प्रतिष्ठित नाम है। किसी के चाहने न चाहने, विरोध या समथन से लोग की जबान पर आया नाम बदल नही जाता। इस बात ने भी अपना अस्तित्व स्थापित कर दिया है।

प्रयोगवादियों की मान्यताएँ

अज्ञेय और उनके अनुयायियो ने प्रयोगो की वांछनीयता को स्वीकार करते हुए समय-समय पर प्रयोगवाद के सम्बन्ध मे कुछ सिद्धान्त सूत्रों का प्रतिपादन किया जो प्रयोगवाद की मान्यता के लिए आवश्यक थे। तार-सप्तक की भूमिका, दूसरा सप्तक की भूमिका, प्रतीक मे सम्बन्धित लेख तथा त्रिशकु मे प्रकाशित अज्ञेय के निबन्धो मे प्रयोगवाद के दर्शन पक्ष का अनेक दृष्टियो से विवेचन किया गया है, अत यहाँ प्रयोगवादी कवियों की विभिन्न मान्यताओ का सक्षिप्त रूप प्रस्तुत है—

भाषा में आम आदमी तक पहुँचाना चाहता है। पन्त ने ही यह घोषणा कर दी थी—

> तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार ।
> वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिए अलंकार ।।

प्रगतिवादी कवि समाज रचना में जिन माध्यमों को अपनाना चाहता है वे सामान्य व्यक्ति की चेतना को झकझोरने वाले हैं। इसी दृष्टि से अपनी अनुभूति के विषय को वे कला के घेरे में बाँधने के पक्षपाती नहीं हैं। उसमें बोधगम्यता, सरलता और सहजता है। भाषा, छन्द, अलंकार प्रतीक आदि सभी कला के मापदण्ड अपनी सरलता में ही इस काव्य का सौन्दर्य बढ़ाते हैं। इस काव्य में छायावादी काव्य की संस्कृतनिष्ठ पदावली, क्लिष्ट प्रतीक योजना, लाक्षणिकता आदि के प्रति विद्रोह किया गया है। जैसे सरल जन-साधारण के योग्य भाव, वैसी ही भाषा। संगीतात्मकता भी इसमें कम है। रूढ़ उपमानों का परित्याग करके नए-नए रूपक और उपमानों से इस काव्य का कलात्मक सौन्दर्य बढ़ाया गया है।

प्रयोगवाद का प्रवर्तन और नामकरण

यह प्रश्न इस काव्य आन्दोलन के प्रारम्भ में भी उठा था और आज भी इस पर अपने ढंग से वक्तव्य देकर इस प्रश्न का उत्तर संदिग्ध बनाने वालों की कमी नहीं है कि प्रयोगवाद का प्रवर्तक कौन है? लोगों ने इस सम्बन्ध में अपने अपने दावे प्रस्तुत किए हैं तथा अपने अपने तर्क दिए हैं। काव्य में नए प्रयोग का सिलसिला कब और किसने शुरू किया? इस पर विचार प्रकट करते हुए कई लोग प्रसाद को, कई पंत को और कई निराला को प्रयोगकर्त्ता के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु छायावादी कवियों के काव्य प्रयोग बहुत कुछ परम्परा से जुड़े हुए थे। नलिन विलोचन शर्मा का मत है कि सन् 1943 ई० के बाद ही प्रयोगवाद एक संगठित आन्दोलन के रूप में सामने आया। श्री शर्मा इस प्रयोगवादी काव्य की रचना को स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं। कुछ विद्वान् और तार सप्तक में संकलित कुछ कवियों का कहना है कि तारसप्तक की मूल योजना नेमीचन्द जैन और प्रभाकर माचवे की बुद्धि की उपज है। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण योजना संकलित कविताओं के साथ अज्ञेय के सामने प्रस्तुत की और अज्ञेय ने तार-सप्तक नाम से उस ग्रन्थ का सम्पादन किया तथा भूमिका लिखी। वस्तुतः यह तो प्रयोग मात्र के आविष्कर्ताओं का माध्यम मात्र है, किन्तु यह सत्य है कि प्रयोगों से सम्पन्न कविताएँ 1943 ई० से पूर्व ही हिन्दी में आ गई थीं, किन्तु 1943 ई० में अज्ञेय ने तार-सप्तक का प्रकाशन करके प्रयोगों की प्रवृत्ति और सौन्दर्यगत विशेषता को रेखांकित किया तब प्रयोगवाद ने एक काव्य-आन्दोलन का रूप धारण किया, अतः सभी आलोचक और विद्वान् अब इस पर एकमत हैं कि हिन्दी में प्रयोगवाद के प्रवर्तक सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय ही हैं।

नामकरण—'प्रयोगवाद' नाम से जो काव्य प्रवृत्ति अज्ञेय द्वारा सामने लाई गई थी, उस प्रयोगवाद के नाम का विरोध स्वयं प्रयोगवादी कवियों ने किया। तार

सप्तक तथा दूसरा सप्तक की भूमिका तथा वक्तव्य मे अज्ञेय ने स्वयं का तथा अपने साथियो का किसी भी वाद से निरपेक्ष रहना स्वीकार किया था। वे मानते थे—"प्रयोग का कोई वाद नही है। हम वादी नही रहे, न ही हैं। प्रयोग अपने आप मे इष्ट या साध्य नही है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नही है, कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नही है, अत हमे प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमे कवितावादी कहना।"

सन् 1943 ई के पश्चात् लाया गया प्रयोगो का रूप ही प्रयोगवाद कहलाया। दूसरे सप्तक के कवि शमशेर अपने वक्तव्य मे कहते हैं—"मैं अगर दो शब्दो का प्रयोग करूँ तो ज्यादा अच्छा होगा—प्रयोग और प्रयोग। प्रयोग, जैसा कि अज्ञेय ने स्पष्ट किया है, निरन्तर होते आए हैं। प्रयोग के अन्तर्गत मेरा निवेदन है कि वह, वह रुझान है, जो उपरोक्त दो कविता सग्रहो (तार सप्तक, दूसरा सप्तक) मे और आम तौर पर 'प्रतीक' की कविताओ मे पाया जाएगा और वह हिन्दी मे नई आज की चीज है।" यद्यपि प्रयोग प्रत्येक युग मे हुए हैं, किन्तु पिछले प्रयोग चाहे वे विषय-वस्तु के स्तर पर हों या अभिव्यजना के स्तर पर या विशिष्ट दिशा या सीमा रेखा द्वारा मर्यादित ही हुए हो किन्तु उन्हें प्रयोगधर्मा नही कहा गया। इस काव्य मे किए गए प्रयोग नए ढग के थे जो हिन्दी की अपनी परम्परा से हटकर थे, अत इन प्रयोगों से युक्त हिन्दी कविता को प्रयोगवाद नाम ही व्यक्त कर सकता है। इस नाम का आविष्कर्ता कौन है? यह प्रश्न भी अनुत्तरित ही रहेगा। सम्भव है यह नाम प्रगतिवादी कवियो ने नए रूपाकारो पर प्रयुक्त कविताओ के लिए प्रचलित कर दिया था।

शनै-शनै प्रयोगवाद नाम लोकप्रिय हो गया और सभी विद्वान्, विचारक, आलोचक इस नाम पर सहमत या असहमत होते हुए भी इसी नाम का प्रयोग करने लगे। नकेनवादी भले ही इस प्रयोगवाद का विरोध करके उसे प्रपद्यवाद कहते रहे, किन्तु उनके विरोध ने भी प्रयोगवाद नाम का प्रचलन करने मे सहायता ही की। सन् 1943 से 1953 ई तक हिन्दी कविता पर प्रयोगवादी प्रवृत्ति का व्यापक प्रभाव रहा है, अत प्रयोगवाद नाम ही इस कविता का व्यावहारिक, प्रचलित और प्रवृत्तिगत नाम है। किसी के चाहने न चाहने, विरोध या समर्थन से लोक की जबान पर आया नाम बदल नही जाता। इस बात ने भी अपना अस्तित्व स्थापित कर दिया है।

प्रयोगवादियों की मान्यताएँ

अज्ञेय और उनके अनुयायियो ने प्रयोगो की वांछनीयता को स्वीकार करते हुए समय समय पर प्रयोगवाद के सम्बन्ध मे कुछ सिद्धान्त सूत्रो का प्रतिपादन किया जो प्रयोगवाद की मान्यता के लिए आवश्यक थे। तार सप्तक की भूमिका, दूसरा सप्तक की भूमिका, प्रतीक मे सम्बन्धित लेख तथा त्रिशकु मे प्रकाशित अज्ञेय के निबन्धो मे प्रयोगवाद के दर्शन पक्ष का अनेक दृष्टियो से विवेचन किया गया है, अत यहां प्रयोगवादी कवियो की विभिन्न मान्यताओ का सक्षिप्त रूप प्रस्तुत है—

1 नये सत्य की खोज—तार सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रयोगों का मुख्य उद्देश्य अपने युग के नए सत्य को खोज करना है। भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है कि 'संग्रहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता का प्रयोग का विषय मानते हैं—जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं। सभी आज उस परम तत्व की शोध में लगे हुए हैं जिसे पा लेने पर कसौटी की जरूरत ही नहीं रहती।" 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने इस विषय को और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया—"हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्त्व नहीं है—महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो।" इस प्रकार काव्यगत नए सत्य की खोज के सम्बन्ध में प्रयोगवादी कवि ने नए रास्तों का अन्वेषण करने का प्रयास किया है।

2 नए ढंग का साधारणीकरण—साधारणीकरण के प्रश्न को इस धारा के कवि आलोचकों ने सम्प्रेषणीयता, उसकी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति तथा व्यक्ति सत्य को व्यापक बनाने के क्रम में अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया और उसका समाधान भी खोजने का प्रयास किया है। अज्ञेय ने भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित परम्परागत साधारणीकरण को अमान्य और अस्वीकृत कर दिया और नए ढंग के साधारणीकरण या सम्प्रेषणीयता में अपनी आस्था व्यक्त की है। अज्ञेय की दृष्टि में अभिव्यक्ति कभी स्वान्तः सुखाय नहीं हो सकती। अभिव्यक्ति में ग्राहक या पाठक या श्रोता का होना आवश्यक है। अभिव्यक्ति तभी सार्थक है जब कवि अपनी भाषा के माध्यम से उसकी संवेदनाओं को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा दे, अतः कवि की भाषा में इस विज्ञान के युग में वह व्यापकता आवश्यक है जो साधारण अर्थ में बड़ा अर्थ होकर समस्या का समाधान प्रस्तुत करे। परिणामस्वरूप नई भाषा की खोज प्रारम्भ हुई। इसमें असफलता मिली। उसका कथन पागलों का प्रलाप समझा जाने लगा। भाषा सुबोध न होकर गूढ़ और अलौकिक हो गई। इच्छित अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोगवादी कवि अपनी ही भाषा को तोड़ने मरोड़ने लगा। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करने वाले कवि के लिए भाषा की यह गूढ़ता तथा तोड़ मरोड़ टी० एस० इलियट ने भी आवश्यक बताई है। अज्ञेय ने आलोचकों का उत्तर देते हुए तारसप्तक की भूमिका में लिखा है—'बहुत से लोग इस बात को भूल जाते हैं कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है। भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है और अहंकार के कारण नहीं—इसलिए कि उसके भीतर इसकी गहरी माँग स्पंदित है कि वह व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निभाना चाहता है। यही साधारणीकरण की अनिवार्यता उपस्थित होती है।" अज्ञेय ने दूसरा सप्तक में स्वीकार किया है कि आज के युग में हमारी राग विराग की भावना भले ही न बदली हो, किन्तु रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ अवश्य बदल गई हैं। इस विशेषीकरण या विशेष ज्ञान के

युग मे साधारणीकरण तथा प्रेषणीयता की समस्या अधिक जटिल होकर कवि के सम्मुख उपस्थित हुई है। भाषा के सम्बन्ध मे अज्ञेय ने कहा है कि विकास की इस प्रक्रिया द्वारा किसी भाषा के शब्द समय-समय पर नए चमत्कार व नये अर्थों से पूर्ण होते रहे हैं और अपना काय समाप्त कर कालान्तर म अभिधेय बन जाते हैं तब उनमे नया अर्थ व नया चमत्कार भरकर उन्हें जीवित किया जाता है। इस पुन राग सचारण तथा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने को ही नया साधारणीकरण कहा गया है।

3 रस तथा बौद्धिकता—अज्ञेय ने तार सप्तक और दूसरा सप्तक मे रस के सम्बन्ध मे स्पष्टत कुछ नही कहा किन्तु परम्परागत रस सिद्धान्त को अपर्याप्त माना और बौद्धिकता का आग्रह करना प्रयोगवादी की रसानुभूति का विवेचन कर देते हैं। प्रयोगवाद मे प्राचीन भरत मुनि से लेकर स्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक की रस सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताओं को अमान्य ठहराया है। वे स्पष्ट कहते हैं कि उनकी कविता का उद्देश्य रसानुभूति नहीं है। वे रस की धारणा का विरोध करते हैं। रस के स्थान पर वे बौद्धिकता का काव्य का लक्षण मानते हैं। काव्य की आत्मा, ध्वनि, रीति, रस, अलकार आदि नही, अपितु बौद्धिकता है। इसी के कारण भावुकता, गेयता, तुकान्तता आदि की उपेक्षा करते हुए, कविता को गद्यवत होने मे इसक प्रयोक्ताओ को प्रयोगवाद की विशेषता देती दिखाई है।

4 परम्परा—अज्ञेय ने दूसरा सप्तक की भूमिका मे परम्परा का कितना प्रयोग कवि करें, इस प्रश्न का उत्तर दिया है—"जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते हैं वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा कम से कम कवि के लिए ऐसी कोई पोटली बाँधकर अलग रखी हुई चीज नही है, जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले। परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक बजाकर, तोड मरोडकर आत्मसात नही कर लेता जब तक वह एक इतना गहरा सस्कार नही बन जाती कि उसका चेष्टापूवक ध्यान रखकर निर्वाह करना आवश्यक न हो जाए।" इसी बात का समर्थन धर्मवीर भारती और लक्ष्मीकान्त वर्मा ने किया है कि हम नये हैं और हमारा पाठक आधुनिक है। परम्परा को उन्होंने मृत सस्कार घोषित करके उसे बौद्धिक स्तर पर समाप्तप्राय सिद्ध कर दिया।

प्रयोगवादी काव्य की प्रवृत्तियाँ

प्रयोगवादी काव्य में जो जो प्रवृत्तियाँ उभरी हैं वे सब प्रयोगवादी कवियों की मान्यताओ और दर्शन की ही देन हैं, जिन प्रवृत्तियों का आकलन यहाँ पर किया जा रहा है, वे सभी प्रयोगवादी कवियो में न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। कुछ कवियों की विशेष मौलिक प्रवृत्तियाँ भी हैं उनको प्रस्तुत करने का यहाँ अवसर नही है। उन्हें यथास्थान सक्षेप में कवि के स्वरूप निरूपण में प्रकट किया जाएगा।

उत्कट अहनिष्ठ व्यक्तिवाद—प्रयोगवादी काव्य की सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख प्रवृत्ति है व्यक्तिवाद और उसकी चरम परिणति अहवाद।

परिस्थितियों के अन्तर्गत हमने यह स्पष्ट किया था कि प्रयोगवादी कवि युग-जीवन की कटुताओं और विषमताओं से संघर्ष करने में निराश और असमर्थ था और उसने अपने लिए सन्तोषप्रद सामाजिक व्यवस्था की माँग की किन्तु वह ऐसी सामाजिक स्थिति को भी न पा सका। फलतः वह निराश हो गया और अपने एकाकी भाव विचार में व्यक्तिवाद एवं अहंवाद की सीमाओं से घिर गया। प्रयोगवादी कवियों का कृतित्व और विचार व्यक्तिवाद तथा अहंवाद की सीमाओं में बद्ध तथा अनुशासित है। इसी व्यक्तिवाद के कारण उसमें व्यापक और सामूहिक अनास्था, घुटन, पीड़ा आदि विकृतियाँ भी उत्पन्न हुई हैं।

जब व्यक्ति अपने अहं को ही सत्य स्वीकार कर लेता है तब वह बाह्य जगत् से पूरी तरह कट जाता है। वह यथार्थ को भी केवल उसी सीमा तक स्वीकार करता है जब तक उसका अहं सन्तुष्ट होता है। पुराने असन्तुष्ट व्यक्ति नए की ओर प्रेरित इसी उद्देश्य से होते हैं। पश्चिम के या भारत के सभी काव्यान्दोलनों के मूल में इसी अहं को सन्तुष्ट करने की प्रवृत्ति रही है, चाहे वह प्रतीकवाद हो या अस्तित्ववाद। हिन्दी का प्रयोगवाद भी व्यक्ति की अहंवादिता को, व्यक्तिगत इच्छा को परितृप्त करने की दिशा में सुविचारित कदम है। व्यक्ति द्वारा अनुशासित काव्य समाज के लिए कैसे उपयोगी हो सकता है? अज्ञेय की मान्यता है कि हमें लेखकों का नहीं समालोचकों को शिक्षित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। लेखक बंधन से परे है और रहेगा। इतना बड़ा अहं लेकर चलने वाला प्रयोगवादी कवि अपने ही व्यक्तित्व में बन्द दिखाई देता है।

यद्यपि छायावाद भी वैयक्तिकता का काव्य है, किन्तु वहाँ व्यक्ति समष्टि से भिन्न नहीं है। उसकी भावना उदात्त और लोक व्यापी है। उसमें संवेदनात्मक सम्प्रेषणीयता की पर्याप्त क्षमता है किन्तु प्रयोगवादी कवि की वैयक्तिकता तो निरी अहंकारिता है, जो अपने आप पर किसी भी प्रभाव को ठहरने नहीं देती। प्रयोगवादी कवि का अहंभाव उसकी कविता में रचना के साथ प्रतिपादित भी किया गया है। अज्ञेय ने अपने अहं को आत्मरति के रूप में स्वीकृति दी। धर्मवीर भारती लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर दयाल आदि के कृतित्व में भी अहं भाव तीखा होकर बोलता है। भारती अपने अहं को अभिमन्यु के रथ के पहिए के प्रतीक में व्यक्त करते हैं—

> मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
> लेकिन मुझे फेंको मत।

प्रयोगवादी कवि को अपने अहं पर इतना विश्वास है कि वह युग जीवन की विशेषताओं को चीरकर आगे निकल जाने का साहस दिखाता है किन्तु प्रयत्न में असफल होने पर उसका आत्मविश्वास प्रवंचना मात्र सिद्ध होता है। कभी कभी उसका व्यक्तिवाद समाज की ओर मुँह करता भी है तो उसके सम्बन्ध में नाना प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न कर देता है। वह समाज की पंक्ति में मिलकर भी सम्पूर्ण पंक्ति को अपनी विशिष्टता में अभिव्यक्त करना चाहता है।

प्रयोगवाद ने उन प्रति समाजवादियों को अपने दर्शन से ललकारा है कि समाज भले ही महत्त्वपूर्ण हो, किन्तु व्यक्ति का अस्तित्व भी नगण्य नहीं होता। व्यक्तिगत अहं को वाणी देने वाली कविता का एक उदाहरण—

साधारण नगर के
एक साधारण घर में
मेरा जन्म हुआ
बचपन बीता अति साधारण
साधारण खान पान
+ +
सब मैं एकाग्र मन
जुट गया ग्रन्थों में
मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला।

शिवदान सिंह चौहान इस व्यक्तिवाद की आलोचना करते हुए लिखते हैं—"महान् कविता का जन्म सारे संसार को, समाज को, जीवन के प्रगतिशील आदर्शों और नैतिक भावनाओं को एक उद्दण्ड और छिछोरे बालक की तरह मुँह बिचकाने से नहीं होता। सामाजिक बन्धना के प्रति व्यक्तिवादी प्रतिवाद का यह तरीका स्वाँग बनकर ही रह जाता है।"

युग जीवन के प्रति अनास्था—जिन प्रेरणाओं और परिस्थितियों ने प्रयोगवादी कवि को अहंवादी व्यक्तिवादी बनाया, उन्हीं ने उसे युग जीवन के प्रति अनास्थामय दृष्टिकोण से भी परिपूर्ण कर दिया। अनास्था के शिकार इस प्रयोगवादी कवि ने साहित्य के परम्परागत मूल्यों का तो तिरस्कार किया ही, समाज और जीवन के परम्परागत तथा वर्तमान मूल्यों की भी उसने [illegible] कारण उपेक्षा की। उसे चारों ओर अपर्याप्तता दिखाई देने लगी उसने सबके प्रति अनास्था और अविश्वास की घोषणा कर दी। पाश्चात्य साहित्य में व्याप्त अनास्था, निराशा, अविश्वास का अपने साहित्य पर जबरन आरोपण करना शुरू कर दिया। इलियट की भाँति उन्होंने भी साहित्य में गतिरोध की बात उठाई। जीवन के प्रचलित मान मूल्यों में विचित्र परिवर्तनों की पुकार मचाई। वर्तमान समाज ने सभ्यता और संस्कृति के खोखलेपन को दूर करने की आवश्यकता प्रतिपादित की। कुछ अनास्था तो सामयिक परिस्थितियों की देन थी और बहुत कुछ पाश्चात्य कवियों से उधार ले ली। आसपास के वातावरण तक को अज्ञेय नकारता हुआ कहता है—

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
शिशिर की राका निशा की शान्ति है निस्सार।
दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता
वह शून्य अवलेप का विस्तार।

शंकालु मन—प्रयोगवादी कवि अपनी सामाजिक तथा व्यक्तिगत असफलताओं के कारण सभी को शंकापूर्ण दृष्टि से देखता है। सामाजिक पथ पर जब कभी उसका पाँव पड़ता है, वह शंकालु हो उठता है, उसकी गति बँध जाती है। अपनी टूटी हुई आस्था को लिए हुए या उसके टूटने की आशंका से व्याकुल वह किन्हीं अदृश्य चरणों में अपने आप को सौंप कर संतोष ग्रहण कर लेता है। वर्तमान के प्रति अनास्था ने ही उसे शंकाशील भी बना दिया है। व्यक्ति की सत्ता पर अखण्ड विश्वास करने वाले अज्ञेय भी अपने चित्त में शंकाएँ पालते रहते हैं—

सता टूटी
कुरमुराता मूल में है
सूक्ष्म भय का कीट।

—अज्ञेय

लगता है सारा अस्तित्व ही किसी झूठ पर
टिका हुआ
जाता है आप ही बिखर बिखर।

—जगदीश गुप्त

जिनके सहारे
सहरा से लड़ रहे हम
वे घड़े कच्चे हैं।

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

निराशा, कुण्ठा एवं घुटन का व्यापक प्रदर्शन—प्रयोगवादी काव्य की एक महत्वपूर्ण दिशा यह भी है कि इस काव्य में व्यक्ति की निराशा, कुण्ठा घुटन आदि असफलतामूलक मनोवृत्तियाँ व्यक्त की गई हैं जिनका स्रोत भी व्यक्तिवादी आत्म-लीनता तथा सामाजिक विषमताओं से एकाकी संघर्ष करने में असफल रहने की प्रतिक्रिया ही है। कला और शिल्प में सक्षम प्रयोगवादी कवि ने कुण्ठा घुटन को सजीव रूप में प्रस्तुत किया है। जब कभी स्थिति को पहचान कर ये कवि प्रशस्त पथ पर बढ़ना चाहते हैं तभी एक द्वन्द्व उन्हें घेर लेता है। वे निराशा और कुण्ठा के घेरे में फँस जाते हैं। आशा उल्लास कभी कभी दिखाई देते हैं किन्तु अपनी क्षणिक उपस्थिति में वे पुनः निराशा की ओर लौट पड़ते हैं—

मेरी थकी हुई आँखों को
किसी ओर तो ज्योति दिखा दो।

—अज्ञेय

छू सकी नहीं कोई ज्योति हृदय की धड़कन को
एक भी किरन दे सके नहीं दीप सौ सौ।

—जगदीश गुप्त

पराजय और पलायन—निराशा, कुण्ठा और घुटन के समान ही प्रयोगवादी काव्य में पराजय और पलायन की भावनाएँ भी बहुत उभर कर अभिव्यक्त हुई हैं।

इन दोनों प्रवृत्तियों के मूल में भी वही अहंवाद और व्यक्तिवाद है। अहंवाद ने तथा व्यक्तिवाद ने कवि की क्षमताओं को वास्तविकता से अधिक रंग दिया था जिससे कवि में अपना स्थान बनाने का तथा अपने अस्तित्व को समाज में अलग से प्रमाणित करने का प्रवचनापूर्ण विश्वास उत्पन्न हो गया था। यह विश्वास यथार्थ परिस्थितियों और समाज की परिधियों के सामने बालू के महलों की तरह ढह गए। तब अपनी असफलता और उत्पन्न पराजय को भी प्रयोगवादी कवि ने ईमानदारी से स्वीकार कर लिया। इस असफलता से उसके मस्तिष्क में अवसाद और क्षोभ का विकास हुआ जिससे उसकी क्रियाशीलता नष्ट हो गई और वह वस्तु जगत् के प्रति उदासीन होता गया, पलायनवादी हो गया। समाज की वास्तविकता से कटा हुआ कवि और जौहर भी क्या दिखाता? वह केवल शिल्प का प्रदर्शन करने में लग गया। कला, कला के लिए आन्दोलन भी ऐसी ही मनःस्थिति की नींव पर स्थापित है। प्रयोगवादी कवि की अभिव्यक्ति इस पराजय के बाद इतनी स्पष्ट और सजीव है कि उसकी विवशता, निरुपायता और पीड़ा सहानुभूति के ही योग्य है। बेचारा कवि दया का पात्र है। कवि का अहं जितना बड़ा है, उतनी ही बड़ी उसकी पराजय, आत्म-छलना और पलायन वृत्ति भी है—

> इस थके मस्तिष्क में मेरी पराजय
> छिपकली सी पग दबाए चल रही है।
>
> —सर्वेश्वरदयाल

क्षणवादी भावनाएँ—प्रयोगवादी कवियों में क्षण बोध बहुत तीखा है जो उनके संस्कारों में गहरा पैठा है। क्षणवादी विचारधारा डी० एच० लॉरेन्स, पाल मात्र एव फ्रांस के प्रतीकवादियों की देन है। प्रयोगवादी कवि इस पाश्चात्य दर्शन से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित रहे हैं। इस दर्शन के अनुसार जिन्दगी का एक क्षण जो व्यक्ति को सुख व तृप्ति प्रदान करता है, शेष सारे जीवन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। वह अपने में इतना पूर्ण और समग्र है कि उसे भोग लेने के पश्चात् भविष्य में भी अधिक आशा रखना मूर्खता है। वस्तुतः इस क्षणवादी विचार ने ही प्रयोगवादी कवि को भोगवाद की ओर प्रेरित किया। इच्छित क्षण की प्राप्ति न होने के कारण ही वह अशान्त और व्यथित होकर नियतिवाद की ओर उन्मुख होता है। यह नियति की ओर गमन क्षणवाद के ही कारण है जो प्रयोगवाद की एक प्रवृत्ति गिनाई जाती है। क्षणवाद और नियतिवाद की सहज स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रयोगवाद में है—

> एक अंग
> एक क्षण में प्रवहमान व्याप्त सम्पूर्णता
> इससे कदापि बड़ा नहीं था
> महाम्बुधि जो पिया था अगस्त्य ने।
>
> —अज्ञेय

लघुता एवं निरीहता—प्रयोगवादी कवियो ने अनेक स्थानो पर अनेक प्रकार से अपनी लघुता और निरीहता का चित्रण किया है। कहीं पर यह भावना अपराधो और पापो को स्वीकृति बनकर व्यक्त की गई है। यह दीनता हीनता, पाप स्वीकृति मध्यकाल के भक्तो और सन्तो ने भी प्रकट की थी जिससे उन्होंने लोकोपकारी भावो का प्रकाश फलाया था। वे युग के समस्त पाप-कलुष अपने सिर पर लेकर सारे ससार की मुक्ति की कामना करते थे किन्तु प्रयोगवादी कवियों के मूल म ऐसा कोई उदात्त और व्यापक भाव नही है। उनका पराजित और पद दलित अह ही इस रूप में हाहाकार करता दिखाई देता है। यह एक तकनीक मात्र है जिससे कवि का मन्तव्य प्रभावशाली हो उठता है। लघुता, निरीहता पापो की स्वीकृति का प्रदशन प्रयोगवादी काव्य म विविधता के साथ हुआ है। वस्तु पक्ष की विकृति के बावजूद शिल्प की सुघडता के कारण यह कवि इस प्रवृत्ति से आकर्षित करता है—

मैं ही हू वह पदाक्रान्त
रिरियाता कुत्ता।

—अज्ञेय

हम सब के दामन पर है दाग,
हम सब की आत्मा मे झूठ,
हम सब के माथे पर शम,
हम सब के हाथो टूटी तलवार की मूठ।

—धमवीर भारती

पीडा और दद की अभिव्यक्ति—प्रयोगवादी काव्य मे पीडा और दद की अनुभूति को कवियो ने वेग के साथ व्यक्त किया है। यह एक जीवन दशन के रूप मे ही प्रस्तुत की गई है। अज्ञेय ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' मे पीडा और दद को आत्म परिष्कार के माध्यम रूप में प्रस्तुत किया है। 'हरी घास पर क्षण भर,' मे भी यह पीडा और दद विद्यमान है। 'त्रिशकु' के निबन्धो में पीडा और दर्द की व्यापकता का महत्त्व प्रतिपादित है। इसम सियारामशरण गुप्त की पीडा विषयक ये पक्तियाँ भी उद्धृत हैं—

तुझे होगा जो पीडा बोध
वही तेरे पथ क्षण का शोध।

किन्तु प्रयोगवादी कवियो के काव्य मे पीडा और दद का स्वरूप व्यापक नहीं हो पाया। यह पीडा केवल प्यार की पीडा या प्यार का दद बनकर रह गई। भारती की कविता ठण्डा लोहा मे दद की विविधता है। दिल के दद को जिन्दगी की विराटता के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है—

कामनाएँ वे नही जो हो सकीं पूरी
घुटन, अकुलाहट, विवशता, दद, मजबूरी
जन्म जन्मो की अधूरी साधना

पूर्ण होती है
किसी मधु-देवता की बाँह में।

—धर्मवीर भारती

नग्न यथार्थ—प्रयोगवादियों पर फ्रायड तथा पश्चिम के प्रकृतवादियो द्वारा अस्तित्ववादियो का प्रभाव किसी न किसी रूप में रहा है अत वे अपनी कविताओं में जिस यथार्थ के चित्रण करते हैं, वह नग्न यथार्थ की सीमा तक पहुँच गया है। फ्रायड के काम विचार के अनुकरण पर यौन-भावना का प्रबलतम और उद्दाम प्रकाशन प्रयोगवादी काव्य मे पर्याप्त मात्रा में मिल जाएगा। प्रकृतिवादी और अस्तित्ववादी मनुष्य को बर्बर मानते हैं जो अपनी पाशविक प्रवृत्तियों के कारण कुण्ठित काम-वृत्तियों की तृप्ति के लिए अधम कार्य भी करता रहता है। फ्रायड के प्रभाव से पश्चिम और भारत के अनेक कलाकारों, साहित्यकारों ने मनुष्य को काम-ग्रन्थि द्वारा परिचालित प्राणी माना है और प्रत्येक कला को दमित काम वासना से निष्पन्न स्वीकार किया है। इलियट के काव्य मे फ्रायड का काम-मनोविज्ञान स्पष्ट झलकता है। प्रयोगवादी कवि फ्रायड, इलियट, डी एच लॉरेंस से प्रभावित थे अत फ्रायड का काम सिद्धान्त नग्न यथार्थ बनकर इस कविता मे उपस्थित हुआ है। अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' मे इस विषय पर गहराई से विचार व्यक्त किए हैं। प्रयोगवादी कवियों की यौन-भावना अश्लीलता की सीमा का अतिक्रमण कर देती है। प्रकृतिवादी और अस्तित्ववादी विचारकों ने जिस उच्छृंखलता का समर्थन किया था, उसका विरोध उन्हीं के देशवासियों ने किया और वह आन्दोलन अधिक समय तक नही टिक सका। पश्चिम के ही सुधी आलोचकों ने इन अतिवादी, यौनवादी, प्रकृतिवादी, फ्रायडवादी आदि कलाकारों की मूर्खता की आलोचना की है। फ्रायड ने विश्व भर को प्रभावित किया था। अत आज तक उसकी मान्यतायें विवादग्रस्त हैं। प्रयोगवादी काव्य मे यह नग्न यथार्थ के रूप मे आया है—

मुझे तो वासना का विष हमेशा बन गया अमृत
बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप से आबाद।

—धर्मवीर भारती

तन ने सम्पर्कों की सारी सीमाओं को पार किया,
पर न हुआ तृप्त हिया।

—जगदीश गुप्त

अति बौद्धिकता—प्रयोगवादी कविता के सूत्रधार अज्ञेय ने 'तारसप्तक' में यह स्वीकार किया है कि प्रयोगशील काव्य मे रागात्मक रसानुभूति को कोई स्थान नही है। यह इन कवियों के काव्य दर्शन में भी स्पष्ट कर दिया गया है। अपने विचारों के अनुसार इस कविता में बौद्धिक व्यायाम अधिक हैं। कविता को मस्तिष्क से पच पचकर बनाया गया लगता है। इसमे विचारात्मकता की अधिकता है, अत यह कविता गद्यवत दिखाई देती है। धर्मवीर भारती का कथन प्रयोगवादी कविता मे भावना है किन्तु हर भावना के सामने प्रश्न चिह्न

है। इसी प्रश्न चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढांचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न चिह्न उसी की ध्वनि मात्र है।"

तीव्र गति
अति दूर तारा
वह हमारा
शून्य के विस्तार नीले म चला है।
और नीचे लोग
उसको देखते हैं, नापते हैं गति
उदय और अस्त का इतिहास। —मुक्तिबोध

उपमानों की नवीनता—प्रयोगवादी काव्य मे पुराने परम्परागत उपमानो का त्याग कर उनके स्थान पर सम सामयिक जीवन से नए उपमान ग्रहण किए गए हैं। इस नए अनुसंधान से प्रयोगवादी काव्य की भाषा भी सजीव और कलात्मक हो गई है। इस नए के आग्रह म कई स्थानो पर ये कवि औचित्य का भी उल्लघन कर देते है। उजले वस्त्र को कफन की उपमा देना, बादल को हड्डी कहना या टूटते सपनो को भुना हुआ पापड कहना नयापन तो है किन्तु निदिष्ट अर्थ का प्रभावशाली सम्प्रेषण इनम नही है। इनम केवल वचित्र्य-बोध है। मौन वजनाओ को प्रकट करने के लिए दु साध्य प्रतीको का सहारा लिया गया है। ये प्रतीक उन्होने अवचेतन मे ग्रहण किए हैं अत इनका चेतन ससार म तादात्म्य नही हो पाता। यह कविता नए शिल्प का दम भरती है। नए उपमाना की सूची देखिए—

प्यार का बल्ब फ्यूज हो गया
× × ×
मेरे सपने टूट गए
जसे भुना हुआ पापड
× × ×
बिजली के स्टोव सी
जो एकदम सुर्ख हो जाती है।

विषय वैविध्य—प्रयोगवादी कवि अपनी कविता के लिए सामग्री किसी देश विशेष मे ग्रहण न करके समस्त विश्व मे ग्रहण करता है। वह स्थूलतम और सूक्ष्मतम पदार्थों को काव्य का विषय बनाकर उसे व्यापकता प्रदान करता है। ससार की प्रत्येक वस्तु उनके काव्य मे प्रतिष्ठित होने योग्य है। कविता म पहली बार कनरीट के पोच, चाय की प्याली सायरन रेडियम की घडी चूडी का टुकडा बाथरूम, आंशिशा गरम पकौडी, फटी ओढनी की चिंदियां मूत्र सिंचित्र मिट्टी आदि विविध वस्तुओ को काव्य का विषय बनाया गया है।

छन्द और भाषा—प्रयोगवादी कवि ने छ द और भाषा के क्षेत्र म भी अभिनव प्रयोग किए हैं। छन्द के ब धन को स्वीकार न करते हुए मुक्त छन्द गद्यवत प्रवाह इन कवियो का प्रयोग है। निराला ने जिस मुक्त छन्द का सुष्ठु प्रयोग किया था उसम से भी लय गति और गेयता को प्रयोगवादी कवियो ने बाहर निकाल

दिया और इस प्रकार यह काव्य सभी प्रकार के छन्द के अनुशासन से मुक्त हो गया। यही कारण है कि प्रयोगवादी कवियों के मुक्त छन्द अपने में एक हलचल-सी, एक बवण्डर सा रखते हुए प्रभावशून्य प्रतीत होते हैं। उनकी करुणा और उच्छ्‌वास भी पाठक के हृदय को द्रवित करने में असमर्थ रहते हैं।

भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने कुछ नए प्रयोग किए। अपनी बौद्धिक और जटिल अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने के लिए उन्होंने भाषा के परम्परागत स्वरूप को तोड़ा और नए प्रयोग किए। भाषा के प्रयोग में भी स्वच्छन्दता दिखाई देती है। भाषा में नवीनता की हठवादिता के कारण भूगोल, विज्ञान, दर्शन व मनोविज्ञान की दु:साध्य शब्दावली एवं बाजारू बोली का भी इन्होंने प्रयोग किया है।

दुरूहता—प्रयोगवादी कवियों का काव्य बहुत जटिल और दुरूह है। उसके विचारों और अनुभूतियों का सहजता से हृदयगम नहीं किया जा सकता। इस दुरूहता के मूल में उनकी अति बौद्धिकता ही है। यह बौद्धिकता तथा दुरूहता पश्चिमी विचारकों के प्रभाव से आई है। प्रथम तो, फ्रायड के मनोविज्ञान से उत्पन्न स्वच्छन्द काम-तृप्ति तथा स्वप्न प्रतीकों के कारण तथा द्वितीय, संकेतमयी भाषा तथा रागात्मक सम्बन्धों के कारण इस दुरूहता का बीजारोपण इस काव्य में है। तीसरे, शब्दों में नए अर्थ भरने, उन्हें ताजगी देने तथा भाषा को नए मुहावरों से मज्जित करने की विविध प्रक्रियाओं के फलस्वरूप यह दुरूहता पनपी है। स्वच्छन्द काम तृप्ति में अनेय कितना अस्पष्ट है—

> नए मुहल्ले की ऊँची ऊँची इमारतों के,
> बीच से लाँघता हुआ,
> विलायती मलाई की बर्फ खाई थी।

संकेतमयी भाषा ने प्रयोगवादी काव्य को पर्याप्त अस्पष्टता प्रदान कर दी थी। इस अस्पष्टता और संकेतमयी भाषा को हम अज्ञेय और शमशेर के काव्य में देख सकते हैं। इसी क्रम में यह भी अविस्मरणीय है कि शब्दों को ताजगी देना, नया अर्थ भरना आदि भी प्रयोगवादियों के भाषागत आग्रह रहे हैं। परिणामस्वरूप प्रयोगवादी काव्य पर्याप्त दुरूह हो गया है।

प्रयोगवाद और नई कविता

प्रयोगवाद और नई कविता को लेकर भी हिन्दी साहित्य जगत में पर्याप्त चर्चा रही है। कुछ विद्वानों ने प्रयोगवाद और नई कविता को अलग अलग माना है तो कुछ ने दोनों को एक ही समझा है। कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जिन्होंने प्रयोगवाद को रूपवाद या फार्मलिज्म का पर्यायवाची स्वीकार किया है। इस वर्ग के लोगों का कथन है कि यह साहित्य यूरोपीय साहित्य की जूठन है—प्रथम युद्धोत्तरकालीन पाश्चात्य साहित्य में जिस तरह का व्यक्तिवाद अनेक साहित्यिकवादों और प्रवादों की दुहाई देता हुआ व्यक्त हुआ और उसने काव्य की भाषा वस्तु विन्यास और व्यंजना में जैसे चिन्तित बौद्धिक प्रयोग किए, कुछ उससे मिलती जुलती या प्रभावित हिन्दी की तथाकथित प्रयोगवादिता कविता भी है। यह बात तो मानी जा सकती

है कि प्रयोगवाद अंग्रेजी साहित्य या पाश्चात्य साहित्य से प्रभाव ग्रहण करके विकसित हुआ, किन्तु उसको मात्र अनुकरण कहना या जूठन कहना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता है। डॉ० हरिचरण शर्मा के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—"प्रयोगवाद विदेशों से प्रभावित होकर भी इसी धरती से उगा पौधा है जिसकी जड़ों में भारत का पानी और यहाँ की मिट्टी है। हाँ, उसे बाहर का प्रकाश मिला हो तो केवल उसी आधार पर हम उसे ऐसा पौधा नहीं कह सकते जो विदेश से लाकर भारत में लगाया गया है।"

'नई कविता' शब्द अपने आप में महत्त्वपूर्ण काव्य संकेत है। वस्तुतः नई कविता आधुनिक युग की कोड से जन्मा हुआ शब्द है, उसे केवल बाह्य प्रभाव मात्र मानना श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता है। समाज का अपना तन्त्र निरन्तर बदलता हुआ चला जा रहा है और उसी के अनुरूप कवि सम्बन्ध स्थापना में व्यस्त है। सम्बन्ध जोड़ने की प्रक्रिया में यह ध्यान रखा गया कि यथार्थ एवं स्थूल समस्याओं के प्रति प्रस्तुतीकरण का संकोच न हो और न ही वह पाठक को अपनी चेतना के विपरीत लगे। नई कविता के लिए परिभाषा का प्रश्न जटिल है। यदि गहराई के साथ विचार किया जाये तो यह सत्य है कि परिभाषा अपनी सीमित और संकीर्ण परिधि में घिरी रहने के कारण पूर्णता को प्राप्त नहीं करती—हाँ परिभाषा देने में एक लाभ अवश्य हो सकता है कि उसमें उनके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकलन अवश्य हो जाता है।

कतिपय परिभाषाएँ—1 "नई कविता विश्व वक्तव्य से प्रेरणा ग्रहण करके तथा समाज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग पट का अपने मुक्त छन्दों के संकेत को तीव्र शैली में अभिव्यक्त कर युग मानव के लिए नव भाव भूमि प्रस्तुत कर रही है।

2 "नई कविता भविष्यमय जीवन के प्रति आत्म चेतना व्यक्ति प्रतिक्रिया है, नई कविता का स्वर ही विविध है।"

3 "आजकल किसी भी मकनन को उलटन से दिए जाएगा कि नई कविता नए विषयों पर लिखी जा रही है या पहले के विषयों को नए ढंग से कहना चाहती है।"

4 "नई कविता आज की मानव विशिष्टता से उद्भूत उस लघु मानव के लघु परिवेश की अभिव्यक्ति है जो एक ओर समाज की समस्त तिक्तता और विषमता का सो भोग रहा है—साथ ही उन तिक्तताओं के बीच अपने व्यक्तित्व को भी सुरक्षित रखना चाहता है।'

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

5 "नई कविता प्रथम बार समस्त मानव जीवन को व्यक्ति या समाज इस प्रकार के वर्ग विभाजन के आधार पर न मापकर मूल्यों की सापेक्ष स्थिति में व्यक्ति और समाज दोनों को मापने का प्रयास कर रही है।'

—धर्मवीर भारती

परिभाषाओं का सारांश—1 मानव के समग्र जीवन की तिक्तता और विषमता है नई कविता उसे समाहित कर रही है।

2 नई कविता नवीन वस्तु शिल्प और नवीन कथन भंगिमाओं को अपना रही है।

3 जीवन का वविध्यमय चित्र उतारने म नई कविता किसी भी प्रकार का सकोच नही कर रही है।

4 मुक्त छद के साँचे मे ढालकर नवीन युग पट को सामने ला रही है।

जिन तथ्यो को इन पक्तियो मे इगित किया गया है दरअसल मे वे ही नई कविता की विशेषताएँ हैं जसे क्षणवादी भावना, नवीन भावबोध, नवीन सौ दय-बोध, यथाथ के धरातल पर प्रतिष्ठित भावबोध, मानवतावादी भावना, अतिरजित और ग्रारोपित को त्यागने की प्रवृत्ति, ग्रनास्था प्रेरित निराशा।

विषय वस्तु और प्रवृत्तियाँ—नई कविता मे शिल्प की भाँति ही विषयों का ववध्य भी है। ग्राज से पूर्व जो विषय कभी भी कविता के विषय नही रहे, वे आज कविता की सीमा मे घुस ग्राए हैं। उपेक्षित विषयो को ग्राज ग्रादर के साथ कविता मे ग्रपनाया जा रहा है। दनिक जीवन की सारी प्रक्रियाएँ ग्राज कविता मे ग्राकर जमकर बैठ गई हैं। इस दृष्टि से इस कविता में ये प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—(1) महवाद या घोर वैयक्तिकता, (2) ग्रास्था ग्रनास्था, (3) ग्रतियथार्थवाद, (4) भागवाद और क्षणवाद, (5) सामाजिकता, (6) निराशावाद, (7) व्यग्यात्मकता।

हि दी की नयी कविता (19*0 से 1962 तक के प्रयोगवाद ग्रौर ग्रग्रेजी के न्यूवस स प्रभावित रचना प्रवृत्ति) म नवीनता ग्रौर ग्राधुनिकता पर ग्रावश्यकता से ग्रधिक बल दिया गया है। निस्सदेह साहित्य मे कथ्य ग्रौर ग्रभिव्यक्ति की नवीनता या ग्राधुनिकता का महत्त्व है। परन्तु वह साहित्य का सवस्व नहीं है। सवस्व क्या, उसे बहुत बडी वस्तु भी नही माना जा सकता। ग्राधुनिकता या समसामयिक बाह्य वास्तविकता की चेतना ग्रौर तदनुकूल शाब्दिक कलेवर कविकम के लिए ग्रलम नही है। ग्रनुभव की वास्तविकता भी, काव्य सर्जना की पहली शत होने पर भी रागात्मकता के ग्रभाव मे पगु है।

प्रयोगवादी कविताग्रो स नयी कविता ग्रपनी विशिष्ट प्रवृत्तिया के कारण ही भिन्न है, जो इस सूक्ष्म सत्य का भली प्रकार ग्रन्वेषण नही कर सके, उन्ह प्रयोगवाद ग्रौर नई कविता मे कोई ग्रन्तर नही लगता ग्रौर वे नयी कविता का विवेचन तार-सप्तक से ही प्रारम्भ कर देते हैं। नई कविता ग्रौर प्रयोगवाद एक नही है हाँ, प्रयोगवाद की कुछ प्रवृत्तियाँ नयी कविता मे भी उसी रूप मे देखी जा सकती है कि तु नई कविता की ग्रनेक प्रवृत्तियाँ प्रयोगवाद मे स्वीकाय ही नही थी। दोनो मे एक तत्व ग्रौर समानता है, वह है—नयी कविता के प्रारम्भिक कवि ग्रपने रचनाकाल के प्रारम्भ म प्रयोगवादी कवि थे। उनके प्रयोगो से ही नयी कविता का उत्स फूट पडा है। नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तिया का हम इन ग्राधारो द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—

जीवन के प्रति आस्था—नई कविता की सबसे प्रमुख और विशिष्ट प्रवृत्ति यही है जो कविता को प्रयोगवादी काव्य से अलग करती है। नयी कविता में जीवन के प्रति पूर्ण आस्था और उस अंतिम क्षण तक भोगने का संकल्प अभिव्यक्त हुआ है। प्रयोगवादी काव्य में जीवन के प्रति नकारात्मक अभिव्यक्ति, निराशा और असफलता के कारण जीवन से पराङ्मुखता का भाव ही प्रमुख था किंतु नयी कविता जीवन के ज्वार से आन्दोलित है जो सम्पूर्ण रूप में उसे भोगने की लालसा से सम्पन्न है। नयी कविता में जीवन को नगण्य, दीन, अकिंचन या एकांगी नहीं स्वीकार किया गया। जीवन चाहे व्यक्ति का हो या वर्ग का, चाहे समाज का हो या न हो, उसे जीवन के रूप में ही देखा गया है। भवानीप्रसाद मिश्र प्रयोगों से टूटते हुए जीवन का त्यौहार मनाते हुए कहते हैं—

इस दुखी संसार में जितना बने हम सुख लुटा दें।
बन सके तो निष्कपट मृदु हास के दो कन जुटा दें।

जो कवि कभी प्रेम से निराश था और अपनी असफलता में केवल आत्महत्या की बात सोचता था वह जीवन का महत्व पहचान गया और उसे अधिक सुंदरता से परिपूर्ण करने की सोचने लगा। आशा और उल्लास नये कवि के जीवन का उल्लास बन गए—

वही है पास में पनघट
किलकती कोकिला बेमान देखती अब
चाँद मुखड़े पर घटा सी छा गई लट
खड़ी है सिर लिए गागर, तुम्हारी इंतजारी में
दरद करती कमर, दिल काँपता है बेकरारी में।

—हरिनारायण व्यास

यद्यपि कविता में कवि का निजी दर्द और निजी भाव है किन्तु जीवन के प्रति आस्था स्पष्ट दृष्टव्य है।

क्षण का उपयोग—नई कविता में क्षण को सत्य मान लिया गया है। मनोविज्ञान ने अपनी स्थापना में यह सत्य उद्घाटित किया है कि हम क्षणों में जीते हैं। क्षणों की अनुभूतियाँ जीवन की सम्पूर्ण अनुभूतियों की निरंतरता में बाधा नहीं डालती, वरन् वे सम्पूर्ण जीवन को एक शृंखला में जोड़ती हैं। क्षणों को सत्य मान लेने का अर्थ होता है—जीवन की एक एक अनुभूति को एक एक व्यथा को एक एक सुख को सत्य मानकर जीवन को साधन रूप से स्वीकार करना। नई कविता में क्षणों की अनुभूतियों को लेकर बहुत सी मर्मस्पर्शी और विचार प्रेरक कविताएँ लिखी गई हैं। ये कविताएँ कुछ क्षणों का लघु प्रसंगों का, लघु दृश्यों का चित्रण नहीं करती, बल्कि कुछ संगत और असंगत बिम्बों के माध्यम से क्षणों की परिधि में उफनते जीवन की संश्लिष्टता को मूर्तिमान कर लेती हैं। ये कविताएँ आकार में छोटी और प्रभाव में तीव्र होती हैं। इस क्षणानुभूति पर कई आलोचक यह आरोप लगाते हैं कि नई कविता में चित्रित जीवन का क्षण बोध या सत्य विदेशी दर्शन

और पाश्चात्य काव्य से उधार लिया हुआ है। इस कविता के जीवन सत्य भारतीय मिट्टी में अंकुरित नहीं हुए, अपितु पश्चिम के मान मूल्यों से ग्रहण किए गए हैं। कुछ अंशों में यह आक्षेप सत्य हो सकता है। आज विश्व भर में सत्य और मूल्य-परम्परा संक्रमित हो रहे हैं। एक देश के जीवन सत्य न्यूनाधिक मात्रा में संसर्गित देशों के काव्य-संस्कृति और जीवन को अवश्य प्रभावित करते हैं।

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में यदि नई कविता भी पाश्चात्य क्षणवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित है तो बुराई नहीं किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसा प्रभाव भी नई कविता पर अपवादस्वरूप ही दिखाई देता है। नई कविता का अन्वेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नई कविता जीवन को अनुभूति के क्षणों में पकड़ती है। अनुभूति प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने ही परिवेश में पनपता है अतः उसकी अनुभूतियाँ भी किसी बाहरी स्रोत से न आकर उसके परिवेश की ही उपज होती हैं। इससे स्पष्ट है कि नई कविता जो क्षण-बोध और उसके उपभोग के सत्य की अनुभूति कराती है, वह मौलिक रूप में अपने ही जीवन-दर्शन और परिवेश के जीवन सत्य पर स्थापित है—

> अब आज आत्मा की सृजनातुर वैदेही—
> परित्यक्ता मन से क्षीण, विवश
> संशय और अनिश्चय की अटवी में
> पा गई शरण वाल्मीकि सरीखे
> काव्य-वृक्ष की छाया में
> यह जनमेगी वह पुत्र जो कि
> उसकी पीड़ा को सस्वर गायें
> जो सहज सत्य के भटके नृप को
> जननी तक वापस लाएँ।
>
> —महेन्द्र कुमार मिश्र

लघु मानववाद—नई कविता ने सामान्यतम, सबसे छोटे तथा निम्न वर्ग के मनुष्य के व्यक्तित्व का समादर रूप में प्रस्तुत किया। यह लघु मानववाद, जो नई कविता का सम्मोहक और सब प्रभावकारी स्वर है, यह भी जीवन को सम्पूर्ण रूप से देखने और भोगने का ही एक अंग है। इसे भी जीवन की पूर्णता के ही सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। लघु मानव का अर्थ है वह सामान्य मनुष्य जो अपनी सारी संवेदना, भूख प्यास और मानसिक आँच को लिए दिए अब तक उपेक्षित था। इस लघु मानव का अर्थ यदि मनुष्य की लघुता का खोज-खोजकर सत्य रूप में उसकी प्रतिष्ठा करने से है तो निश्चय ही यह अतिवादी, प्रतिक्रियावादी और असत्य जीवन दृष्टि है। नई कविता ने लघु मानव की लघुता या हीनता को स्वीकार करके उसमें और अधिक हीनता भरने का घृणित कार्य नहीं किया अपितु उस सामान्य लघु और उपेक्षित मनुष्य को संवेदना सहानुभूति और समादर की दृष्टि से अंकित करके शेष समाज में उसको महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने में योग दिया

है। जो लोग उस लघु की ओर देखते तक नहीं थे, नई कविता ने उस लघु को काव्य में सर्वोत्तम कथ्य बनाया जिससे सबका ध्यान लघु मानव पर केंद्रित हुआ। यही नई कविता की लघु मानववादी दृष्टि है। इस काव्य में मनुष्य किसी वाग-चेतना, सिद्धान्त या आदर्श की बैसाखी पर चलता हुआ इसके पास नहीं आया, वह तो अपने सम्पूर्ण सुख-दुःख, राग विराग के परिवेश से सयुक्त शुद्ध मनुष्य के रूप में ही आया है। इसलिए नई कविता ने सामान्य मनुष्य को व्यापकता और विशिष्टता प्रदान की। उसका महत्त्व प्रतिष्ठित किया है। सर्वेश्वर ने लिखा है—

तो यह नगण्य अस्तित्व एक
किसी के कन्धे पर भार नहीं होगा—
थरमस से हम सब
हर भावी यात्री के
प्यासे अधरों का
अभिलाष भाल चूमेंगे।

—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

कथ्य की व्यापकता—नई कविता की यह भी महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इसका कथ्य सृष्टिव्यापी है। नई कविता ने अपनी पूर्ववर्ती प्रगति और प्रयोग की परम्परा से ही इस विशेषता को ग्रहण किया है। नई कविता के अधिकांश कवि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के कवि भी रह चुके हैं। उक्त दोनों वादों ने भी कथ्य का क्षेत्र बढ़ाया था, किन्तु फिर भी इन वादों की सीमा सीमित थी। उस सीमा को लाँघ कर ये बाहर आना चाहते ही थे। नई कविता ने इनको उन्मुक्त सृष्टि का विस्तार कथ्य के रूप में सौंप दिया। नई कविता के लिए कोई विषय वर्जित नहीं, कोई सीमा अनुल्लघनीय नहीं। जीवन और जगत् के सभी विषय नई कविता की परिधि में आ गए। उनका प्रस्तुतीकरण परम्परा से हट कर है। नई कविता शोषितों की संवेदना लिए है तो शोषकों की स्थिति और मानसिकता को भी प्रकट करती है। समुद्रों का विस्तार आकाश की गहनता के साथ विज्ञान के आविष्कार, उपयोगी वस्तुएँ—थरमस, टॉर्च, पेन, चाय का कप, बीड़ी पिन अणु गन्दा नाला आदि अनेक विषय अपनी विविधता में इन कविताओं में सहज बनकर आए हैं। कथ्य की व्यापकता के कारण कविता का क्षेत्र भी व्यापक हो गया है। अज्ञेय, दुष्यन्त कुमार, शमशेर, शम्भूनाथ सिंह और भवानी प्रसाद मिश्र ने कथ्य की परिधि को विस्तृत किया है। इसमें मृत्यु और जीवन, वर्तमान के प्रति लगाव, मानव महत्ता, दैनिक जीवन के लघुतम क्रिया-कलाप, देशी विदेशी पृष्ठभूमि आदि अनेक विषयों का चित्रण है—

मुक्ति से सँवार यह बन्धन।
तोड़ दे सीमा सकरी, बुझा बत्तियाँ लाल हरी
चुन तारे, कलियाँ कबड़ी भी पथ पर बिखरी
उपजीव्य तेरा जीवन।

—शम्भूनाथ सिंह

अनुभूति की सच्चाई—नई कविता में कवि अपने अनुभवों को सूक्ष्म बनाकर ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त करता है। यह अनुभूति चाहे क्षण की हो या एक समूचे काल की, किसी सामान्य व्यक्ति की हो या विशेष पुरुष की, आशा की हो, या निराशा की, अनुभूति की सच्चाई कविता और जीवन दोनों के लिए अमूल्य है। इस अनुभूति की सच्चाई की जब हम बात करते हैं तो यह प्रश्न स्वभावत: उठता है कि यह अनुभूति कवि की है या समाज की ? उत्तर स्पष्ट ही है कि कविता में कवि अपनी ही अनुभूतियों को प्रस्तुत करता है। समाज की अनुभूतियों को भी कवि आत्मसात् करके, उन्हें पचाकर, अपनी बनाकर ही कविता में व्यक्त करता है। कवि का आन्तरिक रचनाकार यन्त्रवत् नहीं है। वह अपनी-पराई अनुभूतियों को आत्मसात् करके फिर कविता में व्यक्त करता है। जो कवि ग्रहण करता है, वह कवि की अनुभूति के समान ही निजी हो जाता है। वही काव्य का सत्य बन जाता है इसलिए कवि के व्यक्तित्व का संस्कार करने के लिए युग का समाज में भी सत्यमयी चेतना का निवास होना चाहिए। युग-बोध के द्वारा ही कवि अपने ही चश्मे से सबको देख लेता है और समान रूप से मनुष्य मात्र के दर्द का, संवेदना का अनुभव कर उसे अभिव्यक्त कर देता है। यही कवि की अनुभूति की सच्चाई है।

नई कविता जीवन के प्रत्येक क्षण को सत्य मानती है और उस क्षण को पूरी हार्दिकता और चेतना के साथ भोगने का समर्थन करती है। क्षणों में दिखाई पड़ने वाला सौन्दर्य, क्षणों में अनुभूत जीवन की व्यथा, क्षणों की मन स्थिति और क्षण में उत्पन्न कोई सत्य, नई कविता की अनुभूति का उत्स होता है। नई कविता अनुभूतिपूर्ण गहरे क्षण, प्रसंग, व्यापार या किसी भी सत्य को उसकी आन्तरिक मार्मिकता के साथ पकड़कर व्यक्त करती है जिससे उस व्यापार या प्रसंग को नया अर्थ मिल जाता है। जैसे—

> चेहरे थे असंख्य
> आँखें थीं
> दर्द सभी में था
> जीवन का दंश सभी ने जाना था
> पर दो
> केवल दो
> मेरे मन में कौंध गईं
> मैं नहीं जानता किसकी वे आँखें थीं
> नहीं समझता फिर उनको देखूंगा।

बौद्धिक यथार्थ दृष्टि—नई कविता भावना की अपेक्षा बुद्धि को अधिक महत्व देती है। यह बुद्धिवाद नवीन यथार्थवादी दृष्टि के रूप में भी है और नवीन जीवन-चेतना की पहचान के रूप में भी। दृष्टि हमारे अनुभवों का मूल्यांकन करती है, उनसे तटस्थ बनाए रखने का प्रयास भी करती है और जीवन-चेतना की पहचान

हमारी भावना को समझ से परिपूर्ण करती है। संवेदनाएँ ज्ञानात्मक हो जाती हैं। यथार्थ भी जीवन के कटु सत्यों से सम्बद्ध होता है। इस सत्य में समय और स्थान के बंधन टूट जाते हैं। नई कविता अपने आस-पास के यथार्थ में से ही फूटी है। विभिन्न कविताओं का देश-काल विभिन्न जीवनानुभवों से सम्बद्ध है। नयी कविता में शहरी यथार्थ और ग्रामीण यथार्थ—दोनों ही परिवेश को अंकित करने वाले कवि हैं। इस व्यापक परिवेश ने इस कविता के अनुभव क्षेत्र को भी विस्तृत किया है। एक ओर बालकृष्ण राव, शमशेर बहादुर गिरिजाकुमार माथुर, कुँवरनारायण, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे विजय देवनारायण साही, रघुवीर सहाय आदि कवि हैं जो शहरी यथार्थ को बौद्धिक ढंग से व्यक्त करते हैं, दूसरी ओर भवानीप्रसाद मिश्र, केदारनाथ सिंह, शम्भुनाथ सिंह, नागार्जुन आदि कवि हैं जो ग्रामीण संस्कारों और ग्रामीण यथार्थ से ही बने हैं। दोनों ही ढंग के कवि एक-दूसरे के क्षेत्र में संक्रमण भी करते हैं। अज्ञेय एक ओर मध्यमवर्ग के कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति को, औद्योगिक नगरों की विसंगतियों को तीव्रता से व्यक्त करता है तो दूसरी ओर उन्मुक्त प्रकृति, ग्रामीण जीवन के यथार्थ चित्र, विषमता, व्यथा को भी व्यंजित करता है। जिन्दगी का यह बौद्धिक यथार्थ चित्रण देखिए जो लक्ष्मीकान्त वर्मा की लेखनी से लिखा गया है—

> भर दो
> इस रखवा की मृतात्मा की, सूखी ठाठर में
> वह घास-पात कूड़ा-कबाड़ सब कुछ भर दो
> लगा दो इन नकली कोठियों की आँखें
> कानों में सीपियाँ
> घरों में खपचियाँ।

पीड़ा और निराशा—नई कविता में अनास्था, निराशा, व्यक्तिवादी कुण्ठा और मरण धर्मिता तथा हीनता का बोध बहुत तीव्र रूप में होता है। डॉ० नगेन्द्र का कहना है कि ये विशेषताएँ पश्चिम के प्रभाव की नकल से पैदा हुई हैं। नई कविता विदेशी परिवेश से प्रेरणा ग्रहण करती है इसलिए इसमें निराशा कुण्ठा मरण धर्मिता भी हैं। इन विषमताओं का कारण केवल पश्चिम की नकल ही नहीं हमारी सामाजिक पृष्ठभूमि भी है। आज की हमारी सामाजिक स्थिति व्यक्ति में निराशा, पराजय, कुण्ठा के भाव जगाती है। आज मनुष्य जीवन की पीड़ा और निराशा को भी जीवन का अभिन्न अंग मानकर ही भोगता है अतः वह मानव के सामाजिक विकास में सहयोगी वृत्तियों—प्रेम करुणा और उल्लास को अस्वीकृत करता है। पीड़ा के कारण वह गतिहीन होकर निष्प्राण हो जाता है। यह पीड़ा निराशा जीवन के अभावों का भी उद्घाटन करती है। उपलब्ध वस्तु भी जब प्राप्त नहीं हो पाती है तब कवि निराशा में बहकर उस वस्तु के भीतर की रिक्तता पर व्यंग्य करता है। नई कविता में दर्द, निराशा कुण्ठा, पराजय स्थायी नहीं हैं और न ये जीवन में ठहराव या ध्वंस उत्पन्न करती हैं। प्रयोगवादी कवि निराशा कुण्ठा पराजय को ही सत्य मान बैठा था नई कविता का रचनाकार दर्द निराशा और कुण्ठा में से प्रकाश प्राप्त करता है—

दुख सब को माँजता है,
और,
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना न जाने, किन्तु—
जिसको माँजता है,
उन्हें यह सीख देता है कि,
सब को मुक्त रखें।

—अज्ञेय

आ मेजा की कोरो पर माथा रख कर रोने वाले—
हर एक दर्द को नए अर्थ तक जाने दो।

—धर्मवीर भारती

सामाजिक दृष्टि—नई कविता अपनी पूर्ववर्ती काव्य धारा प्रयोगवाद से इस कारण भी स्पष्टतः अलगाव रखती है कि जहाँ प्रयोगवादी कविता केवल व्यक्ति के अहं आशा निराशा कुण्ठा, घुटन, चेतना, विश्वास को ही व्यक्त करती थी, वहाँ नई कविता समाज के प्रति भी अपना दायित्व पूरा करने में पीछे नहीं है। लोक के जीवन-विश्वास उसके सुख दुख, हर्ष विषाद, आशा आकांक्षा और युग सम्मत उसमें विकास परिवर्तन करने में सहयोगी बनना नई कविता की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यह कविता लोक जीवन के निकट पहुँचने का उपक्रम कर रही है। नाथ-सम्बद्धता और सामान्य आदमी के प्रति प्रतिबद्धता की प्रवृत्ति प्रगतिवाद के प्रभाव से इसमें विद्यमान है। नई कविता लोक-जीवन की अनुभूतियाँ, सौन्दर्य बोध, प्रकृति और उसकी समस्याओं को उदार मानवीय भूमि पर ग्रहण करती है। यह लोक जीवन में गहराई से प्रवेश करके उसके आन्तरिक जटिल बिम्बों को उभारती है। नई कविता काव्य के बाहरी आवरण—बिम्ब प्रतीक विशेषण उपमान आदि की धारणाओं से ऊपर उठ कर समाज के श्वास प्रश्वास को ईमानदारी तथा गहरी सहानुभूति से अंकित करती है। बाहरी साम्य के स्थान पर नई कविता में बिम्ब के माध्यम से आन्तरिक सत्य से साक्षात्कार कराया जाता है। यह कविता बिम्ब बहुल है। कवि जीवन के बीच में इन बिम्बों को आत्मसात् करते और सम्प्रेषित करते हैं।

इन कवियों के बिम्ब, भाषा, शब्दावली प्रतीक, उपमान आदि शिल्प शैली के उपकरण भी ग्रामीण जीवन में लिए जाते हैं। उनमें अभिजात शैली के प्रति न आकर्षण है न आग्रह और न निर्वाह। देखिए—

माटी को हक दो—वह भीजे, सरसे फूटे, अँखुआए
इन मेडों से लेकर उन मेडों तक छाए,
और कभी हारे
तब भी उसके माथे पर हिले,
और हिले,
और उठती ही जाए—

यह दूब की पताका,
नए मानव के लिए।

—केदार सिंह

विशिष्ट शिल्प विधान—नई कविता का शिल्प विधान भी नया और पूर्व कविता से भिन्न है। भाषा, बिम्ब, प्रतीक, उपमान, शब्द आदि में सहजता, स्वाभाविकता, लोकोन्मुखता रहती है। बिम्ब-सौन्दर्य कविता की अन्तरंग ध्वनि है जो उसके कथ्य और कवि के प्रेषित भाव को सम्यक् रूप से प्रस्तुत करते हैं। इन बिम्बों में लोक जीवन की सौंधी गन्ध भरी हुई है। यह कविता अपने बिम्ब नए सन्दर्भों की अनुभूतियों, सौन्दर्य-बोध और बौद्धिक प्रेरणाओं से ग्रहण करती है। शहरी कवि के बिम्ब नागरिक जीवन से सम्बद्ध और ग्रामीण-संस्कारों से युक्त कवि के बिम्ब ठेठ ग्रामीण जीवन के होते हैं। कुछ बिम्ब और प्रतीक इतिहास तथा पुराणों से भी लिए गए हैं। जैसे अन्धा युग, कनुप्रिया, आत्मजयी आदि प्रबन्ध कृतियाँ पौराणिक बिम्ब प्रस्तुत करती हैं। किन्तु स्फुट कविताएँ जीवन की गहरी अनुभूति करने वाले बिम्बों से सज्जित हैं। नई बिम्ब योजना झकझोरती है, जगाती है—

सामने मेरे,
सर्दी में बोरे को ओढ़कर,
कोई एक अपने
हाथ पैर समेटे,
काँप रहा, हिल रहा—वह मर जाएगा।

—मुक्तिबोध

नई कविता के शब्द भी लोक जीवन से ग्रहण किए गए हैं। छायावाद की शब्दावली संस्कृत की तत्सम शब्दावली थी और उसके आभिजात्य माधुर्य, सुकुमारता की रक्षा के लिए कवि स्वयं सचेष्ट रहता था। प्रगतिवाद में लोक शब्दों का प्रयोग बहुतायत से हुआ किन्तु बाद में प्रयोगवाद ने फिर लोक जीवन से अलग-थलग रोमानी या बोझिल शब्दावली का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। नई कविता ने पुनः प्रगतिवाद द्वारा अपनाए गए मार्ग का अवलम्बन किया। प्रगतिवाद ने अपनी विचारधारा के क्षेत्र में ही लोक शब्दों को ग्रहण किया था किन्तु नई कविता ने सभी सन्दर्भों और प्रसंगों में लोक शब्दों का प्रयोग किया। अज्ञेय की कविता के दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं, एक में वह प्रयोगवादी बोझिल, कृत्रिम शब्दावली का प्रयोग करता है और दूसरी में सहज लोक विश्वासों और मिट्टी से सम्बद्धता की शब्दावली काम में लेता है—

नयी कविता की शब्दावली—

दिया सो दिया
उसका गर्व क्या, उसे याद भी फिर किया नहीं।
पर अब क्या करूँ

कि पास और कुछ बचा नही
सिवा इस दर्द के
जो मुझ से बडा है, इतना बडा कि पचा नही,
बल्कि मुझ से ऊँचा नही ।

नयी कविता में ऊँचा, पचा, टोपे, भभके, खिंचा, सीटी, ठिठुरन, चिड़चिड़ी, ठसकना, ठूठ, सिराया, डाकती, पुलगियाना, अकुराना आदि अनेक नए ढग से शब्दो का प्रयोग इस कविता को लोक जीवन के समीप ले जाता है ।

नयी कविता का प्रत्येक कवि अपनी निजी विशिष्टता रखता है । डॉ नगेन्द्र का कथन है कि "किसी का सवेदन बहुत ही गत्यात्मक, व्यापक और गहरा है, तो किसी का अपेक्षाकृत सकीर्ण और उथला । किसी का सौन्दर्य-बोध अधिक सामाजिक है तो किसी का अपेक्षाकृत वैयक्तिक । किसी में जीवन का व्यथा पक्ष प्रधान है, किसी मे आनन्द पक्ष । किसी के शिल्प मे अधिक सघनता है, तो किसी मे अपेक्षाकृत कथन प्रणाली की स्फीति । कोई खण्डित बिम्बो और मुक्त साहचर्य का प्रयोग कर कविता को जटिल बनाता है, कोई बिम्बो की सघनता के बावजूद उसमे तारतम्य बनाए रखने के कारण अधिक सवेद्य प्रतीत होता है ।"

साठोत्तर काव्य

साहित्य समय के साथ कदम मिलाकर चला करता है । वीरगाथा काल के काव्य से लेकर आज तक के समय के परिवर्तनो के अनुसार कविता ने कई मोड लिए है । साठोत्तर कविता भी ऐसा ही एक मोड है । कवि समाज मे रहता है, वह सामान्य व्यक्ति की तुलना मे अधिक सवेदनशील और अधिक अभिव्यक्तिक्षम होता है । समाज की हलचलें कवि की हृदयतन्त्री सवेदना के तारो को झनझना देती हैं और झनझनाहट को वह कविता के बाने मे व्यक्त कर देता है । सन् 1960 तक नयी कविता का बोलबाला रहा । 1960 के बाद भारत मे सामाजिक, राजनैतिक क्षेत्र मे बडी उथल-पुथल हुई, जिनके स्वर साठोत्तर कविता मे सुनाई पडे ।

साठोत्तर कविता से तात्पर्य

1960 के बाद नयी कविता, अकविता के भिन्न रूप म जो कविता अस्तित्व *मे आई उसे साठोत्तर कविता कहा गया । 1964 मे मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद* इस प्रकार की रचनाओ की प्रवृत्तियाँ अधिक स्पष्ट हुई । इस कविता मे पाकिस्तान के कच्छ पर आक्रमण, कच्छ न्यायाधिकरण के पक्षपातपूर्ण निर्णय, ताशकद घोषणा के तथ्यो का असर मुखरित है । इन परिवर्तनो ने बुद्धिजीवियो को भी सोचने के लिए मजबूर कर दिया । विज्ञान की भयावह स्थिति मानवीय सत्ता का विघटन, महँगाई, बेकारी, पूजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणाम, आधुनिकता के अभिशाप आदि ने भी कविता को करवट बदलने का आधार प्रदान किया । नयी कविता का मुख्य विषय व्यक्ति था । साठोत्तर कविता का विषय समकालीन ससार हो गया । नये युवा कवियो ने इन बदली हुई परिस्थितियो को लेकर आक्रोश, क्षोभ, झुझलाहट विद्रोह का भाव व्यक्त किया । नीलम श्रीवास्तव, विनोद शुक्ल,

सौमित्र, चन्द्रकान्त देवताले, विष्णु, कमलेश, ज्ञानेन्द्रपति, श्रीकान्त वर्मा, वेणु, गोपाल, माहेश्वर, सव्यसाची जसे कवियो न नयी कविता से भिन्न प्रकार के आक्रोश का रंग अपनाया। ये कवि जुझारू प्रवृत्ति के थे। इन्होने परिस्थितियो सम्बन्धी भीतरी प्रतिक्रिया, आन्तरिक सकट को कविता के माध्यम से व्यक्त किया। इनकी वाणी न सपाटबयानी, मोहभग, विद्रोह के क्षेत्र मे भी नया रग दिखाया। इन कविताओ म सवेदनाएँ भी हैं, विचार भी। यहाँ निमम वास्तविकता एव तीखा व्यग्य भी देखन को मिलता है।

साठोत्तर काव्य की प्रवृत्तिया

यथार्थ स्थितिजन्य दबाव की अभिव्यक्ति उपयुक्त परिस्थितिया का नए कवि अपने ऊपर ऐसा भारी दबाव महसूस कर रहे थे कि जिसे व्यक्त करना उनकी मजबूरी बन गयी। उस जहर को वे उगल देन के लिए आतुर हो उठे—

"यह यह कविता नहो है,
यह केवल खून सनी चमडी उतार लेन की तरह है,
यह केवल रस नही,
जहर है जहर।"

मोहभग—साठोत्तर कविता मे जो मोहभग की स्थिति है वह उसे पूववर्ती कविता से अलग पहचान प्रदान करती है। राजनीतिक अव्यवस्था, मूल्यवृद्धि, नेताओ के झूठे थोथे आश्वासन, बेरोजगारी, महँगाई, ताशकन्द घोषणा और चीन तथा पाकिस्तान के आक्रमण, भ्रष्टाचार, सरकार की निष्क्रियता आदि ऐसी बाते थी, जिन्होने युवा कवियो का मोहभग कर दिया। उनका धय जवाब दे गया और उन्होने लिखा—

मैंने इन्तजार किया
अब कोई बच्चा भूखा रहकर
स्कूल नही जाएगा
अब कोई छत
बरसात मे नही टपकेगी।

लीलाधर जगूडी की इन पक्तियो मे भी मोहभग की स्थिति को अभिव्यक्ति मिली है—

सूचना विभाग के हर पोस्टर पर
खुशहाली है। चारो ओर
बगाली के पास आटा नहीं
गाली है
और जिस पर कोई नहो
खाना चाहता
आजादी एक झूठी थाली है।

कवियो को आजादी के बाद वर्षों तक दिए जाते रहे आश्वासन झूठे प्रतीत हुए।

आक्रोश का स्वर—वे अब और धाम्वा खाने की स्थिति मे नही रहना चाहते थे। या तो युवा वर्ग कभी भी अत्याचार, अन्याय, शोषण, धोखा बर्दाश्त नही करता, पर नए युवा कवियो ने उस सारी स्थिति को आक्रोश के स्वर मे अस्वीकार कर दिया। अपने आस पास की स्थिति ने उनमे नफरत भर दी। वे खामोश न रह सके, आक्रोश के स्वर मे कह उठे—

> मैं देखता रहा, हर तरफ ऊब थी
> सशय था, नफरत थी
> मगर हर आदमी अपनी जरूरतों के आगे
> असहाय था।

श्रीकान्त जैसे कवि विचित्र अनुभूति के शिकार हुए। न वे आत्महत्या कर पलायनवादी बनना चाहते थे और न प्रगतिवादियो की तरह खून कर सकने के लिए खूनी हो सकते थे—

> कोई भी जगह नहीं रही
> रहने लायक
> न मैं आत्महत्या कर सकता हूँ
> न औरो का खून।

अस्वीकारोक्ति—साठोत्तर कविता अपनी मौजूद परिस्थितियो से सहमति नहीं दिला सकी। प्रगतिवादी कवि की तरह "कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए" जैसा साठोत्तर कवि नही कहता। वह क्या करे, का रास्ता भी निश्चित नही करता, महज अस्वीकृति का भाव व्यक्त करता हुआ कह उठता है कि हमे आसमानी आँकडे स्वीकार नही, हमे अपना स्वाथ ऐंठन वाला, बेशर्माई से खिलखिलाकर हँसते मन्त्री का चेहरा देखना स्वीकार नही—

> मन्त्री—
> खिलखिलाता
> कर बढाता
> भत्ते बनाता
> पूँछ हिलाता
> फिर आ रहा
> मतदान पेटी के पास

वह ऐसे लोगो से पूछ बठता है—

> क्या दिया तुमने।
> महज जयहिन्द
> फकत फाकाकशी आँकडे
> बस आसमानी आँकडे और
> गुत्थम गुत्थाई रोशन की कसी कतारें
> बेरोजगारी।

व्यग्य वह बेबसी महसूस करता है। व्यग्य पर मन को राहत देने का प्रयत्न करता है। वह बठकर, पानी पीकर कोसता है, व्यग्य करता है—ससद के उन लोगों पर जो हजार बुराइयों को भीतर छिपाए, दुधमुँहे के समान भोले-भाले चेहरे बनाकर जिम्मेदारी निभाने का नाटक करने से, मोटी तोंद को सम्भाले, देशहित की बातें करने के लिए आ बठते हैं। वे सामान्य सांसद निरे ढोंगी लगते हैं—

ससद एक मंदिर है
जहाँ किसी को द्रोही नहीं कहा जा सकता
दूध पिए मुँह पोंछे आ बठे।
जीवनदानी, गोददानी सदस्य तोंद सम्मुख धर
बोले देश प्रेम लाना, हरियाना-प्रेम लाना
आइसक्रीम लाना।

ससद म यही सब तो होता है। अलग-अलग क्षेत्र का सांसद अलग-अलग अपने प्रान्त की भलाई करने की चाल चलता है। देशहित उनकी दृष्टि में गौण हो जाता है। वे सबसे पहले अपना हित देखते हैं। अधिक लाभ प्राप्त कर मोटे, तोंदिल हो जाते हैं। ससद में बैठने का अधिकार पाकर उन्हें कोई दोषी, देशद्रोही, स्वार्थी, भ्रष्ट भी करार नहीं दे सकता। वे देशप्रेम की बातें भाषणों में कहते हैं, पर पक्षपात का रवया अपने व्यवहार से अलग नहीं कर पाते।

नई सवेदनाएँ—साठोत्तर कवि की सवेदनाएँ नए प्रकार की हैं। वे परिस्थितियों की सहज देन हैं। भूखे दुखी आदमी को सौंदर्य भी आकृष्ट नहीं करता, "भूखे भजन न होई गोपाला"। साठोत्तर कविता के कवियों के भीतर तनाव तो है ही, उन्हें बाहर सब ओर विसगतियाँ नजर आती हैं। ऐसी स्थिति में उनके भीतर आह्लाद का भाव कसे आए? उन्हे परम्परागत जीवन-मूल्य अस्वीकाय लगते हैं। उन्हें किसी में सौंदय नजर नहीं आता। सौंदर्य कहीं भी तो उन्हें मन के भीतर घुटन आदि के कारण आकृष्ट नहीं करता। उसे आज अकालिक मौत का-सा सामना करते व्यक्ति दिखाई देते हैं। वह अकालिक मौत सत्य प्रतीत होती है। रघुवीर सहाय ऐसी ही अनुभूत नई सवदना को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

कितना अच्छा था छायावादी?
एक दुख लेकर एक गान देता था।
कितना समझदार था प्रकृतिवादी?
हर दुख का कारण वह पहचान लेता था।
कितना महान् था गीतकार?
जो दुख के मारे अपनी जान ले लेता था।
कितना अकेला हूँ मैं समाज से?
जहाँ सदा मरता ह एक और मतदाता।

यह सही है कि दुखी व्यक्ति दूसरो स तुलना भी कभी कभी कर लेता है। वह दूसरो की तुलना मे खुद को अधिक दुखी महसूस करता है।

अनिश्चय, असन्तोष एव निर्मम वास्तविकता—साठोत्तर कविता मे तनाव, सत्रास और अनिश्चितता की स्थिति का सामना करते मनुष्य की तस्वीर है। ऐसा आदमी देखता है, महसूस करता है पर मीनमेख निकालने का लम्बा धैर्य-साहस नही रख पाता। वह टूट-सा जाता है। वह मूल्य नहीं तलाशता है। डॉ हरिचरण शर्मा के मतानुसार श्रीकान्त वर्मा के 'माया दपरण' की कविताएँ अनिश्चय और असन्तोष की कविताएँ हैं। उनमे मूल्यो के तलाश का प्रयत्न नही है। उदाहरणाथ ये पक्तियाँ देखिए—

मैं बिल्ली की शक्ल म छिपा हुआ चूहा हूँ।
औरो को रौंदता हुआ
अपने से डरा हुआ बठा हूँ।

राजनीति का चित्रण—साठोत्तर कवि राजनीति को दूभर सच्चाई के रूप मे देखता है। वह उसे अनेक बुराइयो का कारण महसूस करता है। वह प्रगतिवादियो की तरह दलगत राजनीति से सम्बद्ध नही है। छायावादियो की तरह राजनीति को ज्यादा अनदेखी भी वह नही करता। आज सब लोकतन्त्र की दुहाई देते हैं पर करतब कुछ और ही प्रकार के करते हैं। साठोत्तर कविता का कवि राजनीतिक गतिविधियो का पर्दा फाश करता है। वह राजनीति के बारे मे कुछ कहना अपना कवि-कम मानता है। ससद मे सभी अच्छे निणय नहीं होते हैं, वहा भी राजनीति चलती है। यह भाव यहाँ इस प्रकार व्यक्त है—

अपने यहाँ ससद
तेल की एक घानी है।
जिसमे आधा तल है
आधा पानी है।

साठोत्तर कविता की सीमा—साठोत्तर कविता समसामयिक सत्य को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करती है। उसमे काव्य को, बात को साफ कहने की प्रवृत्ति है। वह अच्छाई है पर सपाट बयानी यानी बिल्कुल अभिधात्मक कथन अखरने वाली वस्तु है। उसमें लाक्षणिकता, व्यजनात्मकता है ही नही। प्रगतिवादी कविता की भाँति यह जन-जीवन से सम्बद्ध है। इस कविता मे राजनीति के शब्दो का खूब प्रयोग हुआ है जिससे वणन में एकसरसता आ गई है। सभायें, नारे, जनमत, विधायक, मतदाता लोकनायक, वन महोत्सव मतदान आदि शब्द खूब प्रयुक्त हुए हैं। शब्द एव वाक्य प्रयोग एकरसता लिए हुए हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि साठोत्तर कविता अपने समय की परिस्थितियो की देन है। वह उन्हें वाणी दे रही है। यह पूववर्ती कविता से भिन्न प्रकारकी है। इसमे जीवन की आग है। इसमे वास्तविकताएँ झलक रही हैं, पर शली सपाट है।

नवीन प्रबन्ध-सृष्टि

आज का युग, प्रबन्ध काव्यों का युग नहीं है क्योंकि आज का युग प्रबन्ध-काव्य की समस्त प्रवृत्तियों, मान्यताओं और आवश्यकताओं को पूरा करने मे असमर्थ है। आज मनुष्य के व्यक्तित्व की धारणा और प्राथमिकताएँ बदल गयी हैं। इस युग के प्रारम्भ में जो महाकाव्य या खण्डकाव्य प्रकाश मे आये थे, वे कुछ स्वीकृत गुणो और दोषो को प्रकट करते हैं। उनके पात्र भी विभिन्न स्थितियो मे फँसे हुए हैं अत कुछ सरस हैं कुछ शुष्क हैं और कुछ उपेक्षणीय हैं। उनके प्रसग भी विविध भाव राशि से सम्पृक्त हैं। कुछ ममस्पर्शी हैं और कुछ महत्त्वहीन। देशकाल के विस्तार म दौडते हुए पात्र पूवधारणा के अनुसार ही जीवन मूल्यो को स्पश कर पाते हैं। उनमे विगत युग की जीवन दृष्टियाँ, आदशवादी मान्यताएँ, रसवादी रुचियाँ और व्यक्तित्व सम्बन्धी प्रतीतियाँ है जो महाकाव्य के स्वरूप की रचना करने मे सहायक हुई हैं।

किन्तु आज का युग, प्रबन्ध की रचना करन के लिए अनुकूल स्थितियो से रहित है आज शिल्प और भाव बोध दोनो ही बदल गए हैं। प्रबन्ध काव्यो को इन आधुनिक विचारो से मेल करना पडेगा, तभी प्रबन्ध रचना सभव है। अब प्रबन्ध काव्य स्थूल मांसल कथा, पौराणिक या ऐतिहासिक व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा विराट समय प्रवाह की शृ खला म न बँधकर मानसिक सत्यो की सूक्ष्म रेखाओ म तद्वन्द्वो विघटित व्यक्तित्वो और क्षणानुभूतियो स परिचालित होगा, स्वभावत ऐसे प्रबन्ध काव्यो का आकार भी छोटा होगा और उनम आज के मूल्य, बोध, मान्यताएँ सवेदनाएँ, समस्याएँ और आकाक्षाएँ आशाएँ भी होंगी। पुराने कथानकों को भी वतमान म साँस लेनी होगी। इसीलिए आधुनिककाल मे लिखे गए उत्तम महाकाव्यो मे अतीत पर वतमान का आरोपण है। अतीत के पर्दे पर वतमान के चित्र हैं। यद्यपि आधुनिक जीवन मूल्यो की खोज पुराने प्रबन्धो मे भी (द्विवेदी-युगीन) की गई थी किन्तु वे सृजन का बल न दे सके नये मानस, विचार और युग सत्यो को ग्रहण करन म असमथ रहे। परम्परावादी प्रबन्ध-काव्य लिखना सरल है किन्तु नई सवेदनाओ को ग्रहण करना और उनको सम्प्रेषित करना दु साध्य काय है।

नये प्रबन्ध काव्य

1960 स नई कविता मे नये मूल्यो, नयी चेतना, नयी सौन्दयदृष्टि और नये शिल्प के दशन होते हैं। काव्य रूपों की दृष्टि स मुक्तक और प्रबन्ध दोनो प्रकार के काव्य, नयी कविता के दशन और शिल्प स प्रभावित होकर ही सामने आए। इस काल मे समाज सापेक्ष तथा व्यक्ति सापेक्ष प्रबन्ध-काव्यो की रचना निरन्तर होती रही है। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध काव्यो का परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

1 उवशी—रामधारीसिंह दिनकर की यह प्रबन्ध कृति 1961 म प्रकाशित हुई थी। यही कृति दिनकर की अन्तिम प्रबन्ध रचना है। इसके पश्चात् दिनकर की

प्रबन्ध लिखने का अवसर ही नहीं मिला। इसी कृति पर 1974 में मृत्यु से पूर्व दिनकर को भारत का सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' भी प्राप्त हुआ था। इस कृति में दिनकर ने उर्वशी और पुरूरवा के प्राचीन आख्यान के माध्यम से युग के नये मूल्यों और नयी समस्याओं को नये अर्थ संदर्भ में व्यक्त करने का सुंदर प्रयास किया। पुरूरवा और उर्वशी एक नयी प्यास लेकर एक दूसरे के निकट आए हैं। पुरूरवा धरती पुत्र है और उर्वशी देवलोक से उतर कर आयी नारी है। पुरूरवा के भीतर देवत्व की तृषा है और उर्वशी सहज निश्चित भाव से पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है। पुरूरवा का अहम् कहता है—

> बादलों के शीश पर स्पंदन चलाता हूँ
> अर्धतम के भाल पर पावक जलाता हूँ।
> मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
> उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं।

उर्वशी प्रेम और सौन्दर्य का काव्य है। इसका दर्शन पक्ष है-प्रेम और ईश्वर, जीव और आत्मा को परस्पर मिलाना। इसमें धरती और स्वर्ग को मिलाने की अपेक्षा धरती की महत्ता को स्थापित करके आज की मानववादी प्रवृत्ति का उत्थान करने का प्रयास है। उर्वशी की चर्चा को दार्शनिक व्यूह से निकालकर काव्य की भूमि पर प्रतिष्ठित करने से इस काव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रेम और सौन्दर्य की मूल धारा में जीवन दर्शन की अन्य छोटी धाराएँ मिल जाती हैं। कवि ने प्रेम और सौन्दर्य का व्यापक विधान किया है। सारा वातावरण इन दोनों प्रवृत्तियों से जगमगा उठा है। प्रेम को मनोविज्ञान के सूक्ष्म सत्यों पर सुशोभित किया गया है। प्रेम उद्विग्न और बेचैन करने वाले तृषाकारी से आपूरित होता है जो मन की शान्ति को भंग करता है। इस काव्य में प्रेम की आन्तरिक तथा सूक्ष्म संवेदनाओं को उभारा गया है। कहीं-कहीं उसे आध्यात्मिक रंग से रंगने का प्रयास है। अनुभूतियों और संवेदनाओं की व्यंजना के लिए बिम्बों का निर्माण किया गया है। ये बिम्ब कहीं पर परम्परा के साँचे में ढल कर आये हैं, तो कहीं नये और ताजा रूप में 'नयी कविता' के अच्छे बिम्बों का रंग-रूप लेकर आये हैं। दिनकर की भाषा अलंकृत और अभिजात वर्ग के अनुरूप है। उर्वशी में नारी के सौन्दर्य व आकर्षण को वाणी दी गई है—

> जो शून्य गगन में मुझे देखा
> चुम्बन अर्पित करने वालो,
> सम्पूर्ण निशा मेरी छवि का
> उन्निद्र ध्यान धरने वालो,
> मैं देह काल से परे चिरंतन नारी हूँ
> रूपसी। अमर मैं, चिर युवती सुकुमारी हूँ।

2 लोकायतन—छायावाद को उत्कर्ष तक पहुँचाने वाले महाकवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी मुक्तक प्रतीकात्मक काव्य से सन्तुष्ट न होकर सन् 1964

में अपने एकमात्र महाकाव्य लोकायतन को हिन्दी जगत् के सामने प्रस्तुत किया और महाकवियों की श्रेणी में अपना नाम लिखवाया। इस बृहद् महाकाव्य में भारतीय जीवन की स्वाधीनता के पूर्व और बाद की गाथा दोहराई गयी है। यह बाह्य परिवेश तथा अन्तश्चेतना नामक दो खण्डों में विभक्त है। इस प्रबन्ध की कथा भूमि बहुत व्यापक है जिसमें स्वाधीनता के पहले से लेकर उत्तर स्वप्न के विशाल भारतीय जीवन के दर्शन सन्निहित हैं। पंत युगजीवन के यथार्थ को भली प्रकार पहचानते थे। देश, विदेश के समस्त परिवर्तन, बदलते मूल्य प्राचीन और नवीन का संघर्ष, भौतिकता और आध्यात्मिकता के द्वन्द्व का वे जानते थे। इसमें यथार्थ दर्शन और आदर्श कल्पना अध्ययन और ज्ञान के परिणामस्वरूप ही प्राप्त है। उसमें जीवन संवेदन के बीज अंकुरित नहीं हो सके। कथानक शिथिल और अनुपात हीन है। विवरणात्मकता ने इसके प्रभाव को कम कर दिया है। पंत ने प्रकृति चित्रण को ताजा और आकर्षक बनाए रखा है। काव्य में बिम्बों की छवियाँ रम सिक्त करती हैं।

3 कनुप्रिया—इस प्रबन्ध (खण्डकाव्य) में धर्मवीर भारती ने राधा के प्रेम और संवेदन के माध्यम से जीवन की अन्तरंग वृत्तियों का समझने का प्रयास किया है। कनुप्रिया शास्त्रीय दृष्टि से प्रबन्ध नहीं है यह तो अपने नए अर्थों में ही प्रबन्ध काव्य है। राधा ने कृष्ण के साथ जो क्षण अति तन्मयता से बिताए थे उन्हीं क्षणों को उन्हीं स्थितियों में रूपायित करना कवि का अभिप्रेत है। कोई कथा कहना उसका लक्ष्य नहीं है। राधा ने कृष्ण के साहचर्य में जिन क्षणों को बिताया और भोगा था, उन्हीं क्षणों के सत्य को अपनत्व के साथ कवि ने इस काव्य में अनुभूति गम्य बनाया है। राधा का सत्य बिल्कुल निजी है। कृष्ण राजाधिराज सेनापति और महान् बन जाते हैं फिर भी राधा अपने संसार से नहीं छोड़ पाती है। वह जिए हुए अनुभूत क्षणों को ही सत्य मानती है। भारती ने इस खण्ड काव्य में आधुनिक शिल्प और भाव बोध दोनों का समन्वय किया है। इस काव्य की मूल संवेदना प्रेम है जिसे गहराई तक उभार कर कवि ने अपने सापेक्ष भाव से समन्वित कर दिया है। कृष्ण की युद्धीय स्थिति के स्थान पर राधा की प्रेम जनित तन्मयता ही सत्य है क्योंकि राधा का प्रेम दुविधाहीन मन का संकल्प है। कनुप्रिया शिल्प और संवेदना की दृष्टि से साठोत्तरी काव्य में विशिष्ट कृति है।

4 महामानव—यह ठाकुर प्रसाद सिंह द्वारा विरचित महात्मा गांधी के जीवन पर आधारित प्रबन्ध काव्य है। इसमें गांधी जीवन के माध्यम से भारतीय जन जीवन के जागरण की कथा कही गयी है। इसमें प्रबन्ध की दृष्टि से बिखराव है किन्तु जन मानस की विभिन्न स्थितियों और संघर्षों का बड़ा ही प्रभावशाली चित्रण किया गया है।

5 द्रौपदी उत्तरजय और सुवर्णा—प्रसिद्ध कवि नरेन्द्र शर्मा ने 1964 में प्रतीकात्मक खण्ड काव्य द्रौपदी 1965 में उत्तरजय तथा 1972 में सुवर्णा खण्ड काव्य प्रकाशित कराए। द्रौपदी खण्ड काव्य में द्रौपदी की जीवन शक्ति का अभिव

माना है। इस खण्ड काव्य के संक्षिप्त कलेवर में महाभारत की पूरी कथा भर देने की लालसा कवि में दिखाई देती है। कवि किसी कथा विशेष पर बल नहीं देता, वह समय और स्थान के आवरण में बँधा कभी यहाँ की और कभी वहाँ की बात कहता है जिससे काव्य में प्रभावान्विति उत्पन्न नहीं हो सकी है। इस दौड भाग में द्रौपदी की प्रतीकात्मकता और भावात्मकता दोनों ही उभर नहीं पाई है। भाषा भी साठोत्तरी काव्य से काफी पीछे की दिखाई पडती है।

उत्तरजय, नरेन्द्र शर्मा का दूसरा प्रबन्ध काव्य है जिसे कवि ने गाथा काव्य कहा है। इसमें युधिष्ठिर और अश्वत्थामा को खंडित और पीडाभोगी बताया गया है। पीडाभोगी व्यक्ति पीडा से बचकर भागने का प्रयास करता है। अश्वत्थामा सामर्थ्यवान और अतिरथी होकर भी पीडा भीरु था। युधिष्ठिर अपने स्वभाव और नियमित आचरण के कारण द्वन्द्व में विभाजित थे इसी द्वन्द्व ने इन्हें पीडित किया था। उत्तरजय में केन्द्रीय कथ में बिखराव नहीं है। इसमें बिखराव का भी अपना महत्त्व है। पात्रों में प्रतीकात्मकता है। यह छोटा सा प्रबन्ध अनेक पात्रों को एक ही पंक्ति में खड़ा करके उनकी मानसिकता तथा अन्तर्द्वन्द्वों को गहराई से उभारता है, यद्यपि उसमें अपेक्षित गहराई नहीं आ पाई है। इसकी भाषा द्रौपदी की अपेक्षा अधिक जीवन्त है।

इसी प्रकार सुवर्णा खण्ड काव्य में कर्ण की पत्नी सुवर्णा के माध्यम से जातीय अभिमान, अभिजात्य गौरव और रक्त की श्रेष्ठता को मानवीय स्तरों पर प्रस्तुत किया गया है। समस्त काव्य सामान्य मनुष्य के बढ़ते हुए वर्चस्व और महत्त्व का परिचायक है।

(6) आत्मजयी—इस खण्ड में कुँवर नारायण सिंह ने कठोपनिषद् के नचिकेता प्रसंग पर आधारित कथा के माध्यम से आधुनिक संदर्भों में नवीन चिन्तन को उभारा है। इसमें वाजिश्रवा ठहरे हुए गतिहीन मूल्यों वाली पीढ़ी का प्रतीक है, नचिकेता प्राप्त सत्य के उत्तराधिकार और विवेकहीन निर्णय का अस्वीकार करके अपने विवेक और पीडा से सत्य की तलाश करने का प्रतीक है जो सत्य के संधान में मृत्यु का वरण करने को भी तैयार रहता है। इसकी स्वप्न कथा में घटना नहीं केवल चिन्तन है। कवि आज के प्रश्नों को भारतीय जीवन और दर्शन से जोड़ना चाहता है—

> मुझको इस छीना झपटी में विश्वास नहीं
> मुझको इस दुनियादारी में विश्वास नहीं
> हर प्रगति चरण मानव का भारी पडता है
> हम जीते आपाधापी और दबावों में
> हम चाहें जितना पाएँ कम ही लगता है
> कुछ ऐसी रखी है तरकीब स्वभावों में।'

(7) संशय की एक रात—नरेश मेहता ने इस प्रबन्ध काव्य में मानसिक द्वन्द्व ग्रस्त व्यक्ति के यथार्थ का चित्रण किया है। समुद्र में पुल बंध जाने पर राम

का मन संशय से भर जाता है। वे सोचते हैं कि एक सीता के लिए इतना बड़ा नरसंहार क्या ? फिर अपने सेनापतियों से विचार विमर्श करके युद्ध करने के निश्चय तक पहुँचते हैं। युद्ध सीता के लिए नहीं, जनता के लिए लड़ना है—

तुम्हें लड़ना है युद्ध
अपने से नहीं
अनास्था से नहीं
संशयी व्यक्ति से भी नहीं
केवल असत्य से।

(8) एक कण्ठ विषपायी—यह दुष्यन्त कुमार का काव्य नाटक है। इसका भाव बोध अपने स्वरूप और समस्या के कारण नयी कविता का ही विषय है। प्राचीन कथानक की पृष्ठभूमि पर दुष्यन्त ने इस प्रबन्ध की रचना की है। इसमें शंकर की कथा प्राचीन आख्यानों से ली गयी है जिसमें दक्ष प्रजापति, सती दाह, यज्ञ-ध्वंस, युद्ध प्रसंग आदि घटनाएँ व्यंजित है। शंकर सती के शव का कन्धे पर धारण करके अंक में भर लेते हैं। यह उनकी मोहविष्ट चेतना ही है। इस कथा में आधुनिक बोध का प्रक्षेपण है। वर्तमान जीवन की विसंगतियाँ पूंजीवादी मनोवृत्ति, शासन की मदान्धता, मृत्यु की सत्यता और युद्ध प्रसंग वर्तमान की समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं—

देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़े
मैंने क्या पाया ?
निर्वासन।
प्रेयसी-वियोग ?
हर परम्परा के मरने का विष
मुझे मिला
हर सूत्रपात का
श्रेय ले गए और लोग।

(9) कालजयी—भवानी प्रसाद मिश्र ने 1979 में प्रकाशित सम्राट अशोक के जीवन पर आधारित इस खण्ड काव्य में अशोक को परम्परागत इतिहास की आँख में नहीं देखा। अशोक ने धर्म का प्रचार प्रसार करके करुणा, प्रेम और शान्ति का झंडा फहराया। कलिंग युद्ध की हिंसाजनित प्रायश्चित भावना ही एक मात्र अशोक के हृदय-परिवर्तन की उत्तरदायी नहीं है अपितु उसकी माता धम्मा के बचपन में उस पर डाले प्रेम, शान्ति करुणा के संस्कारों का भी उसमें हाथ है। युद्ध की अपेक्षा अशोक ने सदा शान्ति का ही पक्ष लिया। इस युग के युद्ध शान्ति साम्राज्यवाद, पूंजीवाद मानवता, भारतीय संस्कृति की उदारता प्रेम गांधीवाद, अहिंसा आदि विचारों को कवि ने इस काव्य में कुशलतापूर्वक वाणी दी है। गांधीवाद का जयघोष कवि इस रूप में करता है—

देश प्रेम का यही अर्थ है
धर्म प्रेम का यही अर्थ है
यही अर्थ है मानवता का
अगर देश वेदों का कह दे
अगर बुद्ध की वाणी गूँजे—
हम न लड़ेंगे हमने अपनी
सत्ता का आदर्श बदल कर प्रेम कर दिया
तो दुनिया के शस्त्रधारियों का दिमाग
चकरा जाएगा।

(10) महाप्रस्थान—यह खण्ड काव्य भी नरेश मेहता द्वारा लिखित नवीनतम कृति है। इसमे पाण्डवो के निर्वाण की कथा को लेकर आधुनिक समस्या पर विचार किया गया है। मूल कथा महाभारत पर आधारित है। पाण्डव-द्रोपदी सहित अन्तिम यात्रा पर हिमालय पर्वत की ऊँचाइयो पर चले जा रहे हैं। महान् उद्देश्य को लेकर लिखी गयी कृति का आरम्भ प्रकृति के भव्य रूप के साथ होता है। महाप्रस्थान की कथा वस्तु महाभारत के अन्तिम भाग से ली गयी है। यहाँ पर पाण्डवो का स्वर्गारोहण दिखलाया गया है। सबसे पहले द्रोपदी भस्म होती है, बर्फ में विलीन हो जाती है जिसके साथ सांसारिकता के विलीन होने की प्रतीकात्मकता उभरकर आती है। नकुल सहदेव के साथ आदर्श भ्रातृत्व, अर्जुन के साथ पौरुष और भीम युधिष्ठिर को अकेले छोड़कर चले जाते हैं। युधिष्ठिर सबसे अन्त में हिमालय की गोद में स्वाहा होते हैं। उनकी यात्रा या स्वर्गारोहण ही महाप्रस्थान के रूप में आया है। इस कथन में राज्य मानव सम्बन्ध और युधिष्ठिर मानव मुक्ति के लिए प्रतीक रूप में आए हैं। मुख्य भाग में युधिष्ठिर हैं। शेष पाण्डव जिज्ञासा प्रकट करते हैं। युधिष्ठिर अपने विचारो में उनकी जिज्ञासा शान्त करते हैं। कथा तीव्र गति से आगे बढ़ती है लेकिन प्रकृति चित्रण कुछ अधिक बढ़ गया है। प्रासंगिक कथाओं का प्राय अभाव है। अश्वत्थामा मध्य में आता है लेकिन दो चार मिनट के लिए ही जो एक कमी की पूर्ति कर एक विशेष मन्तव्य को प्रकट करके चला जाता है। वहाँ यही सन्देश दिला दिया गया है कि मानव का महत्त्व सन्दर्भ के साथ ही है, उससे अलग नहीं लेकिन द्रोपदी के मर्म को स्पर्श करके ही वह चला जाता है। बाकी जीवन की घटनाएँ पूर्ण दीप्ति में उल्लेख भर आती हैं। उनके वर्णन के विस्तार से कवि बचकर अपना कौशल प्रकट कर गया है।

कवि ने इसमे महाभारत के विख्यात पात्रो के स्वर्गारोहण से कथा लेकर अपने काव्य का ताना-बाना बुना है। इसका मुख्य भाग पर्व है जिसमे वार्तालाप, जिज्ञासा, प्रश्न और उत्तरों के माध्यम से कथा आगे बढ़ी है। इसी पर्व मे लेखक के मूल विचारों का प्रतिपादन है या फिर युधिष्ठिर का अन्तिम पर्व मे कुछ दूर तक विचार लेखन के अभिमत का प्रतीक है। युधिष्ठिर को मानव मुक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने अपने मन्तव्य जैसा कि ऊपर लिखा है की पूर्ति के

लिए कथा और कथा पुरुषा की निर्वेद स्थिति एव मन स्थिति को ही अपने काव्य म चुना है। उसके मतानुसार निर्वेद की स्थिति म ही मानवीय प्रशातमरता अपन विनय रूप मे होती है। उमने इसे अनासक्तामन स्थिति माना है और अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे समस्याओ के उनके मूत्रा को विरोधिया का दलन वाली कहा है। इसका ऐसा होना जीवन का परिभाषित करने के लिए आवश्यक था। इस दृष्टि से यह उद्देश्य कवि का आधुनिक सन्दभ स भी जोड देता है और जब तक शासक और शासित का अस्तित्व है तब तक लेखक का मत या इस काव्य का उद्देश्य जीवित रहेगा, इसमे कोई सशय नही होना चाहिए।

(11) शबरी—यह नरेश महता का 1977 मे प्रकाशित काव्य ह। इसकी रचना विशेष प्रयोजन सम्भवत पाठ्यपुस्तक बनाने की दृष्टि से की गयी लगती है। कवि की स्वीकारोक्ति है कि मुख्य रूप से इसे किसी इतर प्रयोजन के लिए ही मुझसे लिखवाया गया इसीलिए छदोबद्ध भी लिखा तथा रचना मे वचारिकता भी कम ही आने दी। फिर भी अपने मूल प्रयोजन म यह रचना मेर कवि का उतना ही प्रतिनिधित्व करती है जितनी कि अन्य कृतियाँ। इस रचना की कथा का आधार आदिकवि वाल्मीकि की रामायण है।

शबरी पाँच शीर्षकों म निबद्ध खण्ड-काव्य है। त्रेता परम्परासर तपस्या, परीक्षा व दशन। इसकी कथा एक अन्त्यज नारी की कथा है। शबरी निम्नवर्गीय होकर भी किस प्रकार सघष करती हुई आत्मोत्थान कर सकी, यही इस कथा का मूल प्रतिपाद्य है। 'सशय की एक रात', महाप्रस्थान तथा 'प्रवाद पव की तुलना म इस काव्य म वैचारिकता और आधुनिकता का सवथा अभाव है परन्तु फिर भी वर्ण भेद की समस्या को यह काव्य अपन ढग स प्रस्तुत करता है। शबरी काव्य का मूल सकेत यही है कि वर्ण व्यवस्था से ऊपर उठकर कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक स्वत्व को पा सकता है। शबरी एक अति आधुनिक खण्ड काव्य है। इसम वर्ण व्यवस्था के प्रश्न को उठाया गया है जो आज की अन्य समस्याओ की तरह एक विकट समस्या है। यह आज का ही नही, प्राचीन काल से चलता आया ज्वलन्त प्रश्न है। इसकी मूल सवेदना यह है कि अन्त्यज जाति से सम्बन्धित व्यक्ति भी अपन कर्मों मे उच्चता को प्राप्त कर सकता है। कवि के अपन कथन के अनुसार शबरी अपनी जन्म जात निम्नवर्गीयता को कम दृष्टि के द्वारा वचारिक उच्चता म परिणित करती है। यह धार्मिक या आध्यात्मिक सघष व्यक्ति के सन्दभ मे मुझे आज भी प्रासगिक लगता है। सामाजिक मूढता परिवेशगत जडता तथा अपने युग के साथ सताप हीनता की स्थिति म व्यक्ति केवल अपने का जागृत कर सकता है। इसी सघष के माध्यम स 'स्व' पर हो सकता है। व्यक्ति समाज बन सकता है। कवि न यह स्पष्ट किया है कि यह मात्र आज की समस्या नहीं है। त्रेतायुग की व्यवस्थामयी नारी की यह सनातन करुण कहानी है।

(12) प्रवाद पव—गहन अन्तमन्थन, वचारिक और भावनात्मक ज्वारभाटो की दृष्टि मे सशय की एक रात का अगला चरण है। इस काव्य म 1975 म

लागू की गई आपातजनित स्थितियाँ कवि की प्रेरणा का रचनात्मक आधार बनी हैं। कवि अपने वक्तव्य के अन्तिम अंश में स्वीकारता है कि "अन्त में प्रस्तुत काव्य के बारे में यही कहना है कि यह जून, 1975 में लिखी गई और उसके तत्काल बाद आपात स्थिति की घोषणा के कारण मुद्रित हो जाने के बाद भी प्रकाशित न हो सकी। एक समय तो यह भी लगा कि यदि 'राज्य कृपा' को इसकी मुद्रण की गन्ध भी मिल गई तो सम्भव है यह कभी प्रकाशित रूप में सामने ही न आए। इतिहास ने करवट ली और इसके प्रकाशित होने पर प्रकाशक एवं लेखक दोनों ही मुक्ति का अनुभव करें तो क्या आश्चर्य है। हाँ, ऐसा करने के पीछे इस रचना के वास्तविक प्रयोजन को थोड़े रूप में सही, उस भीषण स्थिति का आभास दे सकने का मुझे सन्तोष है।"

प्रवाद पर्व खण्डकाव्य में पांच वर्ग हैं। इतिहास और प्रतिइतिहास, प्रति-इतिहास और तन्त्र शक्ति, एक सम्बन्ध, एक साक्षात प्रतिइतिहास और निर्णय निर्वेद विदा। यहाँ उल्लेखनीय है कि जहाँ समय की एक रात' युद्ध की विभीषिकाओं से उत्पन्न मानसिक क्रिया प्रतिक्रियाओं का काव्य और 'महाप्रस्थान' में राज्य एवं व्यक्ति के सन्तुलित सम्बन्धों को उद्घाटित किया है वहाँ इसके विपरीत 'प्रवाद पर्व' में व्यक्ति और प्रशासन या लोकतन्त्र बनाम राजतन्त्र की समस्या पर प्रश्नचिह्न लगता हुआ प्रतीत होता है। इसमें कवि ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य और इसी प्रकार के अन्य विविध प्रश्नों से जूझते हुए व्यक्ति और प्रशासक के सम्बन्धों पर भी विचार प्रस्तुत किए हैं।

अकविता

अकविता नई कविता के विरोध में प्रस्तुत किया गया एक नया काव्यान्दोलन है। अकविता से तात्पर्य उस कविता से नहीं है जो कविता नहीं है, अकविता का 'अ' निषेधावाचक नहीं है। वस्तुतः यह वह कविता है जो नई कविता की रोमानियत के विरोध में उत्पन्न हुई है। इस काव्यान्दोलन के प्रमुख कवियों में श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी और गंगाप्रसाद विमल हैं। अकविता का आन्दोलन बहुत कम समय तक चला क्योंकि इसमें बहुत कुछ दम नहीं था। इसमें जो नयापन था वह नई कविता में भी था, ऐसी स्थिति में अकविता नई कविता में कोई पृथक और सार्थक अस्तित्व लेकर अवतरित नहीं हुई है। इसके विपरीत घिनौने प्रसंगों और अश्लीलतम चित्रों के कारण इस कविता ने कविता को विकृतियों से भर दिया। अकविता का आन्दोलन बेईमानी प्रमाणित हुआ क्योंकि वह कोई नवीन और विचारणीय रूप लेकर प्रस्तुत नहीं हुआ था। अकविता के सम्बन्ध में डॉ॰ हरिचरण शर्मा का मत उचित ही है—"अकविता एक नया लेबिल है, उसमें दवा वही है ... एक खास रंग की है। उसमें जो सन्दर्भ हैं वे लिजलिजे, घृणास्पद ... है। लगता ही नहीं कि हम अपने ही संसार की अपने ही मानव ... कविता पढ़ रहे हैं। उनकी परिधि इतनी संकीर्ण है कि स्त्री ... सम्पर्कों के अलावा मानव तो उसमें गाहे-बगाहे ही आया है। ...

का असली रूप नहीं है, उस पर थोपा गया रूप है। यही वजह है कि अकविता वादियों की चेतना सुन्न और ठहरी हुई है, उसकी धार भोथरी और मुड़ी हुई है। उसमे न तो जीवन का स्पदन है और न परिवेश का कोई बिम्ब। केवल चौंकाने वाले शब्दो का जाल है जिसके आर पार इधर उधर कुछ भी नहीं दिखता है।" विजप और इतिहास हन्ता अकविता के उल्लेखनीय काव्य-सग्रह हैं। 'इतिहास हन्ता' जगदीश चतुर्वेदी का कविता सग्रह है। विजप' म श्याम परमार, गगाप्रसाद विमल और जगदीश चतुर्वेदी की कविताएँ सकलित हैं। ये दोनो ही फूहड ग्रथिगस्त और भ्रष्ट चेतना को उद्घाटित करने वाले कवि मानस और कविताओ को प्रस्तुत करते हैं। सौमित्र मोहन भी अकविता से जुडे हुए ह किन्तु इनकी लुकमान अली एक लम्बी और अच्छी कविता है। इसमे कवि निजी परिवेश को तोडकर सावजनिक धरातल पर उतरा है।

विचार कविता

विचार कविता का सम्बन्ध प्राय भाव और कल्पना से रहा हैं। पर परिवर्तित परिस्थितियों मे वचारिकता कविता का अग बनती जा रही है अत समकालीन कवि और चितक विचार कविता की बात करने लगे हैं। प्रश्न यह है कि विचार कविता क्या है? डा विनय के शब्दो मे "विचार कविता आज की कविता की सही और ठोस पहचान का आग्रह है। उसका आधार है परिवर्तित जीवन दृष्टि स प्रसूत कविता दृष्टि। आज के जीवन म बदलते हुए जीवन मूल्यो के प्रति भावनामूलक दृष्टिकोण स काम नही चल सकता है। उसके लिए एक बौद्धिक एप्रोच की आवश्यकता ह यह एप्रोच तभी आएगी जब कवि 'स्व' और 'पर' के सभी बिम्बो को एक तटस्थ दृष्टि मे लेकर उसका विस्तार करेगा। विचार कविता यही कह रही है। विचार कविता न साहित्यिक विपक्ष की भूमिका चुनकर भाषा समाज व्यवस्था के वर्जित एव अनधिकृत प्रदेशो म निर्बाध अठने और विचार को सहज स्वाभाविक पाया है। किसी भी प्रकार की स्फीति या अतिरजना स विमुक्त रहकर अत प्रकृति मे वह प्रवृत्ति जगाना जो प्रगति की ओर ले चले भावविह्वल या उत्तेजित हुए बिना विचार विनिमय की आवश्यकता पदा करना उसके प्रकृतिगत तत्त्व हैं। शमशेरजी न कहा था 'बात बोलेगी हम नही' किन्तु बात मरने लगी है। बेमौत मरती हुई बात को विचार कविता सही सन्दर्भो म उठा रही है।

नई कविता के नाम का औचित्य

नई कविता के नाम का पहले पहल प्रयोग अज्ञेय न अपन लखनऊ म प्रसारित एक रेडियो भाषण म किया था। सामान्यत यह आपत्ति उठाई गई है कि इसे नई कविता क्यो कहा जाए? यह आपत्ति उन लोगो की ह जो नए शब्द को विशेषण मानते है। वास्तविकता यह है कि नई कविता एक सज्ञा है विशेषण नही। इस नाम का औचित्य यह है कि इस कविता म भाव अनुभूति कल्पना शिल्प और विचार पूववर्ती कविता की अपेक्षा नवीनता लिए हुए है। नई कविता के

कवियों ने जो प्रयोग किए हैं, वे साहित्यिक प्रयोग हैं। उनमें नयापन और उनकी मौलिकता भी कम से कम प्रचलित काव्यधाराओं में तो उल्लेखनीय है ही। कोई यह कह सकता है कि नई कविता कब तक चलेगी? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि नई कविता का नयापन सदैव बना रहेगा। नई कविता किसी एक कवि विशेष या काल विशेष की थाती नहीं है, वह तो एक क्रमिक और नित्यप्रति विकसित काव्यधारा है जो समाज, परिवेश और बदलते सन्दर्भों से सम्बन्धित होकर सामने आई है। अतः नई कविता का नाम औचित्यपूर्ण है। इसमें अनौचित्य की कोई गंध नहीं है।

छायावादोत्तर नवीन गीति-धारा

काव्य का चरम माधुर्य गीतात्मक रूप में ही प्रस्फुटित होता है, यह मान्यता आज के सन्दर्भ में भी मिथ्या नहीं हुई है। गीत निश्चय ही आत्माभिव्यक्ति का अत्यन्त सुन्दर माध्यम है। अपनी प्रच्छन्नता, अभिव्यक्ति अपूर्णता और स्वच्छंदता-उन्मुक्तता के अभाव के बावजूद गीति ही उस तत्त्व का सर्वश्रेष्ठ और आश्रय स्थल है जिसे भावुकता, रागात्मकता या रसात्मकता के नाम से अभिहित किया जाता है और जो प्रत्येक काल और देश में काव्य की अनिवार्य आवश्यकता है। गीतात्मकता से कविताएँ जितनी दूर होती जा रही हैं, उतनी ही वह अकविता बनती जा रही है, यह हिन्दी कविता की समसामयिक गतिविधि से स्पष्ट है। यह ठीक है कि आज का युग विज्ञान और बौद्धिकता का युग है, भावुकता का और उसके साथ गीति प्रवृत्ति का भी क्रमशः ह्रास होता जा रहा है परन्तु जब तक मनुष्य मात्र बुद्धिकेन्द्र या मशीन नहीं बन जाता, भावुकता और गीतात्मकता न उसके लिए त्याज्य हो सकती है न अनुपयोगी। मानव के यन्त्र या बुद्धिकेन्द्र बन जाने पर गीत ही क्या, कविता ही समाप्त हो जाएगी।

नवीन गीति से तात्पर्य नवीन गीत से हमारा तात्पर्य उन गीतों से है जो नई कविता के युग में आज लिखे जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में नए काव्य की यह एक विशेष धारा है। नया काव्य छन्द मुक्त और मुक्त गेय काव्य है लेकिन नवीन गीत ऐसा नहीं है। यह काव्यधारा यद्यपि नए काव्य की छाया में ही पनप रही है लेकिन उसने गीत परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखा है। डा० शिवकुमार मिश्र ने इस काव्यधारा के सम्बन्ध में लिखा है—'हिन्दी की नव्यतर गीत कविता वर्तमान समय के नाना साहित्यिक वादों प्रवादों में उनसे कुछ निर्लिप्त रहकर हिन्दी कविता की सतत विकासशील परम्परा के नए युग के रूप में गतिशील हुई है। नए युग के गीतकारों ने उसे अपने वैयक्तिक जीवन के हर्ष विषादों, सुख दुःख आदि के प्रस्तुतीकरण के अतिरिक्त सामूहिक जीवन के उल्लास और आशा निराशा से मिश्रित आवेगों के भी व्यक्तिकरण के माध्यम के रूप में अपनाकर, अपनी नैसर्गिक भाव भूमि में ही उसे विकसित और परिपुष्ट किया है, साथ ही युगानुरूप जागरूकता से उसे सम्वर्धन कर अतिरिक्त विशेषता भी प्रदान की है।"

इस प्रकार ये व्यक्ति परम्परा और नवीनता के समन्वय से अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रतिष्ठित किए हुए है। इनकी अपनी विशेषता यह भी है कि ये हृदय की नैसर्गिक भाव-भूमि पर स्थित होकर ही गीत सृजन कर रहे हैं, किसी सिद्धान्त को लेकर नहीं।

प्रमुख गीतकार

डॉ शिवकुमार के मतानुसार नए गीतकारों के दो वर्ग है—(1) छायावादी प्रगीत और गीत सृष्टि दोनों को हो नए युग के अनुकूल अधिक सुघरे रूप म प्रस्तुत करने वाला वर्ग—इनमें बच्चन अचल नरेन्द्र शर्मा जानकीवल्लभ शास्त्री सुमित्रा कुमारी सिन्हा तथा कोकिल आदि का नाम उल्लेखनीय है। (2) विशेष छायावादोत्तर युग की गीत सृष्टि का ही अपनाकर नवीन विकास प्रदर्शित करते हुए आगे बढ़ने वाला वर्ग—इसमें शम्भुनाथसिंह, क्षेम हंसकुमार तिवारी वीरेन्द्र मिश्र रमानाथ अवस्थी आदि प्रतिनिधि कवियों का नाम लिया जा सकता है।

नवीन गीत धारा के विषय

इस धारा के विषयों को दो वर्गों म रखा जा सकता है—(1) प्रमुख विषय (2) गौण विषय।

प्रमुख विषयों में प्रेम और प्रकृति आते है और गौण विषय म जीवन तथा समाज के अन्य पक्ष। इनमें से भी कवियों की भाव दृष्टि मानव पर अधिक केन्द्रित रही है।

(1) प्रेम—इन गीतकारों का प्रणय बौद्धिक धरातल पर खड़ा है। इसम छायावाद जैसी वायवीयता नहीं है। इनके लिए प्रेम जीवन का अभिन्न अंग है। नीरज ने प्राणगीत म लिखा है—

> प्रेम है कि ज्योति स्नेह एक है प्रेम है कि प्राण देह एक है।
> प्रेम हीन गति प्रगति विरुद्ध है ।

इसे इतना अधिक महत्व देने के कारण ही इनम यथार्थता और निरावरणता तथा एक मतत चलक बनाए रखने की शक्ति का समावेश हो गया है—

> साँझ प्यासी प्रात प्यासा राग प्यासे
> रूप के संसार मे मैं भी पियासा —क्षेम जीवनतरी

डॉ मिश्र ने इनके प्रणय के इस स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—"प्रणय सम्बन्धी इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर इन कवियों ने अपने काव्य म उसका जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह स्थूल तथा लौकिक पीठिका पर भी उसके दो प्रकार के चित्र देता है। एक वह जिसमें रूपासक्ति तथा अतृप्ति के होने हुए भी मुख्यत वयक्तिक हर्षोल्लास और सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए एक अटूट आकुलता दीख पड़ती है। उसका माधुर्य पक्ष ही विशेष रूप से उभर कर सामने आता है। दूसरा वह जिसमें इन सबके बावजूद भी प्रधानतया सभी मानव मा अथवा ह्रासशील प्रवृत्तियों की प्रधानता है।' क्षेम की उपर्युक्त पंक्तियां म तथा शम्भुनाथ सिंह क

गीतो म पहले प्रकार के भाव चित्र मिलते हैं और नीरज तथा रमानाथ अवस्थी मे दूसरी प्रकार के। नीरज की ये पक्तियाँ देखिये—

आज चुम्बन की लगी बरसात अँधेरो की गली मे
बीच मे दीवार-सी फिर क्यो खडी सहसा शरम है।

लेकिन एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि कवि नीरज ने ऐसे समय पर दार्शनिकता का आँचल ढक कर सभी भावनाओ को सस्ता होने से बचा लिया है—

"रूप की इस काँपती लौ के तले
यह हमारा प्यार कितने दिन चलेगा।"

वीरेन्द्रकुमार और हँसकुमार तिवारी ने प्रणय की परिणति के गीत गाए हैं। यथार्थ से परिचित होने के कारण इसीलिए इनके गीतो मे पीडा और आँसू छलक पडे हैं—

पीर मेरी कर रही गमगीन मुझको
और उससे भी अधिक तेरे नयन का नीर रानी
और उससे भी अधिक हर पाँव की जजीर रानी

—वीरेन्द्र मिश्र, गीतम

मुझे दूर कर दूर जा रहे
दूर कभी जा भी पाओगे
इस जीवन के जीर्ण-दीप का
तुम्हे प्रकाश बना रक्खूगा

—हँसकुमार, अनागत

हँसकुमार की इन पक्तियो की विरह की स्वस्थ परिणति आज की गीत धारा का प्रमुख अग बनती जा रही है।

(2) प्रकृति—वैसे प्रकृति की ओर नवीन गीतकारो का अधिक रुझान दिखलाई नही देता है। इसका कारण यह है कि जहाँ कही गायक ने वैयक्तिक अनुभूतियो से छुटकारा पाया है वहाँ उसकी दृष्टि समाज की ओर उन्मुख हो गई है फिर भी हँसकुमार तथा शम्भुनाथसिंह और क्षेम ने प्रकृति को स्वीकार किया है। नए गीतो म प्रकृति कवि की मन स्थिति के अनुरूप ही अवतरित हुई है, अपने स्वतन्त्र रूप म बहुत कम। इस प्रकार नए गीतो मे प्रकृति के दो रूपो को ग्रहण किया गया है—(1) आलम्बन रूप, (2) उद्दीपन रूप।

आलम्बन रूप—सजी सलोनी प्रकृति परी रे

हँसे कपोलो म तरु कानन, फूल फूल में उपवन उपवन
मद गध से अध पवन रे बौर-बौर मे विहगा बन-बन

—हँसकुमार, रिमझिम

आज जग आँगन सजाती आ गयी लो मेघ माला
आज श्याम दुकूलिनी लहरा गयी लो मेघ माला।

—शम्भुनाथ सिंह, रूप रश्मि

उद्दीपन रूप—यह रूप क्षेम, नीरज और वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में बहुत पाया जाता है—

मुसकाता है जब चाँद—निशा की बाहों में
सच मानो तब मुझ पर खुमार छा जाता है।

—नीरज, प्राणगीत

बादल के पीछे झूम उठी वह परछाँई
रो उठे प्राण फिर आज किसी की सुधि आई। —क्षेम

उपयुक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि इन गीतकारों ने प्रकृति का मानवीकरण करके उसे ग्रहण किया है। कहीं-कहीं तो प्रकृति स्वयं ही सुन्दर होने के कारण उसे लुभा गई है, लेकिन इन गीतों में प्रकृति का वह रूप अधिक आकर्षक लगता है, जिसमें कवि की कल्पना से रंग और रस भरा गया है। उदाहरण के लिए वीरेन्द्र मिश्र की ये पंक्तियाँ देखिए—

पालकी ले श्यामघन की भीड़ जब चल दी पवन की—
मौन डोले की दुल्हन सी चाँदनी गाने लगी।

इस प्रकार के वर्णनों में रतिभाव की प्रधानता ही रहती है। इसीलिए प्रेयसी के रूप चित्रण के लिए भी प्रकृति को नीरज ने कहीं-कहीं काव्य में ग्रहण कर उसे उपकृत कर दिया है—

दामिनी द्युति ज्योति मुक्ताहार पहने,
इन्द्र धनुषी कंचुकी तन पर सजाये।

क्षेम के गीतों में भी प्रकृति के मानवीकरण करने के मूल में यौन भावना ही काम कर रही है—

कोटि-कोटि लालस दृग खोल देख रही है धरा गगन को।
पंखुरियों से कली-कली की साध खुल रही आलिंगन को।

क्षेम ने इस दिशा में ग्रामीण प्रकृति का चित्रण कर एक नया कदम उठा कर सराहनीय काम किया है—

झूम उठीं आहट से रहिला की बालरियाँ
महुर उसी धूली पर सतरी की बाखरियाँ
एड़ी पर उचक-उचक झाँक रही है सरसों
झमक रही तीसी की बसर की झालरियाँ। —नीलम ज्योति

(3) मानव—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन कवियों ने जहाँ भी अपनी व्यक्ति सीमा के बाहर झाँका है, वहाँ उन्होंने मानव को ही देखा है। जब कवि स्वयं को सामाजिक भूमि पर खड़ा कर देता है तब उसकी कलम से ऐसी गीत-पंक्तियाँ जन्म लेती हैं—

मैं गीत लुटाता हूँ उन लोगों पर दुनिया में जिनका कुछ आधार नहीं।
मैं आँख मिलाता हूँ उन आँखों से जिनका कोई भी पहरेदार नहीं।

—रमानाथ अवस्थी रात और शहनाई

और ऐसी ही मानसिक स्थिति मे इन गीतकारो की राष्ट्रीय चेतना भी मुखर हो उठी है। नीरज तथा वीरेन्द्र मिश्र ने तो कही कही राष्ट्रीय सीमा को लाँघ कर अन्तर्राष्ट्रीय भावना के गीत लिखे हैं।

हँसराज तिवारी का 'स्वदेश सगीत', शम्भुनाथ सिंह की उदयाचल की कविताएँ, वीरेन्द्र मिश्र की 'देश' तथा अन्य रचनाएँ नीरज का 'प्राण-गीत' आदि मे इस प्रकार के गीतो को देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए वीरेन्द्र मिश्र की यह पक्ति देखिए—

"युद्ध का खेमा सजाते ही न रहना, एशिया की आन का भी ध्यान रखना।"

इसके अतिरिक्त इन कवियो ने मृत्यु और जीवन जैसे दार्शनिक विषयो पर भी गीत लिखे। ऐसे गीतकारो मे नीरज का नाम सर्वप्रथम आता है। इन विषयो को ग्रहण करते समय इन कवियो ने सबसे बडी एक विशेषता का परिचय दिया है, वह यह है कि इन पर उन्होंने अपना ही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वे किसी तर्कशास्त्र या दर्शनशास्त्र के चक्कर में नही पडे हैं। उनके कवि-सस्कारो ने जो कुछ कलम को दिया वही गीत बन कर कागज पर उतरा है।

नवीन गीतो की प्रवृत्तियाँ

वैसे यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि ये गीतकार किसी एक सगठन मे बँधे हुए नही हैं, सबके सब स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। अत नवीन गीत काव्य की प्रवृत्तियो का अध्ययन करते समय यह प्रश्न खडा होता है कि प्रत्येक कवि की काव्य प्रवृत्तियो का पृथक् पृथक विवेचन करने से किसी सामूहिक निष्कर्ष पर कैसे पहुँचा जा सकता है। इसका सीधा उत्तर यही है कि ये गीतकार स्वतन्त्र चेत्ता होते हुए भी कुछ पारस्परिक समानताएँ रखते हैं। ये समानताएँ दो प्रकार की हैं। पहली यह कि सभी एक ही काव्य विधा या काव्य रूप गीत को अपनाकर चले हैं। दूसरी यह कि एक ही युग मे जन्म लेने के कारण समाज के प्रति सचेष्टता और सामयिक जागरण से प्रभावित होने के कारण प्राय सभी की भाव-भूमियाँ एकता के सूत्र मे आबद्ध हो गई हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नवीन गीतो की प्रवृत्तियो म साम्य और वैषम्य दोनो ह। साम्य कम दिखाई देता है और वैषम्य अधिक कारण कवियो की स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अस्तित्ववादिता है।

(1) **समाज के प्रति झुकाव**—नए गीतकारा मे यह प्रवृत्ति सहज न होकर युग प्रभाव और सामयिक दबाव से उत्पन्न हुई है। इस प्रवृत्ति को चित्रित करने मे उनकी वैयक्तिक प्रणयानुभूति ने भी गीतकारो का रोका और टोका है। लेकिन जीवन की विषमताएँ और सामाजिक सघर्ष की कटुता के सामने वह टिक नही सकी है। वीरेन्द्र मिश्र जब यह कहते हैं कि 'जिन्दगानी गा रहा हूँ, मन नही बहला रहा हूँ", अथवा "दूर होती जा रही है कल्पना, पास आती जा रही है जिन्दगी" तब वे समाज और जीवन के इसी दबाव की अभिव्यक्ति करते हैं। यह प्रवृत्ति नीरज और अवस्थी मे भी देखी जा सकती है। शम्भुनाथसिंह जब कहते हैं—"मैं छाड

स्वप्न छाया इस दूर देश आया" और नीरज को जीवन का कटु सत्य ललकारता है—"आज किन्तु जब जीवन का कटु सत्य मुझे ललकार रहा है" तब ये गीतकार सामाजिक उत्तरदायित्व का पूरी तरह अनुभव करते हुए सामने आते हैं और तूफानी लहरों की पुकार सुनकर प्रणय तट से बँधी अपनी जीवन-नौका का लगर खोलकर मझधार म पहुँच जाते हैं और कवि गा उठता है—

भ्रम नही यह टूटती जजीर है, और ही भूगोल की तस्वीर है।
रेशमी अन्याय की अर्थी लिए मुस्कराती जा रही है जिन्दगी।

(2) दार्शनिकता—नए गीतकारो की दार्शनिकता को डॉ शिवकुमार मिश्र ने दो कोटियो में स्वीकार किया है—व्यक्तिपरक और समाजपरक। "नव्यतर गीत कविता की व्यक्तिपरक दार्शनिक्ता का निर्माण प्रथमत उस अतृप्त मूलक जीवन-दर्शन से हुआ है—योगवाद जिसका प्रधान लक्ष्य है जिसे रमानाथ अवस्थी ने स्वर दिया है, द्वितीय जीवन की क्षणभगुरता—मृत्युवाद, नियतिवाद तथा उपलब्ध क्षणो का सम्पूर्ण भोग करने की वृत्ति लिए हुए उस उमर खय्यामी दर्शन से हुआ है जिसके स्वरकार नीरज हैं तथा समाजपरक तथा प्रगतिशील दार्शनिकता को प्रश्रय देने वाले शम्भुनाथसिंह, वीरेन्द्र मिश्र, यदा-कदा क्षेम जसे कवि भी हैं, जिन्होंने या तो उसका स्रोत समाजवादी चिन्तनधारा से जोड़ा है या उस मानवतावाद से जिसे नवयुग की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति माना जा सकता है।' स्पष्ट है कि व्यक्तिपरक दार्शनिक्ता के दो आयाम हैं—एक तो अतृप्ति का और दूसरा भोगवाद का प्रतिफलन है। छायावादोत्तर युग मे अचल ने अतृप्ति पिपासा और तृष्णामूलक गीत गाए जिसका प्रभाव रमानाथ अवस्थी पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा। ऐसी स्थिति में गीतकार कभी तो भोगवादी होकर जीवन और यौवन की क्षणिकता का तक देता है, कभी नियति को कोसता है और कभी कृत्रिम मदहोशी का स्वाँग रचता है और फिर भी कुछ हाथ नहीं आता तो वह कभी-कभी अपनी अतृप्ति का आरोप द्वारा उदात्तीकरण करके गाने लगता है—

'मुझको प्यासे सूरज से प्रीत बडी है मेरी तृष्णा म मरू की प्यास जडी है।"

नए हिन्दी गीत-काव्य मे उमर खय्यामी दर्शन को बच्चन ने अपनाया और नीरज उससे सर्वाधिक प्रभावित हुए। नय गीतो मे इस दार्शनिकता के तीन पक्ष दिखलाई देते हैं—

1 जीवन की क्षणिकता

इसलिए कल पर न टालो आज की अभिसार बेला। —नीरज

× × × ×

आज का यह गीत सुन लो कल न शायद गा सकूँ मैं।—शम्भुनाथसिंह

2 मृत्युवाद

"जग क्षणिक, जीवन क्षणिक, सयुता यहाँ विनृत मधुर है।

—हमेंकुमार

मृत्यु की काया बसी हर देहधारी मे
जी रहा हर एक मरने की तयारी मे। —अवस्थी

3 जीवन का भोग भोगवाद

'आज पिला दो जी भर कर मधु, कल का करो न ध्यान सुनयने।''

वस्तुत ये तीनो पक्ष एक दूसरे से मिले हुए हैं, पृथक्-पृथक् नही हैं। यह विचार उस समय खय्याम मे ही नही भारतीय दर्शन मे भी प्रभूत मात्रा म देखा जा सकता है, लेकिन हिन्दी उसका आगमन खय्याम के काव्य के द्वारा ही हुआ। समाजपरक दार्शनिकता का मूलाधार मानवतावाद है। यह मानवतावाद युग की देन है, प्रगतिशीलता का परिचायक है और गीतकारो की समाजवादिता से उद्भूत है। उसी का एक दूसरा पहलू है, मानववाद, जिसने कवि को समाज से सम्पृक्त किया और यथार्थ अनुभूति करने के लिए विवश किया।

इन दोनो वादो का गीतो के शिल्प पर बहुत प्रभाव पडा है। मानववाद से प्रेरित होकर कवि ग्राम्य वातावरण की ओर मुडा, 'उन्होंने न केवल ग्रामो की धरती, प्रकृति अथवा निवासियो को ही अपने गीतों में उतारा वरन् लोक और ग्राम गीतो की लयो, धुनो तथा भाषा आदि को भी पूरे उत्साह से ग्रहण कर अपने गीतो को नया कलेवर प्रदान किया, उनमे नये सगीत की सृष्टि की, उन्हें नये साचे मे ढाला।'' इस समाजपरक दार्शनिकता ने नये कवियो को जीवन के प्रति आस्थावान बनाया, उसकी व्यक्तिपरक भावनाओ का उदात्तीकरण किया। सुख दु ख झेलने की शक्ति प्रदान कर उन्हें पलायन करने से रोका है। अवस्थी ने गाया— 'डाल के रग-बिरगे फल राह के दुबल पतले शूल मुझे लगते सब एक समान'' और क्षेम ने इन सबको भाग्य का दान मानकर स्वीकार किया। सभी कवि जीवन और समाज से जुडे रहे। सक्षेप म इस समाजपरक दार्शनिकता न कवि मे अस्तित्ववाद के बीज बोये और भारतीय सस्कारवश उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से नियतिवाद की ओर उन्मुख किया। और इस सब झुकाव के मूल म मानव तथा युग को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला मानवतावाद अपनी प्रमुख भूमिका अदा कर रहा है। वीरेन्द्र मिश्र ने उस उत्तरदायित्व का पूरा निर्वाह किया है—

मैं आगत के प्रति सावधान विश्वस्त प्रणत,
पीढी पीढी के लिए गीत लिखने मे रत।

उनका यह समाजपरक मानवतावादी दृष्टिकोण कही युद्ध विरोध के रूप मे व्यक्त हुआ है कही राष्ट्रभक्ति के रूप म, देशगान के रूप में। अवस्थी के गीतो मे भी यह स्वर अत्यन्त मुखर है—

मुझको बडा सा काम दो
चाहे न कुछ आराम दो
लेकिन जहा थक कर गिरूँ
मुझको वही तुम थाम लो।

गिरते हुए इन्सान को कुछ मैं कहूँ कुछ तुम कहो
जीवन कभी सूना न हो, कुछ मैं कहूँ कुछ तुम कहो।

संक्षेप में, जीवन के प्रति आस्था, उसके स्वस्थ विकास के लिए कामना, मानववाद और मानवतावाद, जनवाद की अभिव्यक्ति करना इन गीतकारों की मुख्य प्रवृत्तियाँ रही हैं। इसी कारण ये पाठकों को अधिक प्रभावित कर सके हैं।

(3) अहवादिता—यह नये गीतकार की ही नहीं, प्रत्येक गीतकार की प्रवृत्ति होती है कि गीत का सृजन उसके बिना अह के हो ही नहीं सकता। जब यह कहा जाता है कि गीत के लिए निजीपन, रागात्मकता आवश्यक है तो उसे गीत की इसी दिशा का संकेत समझना चाहिए। नये गीतों मे यह अहवादिता कई प्रकार से व्यक्त हुई है। कहीं तो कवि अपने विषय मे स्पष्टीकरण देने लगता है—

मेरे उर को निर्मल जानो
पिछले जीवन को भ्रम जानो —अवस्थी

कहीं वह स्वयं के उत्तरदायित्व के प्रति सचेष्ट होने का दावा करने लगता है—

मैं आगत के प्रति सावधान विश्वस्त प्रणत। —वीरेन्द्र मिश्र

कभी वह अपने सिद्धान्तों को व्यक्त करके अहम् को तुष्ट करता है—

मानता कुछ सत्य ही इस विश्व का आधार है प्रिय
किन्तु निज मे सत्य का आधार क्या है रूप क्या है
सत्य तो झंकार है प्रिय। —क्षेम

और कभी वह अपनी अनुभूतियों के स्वरूप को व्यक्त करता है—

मेरी पीड़ा की गहराई मत पूछो तुम,
इसमे दुनियाँ भर के सागर भर जाएँगे। —वीरेन्द्र मिश्र
मुझे अकेला देख मौत ललचाई सारी रात। —अवस्थी

इस प्रकार कवि की यह अहम्वादिता अनेक प्रकार के गीतों में व्यक्त हुई है लेकिन इसका प्रधान क्षेत्र प्रणय रहा है। सामाजिक क्षेत्र म कवि एक सामाजिक प्राणी के रूप मे सामने आया है, अहम्ग्रस्त व्यक्ति के रूप मे नहीं। इस दिशा म वीरेन्द्र मिश्र अधिक प्रगतिशील रहे हैं जहाँ कहीं उन्हे अवसर मिला है उन्होंने तुरन्त अपने अह का छुटकारा पाकर समाज के साथ साथ देश के गीत गाना प्रारम्भ कर दिया है—

मेरा देश है ये, इससे प्यार मुझको
आल्हा की हुँकार, रामायन की कथा।
वृन्दावन के रास गोपियों की व्यथा।
त्यौहारों की धूम दिवाली के दिये
होली के रंगों बिन कोई क्या जिये
यह सब मेरी दुनिया की आवाज है,
इस पर ही तो होता मुझको नाज है।

और ऐसे ही स्थल पर कवि यह घोषणा करने पर मजबूर हो जाता है कि—

लेखनी बजा रही सितार है,
गा रहा नवीन गीतकार है।

निष्कर्ष यही है कि नये गीतों में ये प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं— (1) सामाजिकता, (2) नियतिवाद, (3) भोगवाद, (4) मृत्युवाद, (5) क्षणवाद, (6) मानवतावाद, (7) समाजवाद, (8) मानववाद, (9) अहंकविता और (10) देशभक्ति।

नये गीतों में ये प्रवृत्तियाँ कुछ इस तरह गुथी हुई हैं कि उन्हें पृथक पृथक कठघरों में रखकर दर्शन सम्भव नहीं है। कवि सस्कार से इन सभी प्रवृत्तियों में जीने का आदी है अत वह जब भी लिखता है तो प्राय ये सब या उनमें से अधिकांश एक दूसरे के रूप में अपना रूप ढालकर गीतों में उतर ही आती हैं। इनमें से नियतिवाद, भोगवाद, मृत्युवाद, क्षणवाद विशेष रूप से एक साथ मिलकर व्यक्त हुई हैं और मानववाद, मानवतावाद, समाजवाद और देशभक्ति एक दूसरे के प्रतिफल या विकास के रूप में प्रस्तुत हुई हैं।

रही अहमवादिता की अभिव्यजना की बात सो वह तो गीत काव्य का प्राण है ही। किसी न किसी रूप में वह इन सभी प्रवृत्तियों के मूल में सदा रहती है। नये गीतों में भी इसे अपनाया गया है और एक स्वस्थ रूप में अपनाया गया है। निवृत्ति के रूप में उसने गीतों में कुत्सित और हीन मनोभावों को प्रविष्ट नहीं होने दिया है।

नये गीत का शिल्प

काव्य रूप—नये गीत के शिल्प के सम्बन्ध में एक बात तो यह सर्वप्रथम जान लेनी चाहिए कि आज का गीतकार किसी नवीन काव्य रूप का निर्माण नहीं कर पाया है। सभी ने प्राय परम्परा का ही पालन किया है। उसमें किसी अभिनव स्वरूप के दर्शन नहीं होते। यह कवि की अक्षमता है या गीत गठन की सकीर्णता, कहना कठिन है।

भाषा शैली—नये गीतों की भाषा सरल और प्रवाहमयी है। उसमें जटिल से जटिल अनुभूतियों को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। नये गीतकारों की भाषा पर छायावाद की भाषा की अभी भी छाया पड़ी हुई है। यदि विवेचन की दृष्टि से देखा जाय तो नये गीतों की भाषा शैली के तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं—(1) छायावादी, (2) साधारण बोलचाल का रूप (3) लोकभाषा का रूप।

(1) छायावादिता—यह रूप शम्भुनाथ सिंह के काव्य में अधिक मुखर है। डा मिश्र के शब्दों में—"छायावादी प्रभावों ने जहाँ उनकी भाषा को एक मधुरता, मसृणता तथा संगीतात्मकता प्रदान की है, वहाँ नये युग की माँग ने उसे सहज बोधगम्य भी बने रहने दिया है।" अन्य कवियों के शब्द विधान पर भी छायावादी शब्द विधान का प्रभाव पड़ा है चाहे वह कम मात्रा में ही क्यों न हो। जब जब नये

गीतकारो ने प्रणय, प्रकृति और सौन्दय तथा अनुभूतियो की सरलता के गीत गाये हैं तब-तब उनकी भाषा शली का रूप छायावादी प्रकृति के अनुकूल हो गया है।

(2) साधारण बोलचाल का रूप—नये गीतो की भाषा शली का यही प्रमुख रूप है। इस रूप पर उदू और व्यवहार मे आने वाले शब्दों, वाक्यो का प्रभाव अधिक गहरे रूप मे पडा है। शम्भूनाथ सिंह में तो उदू गजलो, शेरो जसी अनेक उक्तियाँ देखी जा सकती हैं। वीरेन्द्र मिश्र के गीतो म भी उदू या लोक प्रचलित शब्दावली से व्यावहारिक सरल भाषा का प्रयोग हुआ है। नीरज के तो गीत जसे जीते ही उदू का सहारा लेकर हैं। उनके गीतो का निर्माण करने म बगिया कब्र कफन, मजार मरघट, इन्सान, चिता, अर्थी बुलबुल, दद, प्यास, दीप, कारवाँ मौत, श्मशान आदि शब्दो म प्रमुख योगदान दिया है।

नवीन गीतो मे भाषा शली के इस स्वरूप को ग्रहण कराने म कवि सम्मेलनो का प्रमुख योग रहा है। "कवि सम्मेलनो स विशेष सम्बन्ध होने के कारण उक्ति की खूबी विरोधाभासो का सौन्दय, उदू की सी तर्जेबयानी, सब का उपयोग आज के गीतो मे सफलतापूवक किया जा रहा है। इसी के प्रभाव मे आकर कभी कभी सिनेमा की लयो पर भी गीतो का सृजन कर लिया गया है।

(3) लोकभाषा का रूप—जब नये गीतकार का झुकाव ग्राम्य चित्रण की ओर हुआ तो उसने भाषा को लोक प्रचलित रूप देना चाहा तब गीतो का शिल्प लोकगीतो के शिल्प के अनुकूल हो गया। गीतो के इस शिल्प का शिलान्यास सवप्रथम बच्चन ने किया और शम्भूनाथ सिंह तथा क्षेम ने उसे विकास प्रदान किया। गीतो मे टर बरगद, मिहर, पियर, बेतर बिरहा, बहुली, कजली बतियाँ आदि का प्रयोग इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। सक्षेप म, जब जब कवि ने गाँव का गीत, किसान का गीत आषाढ का गीत और गाँव की धुनो तथा लयो पर अपने तथा नगर के भी गीत गाये हैं तब तब उनकी भाषा शैली पर लोक भाषा का प्रगाढ प्रभाव देखा जा सकता है।

भाषा के इन रूपो से गीतो म सरसता, सहजता और प्रवाहमानता एव प्रभावोत्पादकता का तो समावेश हुआ किन्तु उसकी व्यजना शक्ति का धीरे धीरे लोप हो गया। गीतो मे व्यजना के वाहक के रूप म प्रमुख रूप से प्रतीक प्रयुक्त होते हैं। नये गीतो ने नयी कविता के युग मे भी किन्ही नये और महत्त्वपूर्ण या अनुकरणीय प्रतीको को जन्म नही दिया। अधिकांश गीत कलम, राह दीपक, चाँद चाँदनी, मंजिल आदि साधारण एव घिसे पिटे परम्परित प्रतीको स भरे पडे हैं। यह सच है कि भाषा शिल्प के इस स्वरूप ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म एव तरल से तरल मनोवेगो को सफल अभिव्यक्ति दी है फिर भी एक दो कवियो को छोडकर उन्हे मूर्त रूप देने के, चित्रात्मकता प्रदान करने के लिए जिस शब्द विधान की आवश्यकता होती है उससे परिचित होते हुए भी नये गीतकार उसका सफलता स प्रयोग नही कर पाये। हाँ, नये गीतो म प्रकृति का मानवीकरण करते समय अवश्य बिम्बात्मकता के दशन किये जा सकते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नवीन गीतकाव्य, गीतकाव्य की परम्परा को बनाये हुए नये आचार्यों से युक्त नयी दिशाओं का अन्वेषण करता हुआ, *नयी कविता की छाया में अग्रसर होने वाला वह काव्य है, जिसे आज के उन कवियों* ने सम्हाल रखा है, जो कवि सम्मेलनों के माध्यम से, रेडियो या सिनेमा के माध्यम से इसका विकास करने को सलग्न हैं। ये नये गीत युगानुकूल प्रवृत्तियों को लेकर युगानुकूल भाषा में लिखे गये हैं। नया गीत उदात्त के मोह में कभी भी दुरूह और अबोध नहीं हुआ है। उसका सहज प्रवाह समाज के प्रति है। भाव के क्षेत्र में चाहे कम सही लेकिन शिल्प के क्षेत्र में वह पूरा सामाजिक है। नये युग की नयी चेतना का गेय रूप में व्यक्त करने की जिम्मेदारी उसने पूरी ईमानदारी के साथ अपने कंधों पर ले रखी है। आजकल नये गीतकार जिस मानवीय चेतना को वाणी दे रहे हैं, वह नयी कविता से बहुत दूर की वस्तु नहीं है।

आधुनिक काल की विभिन्न धाराओं के कवि रचनाकार

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—वर्तमान हिन्दी युग के प्रतिष्ठापरक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् 1907 में काशी के प्रसिद्ध वैश्यवंश में हुआ। उनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था। वह वैष्णव थे और ब्रजभाषा में 'गिरधरदास' उपनाम से कविताएँ करते थे। उन्होंने 40 ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से अनेक अप्राप्य हैं। परन्तु जो प्राप्य हैं, उनमें काव्य कौशल की अनुपम छटा दिखाई देती है। ऐसे लब्ध-प्रतिष्ठ कवि के पुत्र भारतेन्दु भी बड़े प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। बचपन में ये बड़े नटखट थे। परन्तु दुर्भाग्य से पाँच वर्ष की अल्पायु में ही वह मातृ स्नेह से वंचित हो गये। 9 वर्ष की अवस्था में ही उन्हें पिता भी अकेला छोड़कर परलोक सिधार गये। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई। हिन्दी तथा अंग्रेजी पढ़ाने के लिए शिक्षक उनके घर पर ही आया करते थे। उर्दू भी एक मौलवी पढ़ाने आते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह क्वींस कॉलेज में प्रविष्ट हुए, पर उनका वहाँ मन नहीं लगा। कविता करने की ओर दिन प्रतिदिन उनकी अभिरुचि बढ़ती जा रही थी। कविता निर्माण के अंकुर तो इनमें पाँच वर्ष की आयु में ही दिखलाई देने लगे थे, जब इन्होंने निम्न दोहा बनाया था—

> लै ब्योंडा ठाड़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
> बानासुर की सैन को, हनन लगे भगवान॥

माता पिता की मृत्यु के पश्चात आप तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े। इस तीर्थ यात्रा से जहाँ आपको अन्य लाभ हुए वहाँ मराठी, गुजराती, बंगला आदि प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान भी अनायास प्राप्त हो गया।

भारतेन्दु वास्तव में एक अत्यन्त उदार प्रकृति और शाही तबियत के कलाकार थे। देश, जाति, राष्ट्र, समाज, साहित्य और कला के लिए आपका कोष सदा उन्मुक्त था। जिस बात की धुन लग गयी, उसके लिए पैसे की कमी का प्रश्न कभी नहीं आ सकता था। आपने अपनी लाखों की सम्पत्ति अपनी बात पर ही लुटा

दी थी। पैंतीस वर्ष की आयु में हिंदी के लिए जैसी महत्त्वपूर्ण सेवा आपने की, वैसी सम्भवतः अन्य किसी ने भी नहीं की होगी। भारतेंदु जी के लिए निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिंदी को नव जीवन देने के लिए ये एक युग-पुरुष के रूप में अवतीर्ण हुए और वे हिंदी के लिए जीवित रहे। भारतेंदु जी ने हिंदी के प्रचार तथा हिंदी साहित्य के निर्माण के लिए अनेक उपाय और प्रयत्न किये, जिनमें से प्रमुख ये हैं—

(1) हाई स्कूल की स्थापना—भारतेंदु ने काशी में 'हरिश्चन्द्र हाई स्कूल' के नाम से एक विद्यालय की स्थापना की जिसमें शिक्षा निःशुल्क थी, तथा छात्रों को पुस्तकें आदि भी बिना मूल्य मिलती थीं।

(2) पत्र-पत्रिकाएँ—भारतेंदु जी ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया, जिनमें 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' उल्लेखनीय है। यही मैगजीन आगे चलकर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

(3) नाट्य समितियाँ—हिंदी के रंगमंच को पुनर्जीवित करने के लिए उन्होंने एक 'हिंदी नाटक मण्डली' की भी स्थापना की। यह मण्डली भारतेन्दु के लिखे नाटकों का सुन्दर अभिनय प्रस्तुत किया करती थी। स्वयं भारतेन्दु जी भी इस मण्डली में सक्रिय भाग लेते थे।

(4) कलाकारों का निर्माण—भारतेन्दु जी ने जहाँ स्वयं बहुत कुछ लिखा, वहाँ अनेक कलाकारों को भी प्रोत्साहित किया। हिंदी साहित्य में भारतेंदु मण्डली एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहनसिंह, श्रीनिवासदास आदि अनेक उत्कृष्ट कलाकार भारतेंदु मण्डली के अन्तर्गत हिंदी की सेवा में लगे थे।

(5) नाटक निर्माण—भारतेंदु से पूर्व हिंदी में नाटक का अभाव सा था। 'हनुमन्नाटक', 'देवमाया प्रपंच', 'आनन्द रघुनन्दन' आदि कई नाटक थे अवश्य लेकिन वास्तव में ये नाटक न होकर पद्यात्मक संवाद ही थे। भारतेन्दु जी ने 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी' और 'अंधेर नगरी' आदि नाटकों का निर्माण करके हिंदी में नाटक परम्परा को प्रचलित किया।

हिंदी के प्रचार एवं प्रसार के अतिरिक्त भारतेंदु ने सुधार कार्य भी बड़े मनोयोग से किया। उन्होंने अपनी पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों पर बड़े तीखे और गहरे व्यंग्य किये हैं। साहित्यकार होने के साथ-साथ भारतेंदु सच्चे देशभक्त भी थे। देश की पराधीनता तथा तज्जन्य दुर्दशा को देखकर उनका हृदय रो उठता था। उनके हृदय का यह क्रन्दन—

आवहु रोवहु मिलि कै सब भारत भाई।
हा! हा! भारत दुदशा देखि न जाई॥

आदि पदों में व्यक्त हुआ है।

रचनाएँ—भारतेंदु जी की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ व्यापक थीं और इस कारण उनकी रचनाएँ इतनी अधिक हैं कि उन्हें देखकर उनकी अपूर्व प्रतिभा, उनके

अध्यवसाय और हिंदी सेवा की अटूट लगन पर विस्मय होता है। 16–17 वर्ष के अल्प साहित्यिक जीवन मे हिंदी-साहित्य को जो अनुपम रत्न भेंट किये वे गुणोत्कर्ष की दृष्टि से तो बहुमूल्य हैं ही, परिमाण की दृष्टि से भी इतने अधिक हैं कि केवल इनके नाम गिनाने के लिए ही अत्यधिक स्थान चाहिये। उनकी रचनाएँ नाटक, काव्य, इतिहास, निबंध और आख्यान के रूप मे मिलती हैं।

1 नाटक—उनके मौलिक नाटक 9 हैं—(1) सत्य हरिश्चन्द्र, (2) चन्द्रावली, (3) भारत-दुर्दशा, (4) नीलदेवी, (5) अंधेर नगरी, (6) वैदिक हिंसा हिंसा न भवति, (7) विषस्य विषमौषधम् (8) सती प्रताप, (9) प्रेम योगिनी। इनमें से अंतिम दो अपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त (1) मुद्राराक्षस, (2) धनंजय विजय, (3) रत्नावली नाटिका, (4) कर्पूर मंजरी, (5) विद्या सुन्दर, (6) भारत-जननी, (7) पाखण्ड विडम्बन, (8) दुर्लभ बंधु अनुदित नाटक हैं। इनमें से प्रथम तीन संस्कृत के अनुवाद हैं। चौथा प्राकृत का अनुवाद तथा पाँचवाँ और छठा तथा सातवाँ बंगला से अनुवाद किये गये हैं। अंतिम नाटक अंग्रेजी नाटक का अपूर्ण अनुवाद है।

2 इतिहास आदि विविध विषयों पर भी भारतेन्दु जी ने गवेषणापूर्ण लेख लिखे। कश्मीर-कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, अग्रवालों की उत्पत्ति, 'दिल्ली दरबार दर्पण' आदि उनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं।

3 नाटक साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-साहित्य भी अत्यन्त विस्तृत है। उनके भक्ति सम्बन्धी 41 ग्रन्थ मिलते हैं। छोटे-छोटे ग्रन्थ होने पर भी ये सब भक्ति-साधना से पूर्ण हैं। उनके शृंगार सम्बन्धी पद्य भी कम नहीं हैं। होली, मधुकुल, प्रेम फुलवारी सतसई आदि उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। विजयिनी विजय, वैजयंती, भारत-वीणा, सुमनांजली उनकी राष्ट्रीय एवं राज-भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ हैं।

4 निबंध और आख्यान भी भारतेन्दु जी के लिखे हुए मिलते हैं पर उनमे से अधिकतर अपूर्ण हैं। सुलोचना, मदालसा और लीलावती उनके लिखे प्रसिद्ध आख्यान हैं। परिहास पंचक इनका हास्य-रस-सम्बन्धी ग्रन्थ है। 'परिहासिनी' में छोटे मोटे हास्य-लेख हैं।

भारतेन्दु की भाषा के सम्बन्ध मे यह ज्ञातव्य है कि भारतेन्दु का उदय हिंदी साहित्य में ऐसे समय मे हुआ जब राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और राजा लक्ष्मण सिंह का हिंदी खड़ीबोली के स्वरूप के सम्बन्ध में द्वन्द्व चल रहा था। भारतेन्दु ने राजाद्वय की परस्पर विरोधिनी शैलियो मे सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने बोल-चाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया जिसमे तद्भव रूपों का ही विशेष प्रयोग किया। साथ ही देशज शब्दों और मुहावरों को भी स्थान दिया तथा संस्कृत के सरल, सुबोध और लोक-प्रचलित शब्दों को भी अपनाया। इनकी दो शैलियाँ हैं—

1 भावात्मक शैली—इस शैली में उन्होंने साधारण और सरल विषयों पर अपनी रचनाएँ लिखी हैं।

2 वर्णनात्मक शैली—इस शैली मे भारतेन्दु जी ने ऐतिहासिक और विवेचनात्मक विषयो पर लिखा।

ब्रजभाषा के अतिरिक्त काव्यक्षेत्र मे उन्होंने खड़ी बोली का भी सफल प्रयोग किया है।

भारतेन्दु की इस साधना का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-साहित्य जो अब तक जन जीवन से विमुख होकर चल रहा था, अब रीतिकालीन रूढ़ियो की सीमाओ से दूर हटकर नवीन चेतना का सशक्त अकन करने मे समर्थ होने लगा। विज्ञान इतिहास, गणित, राजनीति, गवेषणा आदि नये नये गम्भीर विषयो की ओर हिन्दी साहित्यकारो की लेखनी उन्मुख हुई। भारतेन्दु ने अपने चारो ओर लेखको का ऐसा मण्डल तैयार कर लिया था कि जिसने हिन्दी-साहित्य मे इस नवीन रूप को आगे बढाने मे युग-प्रवर्तक का कार्य किया। यही कारण है कि भारतेन्दु हिन्दी के पिता माने गये हैं।

प्रतापनारायण मिश्र—प० प्रतापनारायण मिश्र के पिता श्री सकटाप्रसाद बैस गाँव जिला उन्नाव के सनाढ्य ब्राह्मण थे और अपने स्थान से कानपुर आकर बस गये थे। यही प्रतापनारायण का जन्म स० 1913 मे हुआ। बालक प्रतापनारायण को स्कूल पढ़ने के लिए भेजा गया पर इनका मन नही लगा। 19 वर्ष की अवस्था मे उन्होने स्कूल का परित्याग कर दिया। इनका अग्रेजी ज्ञान तो साधारण था किन्तु इन्होने घर मे ही फारसी, सस्कृत, उर्दू और हिन्दी का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनका व्यक्तित्व बड़ा विलक्षण था। ये गोरे रग के दुबले-पतले शरीर के थे। ये बड़े ही मनमौजी और स्वतन्त्र प्रकृति के थे। इनके स्वभाव मे विनोदप्रियता का स्थान मुख्य है। किसी न किसी बात मे ये अपनी विनोदपूर्ण युक्ति या उक्ति निकाल ही लेते थे, उदाहरणार्थ 'ब्राह्मण' पत्रिका के लिए अपने ग्राहक से चन्दा वसूल करते समय भी वे व्यग्य विनोद को नही भूले थे, यथा—

> चार महीने हो चुके ब्राह्मण की सुधि लेव।
> गगा माई जै करै तुरत दक्षिणा देव॥
> जो बिनु माँगे दीजिए दुहुँ दिसि होय अनन्द।
> तुम निश्चिन्त हो हम कर माँगन की सौगन्ध॥

ब्राह्मण पत्रिका मे यद्यपि देश दशा समाज-सुधार, हिन्दी प्रचार प्रभृति अनेक विषय रहते थे तथापि उनके शीर्षक मनमौजी तबीयत के सूचक प्रतीत होते हैं, जैसे—"घूर का लत्ता, बिनै कनातन कै डौल बाँध, समझदार की मौत, वृद्ध, भौं" आदि।

इनकी गद्य पद्य रचनाओ और नाटको के नाम ये हैं—'कलिकौतुक रूपक', 'कलि प्रभाव नाटक', 'हठी हम्मीर', 'गौ-सकट', 'जुआरी-खुआरी', 'प्रेम-पुष्पावली', 'मन की लहर', 'शृगार-विलास', 'दगल खण्डन', 'लोकोक्ति शतक', 'तृप्यन्ताम', 'ब्रैडला स्वागत', 'शैव सर्वस्व', 'प्रताप-सग्रह', 'रसखान शतक,' 'मानस विनोद'

आदि। इन ग्रन्थों से ये सभी विषयो के लेखक सिद्ध होते हैं। इनके नाटक रगमच का ध्यान रखकर लिखे गए प्रतीत होते हैं। ये अभिनय-विद्या मे भी पारगत थे। सफल अभिनेता होने के कारण ये मचोपयोगी नाटक लिखने मे अधिक कृतकार्य हुए। निबन्ध लेखक के रूप मे इनका नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इनकी लेखन प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग के बाहर नही जाती, फिर भी किन्ही दिशाओं में अपने निद्वन्द्व व्यक्तित्व के कारण इनकी युग से भिन्नता भी स्पष्ट लक्षित होती है—इनकी भाषा सजीव, चुस्त और गुदगुदाने वाली है। नमूना देखिए—

"सच है, 'सब त भले हैं मूढ जिन्हें न व्यापै जगतगति।' मजे से पराई जमा गपक बठना, खुशामदियो से गप मारा करना, जो कोई तिथ-त्यौहार आ पड़ा तो गगा मे बदन धो आना, गगापुत्र को चार पैसे देकर सेतमेंत मे धरम मूरत, धरम-औतार का खिताब पाना, ससार परमाथ दोनो तो बन गए, अब काहे की है है और काहे की खें खें।"

प्रताप नारायण की कविता इनकी रगीली तबियत को प्रकट करती है। उदाहरणार्थ यह अश देखिए—

> तब लखि हौ जहँ रह्यौ एक दिन कचन बरसत।
> तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥
> जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालैं।
> ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहि पालैं॥
> नोन तेल लकडी घासहु पर टिकस लगै जहँ।
> चना चिरौंजी मौल मिल जहँ दीन प्रजा कहँ॥
> जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माही।
> देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कसेहु नाही॥
> कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ रिन भारन।
> तहँ तिनकी धनकथा कौन जे गृही सधारन॥

बालकृष्ण भट्ट

हिन्दी निबन्ध साहित्य के महारथी बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग मे स 1901 मे और परलोकवास स 1971 मे हुआ। इन्होंने स 1933 मे एक पत्रिका 'हिन्दी प्रदीप' निकाली। इस पत्रिका ने हिन्दी गद्य के निर्माण मे योग दिया। यद्यपि भट्ट जी के गद्य मे पूरबीपन की छाप है, अग्रेजी और फारसी के शब्दा का खुलकर प्रयोग हुआ है तथापि उसके भावी व्यावहारिक स्वरूप का निर्धारण भी बहुत कुछ इनकी लेखनी द्वारा ही हुआ है। भट्टजी भी प्रतापनारायण की तरह व्यग्यपूर्ण और मुहावरेदार भाषा लिखना पसन्द करते थे, पर उसमे कहीं-कहीं भड्डापन मात्रा से अधिक आ जाता था। इनके शीर्षक भी प्रतापनारायण के शीर्षको की तरह अधिकतर छोटे होते थे जैसे—आँख, नाक, कान, बातचीत आदि। इनके वाक्य लम्बे और अनूठे होते थे। गद्य का नमूना प्रस्तुत है—

"इधर पचास साठ वर्षों से अंग्रेजी राज्य के अमनचैन फायदा पाय हमारे देश वाले किसी भलाई की ओर न झुके वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह कर पहले से ड्योढी दूनी सृष्टि अलबत्ता बढाने लगे। हमारे देश की जनसंख्या अवश्य घटनी चाहिए।'

निबन्धों के अतिरिक्त भट्टजी ने कतिपय नाटक भी लिखे हैं—'कलिराज की सभा' 'रेल का विकट खेल' 'बाल-विवाह' नाटक और 'चन्द्रसेन' नाटक। माईकेल मधुसूदन दत्त के दो नाटकों—'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' के अनुवाद भी आपने किए थे। गद्यकार और नाटककार के अतिरिक्त आपको आलोचक भी कहा जाता है। लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' पर इनकी हिन्दी आलोचना 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुई थी।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

'प्रेमघन' के पिता मिर्जापुर के रहने वाले सरयूपारीय ब्राह्मण थे और बहुत बड़ी जागीर के मालिक थे। प्रेमघन का जन्म सं 1912 में हुआ और निधन सं 1979 में। प्रेमघन भारतेन्दु के मित्र थे और उन जैसी वेशभूषा भी रखा करते थे। गद्य निर्माता में भारतेन्दु के बाद आपका ही स्थान है। प्रतापनारायण तथा भट्टजी के निबन्ध उनके विनोदप्रिय स्वभाव के परिचायक हैं और प्रेमघन के निबंध निश्चित शैली और सीमित मान्यताओं के द्योतक हैं। 'कला को कला के लिए' मानने वालों में आपको भी गिनना चाहिए। लगभग इसी सिद्धान्त को आप 'कलम की कारीगरी' कहते हैं। आपके वाक्य लम्बे, अनूठे सानुप्रास और वक्र होते थे। साधारण ढंग से लिखना तो मानो आपको आता ही न था। एक लेख लिखकर बार-बार उसे काट छांट कर मांजने की आदत से कई बार आपके लेख बड़ी मुद्दत तक पड़े रहते। अनुप्रास को आपकी भाषा का प्राण मानना चाहिए। आचार्य शुक्ल के लिखे नोट में संशोधन करते हुए भी वे अनुप्रास को नहीं भूले, देखिए—

दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।'

इनकी भाषा का एक और उदाहरण प्रस्तुत है—

'दिव्य देवी श्री महारानी बढ़हर लाल झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े-बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल-पेल और कभी उस पर सुख की कुलेल है।"

इन्होंने 'आनन्द-कादम्बिनी' नामक पत्रिका भी निकाली थी। निबंधों के अतिरिक्त प्रेमघन जी ने नाटकों की रचना भी की है यथा—'भारत सौभाग्य' 'प्रयागरामागमन', 'वारांगना रहस्य' आदि। पहला नाटक कांग्रेस की स्थापना के उल्लास में लिखा गया था। इसमें अनेक प्रान्तों के अनेक पात्र हैं। 'आनन्द-कादम्बिनी' में लाला श्रीनिवासदास कृत नाटक की आलोचना भी छपी थी। इस आलोचना में दोष-दर्शन का प्रयास ही अधिक है। एक उदाहरण देखिए—

'नाटक के प्रबंध का कुछ कहना ही नहीं, एक गंवार भी जानता होगा कि स्थान परिवर्तन के कारण गर्भांक की आवश्यकता होती है अर्थात् स्थान के बदलने में परदा डाला जाता है और इसी पर्दे के बदलने को दूसरा गर्भांक मानते हैं सो आपने एक ही गर्भांक में तीन स्थान बदल डाले हैं।'

प्रेमघन जी ब्रजभाषा के सरस कवि थे। वे सं. 1969 में कलकत्ता में हुए साहित्य सम्मेलन के सभापति भी चुने गए थे। भारतेंदु जैसी भावुकता और मस्ती भी आप में थी। प्रेमघन सर्वस्व में इनकी रचना का संकलन किया गया है। कविता का नमूना प्रस्तुत है—

बगियान बसंत बसेरो कियो बसिये तेहि त्यागि तपाइये ना।
दिन काम कुतूहल के जु बने तिन बीच वियोग बुलाइये ना॥
प्रेमघन बढ़ाय कै प्रेम अहो बिथा बारि वृथा बरसाइये ना।
चित चैत की चाँदनी चाहभरी चरचा चलिबे की चलाइये ना॥

द्विवेदीयुगीन रचनाकार

श्रीधर पाठक (सं. 1916–1985)

इनकी लेखनी ब्रजभाषा में सिद्ध हो चुकी थी। उसके पश्चात् इन्होंने खड़ी बोली में कविता करना प्रारम्भ किया। माधुर्य लाने के लिए खड़ी बोली में इन्होंने ब्रजभाषा के त्यों, मों, तिहूँ, पाव, जानैं आदि शब्दों का प्रयोग किया है। पाठक जी द्वारा सं. 1931 में गोल्डस्मिथ की नज्म का लिखा हुआ 'एकांतवासी योगी' ब्रजभाषा में है।

पाठक जी ने कई प्रकार के नवीन छंदों की रचना की है कुछ अतुकान्त छंद भी लिखे हैं। आप प्रकृति के परमोपासक थे, और प्रकृति की मनोरम क्रीडा स्थली कश्मीर भूमि की प्रशंसा में, 'काश्मीर सुषमा' नाम की छोटी सी पुस्तक लिखी है, जिसमें कि हम प्रकृति के आलंबन रूप वर्णन का प्रयास देखते हैं। पाठक जी में राष्ट्रीय भावना भी पर्याप्त मात्रा में थी। आपके राष्ट्रीय गीत 'भारत गीत' में संकलित हैं। यहाँ पर पाठक जी की कविता के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

इस पर्वत की रम्य तटी में मैं स्वच्छंद विचरता हूँ
परमेश्वर की दया देख के पशु हिंसा से डरता हूँ।
गिरिवर ऊपर की हरियाली झरना जल निर्दोष
कंद मूल फल फूल इन्हीं में करूँ क्षुधा सन्तोष

× ×

उसी भांति सांसारिक मैत्री केवल एक कहानी है।
नाम मात्र से अधिक आज तक नहीं किसी ने जानी है।
जब तक धनसम्पत्ति प्रतिष्ठा, अथवा यश विख्याति
तब तक सभी मित्र, शुभचिन्तक निजकुल, बांधव जाति।

—एकांतवासी योगी

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

इनका जन्म सं 1922 में तथा मृत्यु सं 2004 में हुई थी। आजमगढ़ में जन्मे हरिऔध जी पहले तो अध्यापक थे, बाद में कानूनगो भी। हिन्दू विश्वविद्यालय में भी कुछ दिन मालवीय जी के कहने पर अध्यापक रहे। आपने ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों ही में कविता की है। ब्रजभाषा की कविता में आप रीतिकाल के कवि के रूप में आते हैं। आपका 'रस-कलस' रीति ग्रन्थों के अनुकरण में लिखा गया है किन्तु उसकी भूमिका गद्य में होने के कारण अधिक मार्मिक और विवेचनात्मक है। इसके अतिरिक्त आपने ब्रजभाषा में और भी बहुत-सी कविताएँ की हैं जो उच्च कोटि की अवश्य हैं किन्तु उनके कारण साहित्य में कुछ नयी चीज नहीं आयी। आपका मुख्य प्रबंध काव्य ग्रन्थ खड़ी बोली में 'प्रिय प्रवास' के रूप में आया है। वही आपका कीर्ति स्तम्भ है। इनका दूसरा प्रसिद्ध महाकाव्य 'वैदेही वनवास' है जो सीता के वनवास की करुण कथा पर आधारित है। 'पारिजात' भी इनका प्रबन्धात्मक शैली में लिखा काव्य है। 'चोखे चौपदे' और 'पद्य प्रसून' में इनकी फुटकर रचनाएँ संकलित हैं। आपने खड़ी बोली की कविता उर्दू बहरों की प्रणाली में भी की है—

> बात कस बता सके तेरी, है मुहं में लगे हुए ताले।
> खावने बन गये न बाल सके, बाल की खाल काढ़ने वाले।।

इस शैली से व्यापकता अवश्य आ जाती है क्योंकि हिन्दू मुसलमान दोनों आसानी से समझ सकते हैं किन्तु इसमें हिन्दी के व्यक्तित्व के जाते रहने का भय बना रहता है।

मैथिलीशरण गुप्त

श्री मैथिलीशरण गुप्त वर्तमान युग के प्रतिनिधि कवि हैं। झाँसी के चिरगाँव में जन्मे गुप्त जी वैश्य परिवार के थे। इनके पिता भी कवि थे। पं महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से इन्होंने खड़ी बोली में कविता रची। अपनी कविताओं से इन्हें असीम लोकप्रियता मिली। स्वतन्त्र भारत में इन्हें राष्ट्रकवि की पहली पदवी से सम्मानित किया गया। ये राष्ट्रपति द्वारा निर्मित संसद के सदस्य भी रहे थे। उनमें राष्ट्रीयता की छाप पूरी तौर से दिखलायी देती है। उनकी प्रारम्भिक काल की कविताएँ पूर्णतया राष्ट्रीय हैं। उनमें, विशेषकर 'भारत भारती' की कविताओं में प्राचीन काल की गौरवान्वित अवस्था की वर्तमान अवस्था से तुलना करके भविष्य के लिए आशा का संदेश दिया गया है। गुप्तजी भक्त होते हुए भी बड़े समाज सुधारक थे। हिन्दू नाम की एक पुस्तक में वे उपदेशक के रूप में दिखायी देते हैं। उनका 'जयद्रथ वध' बड़ा ही सुन्दर खण्ड-काव्य है। उसमें राजनीतिक सिद्धान्तों का काव्यमय वर्णन हुआ है। 'अनघ' में मघ नाम के एक ऐसे ग्राम सुधारक के दर्शन होते हैं जो अपने प्रण के लिए महान आपत्तियों का सहन करता है। इस युग में दुःखों का सहना ही सच्ची वीरता है। वर्तमान युग में सुधारक का इससे पुनीत और कौन सा व्रत हो सकता है। गुप्तजी की 'झंकार' में शामिल कविताओं का

मग्न है। 'झंकार' की कविताएँ रहस्यवाद की कविताएँ कही जा सकती हैं। गुप्तजी के रहस्यवाद मे भावना और अनुभूति की पर्याप्त मात्रा होते हुए भी अस्पष्टता कम है। उनके रहस्यवाद मे हम वैष्णवों की भक्ति भावना का अधिक परिचय पाते है।

गुप्तजी की प्रतिभा का पूर्ण विकास हम 'साकेत' और 'यशोधरा' मे देखते है। 'साकेत' मे लक्ष्मण और उर्मिला को प्रधानता दी गई है किन्तु उनका जीवन राम के ही आश्रित है। इसलिए पुस्तक का नाम नायक-नायिका के ऊपर न रखकर श्रीराम की कर्त्तव्य-भूमि 'साकेत' के नाम पर रखा गया है। गुप्तजी ने साकेत मे कैकेयी के चरित्र को रामचरितमानस की कैकेयी की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठा दिया है। यद्यपि रामचरितमानस मे भी कैकेयी के पछतावे का उल्लेख है—"कुटिल रानी पछतानि अघाई', तथापि साकेत मे उसका पश्चाताप भरत के पश्चाताप से बढ़ जाता है—"युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी, रघुकुल मे भी थी एक अभागी रानी।" कौशल्या भी राम के प्रति कैकेयी के स्नेह का उल्लेख कर उसकी ग्लानि को दूर कर देती है। हाँ, यह मानना पड़ेगा कि गुप्तजी ने लक्ष्मण का चरित्र कुछ गिरा दिया है। उनके द्वारा कैकयी के लिए 'अनार्या की जनी' कहा जाना रघुकुल की शालीनता के विरुद्ध है। रामचन्द्रजी का चरित्र कर्त्तव्यपरायण होते हुए भी शुष्क और नीरस नही है। चित्रकूट मे गुप्तजी ने सीता के पारिवारिक जीवन के सहवास सुख की अच्छी झाँकी दिखलाई है।

गुप्तजी और गोस्वामी के मानस के राम मे एक और अन्तर है। तुलसी के राम मनुष्य रूप मे भी ब्रह्म हैं और गुप्तजी के राम ब्रह्म होते हुए भी मनुष्य हैं। वे संसार मे देवताओं के हित के लिए इतने नही आये जितने कि संसार मे मानवता के प्रसार के लिए—

> मैं आया उनके हेतु कि जो तापित है,
> जो विवश विकल, बलहीन, दीन शापित है।
> सन्देश यहाँ मैं नही स्वर्ग का लाया,
> इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

'साकेत' के राम आर्य सस्कृति के अग्रदूत है—"मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।"

गुप्तजी की भाषा बड़ी शुद्ध और परिमार्जित है। संस्कृतगर्भित होते हुए भी प्रसाद गुण से पूर्ण है। गुप्तजी ने कहीं कहीं ब्रजभाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। वह सर्वसाधारणगम्य होती हुई भी उर्दू की ओर अधिक नही झुकी है। गुप्तजी की भाषा ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है। आपने भी नये छन्दों का निर्माण किया है। साकेत मे कहीं कहीं तुक के मोह मे शब्दों को विकृत कर दिया है, जैसे प्रति का प्रती और कहीं कहीं भर्ती के साधारण कोटि के शब्द भी ले आये है। अलंकारों का प्रयोग आपने बड़ा कौशलपूर्ण किया है। प्राचीन ढंग के भ्रान्ति, तद्गुण, श्लेष आदि अलंकारों के साथ इनमे नवीन ढंग के प्रभाव साम्य तथा मूर्त से अमूर्त की तुलना के अच्छे उदाहरण मिलते है। लक्षणा और व्यंजना के प्रसार भी गुप्तजी

ने अच्छा चमत्कार दिखलाया है। वन गमन के समय नाव में बैठे हुए राम के सम्बन्ध में लिखते हैं कि वहाँ नदी में ही बिना किसी बाधा के घर बन गया है और 'गंगा में गाव' की भाँति लक्षणा के प्रयोग की आवश्यकता न रही—

बैठी नाव निहार लक्षणा व्यंजना,
'गंगा में गृह' वाक्य सहज वाचक बना।

गुप्तजी की 'साकेत' और 'यशोधरा' के पश्चात् 'द्वापर' और 'सिद्धराज' नामक कृतियाँ निकलीं। 'द्वापर' में कृष्ण चरित्र का वर्णन आया है। रामभक्त होते हुए भी गुप्तजी ने कृष्ण काव्य के प्रति उदासीनता नहीं दिखलाई है। (कृष्ण-काव्य की प्रवृत्ति के अनुकूल ही 'द्वापर' मुक्तक रूप में लिखा गया है।) इतना ही नहीं, इन्होंने तो बुद्धावतार की भी कथा लिखी है और सिक्ख गुरुओं का भी यशगान 'गुरु तेगबहादुर' काव्य में किया है। गुप्तजी की राष्ट्रीय धार्मिक भावना सम्बन्धी उदारता में परिणत हो जाती है। 'काबा और कर्बला' नाम का एक काव्य उन्होंने इस्लाम धर्म सम्बन्धी भी लिखा है।

गुप्तजी कट्टर वैष्णव भक्त थे, किन्तु उनमें साम्प्रदायिकता नहीं आने पायी है। इतना अवश्य है कि गुप्तजी की जिस प्रतिभा का परिचय उनके 'साकेत' में मिलता है वह 'द्वापर', 'कुणाल गीत', 'अनघ' और 'सिद्धराज' में नहीं दीख पड़ता। 'द्वापर' के प्रारम्भ में 'मुख पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग' कहकर उन्होंने अपने राम के प्रति अपनी अनन्यता भी स्थिर रखी है किन्तु उन्होंने तुलसी की भाँति वेणु और धनुष बाण में भेद नहीं किया है—

धनुष बाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुख पर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग॥

'द्वापर' में उपदेश का रूप प्रधानता प्राप्त कर गया है और इसी कारण उसमें कुछ कृत्रिम प्रयत्न-सा दिखाई पड़ता है। 'द्वापर' में संवाद के नाटकीय ढंग का अनुसरण किया गया है। उसमें कथासूत्र सम्बद्ध नहीं है, अलग अलग चरित्रों की छोटी छोटी सात प्रधान कहानियों की सृष्टि की गयी है, किन्तु सब में सुधार और विचार स्वातन्त्र्य की एक व्यापक भावना अनुस्यूत है।

'नहुष' गुप्तजी के पीछे की रचनाओं में से है। इसमें मानव गौरव की एक झाँकी है और है पतन के पश्चात् उत्थान का आशामय सन्देश—

चलना मुझे है बस अन्त तक चलना
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सम्भलना।
फिर भी उठूंगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ पुरुष हूँ, चढ़के रहूँगा मैं॥

इनके अतिरिक्त 'जयभारत', 'पृथ्वीपुत्र', 'प्रदक्षिणा', 'विष्णुप्रिया' आदि गुप्तजी की अन्य काव्य कृतियाँ हैं। गुप्तजी युगीन चेतना और इसके विभिन्न होते हुए रूप के प्रति सजग थे। उसकी स्पष्ट झलक इनके काव्य में हमें देखने को मिलती है।

माखनलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी पहले अध्यापक थे, बाद में उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लिया। ये 'एक भारतीय आत्मा' नाम से कविता करते थे। स्वभावत राष्ट्रीय कवियों की भाषा जन-साधारण के योग्य होती है क्योंकि यदि वह लोगों की समझ में न आये तो उन पर असर क्या करेगी। राजनीतिक क्षेत्र के प्रमुख कार्यकर्त्ता होने के कारण उन्हें राष्ट्रीय जीवन का निजी अनुभव है, इसीलिए वे राष्ट्रीय भावना को बड़े मार्मिक रूप में व्यक्त करने में समर्थ हुए हैं। 'हिमकिरीटिनी', 'हिम तरंगिनी', 'युग चारण', 'मरणज्वार', 'माता', 'वेणु लो गूंजे धरा' आदि आपके कविता-संग्रह हैं। इनकी कविताओं में करुणा की मात्रा अधिक है। चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीयता शुष्क नहीं है। उसमें बड़ी कोमल भावनाओं का समावेश हो जाता है। इनकी कविताओं में कला की कृत्रिमता नहीं वरन सहजता परिलक्षित होती है। इनकी 'पुष्प अभिलाषा' बड़ी ही सुंदर और भावुकतापूर्ण कविता है, देखिए—

> चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूथा जाऊँ।
> चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।।
> चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ।
> चाह नहीं,देवों के सिर पर चढू, भाग्य पर इठलाऊँ।।
> मुझे तोड़ लेना बन माली, उस पथ में देना तुम फेंक।
> मातृभूमि पर शीश चढाने जिस पथ जावें वीर अनेक।।

चतुर्वेदी जी बड़े भावुक भक्त भी हैं। 'हिमकिरीटिनी' नाम के उनके काव्य संग्रह में कुछ कविताएँ परमात्मा को सम्बोधित कर लिखी हैं—

> तुम रहो न मेरे गीतों में, तो गीत रहे किसमें बोलो?
> तुम रहो न मेरे प्राणों में, तो प्राण कहूं किसको बोलो?
> मेरी कमकों में कसक कसक, मेरी खातिर बनवास करो।
> मेरे गीतों के राजा! तुम, मेरे गीतों में वास करो।।

चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीय कविताओं में एक करुण-कथा रहती है जो उन्हें कोमलता और रसाद्रता प्रदान करती है। देश प्रेम का शंखनाद बजाने के साथ आपने प्रकृति प्रेम की भी सुंदर कविताएँ की हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

नवीनजी की कविताओं में भी राष्ट्रीय भावना बड़ी तीव्रता से व्यक्त हुई है। उनकी कविताओं में कुछ उग्रता भी दिखाई देती है। 'कुकुम', 'अपलक', 'रश्मिरेखा', क्वासि' आदि उनके कविता संग्रह हैं। 'प्रेमार्पण' आपका खण्ड-काव्य है। 'उर्वशी आपका महाकाव्य है। उनके 'विप्लवगान' कविता ने काफी ख्याति प्राप्त की है। उनकी प्रेम सम्बन्धी कविता में कहीं कहीं नीति और सदाचार की भी अवहेलना मिलती है—यह आधुनिक स्वातंत्र्य प्रवृत्ति की अतिशयता है। 'विप्लव गान' की कुछ पंक्तियां आगे दी जा रही हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाए ।
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आये ।
प्राणों के लाले पड जायें, त्राहि त्राहि रव नभ मे छाये ।
बरसे आग जलद जल जायें, भस्मसात भूधर हो जायें ।
पाप, पुण्य, सदसद भावों की, धूल उड उठे दायें बायें ।।

रामनरेश त्रिपाठी

इन्होंने 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' तीन खण्ड काव्यों की रचना की है। ये तीनों खण्ड काव्य बड़े मर्मभेदी और हृदय को स्पर्श करने वाले हैं। इनकी भाषा मे संस्कृत पदावली का सौन्दर्य दर्शनीय है। 'स्वप्न' में देशप्रेम और त्याग के उच्च आदर्श हैं और आशावाद का एक अपूर्व सन्देश है—

विघ्न समस्त करें पद पद पर, मेरे आत्म तेज को जाग्रत ।
निष्फलता मुझको अधिकाधिक, करे सचेष्ट सतर्क दृढ व्रत ।
पश्चात्ताप मार्ग दिखलावे, भय रक्खे चौकसी निरंतर ।
करे निराशा इस जीवन को शान्त स्वतन्त्र सरल शुचि सुन्दर ।

वर्तमान काल की राजनीतिक कविता में वीरगाथा कालीन कविता से कुछ थोड़ा अन्तर है। वीरगाथा काल में वीर-काव्य मे राष्ट्रीय भाव न थे। एक राजा का छोटा-सा राज्य ही राष्ट्र था। लोग वैयक्तिक गौरव के अधिक भूखे थे, जातीय गौरव उनके लिए अधिक मूल्यवान नही था। भूषण और लाल के समय मे वयक्तिक गौरव की अपेक्षा हिन्दुत्व का गौरव बढ गया था। हिन्दुओं की लाज रखने की दुहाई दी जाती थी। वर्तमान युग में देश की दुहाई दी जाती है। हिन्दू मुसलमान ईसाई सब राष्ट्र के अंग माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त आजकल दूसरों को मारने की अपेक्षा दृढतापूर्वक अत्याचार के सहन करने मे अधिक वीरता समझी जाती है।

सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण जी मैथिलीशरण गुप्त के अनुज हैं। चिरगाँव इनकी साधना स्थली रहा है। आपने कथात्मक भावात्मक और विचारात्मक सभी प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। आपकी कलात्मक कविताएँ 'आर्द्रा' मे छपी हैं। ये बड़ी करुणापूर्ण हैं। उनमे बडे सजीव चित्र खींचे गए हैं। 'विषाद' मे भावपूर्ण कविताएँ हैं जो पत्नी के विछोह में लिखी गई है। 'पाथेय' में हम कवि को विचारक के रूप में देखते हैं। उनकी विचारपूर्ण कविताओं में आदर्शवाद भरा हुआ है—घड़ा नीचे रीता जाता है और भरा उठता है। कण्टक पथ में आकर पैर में गड जाता है, किन्तु वह पथिक को भारी गर्त मे गिरने से बचाता है। रात्रि प्रभात को जन्म देती है—

यह क्या हुआ। दीख पडती थी तू तो काली काली।
कहाँ छिपाए थी उस तम मे यह अपूर्व उजियाली ।।

सियारामशरण जी पर भी गाँधीवादी विचारधारा का पूरा प्रभाव है। उनकी 'बापू' नाम की पुस्तक में गाँधीजी का चित्र बड़ा ही हृदय प्रेरक और वास्तविक है देखिए—

इंधन रहित शुद्ध अग्नि ज्वाल,
नित्य युवा तुम हे यशस्वि गुप्तदीप्त भाल।
एकमात्र आत्मवश, उज्ज्वलित सर्वथव एक रस,
शांति नही तुमको, काल की अशान्ति नही तुमको ।।

उन्होंने अपने काव्य 'उन्मुक्त' मे एक कल्पित युद्ध के वर्णन मे वर्तमान युग की छाया दिखलाकर अहिंसावाद का उपदेश दिया है—

हिंसानल से शांत नहीं होता हिंसानल।
× × ×
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

'नकुल' काव्य महाभारत के वनपर्व के कथानक पर आधारित गांधीजी के प्रेम, अहिंसा, शांति आदि सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाला काव्य है। इनकी एक रचना 'नोआखाली' है, जिसमे नोआखाली हत्याकाण्ड का जोरदार शब्दो मे विरोध है, और गांधीवादी अहिंसा नीति का समर्थन है। 'मौर्यविजय' ऐतिहासिक घटना पर आधारित है तो 'आत्मोत्सर्ग' मे अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के बलिदान का चित्रण किया गया है। 'अमृतपुत्र' मे ईसामसीह की जीवन-गाथा को पद्य-बद्ध किया गया है। कवि की मृत्यु के बाद गद्य तथा पद्यात्मक छंदो मे लिखा गया काव्य 'गोपिका' तथा 'सुनन्दा' प्रकाशित हुए थे।

छायावादी काव्यधारा के कवि

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद छायावादी काव्यधारा के प्रवर्तक एवं शीर्षस्थ कवि है। आत्माभिव्यंजन, प्रेम और सौंदर्य निरूपण, प्रकृति चित्रण, मानवतावादी भावना, करुणा की धारा या दुखवाद, रहस्यवाद, राष्ट्र प्रेम, लाक्षणिक भाषा एवं नूतन अप्रस्तुत विधान उनके काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। प्रसाद के काव्य का प्रधान प्रतिपाद्य शृंगार है। 'आंसू, 'लहर' एवं कामायनी' आदि रचनाओ मे शृंगार के संयोग एवं वियोग दोनो पक्षो का मार्मिक अंकन हुआ है। 'कामायनी' मे संयोग एवं वियोग दोनो पक्षो को अभिव्यक्ति दी है और 'आँसू' उनका समग्र रूप मे विरह-काव्य है, जिसमें प्रेम-वेदना को रूपायित किया गया है। कवि ने प्रारम्भ मे विलासी जीवन का वैभव दिखाकर, उसके अभाव मे अश्रु बहाये हैं और अन्त में जीवन की वास्तविकता को समझकर, उससे समझौता कर लिया है। काव्य का आरम्भ वैयक्तिक विरह वेदना से हुआ है। लेकिन अन्त तक आते आते कवि को समग्र विश्व वेदना से व्यथित दिखलाई देने लगता है और इस प्रकार उसने अपने नैराश्य और अवसाद को विश्व करुणा मे परिणित कर दिया है। उसकी करुणा स्वयं तक ही सीमित नहीं रहती है, अपितु वह समग्र विश्व के लिए बरस पड़ती है—

"सबका निचोड़ लेकर तुम,
सुख से सूखे जीवन मे।
बरसो प्रभात हिम कण सा,
आँसू इस विश्व सदन मे।

शृंगार के साथ ही शांत, वीर एवं भयानक रसों का भी सहज परिपाक उनके कामायनी काव्य में देखा जा सकता है। 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' कविता में वीर रस की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। प्रसाद के नाटकों में आए विभिन्न गीतों एवं काव्य रचनाओं में आई विभिन्न कविताओं में उनके राष्ट्र प्रेम एवं स्वसंस्कृति विषयक प्रेम को सहज अभिव्यक्ति मिली है। उनका काव्य प्रकृति की सुषमा से ज्योतिमय है। कामायनी एवं लहर की विभिन्न कविताओं में प्रकृति अपनी समग्र शोभा में साकार हो उठी है। सौंदर्य के स्थूल पक्ष के स्थान पर कवि ने उसके सूक्ष्म पक्ष का ही प्रमुख रूप से अंकन किया है। नारी को सर्वत्र गौरवमयी और श्रद्धास्पद रूप में प्रस्तुत किया है। उनका काव्य सर्वत्र लोकमंगल की भावना से मण्डित है।

प्रसाद की भाषा में तत्सम, तद्भव, देशज एवं विदेशी सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु उसमें तत्सम शब्दों की ही प्रधानता है। भाषा लक्षणा शक्ति प्रधान है और भावों के अनुरूप कहीं वह सरल रूप ग्रहण करती दिखलाई देती है तो कहीं गम्भीर। नूतन अप्रस्तुत विधान, प्रतीक विधान, बिम्ब विधान आदि की दृष्टि से इनका काव्य पूर्ण समृद्ध है। उनके काव्य में काव्य शिल्प अपनी पूर्णता के साथ विद्यमान है। 'चित्राधार', 'कानन-कुसुम', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्त्व', 'प्रेमपथिक', 'झरना', 'आँसू', 'लहर' एवं 'कामायनी' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। कामायनी छायावादी युग का महाकाव्य है जो उनकी अक्षय कीर्ति का आधार है। कामायनी में न केवल छायावादी काव्य की समग्र विशेषताएँ ही अपने चरम रूप में उपलब्ध होती हैं अपितु वह काव्य-सौंदर्य के उच्चतम आयामों से युक्त विश्व काव्य की बेजोड़ रचना है।

वाणी के इस अमर गायक का जन्म वाराणसी (बनारस) के सुंघनीसाहू नामक अत्यन्त सम्पन्न वैश्य परिवार में हुआ। सुरती उनका पैतृक व्यवसाय था। दानशीलता के लिए उनका परिवार विख्यात था। उनके यहाँ विद्वानों तथा कलाकारों का सदैव आदर होता था। शैव होने के कारण उनके पिता देवीप्रसाद साहू ने उनका नाम जयशंकर प्रसाद रखा। प्रसाद की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई। दस वर्ष की अवस्था में उनका बनारस के क्वीन्स कॉलेज में प्रवेश हुआ किन्तु दो वर्ष पश्चात् ही पिता की मृत्यु हो गई और उन्हें कॉलेज छोड़ना पड़ा। उनके बड़े भाई शम्भूरत्न ने व्यवसाय को सम्भाला और प्रसाद जी की शिक्षा का घर पर ही इन्तजाम किया। उन्होंने संस्कृत, फारसी, उर्दू तथा हिन्दी का विधिवत अध्ययन किया। बड़े भाई की मृत्यु हो जाने के कारण सत्रह वर्ष की आयु में व्यवसाय की देखभाल का भार भी उन्हीं पर आ पड़ा। प्रसाद जी काव्य-साधना और व्यवसाय की देखभाल साथ साथ चलती रही। सन्ध्या के समय दुकान पर उनके पास कवि और लेखकों का जमघट लगा रहता था। प्रसाद सहज सरल एवं साधुवृत्ति के व्यक्ति थे।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

बहुमुखी प्रतिभा के धनी सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के पिता मूलतः जिला उन्नाव (उत्तर प्रदेश) के गढ़ाकोला गाँव के निवासी थे और आजीविका के लिए बंगाल के महिषादल राज्य में चले गये थे। वहीं पर 1897 ई० में मेदिनीपुर जिले में निराला का जन्म हुआ और वहीं उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा पाई। निराला ने आरम्भ में ही घर पर बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी का अध्ययन किया, हिन्दी-साहित्य की ओर वे काफी बाद में उन्मुख हुए। साहित्य के अतिरिक्त दर्शनशास्त्र और संगीत में भी उनकी रुचि थी। वे स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द की विचारधारा से विशेष रूप से प्रभावित थे। उनका निधन 15 अक्टूबर, 1961 को इलाहाबाद में हुआ।

निराला मूल रूप में कवि थे, किन्तु उन्होंने कविता के अतिरिक्त कहानी, रेखाचित्र, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि के क्षेत्र में भी अपनी रचनात्मक अभिरुचि का परिचय दिया। दूसरी ओर 'समन्वय', 'मतवाला' और 'सुधा' शीर्षक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन कर पत्रकार के रूप में भी उन्होंने ख्याति प्राप्त की। 'परिमल', 'अनामिका', 'गीतिका', 'अप्सरा', 'कुकुरमुत्ता', 'नए पत्ते', 'बेला', 'तुलसीदास' आदि उनकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ हैं। उनके कहानी संग्रहों में 'चतुरी चमार', 'लिली', 'सखी' आदि, रेखाचित्रों में 'बिल्लेसुर बकरिहा', उपन्यासों में 'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'चोटी की पकड़' आदि, निबन्ध-संग्रहों में 'प्रबन्ध पद्म', 'प्रबन्ध प्रतिमा' आदि तथा आलोचनात्मक कृतियों में 'पन्त और पल्लव' तथा 'रवीन्द्र-कविता कानन' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

निराला की गति साहित्य की अनेक विधाओं में थी, परन्तु काव्य रचना के क्षेत्र में उन्हें अपरिमित ख्याति मिली। उन्होंने शृंगार, प्रेम, प्रकृति सौन्दर्य, राष्ट्र प्रेम, सांस्कृतिक उन्मेष आदि विषयों पर भावपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। मानवतावादी और प्रगतिशील दृष्टि के कारण उनकी अनेक कविताओं में दरिद्र और पीड़ित मानव के प्रति अपार सहानुभूति मिलती है। उनकी परवर्ती कविताओं में दलित वर्ग के प्रति व्यापक सहानुभूति, आर्थिक और सामाजिक शोषण के प्रति तीव्र व्यंग्य तथा परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध उत्कट विद्रोह के स्वर मुखरित हुए हैं। वे छायावाद के प्रवर्तकों में थे तथा प्रगतिवाद को भी उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है।

निराला ने जितना ध्यान अपने कथ्य के प्रति दिया उतना या उससे भी अधिक ध्यान कला पक्ष पर दिया। परम्परागत छन्द विधान के स्थान पर उन्होंने मुक्त छन्द का विकास किया और भयंकर विरोध सहकर भी उसे लोकप्रिय बनाया। नाद योजना की ओर अधिक सजग रहने के कारण उन्होंने लय स्वर-ताल से युक्त गीतों की रचना की जो 'गीतिका' में संकलित हैं। उनकी अधिकांश रचनाओं की भाषा तत्सम बहुल है और उसमें समासों की अधिकता है। 'बादल राग', 'राम की शक्तिपूजा' आदि इसके उदाहरण हैं। 'नए पत्ते' प्रभृति उनकी परवर्ती रचनाओं में बोलचाल की भाषा का प्रवाह देखने को मिलता है। उन्होंने अनेक स्थानों पर

प्रतीकात्मक और लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया है और कुछ नवीन उपमानों की योजना की है। भाषा के स्वरूप की उन्हें अद्भुत पहचान है। इसमें सन्देह नहीं कि भाषा सम्बन्धी जितने प्रयोग निराला ने किए हैं, उतने अन्य किसी कवि में नहीं मिलते। विषय वैविध्य की दृष्टि से भी उनका योगदान अविस्मरणीय है।

सुमित्रानन्दन पंत

प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति के अनुपम शब्द शिल्पी सुमित्रानन्दन पंत का जन्म 14 मई, 1900 ई० को उत्तरप्रदेश के कुमाऊँ अंचल में कौसानी गाँव में हुआ। जन्म के कुछ घण्टे बाद ही उनकी माँ की मृत्यु हो गई। गाँव और अल्मोड़ा में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने वाराणसी से मैट्रिक परीक्षा पास की और फिर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में इण्टर में प्रवेश लिया। अभी वे द्वितीय वर्ष में ही थे कि महात्मा गाँधी के आह्वान पर उन्होंने असहयोग आन्दोलन के अन्तर्गत कॉलेज की पढ़ाई छोड़ दी। 1938-39 ई० में वे 'रूपाभ' पत्रिका के सम्पादन से सम्बद्ध रहे। सन् 1950 से 1957 तक उन्होंने आकाशवाणी में हिन्दी परामर्शदाता के रूप में कार्य किया। पंत जी का निधन 28 दिसम्बर 1977 को हुआ।

पंतजी ने काव्य रचना का आरम्भ तो किशोरावस्था में ही कर दिया था किन्तु सन् 1918 में वे इस ओर अधिक तन्मयता से जुट गये। प्रारम्भ में अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त ने तथा कुछ बाद में सरोजिनी नायडू, महाकवि रवीन्द्रनाथ तथा अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने पंतजी को विशेष रूप से प्रभावित किया। उनकी काव्य-कृतियाँ बहुसंख्यक हैं। 'ग्रन्थि', 'वीणा', 'पल्लव', 'गुंजन', 'युगांत', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्ण धूलि' 'उत्तरा', 'प्रतिमा' आदि उनकी बहुचर्चित रचनाएँ हैं। अन्य कृतियों में 'कला और बूढ़ा चाँद' पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला, 'लोकायतन' पर सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार दिया गया तथा 'चिदम्बरा' को भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 'चिदम्बरा' में उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ संग्रहीत हैं। गद्य क्षेत्र में पंतजी का योगदान नाटककार, कहानीकार, समीक्षक और उपन्यासकार के रूप में है। इस सम्पूर्ण साहित्यिक साधना के सम्मानार्थ भारत सरकार ने उन्हें पद्मभूषण से अलंकृत किया।

पंतजी को छायावाद का सुकुमार कवि कहा जाता है। प्रकृति का मानवीकरण, कल्पना की मनोहारिता, मानव के भीतरी सौंदर्य का साक्षात्कार, प्रेम और करुणा की सहज संवेदना, चित्रभाषा का उन्मुक्त प्रवाह आदि उनकी छायावादी कविताओं में देखने को मिलता है। 'पल्लव' उनकी इस धारा की प्रतिनिधि रचना है। निराला की भाँति बाद में उन्होंने प्रगतिवादी कविताएँ भी रचीं जो 'युगान्त' और 'ग्राम्या' में संकलित हैं किन्तु प्रगतिवाद में उनका मन रम नहीं सका। वे ही दिनों वे मार्क्स और गाँधी दर्शन के द्वन्द्व विचार संघर्ष में उलझ गए। अपनी प्रौढ़ावस्था में वे अरविन्द दर्शन की ओर उन्मुख हुए। इस प्रकार उनके काव्य में

युगबोध के भौतिक, सामाजिक और नैतिक पहलुओं के साथ-साथ आध्यात्मिक चेतना के स्वर भी उभरे हैं।

काव्य-कला की दृष्टि से पन्तजी अप्रतिम हैं। कोमल-कान्त पदावली पर उनका प्रशंसनीय अधिकार है। वे काव्य में शिल्प को विशेष महत्त्व देते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकृत भाषा में प्रत्येक शब्द का अपना वैशिष्ट्य है। छायावादी शैली के अनुरूप तत्सम शब्द प्रयोग की अधिकता और विविध रंगों के बिम्ब निर्माण में कवि ने अपनी सामर्थ्य का परिचय दिया है। उनकी शब्दावली भावावेग के अनुरूप है। अनेक सन्दर्भों में शब्दों की ध्वन्यात्मकता के द्वारा भी उन्होंने उनके अर्थ की पहचान करायी है।

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा रहस्यवाद की कवयित्री मानी जाती हैं। अज्ञात प्रियतम की विरहानुभूति में उन्होंने वेदना के गीत लिखे हैं। वेदना ही उनके काव्य की विषय-वस्तु है। उनके विषय का विस्तार सीमित है। महादेवी में अनुभूति का वैविध्य और विस्तार न मिलकर उसकी सघनता मिलती है। इसकी शुरुआत 'नीहार' (24 से 28 तक की रचनाएँ) से ही हो जाती है। इसके गीतों में भावुकता का प्राधान्य है। 'रश्मि' उनका दूसरा काव्य संग्रह है। 'नीहार' का धुँधलका 'रश्मि' में छँट गया है। 'नीरजा' महादेवी का तीसरा काव्य संग्रह है। इसमें 'वेदना' काम्य होने से बढ़कर आस्था बन जाती है। 'सांध्यगीत' में कवयित्री की आस्था दर्शन का रूप ले लेती है। 'दीपशिखा' उनका अगला काव्य-संग्रह है जिसमें उनकी आस्था और भी दृढ़ हो गयी है।

दीपशिखा' में महादेवी जी की क्रमागत भावधारा का ही उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। प्रेम उनका मुख्य विषय है। वेदना महादेवी की मूल संवेदना है, यह वेदना विरहजन्य है। महादेवी में गीतिकाव्य के उत्कर्ष की सुन्दर सम्भावनाएँ हैं। कवयित्री के पास सीमित संवेदनाएँ है, इन्हें वह भिन्न भिन्न प्रतीकों और रूपकों से व्यक्त करती हैं। ये प्रतीक और रूपक भी बहुत सीमित और अभिजात है। दीप, चन्दन, मन्दिर, क्षितिज आकाश करुण, धूल, मेघ, विद्युत, सागर आदि प्रतीक और शब्द बार-बार आते है। इन निजी और छायावादी सीमाओं के बावजूद महादेवी जी छायावाद की विशिष्ट और समर्थ कवयित्री है और 'दीपशिखा' उनकी विशिष्ट कृति।

महादेवी की दूसरी विशेषता है—सूक्ष्म चित्रात्मकता। ये चित्र रूप-जगत और भावजगत दोनों के है। लोक परिवेश और लोक भाषा से दूर, सीमित आत्मानुभूति की परिधि में विचरण करने वाले, भाषा की अभिजात छवि से मण्डित ये गीत शब्द चयन, पद सन्तुलन, बिम्ब ग्रहण, प्रांजलता, कोमलता और स्वर लय में बहुत विशिष्ट हैं।

छायावादोत्तर कवि

दिनकर

उत्साह और पौरुष के कवि रामधारीसिंह दिनकर का जन्म 1908 ई में

बिहार के मुंगेर जिले के सिमरिया ग्राम में हुआ। बी ए ऑनर्स तक अध्ययन करके वे जीवन सग्राम में कूद पड़े। उनके जीवन में अनेकरूपता रही और उन्होंने हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक युद्ध प्रचार विभाग के अधिकारी, कॉलेज के प्राध्यापक, भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति, राज्यसभा के सदस्य जैसे विविध पदों के दायित्व को बड़ी कुशलता से सम्भाला। इसके अतिरिक्त राष्ट्र भाषा आयोग, सगीत नाटक अकादमी, साहित्य अकादमी तथा आकाशवाणी की परामर्शदात्री समितियों के सदस्य के रूप में भी आपने राष्ट्र की सेवा की। उनका देहावसान सन् 1974 में हुआ। दिनकर जी की प्रसिद्धि का मुख्य आधार कविता है। उनकी काव्य कृतियों म हुंकार रसवन्ती कुरुक्षेत्र सामधेनी' 'रश्मिरथी', 'नीलकुसुम', उर्वशी परशुराम की प्रतीक्षा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'चक्रवाल म उनकी श्रेष्ठ कविताएँ सकलित है। गद्य लेखन में भी वे सिद्धहस्त है। संस्कृति के चार अध्याय मे उन्होंने मानव सभ्यता के इतिहास को चार युगों में बाटकर उसका शोधपूर्ण अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त रेती के फूल, मिट्टी की ओर', अर्द्धनारीश्वर, शुद्ध कविता की खोज आदि में उनके विचारात्मक और समीक्षात्मक निबन्ध सगृहीत है।

दिनकर के काव्य म आत्मविश्वास आशावाद और सघर्ष के स्वरों की गूँज निरन्तर व्याप्त रही है। उसमे प्रतिपल अन्याय एव अत्याचार से टकराने की प्रेरणा निहित है। उनकी आरम्भिक कविताओं म पहले छायावाद और फिर प्रगतिवाद की ओर झुकाव का आभास मिलता है परन्तु शीघ्र ही वे अपनी अभिरुचि की सही लीक पर आ गए और राष्ट्रीय सास्कृतिक धारा के प्रमुख कवि के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। उनकी कविताओं की ओजस्विता शलथ प्राण व्यक्तियो अथवा कायरों में भी उत्साह और निर्भयता का सचार करने मे सक्षम है। भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी आस्था उनके काव्य का दूसरा मुख्य गुण है। प्राचीन आख्यानों का आधुनिक सन्दर्भों मे ग्रथन कर उन्होंने परम्परा और आधुनिकता का समुचित समन्वय करने म अद्भुत सफलता प्राप्त की है। दिनकर जी न प्रबन्धकाव्य भी लिखे है और मुक्तक भी। दोनों मे ही उन्हें समान सफलता मिली है। सामान्यत उनकी भाषा कृत्रिमता से मुक्त सरल एव प्रवाहपूर्ण होने साथ साथ व्याकरण सम्मत है। उसका स्वरूप तत्समबहुल है परन्तु बोलचाल के उर्दू-फारसी के शब्दों का भी उन्होंने निसकोच भाव से प्रयुक्त किया है। ओज और प्रसाद उनके काव्य के मुख्य गुण हैं। उन्होंने छन्दोबद्ध और छन्दमुक्त दोनों ही शैलियों म काव्य रचना की है। वस्तुत दिनकर मन के आवेग के कवि हैं भावों के निर्बाध प्रवाह म अलंकार और छन्द को उन्होंने बाधक नहीं बनने दिया है। वस्तुत प्रतिपाद्य और शिल्प का सद्भाव ही उनके काव्य की लोकप्रियता का मूलाधार है। कवि सम्मेलनों के तो वे बेताज बादशाह थे ही, 'उर्वशी' पर प्राप्त ज्ञानपीठ पुरस्कार भी उनकी काव्य प्रतिभा का सही मूल्यांकन है।

नरेन्द्र शर्मा

हिंदी के प्रसिद्ध गीतकार नरेंद्र शर्मा का जन्म 28 फरवरी, 1913 को ग्राम जहाँगीरपुर जिला बुलंदशहर, उत्तरप्रदेश मे एक मध्यवर्गीय परिवार म हुआ। उन्होंने इण्टर तक की शिक्षा खुर्जा म प्राप्त की और इसके बाद उच्च शिक्षा पाने के लिए इलाहाबाद चले गए। सन् 1936 मे उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी मे एम ए की परीक्षा उत्तीर्ण की। तब तक उनके 'शूल फूल' और 'कर्ण फूल' शीर्षक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। साहित्य, राजनीति और चलचित्र जगत् के अनेक पडावो को पार कर सन् 1954 मे वे बम्बई के आकाशवाणी केन्द्र मे विविध भारती' कार्यक्रम के प्रथम संचालक के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। कुछ वर्ष तक उन्होंने दिल्ली के आकाशवाणी केन्द्र मे भी कार्य किया। अब राजकीय सेवा से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् वे स्थायी रूप से बम्बई म ही बस गए हैं, जहाँ वे स्वतन्त्र रूप से साहित्य-साधना म संलग्न हैं। काव्य क्षेत्र मे नरेन्द्र शर्मा का प्रवेश छायावादी कवि के रूप म हुआ। फलस्वरूप उनकी आरम्भिक कविताओं मे कल्पना प्रेमानुभूति, जीवनव्यापी करुण संवेदना, प्रकृति सौन्दर्य आदि का गहन भावात्मक चित्रण मिलता है। वसे, उनकी कविता का मुख्य स्वर वैयक्तिक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति है। ये अनुभूतियाँ कही प्रणय गीता के रूप मे व्यक्त हुई हैं, कही कवि के व्यक्तिगत हर्ष-विषाद को प्रकट करती हैं और कही प्रकृति के प्रति उनके गहरे लगाव की प्रतीक हैं। अपन ही सुख-दुख से जीवन की पहचान करने की प्रवृत्ति और कवि मानस की रागात्मकता इन कविताओं की स्थाई निधियाँ हैं।

नरेंद्र शर्मा के कविता-संग्रहो म प्रवासी के गीत 'हंसमाला पलाशवन', मिट्टी का फूल प्रभात फेरी 'कदली वन' 'प्यासा निर्झर' 'अग्निशस्य और 'बहुत रात गए' उल्लेखनीय है। इनम गीतकार के रूप म उनकी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है। 'द्रौपदी 'सुवर्णा सुवीरा उत्तरजय और मनोकामिनी उनकी आख्यानक रचनाएँ हैं। मुक्तक और प्रबन्ध दोनो ही काव्य रूपो को उन्होंने आन्तरिक प्रेरणा से अपनाया है किन्तु भाव तरलता जीवन्तता और प्रवाहमयता की जो प्रवृत्तियाँ उनकी मुक्तक कविताओं और गीतो मे लक्षित होती है वे अपनी प्रभविष्णुता मे प्रबन्ध रचनाओं को बहुत पीछे छोड जाती हैं। शर्माजी म कोमल और कठोर दोनो भावो का व्यक्त करने की क्षमता है। उत्साह पुरुषार्थ और दृढ़ता पर बल देना भी उनकी कविता की उल्लेखनीय विशेषता है। कुछ समय तक वे प्रगतिवादी काव्यधारा स भी सम्बद्ध रहे फलस्वरूप उनकी कुछ कविताओं मे पीडित वर्ग के प्रति सहानुभूति और जनजीवन का सहज साक्षात्कार मिलता है। इन कविताओं म विद्रोह-भावना भी है और नवनिर्माण का संकल्प भी। अपनी परिवर्ती कविताओं मे उन्होंने मानववादी जीवन दर्शन और भारतीय संस्कृति के प्रति जिज्ञासामयी आस्था को भी वाणी दी है। भाषा शैली की दृष्टि से नरेंद्र शर्मा की कविताएँ स्वच्छ हैं। उनमें सहजता, स्पष्टता माधुर्य और चित्रात्मकता का सहज समन्वय मिलता है। अलंकार और छन्द के प्रति अनावश्यक मोह स वे मुक्त रहे है

क्योंकि पिंजरा भले ही कनक तीलियों का हो, विहग की स्वच्छन्दता में बाधक ही होता है।

हरिवंशराय बच्चन

हरिवंशराय बच्चन छायावादोत्तर काव्यधारा के सर्वोत्तम कवि हैं। इस धारा की समस्त सम्भावनाएँ और सीमाएँ बच्चन में पुंजीभूत हैं। ये मूलत आत्मानुभूति के कवि हैं। व्यक्तिवादी अनुभव यात्रा के दो परिणाम दिखाई पड़ते हैं—एक तो यह विश्वास कि जीवन क्षणभंगुर है, इस अवसाद में विस्तार के यदि उल्लास के कुछ क्षण मिल जाते हैं तो उन्हें मस्ती से भोगो, आगे-पीछे मत देखो। दूसरा यह कि कवि अपने गम को गलत करने के लिए मधु का सहारा लेता है और सारे सहारे तो छूट चुके हैं। इतना ही नहीं, वह अपनी मादकता, प्रेम या उल्लास की उत्तेजना को तीव्र करने के लिए भी मधु का पान करना चाहता है। यह मधु धीरे धीरे इतना आत्मीय हो जाता है कि वह अन्य जीवन-सत्यों का प्रतीक बन जाता है। जैसा कि 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि में हुआ है। बच्चन के निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त सगीत' काव्य यदि प्रेम के अवसाद के घनत्व को मुखर करते हैं तो 'मिलन यामिनी' मिलन की मादकता और उमग को।

मधुशाला पहली कृति है जिससे उन्हें लोकप्रियता मिली। वस्तुत मधुशाला परम्परा को फारसी कवि उमर खैयाम से प्रेरणा मिली। बच्चन के साहित्यिक विकास को पाँच चरणो मे देखा जा सकता है। 33 से 37 तक प्रथम, 37 से 43 तक द्वितीय, 43 से 48 तक तृतीय, 48 से 58 तक चतुर्थ और 58 से अब तक पाँचवाँ चरण माना जा सकता है। प्रथम चरण मे मधुशाला, मधुबाला' और मधुकलश' आते हैं। 'मधुशाला' की लोकप्रियता के कारण तीन हैं—भाषा की सादगी, बच्चन का गला और छायावादी आदर्शों का विरोध। मधुबाला' मे पन्द्रह गीत सकलित हैं। 'मधुकलश' इसी शृंखला की अगली कड़ी है। द्वितीय चरण की 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त-सगीत' और 'आकुल अन्तर' काव्य की दृष्टि से उनकी सर्वोत्तम रचनाएँ कही जा सकती हैं। तृतीय चरण मे 'सतरगिनी' मे उनके जीवन का नया मोड़ आता है। इसी काल मे रचित 'बगाल का काल, 'सूत की माला', 'खादी के फूल' बच्चन की सामाजिक राजनीतिक रचनाएँ हैं। चौथे चरण मे मिलन-यामिनी' और 'प्रणयपत्रिका' म वे प्रणय मिलन के गीत गाते हैं। पाँचवें चरण में 'त्रिभगिमा' और 'दो चट्टानें म कुछ व्यग्य काफी सटीक बन पड़े हैं।

हिन्दी कविता के क्षेत्र मे भाषा सम्बन्धी बच्चन की देन अभूतपूर्व है। इन्होंने काव्य भाषा और लोक भाषा की दूरी को पाटा। अपने सामर्थ्य के अनुसार सीधी-सादी भाषा को नई अभिव्यजना से युक्त किया। वयक्तिक गीतकविता की अभिव्यक्तिमूलक सादगी उनकी एक बहुत बड़ी देन है। कवि सीधे-सादे शब्दो परिचित चित्रों और सहज कथन भंगिमा के द्वारा अपनी बात बड़ी सफाई से कह देता है। कवि की सवेदना व्यक्तिवादी है, किन्तु वे अपने को जिस माध्यम-परिवेश,

प्रकृति चित्र, बिम्ब, उपमा, भाषा आदि के द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं, वह हमारा अति परिचित होता है लोक के निकट का होता है अतएव मांसल और मूर्त प्रतीत होता है। कुल मिलाकर इनकी भाषा जीवन के अधिक निकट की भाषा है। अपनी धारा के अन्य कवियों से बच्चन इस बात में अलग हैं कि जहाँ और लोगों ने याद में अपने को दुहराया है वहाँ बच्चन ने निमम भाव से अपनी जानी पहचानी दुनिया छोड़कर यथार्थ की नयी दुनिया में प्रवेश किया है और उसके अनुकूल भाषा की तलाश की है।

रामेश्वर शुक्ल 'अचल'

इस धारा के दूसरे प्रमुख कवि हैं रामेश्वर शुक्ल अचल। अचल ने अपने रूमानी मधदन को लेकर अपने अन्तर की यात्रा तो की ही है, वे समाज में भी घूमे हैं। इसलिए इनके सामाजिक यथार्थ वाले काव्य में रूमानी संवेदना की ही प्रधानता लक्षित होती है। मधूलिका', अपराजिता', 'करील', लाल चूनर' 'विरामचिह्न, 'किरण वेला', 'वर्षा के बादल' आदि उनके प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं। अचल के काव्य का मूल स्वर है उद्दाम रूपासक्ति और मांसल सौंदर्य के प्रति सतृष्ण उद्गार। छायावादी काव्य में अशरीरी सौंदर्य और सूक्ष्म प्रेम की जो अभिव्यक्ति हुई थी अचल के काव्य में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया दिखाई देती है। अचल भोग के कवि हैं। उनके उद्गारों में भोगाभाव की अतृप्ति तृष्णा और लिप्सा है। भोग की आकांक्षा अनुभूति में नहीं बदल पाती। अचल को न तो बुद्धि-जीवी कहा जा सकता है और न आस्थावान। समाजवाद को भी उन्होंने भावना के स्तर पर ही ग्रहण किया है।

केदारनाथ अग्रवाल

ये इस धारा के सबसे सशक्त कवि हैं। इसका कारण यह है कि ये कविता को वस्तुसत्ता की आत्मपरक अभिव्यक्ति मानते हैं। इनकी प्रारम्भिक कविताएँ छायावादी प्रभाव से युक्त हैं किन्तु क्रमशः छायावादी काव्य परिपाटी से मुक्त होकर वे निजी शैली बना लेते हैं। युग की गंगा', नींद के बादल', 'फूल नहीं रंग बोलते हैं', आग का आईना' समय-समय पर' उनके काव्य-संग्रह हैं। केदारनाथ की ख्याति उनकी प्रकृति सम्बन्धी कविताओं पर आधारित है। अथ-वपम्य पर रची कविताएँ सामान्यतः या तो प्रचारात्मक हो गयी हैं या वक्तव्य-प्रधान। सच्ची कविताओं की भी इनके यहाँ कमी नहीं है।

नागार्जुन

नागार्जुन मिथिला के रहने वाले हैं और उनकी रचनाओं में प्रगतिवादी सामाजिक चेतना के अतिरिक्त मिथिला की धरती की अपनी गंध भी मिलती है। 'युग की गंगा' और 'सतरंगे पंखों वाली', प्यासी पथरीली आँखें', पुरानी जूतियों का कोरस आदि उनके काव्य संग्रह हैं। समाजवादी यथार्थ के प्रति वे बौद्धिक दृष्टि से ही आकृष्ट नहीं हुए हैं बल्कि उनके जीवन का परिवेश भी इस तरह का है कि उसके लिए वे बाध्य हैं। गरीब परिवार में पैदा होकर उन्होंने अपने

चारो ओर उसका दबाव अनुभव किया। बहुसख्यक लोगो के चेहरा की झुर्रियाँ उन चन्द चेहरो की ललाई पर हैं जो उनके लिए जिम्मेदार हैं। यह वषम्य उनकी कविता मे तीखेपन के साथ अभिव्यक्त हुआ है। सामाजिक-राजनीतिक विसगतियो पर यह अपनी शैली में व्यग्य करते हैं। इसके अतिरिक्त नागार्जुन ने सौन्दय के काव्यात्मक चित्र भी खींचे हैं। नागार्जुन की कविताएँ मुख्यत तीन तरह की हैं। कुछ कविताएँ गम्भीर, सवेदनात्मक और कलात्मक हैं जिनमे कवि ने मानव मन की रागात्मक और सौन्दयमयी छवि को अकित किया है साथ ही साथ मनुष्य की मानवीय सम्भावनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की है। दूसरी कोटि की कविताएँ वे हैं जो सामाजिक कुरूपता, राजनीतिक अव्यवस्था और धार्मिक अधविश्वास पर बढिया चुभता हुआ व्यग्य करती हैं। शिक्षा पद्धति पर एक व्यग्य द्रष्टव्य है—

> घुन खाये शहतीरो पर बारह खडी विधाता बाँचे,
> फटी भीत है छत चूती है, आले पर बिस्तुइया नाचे,
> बरसाकर बेबस बच्चो पर मिनट मिनट मे पाँच तमाचे,
> इसी तरह से दुखरन मास्टर गढता है आदम के साँचे।

नागार्जुन की तीसरी कोटि की रचनाएँ उद्बोधनात्मक हैं किन्तु काव्य तत्व की दृष्टि से हल्की हैं। 'बादल को घिरते देखा है', 'पाषाणी', 'चन्दना', रवीन्द्र के प्रति, 'सिन्दूर तिलकित भाल', 'तुम्हारी दतुरित मुस्कान' आदि कविताएँ उनकी उत्तम प्रगतिवादी कविताएँ हैं।

अन्य प्रगतिवादी कवि

प्रगतिवाद के अन्य कवियो मे शिवमगलसिंह सुमन की कविताएँ भी दो तरह की हैं। एक तो वे जो गीत हैं या छोटी छोटी सुगठित कविताएँ हैं। दूसरी वे जो अधिक लम्बी और उपदेशात्मक हैं। उनकी छोटी छोटी कविताएँ और गीत जहाँ कला और प्रभाव की दृष्टि से उत्तम दीखते हैं वहाँ बडी रचनाओं का प्रभाव बिखर जाता है। इनकी प्रगतिवादी रचनाओ मे ओज है। 'त्रिलोचन' भी इसी वग के कवि हैं। इनकी कविताओं मे बडी सादगी है और हर कविता मे धरती की सोंधी गन्ध मिलती है। इनकी कविताएँ आकार मे छोटी और प्रभाव मे तीव्र होती हैं। त्रिलोचन का प्रगतिवाद त्रासदीय जीवन बोध मे है। यह बोध उनके प्रकृति चित्रों मे भी मिलता है। अन्य प्रगतिवादियो की तरह इन्होंने भी लोक भाषा के मुहावरो से अपनी भाषा को अभिव्यजनाक्षम बनाया है। रांगेय राघव भी प्रगतिवादी विचारधारा के कवि हैं। ये ऐसे कवि हैं जो साहित्य और समाज के प्रति पूर्णत समर्पित हैं। शायद ही कोई प्रगतिवादी कवि हो जो अपने मार्क्सवादी सिद्धान्त और काव्यगत ईमानदारी के प्रति इतना अधिक निष्ठावान हो। अन्य कवियो की तरह उसने केवल समसामयिकता तक ही अपने को सीमित नहीं किया है बल्कि उसके पार जाकर स्थायित्व की तलाश भी की है। शिल्प के सम्बन्ध मे भी रांगेय राघव ने पर्याप्त सजगता का परिचय दिया है। मुक्तिबोध अपने

विश्वासों और संवेदनाओं से जनवादी हैं। प्रगतिशील कविता के अन्तगत इनकी कविता आसानी से रखी जा सकती है, किन्तु कुल मिलाकर इन्हें नयी कविता के अन्तगत रखना समीचीन होगा। इन कवियों के अतिरिक्त अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, शमशेर बहादुरसिंह, धर्मवीर भारती में भी प्रगतिवाद किसी न किसी रूप मे है, किन्तु मूलत इन्हें प्रगतिवाद के अ तगत नही रखा जा सकता।

अज्ञेय

'भग्नदूत' और 'चिन्ता' की छायावादी कविताओं से अपनी काव्य यात्रा प्रारम्भ करने वाले अज्ञेय प्रयोगवाद और नयी कविता के विशिष्ट कवि हैं। इस धारा के कवियों मे उनका स्वर सबसे अधिक वैविध्यपूर्ण है। उनका स्वर अह से लेकर समाज तक, प्रेम स लेकर दशन तक, आदिम ग ध से लेकर विज्ञान की चेतना तक, यन्त्र सभ्यता से लेकर लोक परिवेश तक, यातना-बोध स लेकर विद्रोह की ललकार तक, प्रकृति-सौन्दय से लेकर मानव सौन्दय तक फला हुआ है। स्पष्ट है कि इस व्याप्ति मे सवत्र संवेदनशीलता या अनुभूति साथ नही देती, कहीं-कहीं कोरी बौद्धिकता या शुष्क बोध उभर आता है। 'तार-सप्तक' की कविताओं के साथ अज्ञेय की नयी काव्य-यात्रा प्रारम्भ हुई ह जो बाद मे 'इत्यलम्' मे सगृहीत दिखायी पडती है। अज्ञेय म सवेदना के साथ एक सजग बौद्धिकता है। यह बौद्धिकता उनकी सवेदना को नियन्त्रित करती है। सवेदना और बौद्धिकता की यह यात्रा जहाँ रूमानी परम्परा को तोडकर नये सौन्दयबोध से सम्पन्न स्वस्थ काव्य की सष्टि करती है वही बौद्धिकता का अतिरेक शुष्क, दुरूह और नव रहस्यवादी कविता को जन्म देता है। अज्ञेय की छोटी छोटी कविताएँ सौन्दय और प्रभाव की सष्टि की दृष्टि मे विशिष्ट और सक्षम हैं।

धर्मवीर भारती

✓ भारती जी की आरम्भिक रचनाएँ बहुत कुछ कशोर भावुकता से आक्रान्त है। उनकी परवर्ती कृतियो—'अन्धा युग', 'कनुप्रिया', 'सात गीत वर्ष' मे ही काव्योपलब्धियाँ हैं। उनकी कविताएँ मूलत गीतात्मक हैं। भारती के काव्य की विशेषता है, उसकी मूतता और पारदर्शिता। प्रेममूलक कविताओं के अतिरिक्त कुछ व्यंग्यात्मक कविताएँ भी हैं जो किसी सांस्कृतिक, सामाजिक या राजनीतिक विसगति पर हल्का हल्का आघात करती हैं। सप्तकों के बाहर के कवियों मे वीरेन्द्र कुमार जन मार्क्सवादी सिद्धान्तो से प्रभावित हैं। 'अनागता की आँखें' और 'यातना का सूय पुरुष' उनके सग्रह हैं। जगदीश गुप्त के काव्य-सग्रह हैं— हिमविद्ध और नाव के पाव। किन्तु नयी कविता के विकास मे उनका योगदान 'नयी कविता' पत्रिका के प्रकाशन के कारण है। दुष्यन्त कुमार अपने प्रथम काव्य सग्रह 'सूय का स्वागत' को लेकर इस क्षेत्र मे आये। रमासिंह का एक ही सग्रह 'समुद्रफेन' प्रकाशित हुआ।

मुक्तिबोध

अपनी पूरी पीढ़ी में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व विशिष्ट है। इस पीढ़ी और इसी से लगी हुई परवर्ती पीढ़ी के लगभग सारे महत्त्वपूर्ण कवि (अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेरबहादुर) नए प्रयोग करने का प्रयत्न करने पर भी रूमानी संवेदना और भाषा से मुक्त नहीं हो सके। किन्तु मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जिनका अनुभव जगत बहुत व्यापक है, जो अपने परिवेश के जीवन में गहरे पैठकर भाव से जुड़ा है। उनकी प्रगतिवादी दृष्टि परिवेश बोध, सामाजिक चिन्तन और अनुभव शिल्प को और गति देती है। कहा जा सकता है कि नाश में जीवन की यथार्थ छवि को लेकर विकसित होने वाली नई कविता के अग्रज कवि सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध ही हैं। मुक्तिबोध में फैन्टेसी है। उनकी अनुभूति केवल व्यक्तिगत संवेदना के स्तर तक ही नहीं है, वह अपने परिवेश से गहरे जुड़ी है और अनेक आयामों में बिखरी है तथा कवि की आलोचक दृष्टि रचनात्मक माध्यम में शामिल होने वाली उनकी संवेदना और निरपेक्षता की जाँच करती चलती है। मुक्तिबोध कवि के अतिरिक्त आलोचक निबन्धकार, डायरी लेखक, उपन्यासकार और कहानीकार भी थे। उनका सम्पूर्ण प्रकाशित साहित्य इस प्रकार है — 'कामायनी : एक पुनर्विचार', 'भारतीय इतिहास और संस्कृति', 'नई कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध', 'नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'भूरी भूरी खाक धूल', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'काठ का सपना', 'विपात्र', 'सतह से उठता आदमी'।

गिरिजाकुमार माथुर

गिरिजाकुमार माथुर तार सप्तक के एक कवि हैं। 'तार सप्तक' का प्रकाशन चाहे कोई घटना न हो पर गिरिजाकुमार माथुर का उसमें सम्मिलित होना एक घटना अवश्य है। माथुर न तो प्रयोगवादी कवि हैं न प्रगतिवादी और न यथार्थवादी। रूमानी कवियों की भाषा की तरह उनकी भाषा में भी सादगी है पर रंग अपना है। गिरिजाकुमार माथुर में प्रयोग और संवेदना का बहुत सुन्दर सामंजस्य है अर्थात् प्रयोग कहीं भी बौद्धिक भंगिमा या फैशन के वशीभूत होकर नहीं आया है वह उनकी अनुभूतियों और संवेदनाओं के सूक्ष्म कोणों तथा उनके प्रभावों को व्यक्त करने की आकुलता से जुड़ा हुआ है। कवि ने छन्द, भाषा और लय तथा बिम्ब विधान सभी में प्रयोग किए हैं। छन्द तो प्रायः सर्वत्र लयमुक्त हैं। नवीनता इसमें है कि कवि ने कहीं-कहीं सवैया को तोड़कर एक नया छन्द रूप दिया है। उनके काव्य के दो स्वरूप हैं — 'मंजीर', एवं 'तार सप्तक'। इनमें उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ हैं किन्तु 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान' तथा 'शिलापंख चमकीले' में सामाजिक जीवन की अनुभूतियाँ और यथार्थ उभरते गए हैं। 'तार-सप्तक' में जीवन यथार्थ के नए आयाम उद्घाटित नहीं किए गए हैं। वे अपने परिवार के जीवन सत्यों से भी जुड़े नहीं प्रतीत होते। उनकी संवेदना जब तब रूमानी प्रतीत होती है। प्रकृति की रंगमयता, उसकी उन्मुक्त सौन्दर्य, प्यार, प्रेम प्रसंगों की स्मृतियों का एक सुन्दर वातावरण में साथीविहीन अकेलेपन का बोध आदि इनके अनुभव

और सवेदना के अग है। इनके रचना-लोक म विभिन्न रूप रगो मे, ध्वनियो, गन्धो और स्पर्शों म इन्ही के दर्शन होते हैं—

सेमल की गरमीली हल्की रूई समान
जाड़ा की धूप खिली नीले आसमान मे
झाडी झुरमुटो से उठे लम्बे मदान मे
रूखे पतझर भरे जगल के टीलो पर
नाप कर चलती समीर हेमत की
लम्बी लहर सी। (तार-सप्तक)

इन सीमित जीवन अनुभवो को लेकर भी माथुर एक विशिष्ट कवि हैं। क्योकि ये इन अनुभवो की बहुत गहरी और सूक्ष्म छाया को पहचानते हैं। इनकी अन्य कृतियाँ है—'जो बँध नही सका, भीतरी नदी की यात्रा', 'साक्षी रहे वर्तमान' और 'कल्पान्तर' है।

भवानीप्रसाद मिश्र

भवानीप्रसाद मिश्र नई कविता के प्रमुख कवियो म महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। ये दूसरे सप्तक के कवि हैं। अब तक इनके कई सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'गीत फरोश' से लेकर 'बुनी हुई रस्सी' तक की कविता यात्रा एक-सी नही रही है, फिर भी कुछेक बातें ऐसी हैं जो सदव मिश्रजी और उनकी कविता के साथ लिपटी रही हैं, व्यग्य पीडा और आस्था। अँधेरे से निकल कर प्रकृति की खुली गोद मे विचरते हुए अपने दायित्व को पहचानना, जिन्दगी को सही अर्थ देना और सबसे ऊपर विधात्मक धरातल का छोडकर सम बिन्दु पर उपस्थित होने की भावना उनकी कविताओ मे बार-बार आवृत्ति पाती है। जिस तरह तू बोलता है, उस तरह तू लिख का सूत्र लेकर चलने वाला यह कवि शिल्प के क्षेत्र म भी किसी प्रतिवादी स्थिति का कायल नही रहा है। यही वह वजह है जो उनकी कविता को सपाटता, सरलता, प्रवाह और नाटकीयता प्रदान करती है। गत दशक मे प्रकाशित उनके कविता सग्रहो म उनकी उक्त विशेषताओ के अलावा जीवन के विषय मे कही गई अनेक बातें मिलती हैं। अब तक भवानी प्रसाद मिश्र के 'गीत फरोश', 'चकित है दुख', 'अँधेरी कविताएँ', गाँधी पचशती', 'बनी हुई रस्सी', 'खुशबू के शिलालेख' 'व्यक्तिगत' और त्रिकाल सध्या' आदि सग्रह प्रकाशित हो चुके है।

दर्शन मे अद्वैतवादी, राजनीति मे गाँधीवादी और टकनीक में भवानी भाई सहज सवेदना के कवि हैं। कवि की सवेदना कही तो सूक्ष्म और आत्मगत है, जस 'कमल के फूल 'वाणी की दीनता', 'टूटने का सुख आदि म, कही बहुत प्रत्यक्ष और परिवेश सम्पृक्त है जसे—'सतपुडा के जगल, 'सन्नाटा', 'गीत फरोश' आदि कविताओ मे। कवि की सहजता सघन अनुभूति तथा सयत अभिव्यक्ति के क्षणो मे जहाँ अत्यन्त सुन्दर काव्य की सृष्टि करती है वही फामूलाबद्ध आदर्शवादिता अनुभूति के सतहीपन तथा अभिव्यक्ति के तुकान्तवादी विस्तार की अवस्था मे सामान्य काव्य की। 'असाधारण' और 'स्नेह शपथ' जसी उनकी काफी कविताएँ हैं जो सामान्य है। उनकी भाषा और अभिव्यक्ति मे भी लोकजीवन का प्रभाव है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तीसरे सप्तक' के चर्चित और प्रमुख कवियों में से एक हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ 'काठ की घण्टियाँ', 'बाँस का पुल', 'गर्म हवाएँ', 'एक सूनी नाव', 'कुआनो नदी', 'जंगल का दर्द', 'खूँटियों पर टंगे लोग' और 'क्या कहकर पुकारूँ' आदि हैं। इनके अतिरिक्त सर्वेश्वरजी ने 'भौं भौं', 'खौं खौं' जैसी बाल रचनाएँ और 'बकरी' शीर्षक से एक उल्लेखनीय नाटक भी प्रस्तुत किया है। डॉ. हरिचरण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'सर्वेश्वर का काव्य : संवेदना और सम्प्रेषण' में सर्वेश्वरजी के बारे में जो लिखा है उसे यहाँ यथावत् प्रस्तुत किया जा रहा है—"सर्वेश्वर उन नए कवियों में से हैं जिन्होंने न केवल नई रोचक और विश्वसनीय कविता लिखी है, वरन् उनमें से भी हैं जिनका सृजन उन संघर्ष को भी माफ कर देता है जो नए मजब का अपनी छवि निष्ठा बनाए रखने के लिए और नए कविता प्रतिमानों की प्रतिष्ठा के लिए करना पड़ा। सर्वेश्वर का सृजन पहले कहानियों के रूप में सामने आया और 1950 में वे कविता की ओर उन्मुख हुए। यों कहानियों में कविता में आना कोई नई बात नहीं है परन्तु सर्वेश्वर इसलिए आए कि उनकी प्रकृति कविता के अधिक नजदीक पड़ती है। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। आज भी वे एक कवि के रूप में ही अधिक सफल हैं और चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि 1950 के बाद से अब तक के उनके कवित्व ने नई कविता को एक सही दिशा दी है। यही वह वर्ष है जब नई कविता अपने असली और विश्वसनीय रूप में सामने आई थी। ऐसी स्थिति में सर्वेश्वर के काव्य सृजन और नई कविता दोनों की यात्रा साथ साथ शुरू हुई मानना संगत प्रतीत होता है। वे नई कविता के जन्म, विकास और उत्कर्ष तीनों रूपों से जुड़े हुए हैं और उनकी कविताएँ नई कविता के समस्त संसार का प्रस्तुति करने वाली कविताएँ हैं। अतः वे न केवल नई कविता के प्रमुख कविता के प्रमुख कवि हैं बल्कि अपरिहार्य हस्ताक्षर भी हैं।

सर्वेश्वर का प्रारम्भ का कृतित्व छायावाद से प्रभावित सरस और पद्यात्मक है। अब भी रोमानी प्रवृत्ति भावुकता गीतात्मक कारुण्य और ज्वलन भरी पीड़ा उनमें मौजूद है। स्पष्ट संवेदनाएँ तीक्ष्ण व्यंग्य निम्न मध्य वर्ग की स्थितियों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति अकेलेपन की अनुभूति असहायता और जीवन व्यर्थता का भाव, सरल संकेत, परिचित प्रतीकों का विधान, सहज कल्पना, रूप विधान में लोक स्पर्श की सहजता सर्वेश्वर की प्रमुख विशेषताएँ हैं। प्रश्नाकुलता और व्याकुलतायुक्त तनाव भी उनकी रचनाओं में कहीं कहीं लक्षित होता है। श्री अज्ञेय के कथनानुसार उनमें संदर्भ और सामाजिक चेतना की अपेक्षा अनुभव का प्राधान्य है और आन्तरिक अनुशासन और आन्तरिक अनुशासन और तन्त्र कौशल की कमी है। इधर उनमें अटपटी उच्छृंखल अभिव्यक्ति और गद्यात्मक नीरसता विकसित हुई है। सर्वेश्वर में मानव के आन्तरिक परिवर्तन की आकांक्षा और मानवता तथा करुणा की भावना भी रही है। परन्तु इधर मूल्यों के प्रति उन्हें शंका होने लगी

है। यो व्यक्ति की आन्तरिकता के साथ उससे सम्बद्ध बाह्य लोकसत्ता पर सर्वेश्वर की दृष्टि निरन्तर बनी रही है। डॉ रघुवंश के शब्दों में "सर्वेश्वर में युग-जीवन की गहरी सम्पृक्ति है, वह आज की समस्याओं के प्रति सबसे अधिक सजग कलाकार हैं। वे समसामयिक होकर भी अपने युग की गहरी सम्पृक्ति को गहन अनुभव के स्तर पर ग्रहण करने में समर्थ हो सके हैं।" सर्वेश्वर में प्रखर मार्मिक व्यंग्य, कहीं-कहीं आत्म व्यंग्य और अकेलेपन की अनुभूति तथा विवशता की भावना है। समसामयिक विसंगतियों और व्यंग्य स्थितियों की उन्होंने अच्छी व्यंजना की है।

कुँवरनारायण

कुँवरनारायण नई कविता के प्रतिनिधि कवि हैं। इनके कृतित्व का पहला परिचय डॉ जगदीश गुप्त द्वारा सम्पादित नई कविता अंक तीन में उपलब्ध है। उसके बाद सन् 1959 में तीसरा सप्तक प्रकाशित हुआ। अज्ञेय अपने सम्पादकत्व में तीसरे सप्तक में जिन सात कवियों को स्थान देते हैं उनमें कुँवरनारायण भी एक हैं। तीसरे सप्तक में कुँवरनारायण की 21 कविताएँ प्रकाशित हैं। इस संग्रह की कुछ कविताओं से कवि को यश और महत्त्व दोनों प्राप्त हुए हैं। ऐसी कविताओं में 'रात चितकबरी', 'लुढ़क पड़ी छाया', 'भुतहा घर', 'शतरंज', 'हम और पगडण्डी' विशेष प्रसिद्ध हैं। इन कविताओं में बौद्धिकता, गहन चिन्तन, शाश्वत जीवन के प्रति जिज्ञासा, व्यक्ति अथवा अहं की प्रतिष्ठा एवं कलागत नूतन प्रयोग जैसी विशेषताएँ मिलती हैं। कुँवरनारायण की पहली स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित काव्य-कृति 'चक्रव्यूह' है। यह सन् 1956 में प्रकाशित हुई थी और इसमें कुल 70 कविताएँ हैं। डॉ जगदीश गुप्त ने इसे नई कविता का प्रतिनिधि संकलन स्वीकार किया है। जीवन का कटु यथार्थ समकालीन विसंगतियाँ भरे समाज में व्यक्ति की स्थिति, परम्पराओं के प्रति अनास्था का भाव प्रभावशाली बिम्बों के द्वारा इस संग्रह की कविताओं में देखने को मिलता है।

कुँवरनारायण का दूसरा कविता संग्रह 'परिवेश हम-तुम' शीर्षक से सन 1961 में प्रकाशित हुआ। शीर्षक से संकेतित होता है कि इसमें कवि व्यक्ति के धरातल से उतरकर परिवेश में आकर मिल गया है। इस कविता संग्रह की भाव भूमि सरलता लिए है और परिवेश के विभिन्न चित्र कवि की सजग और चेतन दृष्टि के सूचक हैं। कवि के भावुक हृदय और उत्कृष्ट शिल्प को गहन कोमल अनुभूतियों के साथ इस संग्रह में देखा जा सकता है। कुँवरनारायण की सर्वाधिक सशक्त प्रबन्ध कृति 'आत्मजयी' है। इसका प्रकाशन 1965 में हुआ था। यह कृति कठोपनिषद के नचिकेता प्रसंग पर आधारित है। कवि ने भूमिका में ही लिख दिया है कि 'आत्मजयी में उठायी गयी समस्या मुख्यतः एक विचारशील व्यक्ति की समस्या है—केवल ऐसे प्राणी की समस्या नहीं जो दैनिक आवश्यकताओं के आगे नहीं सोचता या नहीं सोच पाता। कथानक का नायक नचिकेता मात्र सुख को अस्वीकार करता है। तात्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति भर ही उसके लिए पर्याप्त नहीं। उसके अन्दर

वह वृहत्तर जिज्ञासा है जिसके लिए केवल सुखी जीना, काफी नही है, सार्थक जीना जरूरी है। यह जिज्ञासा ही उसे साधारण प्राणी से विशिष्ट उन मनुष्यो की कोटि में रखती है जिन्होंने सत्य की खोज मे अपने हित को गौण माना, कायिक जीवन को स्वप्न समझा और जिन्होने ऐन्द्रिय सुखो के आधार पर ही जीवन से समझौता नहीं किया, बल्कि उस चरम लक्ष्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया जो उन्हें पाने के योग्य हुआ। अब तक प्रकाशित काव्य कृतिया मे कुवरनारायण की एक कृति और सामने आई है जिसका शीर्षक आकारा के आसपास है। यह इनका कहानी-सग्रह है। कुल मिलाकर यही कह सकते हैं कि कुवरनारायण नयी कविता के सशक्त और प्रतिनिधि कवि हैं। इन्होने अपनी काव्य कृतियो मे व्यक्ति चेतना और सामाजिक चेतना दोनो को पास पास रखकर अपने चिन्तन को वाणी दी है। इनके तीना काव्य उल्लेखनीय हैं और तीना काव्य ही उनकी प्रतिभा का परिचय देते हैं।

दुष्यन्त कुमार

ये भोपाल म हिन्दी विभाग के सहायक निर्देशक हैं। इन्होंने अपनी कविताओ मे जीवन चेतना को छोटे-छोटे खडो मे उभारने का प्रयास किया है। इनके प्रकाशित कविता-सग्रहो 'सूय का स्वागत, और 'आवाजो के घेरे मे उपयुक्त प्रक्रिया दृष्टि गोचर होती है। इनके काव्य नाटक 'एक कठ विषपायी' मे जीवन का एक व्यापक रूप म प्रस्तुत किया गया है। इसम पुराने देवताओ को आधुनिक युगीन सदभ म चित्रित करने का सराहनीय साहस है। कवि की जीवन की जटिलताओ की गहरी पकड है। इनमे कल्पना और अनुभूति पर्याप्त मात्रा मे है। उनकी वाणी मे शक्ति और शैली मे नवीनता है। इनकी काव्यगत विशेषताए इन्ही के शब्दो मे—

> घायलो की पीडिता की गूज है वातावरण मे
> एक मंदिर सा बना रण क्षेत्र मैं इसका पुजारी ॥
> क्रदनो कोलाहलो के बीच यह आवाज भी है
> अलग सबसे प्रबल, सबसे ममभेदी और भारी ॥

दुष्यन्त कुमार मे भी कुण्ठा और अनिश्चय की मन स्थिति रही है। नित्य प्रति के जीवन की वस्तुओ को प्रतीक रूप म ग्रहण कर और नये उपमान उपस्थित कर वे अपनी मन स्थिति व्यक्त करते हैं। युग स्पन्दन के साकेतिक वणन म उनकी काफी रुचि है। युग अवसाद का अकन कर वे उससे मुक्ति की प्रेरणा लेते हैं। दुष्यन्त कुमार मे अनुभूति और अभिव्यक्ति की स्पष्टता है परन्तु उनकी गद्यात्मकता खटकती है।

नरेश मेहता

नरेश मेहता प्रगतिशील प्रयोगनिष्ठ कवि हैं। वे राजनीति और साहित्य मे पार्थक्य स्वीकार नही करते। आरभ मे इन पर छायावाद का काफी प्रभाव था। इस ढग से कुछ गीत भी इन्होने लिखे थे। छायावादी सौंदय दृष्टि, रोमान और रसात्मकता से वे अब भी एकदम मुक्त नहीं हैं। चित्रण क्षमता, नवीन मौलिक अप्रस्तुत विधान, लाक्षणिक भगिमा और जनजीवन का स्पन्दन उनकी विशेषताएँ

हैं। उनके कथ्य और शब्द विधान म विशेष वैदग्ध्य होता है। पंक्तियों का विभाजन और मुद्रण विन्यास भी अनूठापन लिये रहता है। अभिव्यक्ति उनकी आयासित और भाषा उनके अन्य साथियो की तरह उच्छृंखल और विचित्र प्रयोगो वाली है। सरल व्यावहारिक और अंग्रेजी के शब्दो के साथ वे सस्कृत के क्लिष्ट शब्द भी प्रयुक्त करते हैं। उनकी इधर प्रकाशित पुस्तकें हैं 'वनपाखी सुनो', 'बोलने दो चीड को', 'संशय की एक रात', 'मेरा समर्पित एकान्त' जिसमे तीसरी (संशय की एक रात) राम की संशयग्रस्त मन स्थिति के चित्रण द्वारा आधुनिक युद्ध और द्वन्द्व से व्याकुल मानव की स्थिति की व्यजना करने वाली चार सर्गों की लम्बी समस्यापरक काव्य रचना है।

नरेश मेहता के प्रकृति चित्रण मे धरती के सपने और माटी की गध का आधार है। कल्पना से उनमे जितनी मनोहरता आई है, उतनी छायावादी वायवीयता नहीं। वे कई रचनाओ में प्रकृति परिवेश से तुरन्त स्वस्थ मानवीयता और चेतन शक्ति की उल्लसित भावभूमि पर आते हुए दिखलायी देते हैं। इसके उदाहरण हैं 'उषस' और 'मेघ मे' रचनाएँ। मुक्तिबोध का मत है कि समय के विशाल केनवास पर देश-देशान्तरो के मानव चित्रों का विहगावलोकन करने का श्रेय नरेश मेहता को प्राप्त है। उन्होने प्रकृति सौंदर्य को दैनिक सस्कृति की आखो से देखा और उसके भव्य उदात्त चित्र खडे किये। विश्व के इस रेत बन पर मैं मह का मेघ हूँ कहने वाला कवि जनसामान्य के आसुओ के कारणो की तलाश करना चाहता है किन्तु देखता है कि अह की मीनार की ही नींव मे पत्थर हिचकिया लेते हैं। अह का वह ऊचा गगन व्यर्थ है जिसकी गहरी नीव आसुओ की नदी मे हो। कवि शुरू से ही व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनो गहराइया लेकर चला है नयी कविता में नरेश की सघन शक्ति और वचारिकता दोनो ही अपना वशिष्ट्य रखते हैं। कवि की मानवीय दृष्टि उसके अधीर मन से पीडावहन करने की प्रार्थना करती है क्योकि पीडा मन की आत्मजा है, वह सबसे बडा दान है सृष्टि का, उसे कल्पवृक्ष जैसा मानकर ही सब कुछ पाया जा सकता है।

नरेश मेहता का कवि स्वस्थ सामाजिकता मे लीन होने की चाह लेकर चला है। तीर्थ जल' रचना मे वह स्पष्टत काई के बधनो को काटने की, महराबो की पाथर-कारा तोडने की बात कहता है ताकि शेष से जुड सके। नरेश मेहता का शिल्प कठिन से सरल की ओर उन्मुख हुआ है फलस्वरूप उनकी चमत्कारिता क्रमश जीवन की जटिल गहराइयो की ओर मुड गयी है जिससे उस पर लगाये गये आरोप अस्वाभाविकता, चमत्कार प्रदर्शन, प्रयोग के लिए प्रयोग, अतिशय शिल्प सम्पृक्ति आदि स्वत धूमिल पड जाते हैं। सम्प्रति उनके काव्य मे वस्तु और शिल्प का सम्यक् सन्तुलन दिखलाई देता है।

नरेश मेहता ने नये प्रबन्ध काव्यो की सृष्टि की है। 'संशय की एक रात' यदि अन्तर्मन्थन और सामूहिक दायित्वबोध को लेकर चला है, तो 'महाप्रस्थान' विचार-स्वातन्त्र्य और ऊर्ध्वगामी प्रज्ञा यात्रा को सकेतित करता है। 'प्रवाद पर्व'

जैसे खण्ड काव्य मे एक अनाम साधारण जन द्वारा उठायी गयी उपली के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कवि न लघु मानव की प्रतिष्ठा की है। यह अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रामाणिक दस्तावेज है। 'शबरी' वचारिक उच्चता द्वारा शूद्रा को शक्ति मण्डित करने वाला काव्य है। वास्तव म नरेश मेहता सप्तक के कवियो में अपनी एक अलग दिशा और वैशिष्ट् लेकर चले है। वे मानते हैं कि 'सब मार्ग की अपनी दिशा, अपना क्षितिज' और 'सबका सूर्योदय पृथक है।' उन्होंने विगत का अनुकरण छोडकर नये को अपनाया है, नय मूल्यो का स्वीकारा है और युग की जटिलताओ तथा समसामयिक सन्दर्भों को नया शिल्प दिया है।

अजित कुमार

अजित कुमार की कविताए 'अकेले कठ की पुकार' नामक काव्य-सग्रह मे प्रकाशित हुई हैं। कवि ने कवि कम, कविता तथा नयी कविता की कमजोरियो और सभावनाओ के विषय मे विस्तार स अपने मन्तव्यो को प्रकट किया है। इनके अनुसार 'नूतन जिन्दगी लाना और नयी दुनिया बसाना भी उस (कवि) का काय है।' काव्यगत कमजोरियो को हटाना अभी शेष है, जिसके लिए वे मानते हैं कि 'अकेले कठ की पुकार' ही काफी नही है। इनका कहना है कि 'चादनी चन्दन सदृश हम क्यो लिखें।' इससे स्पष्ट है कि उनकी कविताओ म परम्परागत अप्रस्तुत विधान तथा काव्य रूढियो के प्रति विद्रोही स्वर है। इन्होंने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियो की मन स्थितियो के चित्रो को अकित किया है। इनकी कविताओ म कवि क क्तव्य कर्मों का विज्ञापन अधिक है किन्तु पालन कम है।

मलयज

मलयज की कविताएँ नयी कविता म सकलित हैं। मलयज आधुनिक हिन्दी साहित्य के किसी वाद अथवा दल विशेष स सम्बद्ध नही है। इन्होंने मध्य वग के बुद्धिजीवियो का सच्चा चित्र अकित करने का प्रयास किया है। अत इनकी कविताओ मे उक्त वर्ग की भयजन्य पीडा निराशा निसहायता विवशता आदि की भावनाय चित्रित हैं। कवि की मान्यता है कि मानव म जितनी भी बुराइयाँ और कमजोरियाँ हैं वे सब विरासत म मिली है अत वह अपने म पापी नही विरासत का दोषी है। इनका प्रकृति चित्रण पर्याप्त सवेदनशील है। डा जगदीश गुप्त के अनुसार—'नयी कविता के नाम पर प्रकाशित होन वाली रचनाओ को अगर कविता और अकविता की श्रेणी मे बाँटा जाय तो मलयज की अधिकाश रचनाएँ कविता की श्रेणी म ही आ सकेंगी।"

विपिन कुमार अग्रवाल

विपिन कुमार अग्रवाल की कवितायें नयी कविता म प्रकाशित हुई है जिनम एक सवथा चौंका देने वाला स्वर है। ऐसी कविताओं का आधुनिक हिन्दी कविता की किसी भी पूववर्ती परम्परा के अतगत नहीं रखा जा सकता है। य कवितायें आधुनिक जीवन की अति यान्त्रिकता, बौद्धिकता जटिलता और अस्वस्थता से ग्रस्त है। इन्होने मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण यथार्थवादी दृष्टि स व्यग्यपूर्ण शैली मे

किया है। शृंगारी चित्रणो मे कामुकता अधिक उभर आई है। इनकी अभिव्यंजना शैली मे पर्याप्त परिष्कृति की अपेक्षा है।

भारतभूषण अग्रवाल

भारतभूषण अग्रवाल की काव्य यात्रा महज तुकबन्दी और मैथिलीशरण गुप्त की उपदेशात्मक शैली के प्रभाव मे शुरू होकर विभिन्न अनुभवो को पार करती हुई प्रणय गीतो के बाद मध्यवर्गीय व्यक्ति के जन-जीवन की सच्चाई को लिपिबद्ध करती है और 'आज के पीडा भरे हुए प्रहर' से लेकर विश्व दृष्टि और मानवीय सदाशयता तक व्याप्त और गहरी होती गयी है। डॉ प्रेमशकर का मत है कि 'भारत भूषण के लिए कविताएँ उदार मनुष्यता को प्रेषित करने का माध्यम है और इसीलिए रगावट-सजावट मे उनकी रुचि कम है। जिसे अभिव्यक्ति कौशल अथवा शिल्प विधान कह दिया जाता है, उसके लिए उनकी कविताओ म ताक-झाक करना बेकार है, पर एक मानवीय चिता, तापभरा सवेदन और अधुनगा सामयिक परिवेश उनमे बराबर उपस्थित है।" अतमुक्ति के साथ उसमे जन मन की मुक्ति की प्रबल लालसा है, मनुष्य के प्रति रचनात्मक सरोकार और आस्था के साथ। काव्य नाटक 'अग्नि लोक' इसका सबूत है और उनका नव्यतम काव्य सकलन 'उतना वह सूरज है' भी, जहाँ सवेदनशील मानवीय उष्मा और परस्पर सम्बन्धो के प्रति सहज आत्मीयता, अकृत्रिमता बरबस ही हमे आकृष्ट कर लेती है। इस नये सकलन मे अशोक वाजपेयी ने लिखा है 'बौद्धिक दिखाऊपन और आत्मदया दोनो से ही भारत जी की कविता को कुछ लेना देना नही है। आज जब कविता कई बार एक तरह का क्रूर प्रतिकार या प्रतिचार लगन लगती है इस सग्रह म ऐसी कविता पाना बहुत प्रतिकर लगता है जो मानवीय स्थिति का सजग और सवेदनशील विश्लेषण करते हुए भी आत्मीय और मानवीय गरमाहट भरी है। वह हममे से उठकर बोलने वाले एक आदमी की सच्ची सीधी बातचीत है। एक ऐसे समय मे जब सम्बन्धहीनता लगभग स्थायी भाव बन चुकी है, ऐसी कविता, जो सम्बन्धो के प्रति हमम विश्वास और उत्साह जगाती है, निश्चय ही परिपक्व है और महत्त्वपूर्ण है।" परिवेशगत उत्पीडन, दंभ और भ्रष्टाचार के बाद मानवीय सदाशयता और सम्बन्ध सजग आत्मीयता भारत भूषण की रचनाओ का चरम वशिष्ट्य है जिसे हम उनकी काव्य-यात्रा का चौडा मोडा कह सकते हैं, मोड क्या, यह तो विकासक्रम की सहज परिणति है।

जगदीश गुप्त

जगदीश गुप्त नयी 'कविता आन्दोलन के अग्रणी' कवि सूत्रधार, चितक-चित्रकार और कला-समीक्षक हैं। इनके प्रसिद्ध काव्य सग्रहो मे नाव के पाँव शब्द दश, हिम विद्ध', आदिम एकान्त हैं। 'शम्बूक इनका लघु सवादप्रधान काव्य है और अभी हाल ही मे प्रकाशित 'गोपा गौतम भी उनका सवाद काव्य ही है। इन काव्य रचनाओ के अतिरिक्त उन्होने ब्रजभाषा मे छन्दशती भी प्रस्तुत किया है, युग्म' उनका विभावित काव्य है। इनके द्वारा सम्पादित सकलनो में रीति काव्य सग्रह, कवितान्तर, 'काव्य-सेतु, 'अर्थ।' और नवधा' को स्थान प्राप्त

है। डा० गुप्त नयी कविता से जुड़े रहे हैं और इन्होंने नयी कविता नामक पत्रिका के एक से आठ अंकों का सम्पादन भी किया है। जगदीश गुप्त की कविता के सर्जनात्मक मूल्य विवादास्पद हैं। उन पर ब्रजभाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है इसलिए कुछ समीक्षक उन्हें नए कवि के रूप में स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं। 'नाव के पाँव' शीर्षक की कविताओं में कवि कुछ ऐसी मनोवृत्तियों का प्रकाशन करता है जिनमें बौद्धिकता अधिक है। शब्द दंश एक ऐसी ही कविता है—

'शब्द हैं फुंकार'
कह कर डस गया
आतंक अभिशापित मनुज को
गारुड़ी आ गारुड़ी !

क्लिष्टता के होते हुए भी जगदीश गुप्त के कवित्व को स्वीकार किया जायगा। उनकी कविता में मानव अस्तित्व और उसके अभिलक्षणों को एक नयी गरिमा मिली है। मनुष्य के विकार मनुष्य से पृथक न होकर उसके सहोदर हैं। इन्हीं विकारों की खाद से उसमें दया, करुणा और स्नेह की लताएँ लहलहाती हैं। सहज मानवीय विकार ही मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं। इसलिए कवि अशिव में भी शिव और असुन्दर में भी सुन्दर को निहित देखता है—

काम का आवेग कुछ क्षण गया निज का नाम भ ही जोड़।
मोह मत्सर लोभ, मद सब—
जिन्दगी को बाँट लेने की परस्पर होड़।
यह विकार नहीं,
मनुज के साथ जन्मे, बढ़े
उसके ही सहोदर बन्धु।
हम सबों की आत्मा—
सर्वथा इनसे असग दीखी नहीं अब तक।
दया, करुणा स्नेह की खेती इन्हीं की खाद में बढ़ती
आदमी से आदमी की उमगती पहचान के आधार।
शिव के वेश जन—
यह अशिव भी ग्राह्य—यह स्वीकार।

जगदीश गुप्त की कविताओं में व्यापारगिक के रूप का आरोप देखा जा सकता है। वे अनुभूतिप्रवण कवि नहीं हैं अपितु एक वाक्य की तार्किक संगतियों को पल्लवित करने वाले रचनाकार हैं। 'नाव के पाँव' की पहली कविता में यह पल्लवन देखा जा सकता है।

नयी कविता के कवियों में कुछ और कवि भी हैं जिन्होंने अपने सृजन से पाठकों का ध्यान खींचा है। इनमें से कुछ लिखते हैं या आज भी लिख रहे हैं। प्रमुखतः ऐसे कवियों में लक्ष्मीकान्त वर्मा, प्रयागनारायण त्रिपाठी विजयदेव नारायण साही, रघुवीर सहाय और कीर्ति चौधरी आदि का नाम लिया जा सकता

है। लक्ष्मीकान्त वर्मा अति बौद्धिकता, अनुभव और अभिव्यक्ति की अद्वितीयता, अनगढता, यथार्थकता और नग्नता के प्रेमी हैं। वे आधुनिक विकृत स्थितियों का अंकन 'नग्न' भाषा में करने के पक्षपाती हैं। रागात्मकता का विरोध, बिम्ब विधान पर बल, व्यंग्य की प्रवृत्ति, नित्य प्रति के जीवन और आज के वैज्ञानिक युग से लिए गए नवीन विचित्र उपमानों और प्रतीकों की योजना, रूपकात्मक प्रतीक, आलंकारिक बिम्ब कहीं कहीं क्षीण साम्य वाले विचित्र हास्यास्पद उपमान रेखा चित्रात्मक पद्धति अर्थात् वस्तु का रेखाचित्र प्रस्तुत करने, मन की दशा का अंकन करने और वस्तु को मन के सामने प्रतीक रूप में रखने की प्रवृत्ति वर्माजी के कृतित्व की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

विजयदेव नारायण साही प्रगतिवाद के विरोधी हैं। उनमें आन्तरिक एकालाप को पकड़ने की चेष्टा, भाषण प्रवृत्ति, जनजीवन का वस्तुगत चित्रण, कहीं-कहीं गीति प्रवृत्ति, संयत कल्पना और स्पष्टता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने उनके कृतित्व को 'विस्मृत अनुभूतियों का शोकगीत' कहा है। रघुवीर सहाय आत्मचेतना कलाकार कहे जा सकते हैं। उनकी रचनाओं में आधुनिक जीवन की विडम्बना और विसंगतियों की अभिव्यक्ति यथार्थ के प्रति जागरूकता, वैज्ञानिक दृष्टि, अजनबीपन का भाव, रागात्मक तत्व की कमी, शिल्प चमत्कार, शब्द क्रीडा, सहज प्रवाहमान प्रसादमय व्यावहारिक भाषा और उर्दू काव्य का प्रभाव है। रघुवीर सहाय में विद्रोह विक्षोभ और व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना भी है। उनकी अधिकतर रचनाएँ अकाव्यात्मक हैं, अनेक तो मात्र खिलवाड़ है। तीसरे सप्तक के कवियों में श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी अग्रणी है। वे पर्याप्त प्रौढ, गम्भीर और संयत रचनाकार हैं। उनका अध्ययन विशद् और लेखन गम्भीर है। आरोपित मतवादों से वे मुक्त हैं। उनमें आत्मविश्वास और स्वस्थ व्यक्तिवाद है साथ ही उचित विनम्रता। अभी उनकी रचनाओं का कोई स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है।

सुश्री कीर्ति चौधरी की रचनाओं में कुण्ठा, पीडा, निराशा, लघुता आदि की अपेक्षा नारी की सहज और परम्परागत प्रवृत्तियों (समर्पण, विरह भावना, कमण्यता नम्रता, तरल भावुकता, संवेदनातिरेक, कल्पना विचरण, आशावादिता आदि) की व्यंजना अधिक है। ग्रामीण वातावरण, विशेषकर वहाँ की अमराइयों और ताला के साथ यान्त्रिकता, भीड़ और कोलाहल से भरा शहरी जीवन भी उन्हें प्रिय है। मानव जीवन और उसकी साधारण बातों से अनुराग, अह विलयी वियोगात्मक प्रेम, परसुख विधायक दुख, प्रगति और कमण्यता का संदेश, प्राकृतिक सौन्दर्य में तन्मय हो जाने की वृत्ति इनकी अन्य प्रवृत्तियाँ हैं। शकुन्तला माथुर की भाँति इनका भी काव्य प्रायः सहज-सरल परन्तु साधारण है।

धूमिल

धूमिल साठोत्तरी कविता के बहुचर्चित और सर्वाधिक प्रभावशाली कवि हैं। उनकी कविता प्रहारक और पोल खोलने वाली कविता है। वे समकालीन कविता के मिजाज को अच्छी तरह पहचानते हैं और उसे ईमानदार एवं विश्वसनीय शैली में

प्रकट कर देते हैं। हमारे सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में जो मोह भंग, मूल्यहीनता और अव्यवस्था गहराती गयी है, उसकी असली सूरत समकालीन कविता और विशेषकर धूमिल के काव्य में मिलती है। धूमिल की कविता में आक्रोश है, उष्मा है और सपाटता है। अशोक वाजपेयी ने धूमिल के काव्य-संसार को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उनका काव्य हमारे अकवियों की तरह कल्पना विलास से रचाया गया ऐसा मदमच्युत लोक नहीं है जिसकी हमारे रोजमर्रा के जीवन से संगति और जीवित प्रासंगिकता स्पष्ट न हो और जिसमें कोई गहरी पहचान या खोज तो न उभरती हो, मगर कवि के आत्मप्रदर्शन के लिए खूब अवकाश हो। धूमिल की दुनिया जितनी ठोस है उतनी ही ठेठ और बेबाक भी। अपनी श्रेष्ठ उपलब्धि में वह समकालीन सच्चाई पर कोई मद्धिम रोशनी डालकर सन्तुष्ट नहीं हो जाती, बल्कि निर्भीकता और विश्वास से सचाई को उभार देती है। वास्तव में धूमिल का काव्य हमारे अछूते विषयों को प्रस्तुत करता हुआ नए सन्दर्भों में परिचित कराता है। इनकी प्रमुख काव्यकृतियों में 'संसद से सड़क तक' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। आक्रोश, विद्रोह, सपाट-बयानी और देश की स्थिति का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करने वाली इनकी दूसरी कृति है जो इनकी मृत्यु के पश्चात प्रकाशित हुई है 'कल सुनना मुझे'। कुल मिलाकर यही कह सकते हैं कि 'संसद से सड़क तक' की कविताओं में सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों का पर्दाफाश करते हुए कवि ने अपने यथार्थ शिल्प द्वारा अपने मनोगत भावों को व्यक्त किया है। यह संकलन की सजगता, अस्वीकारी मनोवृत्ति और व्यंग्य चेतना को प्रकट करता है।

धूमिल के पश्चात समकालीन कविता धारा में जिन कवियों ने अपनी पहचान कराई है, उनमें सौमित्र मोहन एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने जीवन पर राजनीति के गहराते हुए प्रभाव को पहचाना है। लीलाधर जगूड़ी ने साम्राज्यवाद के गहराते हुए संकट और सामाजिक अस्थिरता के कारण होने वाले नैतिक स्खलन को देखा है और अभिव्यक्ति प्रदान की है। श्री भगवत रावत ने संक्रमण काल से गुजरते हुए मध्यवर्ग को परिभाषित करने की चेष्टा की है। सोमदत्त ने समकालीन चिन्तन की ओर विशेष ध्यान दिया है। विनोद शुक्ल ने समकालीन परिस्थितियों के प्रति अपनी जागरूकता को व्यक्त किया है। इसी प्रकार वेणु गोपाल ने बावजूद भावुकता के समकालीन अनुभूतियों को अपने काव्य का विषय बनाया है। चन्द्रपति भावसवादी अवधारणा से सम्पृक्त हैं और युवा कवियों में अपनी पहचान बनाये हुए हैं। राजेश जोशी ने मानवीय आकांक्षाओं और स्वप्नों की मुक्ति को मार्मिक ढंग से अभिव्यक्ति प्रदान की है। अरुण कमल समकालीन प्रगतिवादी चिन्तकों में एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनकी कविताएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि आज घोर भौतिकता ने जीवन में सहानुभूति के कोमल अंकुर को सुखा दिया है। मंगलेश डबराल ने यह प्रतिपादित किया है कि अभी भी मानव के भीतर सुन्दरता और मानवता शेष है। चन्द्रकान्त देवताले ने अपनी कविताओं में समकालीन युग और समाज के इतिहास को साकार प्रस्तुत किया है। देवताले इन्सान को जड़ों में कविता का जन्म स्वीकार करते

हैं। और भी अनेक कवि हैं जो समकालीन चेतना से प्रभावित होकर काव्य-रचना कर रहे हैं। इन कवियों में वे कवि भी आते हैं जिनकी दृष्टि प्रगतिशील नहीं है और जो व्यष्टिवादी परम्परा से जुड़े हुए हैं।

आधुनिक काल गद्य के वैभव और वैविध्य का काल

आधुनिक काल में गद्य का जितना प्रचार एवं प्रसार हुआ, उतना पद्य का नहीं। कारण कि गद्य में अपने भावों और विचारों को जितनी आसानी से व्यक्त किया जा सकता था, वह पद्य के माध्यम से सम्भव नहीं था। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों प्रेस आदि के कारण गद्य के माध्यम से जनता तक अपने भावों को पहुँचाना और भी सरल हो गया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी में आधुनिक काल से पूर्व गद्य का प्रचार ही नहीं हुआ था। डॉ. त्रिभुवन सिंह ने लिखा है कि "आधुनिक हिन्दी गद्य के इतिहास को समझने के लिए मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में भटकने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह कहना कि हिन्दी गद्य का आरम्भ रीतिकाल की गद्य कृतियों, साम्प्रदायिक रूप से रची गोरखनाथ की रचनाओं, वैष्णवों द्वारा रचित वार्ता साहित्य एवं परवर्ती काल में लिखी ब्रजभाषा की टीकाओं में ढूंढा जा सकता है, समीचीन नहीं जान पड़ता है। जिस काल में कविता एकमात्र साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम रही है उस काल के लोग भी हर समय कविता में ही विचारों का आदान-प्रदान नहीं करते थे। सर्वसाधारण के दैनिक जीवन में काम आने वाली भाषा का कोई रूप अवश्य रहा होगा। भाषा जो भी रही हो माध्यम तो गद्य ही रहा होगा। सब न तो कविता कर सकते थे और न उसको समझ ही सकते थे। ऐसी स्थिति में यदि कहीं गद्य का व्यवहार हुआ है तो उसे माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।"

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल गद्य की विधाओं का काल माना जाता है। इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि आधुनिक काल का आरम्भ भावुकता के वायुमण्डल से मुक्ति पाकर बौद्धिकता के वातावरण में हुआ है। जैसे-जैसे व्यक्ति भावना को छोड़कर बौद्धिकता की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे उसकी विचार-शक्ति बढ़ती है और विचारों की अभिव्यक्ति कविता की अपेक्षा गद्य में अधिक सरलता से हो सकती है। दूसरा कारण यह है कि आधुनिक काल में हम आदर्श से यथार्थ की ओर आए हैं, राजभक्ति के साथ-साथ देश भक्ति की लहर में डूबे हैं और स्वतन्त्रता के आकांक्षी रहे हैं। देशभक्ति और देश की स्वतन्त्रता की कामना जैसे तत्व स्वतन्त्र चिन्तन को बढ़ावा देते हैं और गद्य की ओर उन्मुख करते हैं। तीसरा कारण यह है गद्य मनुष्य को सूक्ष्म की ओर ले जाता है और उसके बौद्धिक आयामों का विकसित करता है। कविता में जितने काव्य रूप हो सकते थे, उन सबका विकास एवं प्रकार से हम मध्यकाल में होता हुआ मिल जाता है। इसी आधार पर आधुनिक काल में गद्य का विकास हुआ है। खड़ी बोली गद्य के विकास के कारण अनेक गद्य की विधाएँ सामने आई हैं। निबन्ध, कहानी उपन्यास, नाटक, एकांकी रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण फीचर डायरी, यात्रा साहित्य, पत्र-साहित्य, गद्य

गीत, आदि कितनी ही विधाएँ आज हमारे सामने हैं। विधाओं के माध्यम से जिन विचारों की अभिव्यक्ति मिली है, वे पद्य के माध्यम से ऐसे विस्तृत और प्रभावी रूप में व्यक्त हो सकते थे, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। ऐसी स्थिति में यदि यह कहा जाता है कि आधुनिक काल गद्य की विधाओं का काल है, तो अतिशयोक्ति नहीं है। फिर इस कारण भी यह कथन उचित लगता है कि अभी भी गद्य के नित नए रूप हमारे सामने आते जा रहे हैं।

हिन्दी कहानी का विकास-क्रम

हृदय के भावों को व्यक्त करने के लिए समय-समय पर जितने भी साहित्य रूपों का उदय हुआ उन सबमें कहानी किसी न किसी रूप में वर्तमान थी, चाहे वे महाकाव्य और प्रबन्ध काव्य रहे हों अथवा नाटक। पर इन साहित्य रूपों के क्रमिक विकास के साथ कहानी के इतिहास को कभी नहीं मोड़ा जा सकता। सभी प्रकार की कहानियों को कहानी की संज्ञा नहीं दी जा सकती, अन्यथा लोक जीवन में बैठकों और अलावों के निकट बैठकर चाव से कही और सुनी जाने वाली कहानियों को भी विवेचना के लिए सामने रखना होगा। कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति मानव की आदिम प्रवृत्तियों में से एक है। असभ्य युग के क्रूर शासकों से लेकर विरक्त आश्रमवासियों के बीच तक कहानी और कहानी कहने वाले लोकप्रिय रहे हैं। व्यावसायिक कहानी कहने वाले बीसवीं शताब्दी में भी कुछ दिनों पूर्व देखे जा सकते थे। पर इन कहानियों का न तो लिखित इतिहास ही मिलता है और न तो इनके लेखकों का नाम ही ज्ञात है। सम्भवतः इनका सब कुछ मौखिक ही रहा। आधुनिक हिन्दी कहानी एक स्वतन्त्र साहित्य रूप है जिसका कोई सम्बन्ध उपयुक्त कथा रूपों से नहीं जोड़ा जा सकता है। जातक कथाओं, बृहत्कथा, गोकुलनाथ की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', गोरा बादल की कथा', श्री लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' और 'सुखसागर' श्री सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' तथा इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' में आधुनिक कहानी के इतिहास को ढूंढना कहानी के साथ अन्याय करना है। हिन्दी गद्य साहित्य में उपन्यास साहित्य के बाद आधुनिक हिन्दी कहानी का उदय हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप विभिन्न साहित्य रूपों का विकास हुआ। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर जाने की प्रवृत्ति ने साहित्यकारों को महाकाव्यों से गीतों, नाटकों से एकांकियों तथा उपन्यासों से कहानियों की रचना भूमि तक पहुँचाया। उद्देश्य और रचना भूमि की कतिपय समानताओं को देखते हुए लोगों ने लम्बी कहानी को छोटा उपन्यास तथा छोटे उपन्यास को लम्बी कहानी कहने का साहस किया है।

हिन्दी में आख्यानात्मक गद्य के प्रारम्भिक मुद्रित रूप का उदय 19वीं शताब्दी में हुआ। अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में भी प्रारम्भिक आख्यानात्मक गद्य लेखन का उद्भव रोमांचक, प्रचारात्मक तथा आदर्शात्मक कथाओं के रूप में हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी

प गौरीदत्त कृत 'देवरानी–जेठानी की कहानी' तथा राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द कृत 'राजा भोज का सपना' प्रारम्भिक आख्यानात्मक गद्य के उदाहरण हैं। इन रचनाओं को हम आधुनिक कहानी के अन्तर्गत नहीं गिन सकते हैं, क्योंकि इनमें कथा कहने का भाव तो है किन्तु कहानी का आधुनिक रूप इनमे कहीं भी दिखलाई नहीं देता।

हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'इन्दुमती' है, जिसे प किशोरीलाल गोस्वामी ने लिखा था तथा जो 1900 ई मे सरस्वती पत्रिका मे प्रकाशित हुई थी। कुछ विद्वान् इसे मौलिक कहानी नही मानते तथा इसे शेक्सपियर के नाटक का भावानुवाद बताते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी की दूसरी मौलिक कहानी प रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' है तथा तीसरी बग महिला की 'दुलाई वाली'। अपने ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के इतिहास मे प रामचन्द्र शुक्ल ने इन कहानियों के बारे म लिखा है—

इनमे से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव प्रधान कहानियों को चुनें तो तीन बातें मिलती हैं—इन्दुमति (1900), ग्यारह वर्ष का समय (1903), तथा दुलाई वाली (1907)। यदि इन्दुमति किसी बगला कहानी की छाया नही है तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त ग्यारह वर्ष का समय और दुलाई वाली का नम्बर आता है। 1900 ई से लेकर आज तक के हिन्दी कहानी के इतिहास को मुख्य रूप मे दो भागों मे बाँट सकते हैं—स्वतन्त्रता पूर्व हिन्दी कहानी और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी। स्वतन्त्रतापूर्व हिन्दी कहानी को भी अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागो में विभाजित किया जा सकता है—प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी कहानी, प्रेमचन्दयुगीन हिन्दी कहानी और प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी।

प्रेमचन्द पूर्व कहानी (1900 ई से 1915 ई तक)—'इन्दुमति' से लेकर 'उसने कहा था' के प्रकाशन तक के काल को हम हिन्दी कहानी का प्रथम उत्थान काल कह सकते हैं। इस युग मे कहानी के क्षेत्र में कई प्रयोग हुए, लेकिन उनमें उद्देश्य की एकसूत्रता देखने को नही मिलती। लेखकों ने समाज की बाह्य समस्याओं को लेकर कहानियाँ लिखी जिनमे से कई कहानियाँ काफी प्रसिद्ध भी हुईं। इस युग में कहानी प्रकाशित करने वाली दो मुख्य पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ—एक थी सरस्वती और दूसरी इन्दु। इन दो पत्रिकाओं के माध्यम से कई महत्त्वपूर्ण कथाकार प्रकाश में आये। यथा—जयशकर प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, विश्वम्भरनाथ जिज्जा राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि।

सन् 1900 ई से 1915 तक प्रकाशित हिन्दी कहानियों म प्रमुख कहानियाँ हैं—इन्दुमति (किशोरीलाल गोस्वामी–1900 ई), मन की चचलता (माधवप्रसाद मिश्र–1901 ई) गुलबहार (किशोरीलाल गोस्वामी—1902 ई) पण्डित और पण्डितानी (गिरिजादत्त वाजपेयी - 1903 ई) ग्यारह वर्ष का समय (रामचन्द्र

शुक्ल–1903 ई), दुलाई वाली (बग महिला–1907 ई) विद्या बिहार (विद्या निवास मिश्र--1909 ई), राखी बन्द भाई (वृन्दावनलाल वर्मा–1909 ई), ग्राम (जयशकर प्रसाद–1911 ई), सुखमय जीवन (चन्द्रधर शर्मा गुलेरा–1911 ई), रसिया बालम (जयशकर प्रसाद 1912 ई) परदेशी (विश्वम्भर नाथ जिज्जा 1912 ई), कानो में कगना (राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह–1913 ई) रक्षाबन्धन (विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक--1913 ई), तथा उसने कहा था (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी–1915 ई) ।

प्रेमचन्द युगीन कहानी (सन् 1916 ई से 1936 ई तक)---प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी कहानी के क्षेत्र मे एक नया उत्थान आरम्भ होता है । हिन्दी में प्रेमचन्द की पहली कहानी सन् 1916 ई मे पच परमेश्वर प्रकाशित हुई । इससे पूर्व वह धनपतराय नाम से उर्दू मे लिखा करते थे । प्रेमचन्द की कहानियो के द्वारा पहली बार भारतीय कृषक वग का विशद जीवन चित्र उपस्थित हुआ । भाषा और शैली की दृष्टि से भी प्रेमचन्द ने नये आयाम प्रस्तुत किए । उनकी प्रमुख कहानियाँ हैं—पच परमेश्वर, आत्माराम, नमक का दरोगा, प्रेरणा, ईदगाह सज्जनता का दण्ड, दुर्गा का मन्दिर, पूस की रात कफन इत्यादि ।

प्रेमचन्द के ही समान निम्नमध्य वर्गीय जीवन पर सुदर्शन ने भी कहानियाँ लिखीं । सुदर्शन की कहानियो मे अधिकांशत सत्य और असत्य के परस्पर सघर्ष को चित्रित करके सत्य की विजय दिखाई गई है । हार की जीत, सच का सौदा, न्याय मन्त्री, एथेन्स कात्यार्थी आदि उनकी प्रमुख कहानियाँ हैं । प्रेमचन्द ने समाज की स्थितियो का बहिर्मुखी चित्रण ही अधिक किया है । इसके विपरीत जयशकर प्रसाद की कहानियो मे समाज की स्थितिया का अन्तर्मुखी चित्रण मिलता है । प्रसाद ने अनेक सफल कहानियाँ लिखी हैं जिनम व्रतभग, ममता पुरस्कार, गुण्डा, मधुआ आदि प्रमुख हैं । प्रेमचन्द युग मे विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक भी लिखत रहे हैं और इसी युग में उनकी महत्त्वपूर्ण कहानियाँ प्रकाश मे आईं । ताई, रक्षाबन्धन आदि उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं । इस युग के अन्य लेखका म रायकृष्णदास, चण्डी प्रसाद हृदयेश, भगवतीप्रसाद वाजपेयी इत्यादि हैं ।

प्रेमचन्दोत्तर कहानी (सन् 1936 ई से 1947 ई तक) —प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन कहानीकारा की प्रमुख विशेषता थी वग (टाइप) पात्रा का चित्रण । प्रेमचन्द, सुदशन, कौशिक और प्रसाद प्राय सभी लेखको के पात्र किसी न किसी वग के प्रतिनिधि हैं । प्रेमचन्द की मृत्यु सन् 1936 ई मे हुई थी—उनके आसपास से हिन्दी मे कई ऐसे कहानीकार प्रकाश म आए जिन्होंने वर्गीय विशेषताओ की अपेक्षा व्यक्ति के सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व तथा मनोविश्लेषणात्मक चित्रण को अधिक प्रधानता दी । इस प्रकार इन लेखका ने वगपात्रो के स्थान पर व्यक्ति पात्रो की स्थापना की । प्रेमचन्दोत्तर कहानियो मे मुख्य रूप से तीन प्रकार के प्रभाव मिलते हैं । पहला प्रभाव मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन पद्धति का है जिसे इन्होंने पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों फ्रायड, युग तथा एडलर से ग्रहण किया । दूसरा प्रभाव बगला लखको

का और तीसरा उर्दू के अगारा ग्रंथ का है। प्रेमचन्द की भाँति इस युग में भी कुछ महत्त्वपूर्ण कहानीकार यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि उर्दू से हिन्दी में आए थे। इस प्रकार इस युग में कहानी साहित्य का सच्चे अर्थों में बहुमुखी विकास हुआ। कुछ लेखकों में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रभाव इतना अधिक भी दिखाई दिया कि ऐसा लगा, जैसे वे कहानियाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर अधिक हैं—कहानी कम।

प्रेमचन्दोत्तर कहानीकारों में तीन लेखक प्रसाद अन्तर्मुखी धारा की परम्परा में आते हैं—अज्ञेय, जनेन्द्र कुमार और इलाचन्द्र जोशी। शेष कहानीकार जैसे यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भगवती चरण वर्मा, अमृत लाल नागर, आचार्य चतुरसेन, विष्णु प्रभाकर आदि प्रेमचन्द की बहिर्मुखी धारा की परम्परा में आते हैं। इन कहानीकारों ने मुख्यतः समाज की बाह्य एवं आभ्यन्तरिक समस्याओं को लेकर काफी स्वाभाविक सफल कहानियाँ लिखीं। अज्ञेय का व्यक्तित्व प्रसाद की भाँति कवि और कथाकार दोनों का है। उनकी कहानियों में भाषा का बड़ा सहज प्रयोग देखने को मिलता है। भाषा के इस सहज प्रयोग के कारण ही वे अपने समकालीनों से अलग दिखाई देते हैं। उनकी प्रमुख कहानियों में परम्परा, जय दोल, हिलीबोन की बत्तखें, मेजर चौधरी की वापसी, शत्रु, दोज (गैंग्रीन), सेब और देव, विविन बाबू आदि हैं। जैनेन्द्र कुमार का महत्त्व शिल्पिक और भाषिक सजगता दोनों रूपों में है। छोटे छोटे वाक्यों और सहज शब्दावली का प्रयोग उनकी कहानियों की विशेषता है। उनकी कहानियों में एक प्रकार की दार्शनिक बोझिलता भी दिखाई देती है, जो कहानियों की एक विशेषता ही है, क्योंकि हिन्दी के वातावरण निर्माण में वह सहायता ही करती है। उनकी प्रमुख कहानियाँ हैं—ध्रुव यात्रा, प्रियव्रत, जाह्नवी, नीलम देश की राजकन्या, तत्सत आदि।

इलाचन्द्र जोशी की प्रारम्भिक कहानियों में फ्रायडीय मनोविज्ञान का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। कहीं-कहीं तो यह प्रभाव इतना अधिक है कि कहानी में चरित्र गौण हो जाता है और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रमुख। इतना होने पर भी उनकी कई कहानियाँ मार्मिक और प्रभावशाली हैं। जैसे—खण्डहर की आत्माएँ, डायरी के नीरस पृष्ठ, रोगी, परिमल आदि। यशपाल की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ-साथ निम्न तथा निम्न मध्यवर्गीय जीवन का अत्यन्त सहज स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करती हैं। उनकी कहानियों में वर्ग संघर्ष का चित्रण भी हुआ है। इसलिए कभी कभी उनकी कहानियों में प्रचारात्मकता भी आ जाती है। उनकी कहानियों का शिल्प प्रेमचन्दीय शिल्प के समान ही स्थूल एवं बाह्यात्मक है। ज्ञान कर्मफल, दुःख, चार आने में कौल, व वर्दी, शिव पार्वती, मच्छर और आदमी आदि उनकी प्रमुख कहानियाँ हैं।

इस युग के अन्य महत्त्वपूर्ण कहानीकारों में उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, आचार्य चतुरसेन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पाण्डेय बेचन शर्मा, उग्र, रमाप्रसाद

घिलिडयाल 'हाडो' आदि हैं। अश्क की प्रमुख कहानियो मे 'पिंजरा', 'खिलौने', पलग', 'डाची', आदि, विष्णु प्रभाकर की धरती अब भी घूम रही है', अभाव', मेरा वतन', आदि, चन्द्रगुप्त विद्यालकार की 'डाकू', 'तीन दिन' आदि हैं। इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर कहानी लेखन म भाषा, शिल्प और कथ्य तीनो स्तरा पर नये नय प्रयोग हुए। इन प्रयोगो को स्वातन्त्र्योत्तर काल मे एक निश्चित स्वरूप प्राप्त हुआ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी (सन् 1947 से अब तक)—स्वातन्त्र्योत्तर काल हिन्दी कहानी साहित्य की दृष्टि स पर्याप्त महत्त्वपूर्ण काल है। स्वतन्त्रता प्राप्त करन के बाद भारतीय नागरिक के मन मे नये भारत की कल्पना थी—ऐसे भारत की, जिसके सम्बन्ध मे उसने स्वतन्त्रता से पूर्व स्वप्न सजोये थ। नये भारत के परिवर्तित हो रहे रूप का काफी सजग और कलात्मक चित्र हम स्वातन्त्र्योत्तर कहानी लेखन मे देखने को मिलता है। सन् 1952 के आसपास हिन्दी कहानी के क्षेत्र मे नई कहानी का नारा लगाया गया और कुछ लेखका की कहानियो को नई कहानी नाम दिया गया। डा नामवरसिंह ने इलाहाबाद से प्रकाशित होन वाली पत्रिका कहानी म इस सम्बन्ध मे अनेक लेख लिखे, जिसमे उन्होन निर्मल वर्मा की कहानियो स नई कहानी का आरम्भ माना।

नया' एक सापेक्ष शब्द है। जो आज नया ह, वह कभी पुराना अवश्य हो जाएगा। अत इस शब्द को किसी प्रवृत्ति विशेष के साथ नही जोडा जा सकता। लकिन यह सत्य है कि स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारा न तमाम साधक-असाधक चर्चाओ क बावजूद कई श्रेष्ठ कहानियाँ भी लिखी। य कहानियाँ परम्परागत कहानिया स कई दृष्टिया मे अलग है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत के बदलते रूपा को मुख्यत निम्न रूपा म चित्रित किया गया है। पहले प्रकार की वे कहानियाँ है जिनम महानगरा म त्वरित जीवन सम्बन्धी तथा बदलत रूपा का चित्रण किया गया। मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव कृष्णबल्देव वैद उषा प्रियम्वदा मन्नू भण्डारी, रामकुमार रमेश बक्षी, भीष्म साहनी, अमरकान्त, फणीश्वरनाथ रेणु, रामकुमार और साहनी आदि न इस प्रकार की अनक सफल कहानियाँ लिखी है। 'मिस पाल, मलबे और जिन्दगी' (मोहन राकेश), 'लन्दन की एक रात 'परिन्दे' (निर्मल वर्मा), वापसी 'मछलियाँ (उषा प्रियम्वदा), 'यही सच है क्षय (मन्नू भण्डारी), प्रतीक्षा', 'टूटना (राजेन्द्र यादव) शवरी, पिता दर पिता (रमश बक्षी) 'चीफ की दावत', 'इन्द्रजाल (भीष्म साहनी) इत्यादि इस प्रकार की सफल कहानियाँ हैं।

दूसरे प्रकार की कहानियाँ व हैं जो कस्बा क जीवन पर लिखी गई हैं। आजादी के बाद भारतीय ग्रामा का शहरीकरण हुआ। इस प्रकार कई गाँव, जो शहर बनन की प्रक्रिया मे थ, गाँव शहर की सस्कृतिया के मिश्रण बन गए। इन स्थानो को कस्बा कहा जा सकता है। यहाँ के व्यक्तिया म उनकी रुचिया तथा परम्पराओ का लेकर, जो कहानियाँ लिखी गयीं, उनमे प्रमुख हैं—'राजा निरबसिया

'खोया हुआ आदमी', 'नीली झील' (कमलेश्वर), 'डाली नही फूलती', 'एक नाव के यात्री' (शानी), 'दोपहर का भोजन', 'डिप्टी कलक्टरी' (अमरकान्त), 'गुलकी बन्नो' (धर्मवीर भारती), 'कस्बे का एक दिन' (अमृतराय) आदि। तीसरा वर्ग है आँचलिक कहानियो का। भारतीय ग्रामो का स्वतन्त्रता के उपरान्त विकास हुआ। गाँवो के विकास के लिए नई नई कविताएँ निर्मित की गयी। इस प्रकार गाँवो के इस बदलते रूप को स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारो ने अत्यन्त कलात्मकता के साथ अपनी कहानियो म प्रस्तुत किया। फणीश्वर रेणु (तीसरी कसम, ठुमरी आदि) शैलेश मटियानी (प्याम, प्रेतमुक्ति, ब्राह्मण आदि), शिवप्रसादसिंह (नन्ही, कर्मनाशा की हार आदि), मार्कण्डेय (हसा जाई अकेला, भाई आदि), शेखर जोशी (दाज्यू, कोसी का घटवार आदि) इस धारा के प्रमुख लेखक है।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानी साहित्य मे हास्य कहानियो का भी एक सजग और कलात्मक स्वरूप दिखाई देता है। इन लेखको ने सामाजिक और राजनैतिक स्थितियो के अत्यन्त सजीव चित्र अपनी कहानियों मे प्रस्तुत किए। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवीन्द्रनाथ त्यागी आदि इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं। स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारो मे एक वर्ग वह भी है, जिसने आजादी के आस पास जन्म लिया था तथा जिसे अपनी रचनात्मक चेतना स्वतन्त्र भारत मे प्राप्त हुई थी। इन लेखको ने स्वतन्त्र भारत का तटस्थ और आग्रहहीन चित्र अपने लेखन मे प्रस्तुत किया। भाषा और शिल्प की दृष्टि से भी इन रचनाओ मे पर्याप्त जागरूकता दिखाई देती है। ज्ञानरजन, गिरिराज किशोर दूधनाथसिंह काशीनाथसिंह रवीन्द्र कालिया, विजय मोहनसिंह, सुधा, अरोड़ा, श्रीकान्त वर्मा, बटरोही, रमेश उपाध्याय गोविन्द मिश्र, कामतानाथ, गगाप्रसाद विमल आदि इस प्रकार के प्रमुख लेखक हैं।

हिन्दी कहानी ने इस सत्तर बहत्तर वर्षो म आशातीत प्रगति की है। कहानी को लेकर काफी बडी मात्रा म शोध एव समीक्षा ग्रन्थो की रचना हुई है। विभिन्न पत्र पत्रिकाओ ने कहानी पर महत्वपूर्ण विशेषाक भी प्रकाशित किए जिनमे धर्मयुग द्वारा प्रकाशित कथा दशक एव नई कहानिया, उत्कर्ष, अणिमा तथा विकल्प द्वारा प्रकाशित कहानी विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दी कहानी की विकास यात्रा पर डा लक्ष्मीनारायण लाल का शोध प्रबन्ध हिन्दी कहानियो की शिल्प विधि का विकास एक अच्छा सन्दर्भ ग्रन्थ है। इसी प्रकार कहानी पर लिखे गए ग्रन्थो मे एक दुनिया समानान्तर (राजेन्द्र यादव), कहानी नयी कहानी (डॉ नामवर सिंह) नयी कहानी की भूमिका (कमलेश्वर), कहानी रचना प्रक्रिया और स्वरूप (बटरोही), साहित्यानुशीलन (डॉ राकेश गुप्त) तथा डॉ ऋषिकुमार चतुर्वेदी का कथा साहित्य खण्ड भी हिन्दी कहानी का विकासात्मक परिचय प्रस्तुत करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

हिन्दी निबन्ध का विकास

हिन्दी निबंध जागरण युग की देन है। एक ओर 1857 की देशव्यापी जागृति और राजनीतिक राज्य क्रान्ति दूसरी ओर ब्रह्म समाज और आर्य समाज के

सुधारक प्रयास हिन्दी निबंध के लिए विषय-वस्तु जुटाने लगे। हमे यह मानने मे बिल्कुल नही झिझकना चाहिए कि हिन्दी निबंध भी हिन्दी उपन्यास की भाँति अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क का प्रतिफल है। निबन्ध साहित्य की एक आधुनिक विधा है। यूरोप मे फ्रांसीसी लेखक मोन्तेन निबन्ध के जन्मदाता माने जाते हैं। अंग्रेजी भाषा मे विकास अंग्रेजी प्रभाव के अन्त व 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुआ। हिन्दी में गद्य साहित्य का विकास 19वी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही होने लगा था, अत इससे पहले निबन्ध साहित्य का विकास किसी प्रकार सम्भव नही था। 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हिन्दी गद्य का स्वरूप निश्चित हो गया तभी निबन्ध साहित्य का विकास सम्भव हुआ।

हिन्दी निबन्ध साहित्य—हंसकुमार तिवारी ने भारतीय परम्परा मे निबंध के अभाव का कारण यह बताया है कि आनन्द वेदना को सरल हास्योज्ज्वल दर्पण बिम्बित देखने की स्वाभाविक अक्षमता हमारे जातीय जीवन की विशेषता है अत निबन्ध रचना के लिए जीवन को सहज सरल दृष्टि से देखने की जो प्रवृत्ति अपेक्षित है वह हमारे यहाँ नही है। इसके साथ ही हमारा पाठक-समुदाय भी दार्शनिको के देश का है, जो गहन गम्भीर आध्यात्मिक विचारो मे डूबना चाहता है। वस्तुत यह भारतीय साहित्य मे निबन्ध के अभाव का कारण ढूढने के लिए आकाश पाताल एक करने वाला प्रयास तो है ही अपने मिथ्या गौरव मे रस लेने की चेष्टा भी है। निबन्ध पश्चिम मे भी 16वी शती से ही अस्तित्व में आया है। मध्ययुग मे निबन्ध का प्रादुर्भाव अकल्पनीय था, व्यक्तिवादी विचारो के बढते प्रभाव ने ही निबन्ध को जन्म दिया था। अत भारतीय साहित्य मे आधुनिक युग की साहित्य विधाओ के साथ ही निबन्ध का आगमन हुआ। प्रारम्भ मे बगाल से और तदनन्तर सीधे अंग्रेजी साहित्य से हिन्दी ने इस नई विधा को ग्रहण किया। शुरू मे बगला साहित्य ही पाश्चात्य सम्पर्क मे आया। अपने शैशव मे हिन्दी गद्य ने बगला के माध्यम से आधुनिकता का परिचय प्राप्त किया। इसके बाद स्वय हिन्दी में अंग्रेजी ग्रन्थो के अनुवाद हुए। विदेशी भाषा द्वारा हमारे देश मे नई शिक्षा का प्रारम्भ भी पर्याप्त हो चुका था। इससे भारत के सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक राजनीतिक जीवन मे हलचल हुई। आधुनिक दृष्टिकोण व नवीन विचारो के प्रतिपादन के लिए गद्य का विकास अपेक्षित था। गद्य के विकास के साथ ही हिन्दी में निबन्ध साहित्य का भी प्रादुर्भाव और विकास हुआ। हिन्दी गद्य के विकास के साथ निबन्ध का आरम्भ हुआ और निबन्ध ने हिन्दी गद्य को प्रौढता की ओर अग्रसर किया। निबन्ध का सूत्रपात और विकास हिन्दी गद्य के नए आरम्भिक युग—भारतेन्दु काल से होता है।

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में सवत् 1900 से आगे के साहित्य विकास को आधुनिक काल के अन्तर्गत रखा है और इसके गद्य खण्ड को 25–25 वर्ष के चार भागो में इस प्रकार विभाजित किया है—सवत् 1900–1925—गद्य साहित्य का आविर्भाव, सवत् 1925–1950–आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन

अर्थात् प्रथम उत्थान, संवत् 1950–1975—गद्य साहित्य का प्रसार अर्थात् द्वितीय उत्थान और संवत् 1975 से आगे गद्य-साहित्य की वर्तमान गति अर्थात् तृतीय उत्थान। श्री शिवदानसिंह चौहान ने अपनी पुस्तक हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष में शुक्ल जी के उक्त विभाजन को कृत्रिम और स्वेच्छाचारी माना है। वे भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग आदि व्यक्ति नामाश्रयी विभाजनों को भी असंगत मानते हैं, क्योंकि उनके विचार से इस शताब्दी का समूचा साहित्य एक ही युग की उपज है। उसके उतार-चढ़ाव, प्रगति-ह्रास सब एक ही युग के हैं और इसके अतिरिक्त हिन्दी गद्य साहित्य के विभिन्न रूपों के विकास को अलग-अलग युगों में बाँट देने के कारण एक अविच्छिन्न धारा के रूप में उसे देखना साधारण विद्यार्थी के लिए कठिन होगा। श्री शिवदानसिंह चौहान का मन्तव्य सच्चाई लिए है, पर अध्ययन की सुविधा के लिए एक सामान्य वर्गीकरण, जो जटिल न हो और विकासक्रम के अनुरूप हो, आवश्यक हो जाता है। हिन्दी निबन्ध के विकासक्रम में तीन स्थितियाँ स्पष्ट हैं—1 भारतेन्दु कालीन निबन्ध, 2 द्विवेदी कालीन निबन्ध तथा 3 शुक्ल जी से आरम्भ होने वाला अपेक्षतया आधुनिककालीन निबन्ध। भारतेन्दु अपने युग के प्रेरणा स्रोत साहित्यकार थे, द्विवेदी जी अपने युग के निर्देशक थे और शुक्ल जी का निबन्ध-साहित्य हिन्दी के एक युग का निर्माण करता है। अतः हम हिन्दी निबन्ध के विकास को इस प्रकार विभाजित करते हैं—

(1) भारतेन्दु युग—गद्य साहित्य के अन्य रूपों की भाँति ही निबन्ध का श्रीगणेश भी भारतेन्दु युग से होता है। भारतेन्दु के रूप में एक महानेता हिन्दी को मिला था। उनके प्रेरणादायक व्यक्तित्व ने हिन्दी में सर्वतोमुखी उन्नति का सूत्रपात किया। उनको केन्द्र बनाकर उस युग में एक पूरा मण्डल गतिशील था। इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ, यथा—हरिश्चन्द्र मैगजीन या हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण, सार-सुधानिधि आदि प्रकाशित होने लगी और उनके साथ ही निबन्ध-लेखन भी पल्लवित होने लगा।

राष्ट्रीय-जागरण के उषा काल में पैदा होने के कारण इस युग के लेखकों को बहुत बड़ा दायित्व उठाना पड़ा। उनमें देश और समाज के प्रति गहरी दिलचस्पी थी अतः इस काल के निबन्धों में सामाजिक सुधार की भावना मुख्य है। इन लेखकों को अपनी संस्कृति से प्रेम था और भारतीय जीवन के साथ इनके हृदय का मार्मिक सम्बन्ध बना हुआ था। इसीलिए त्यौहारों, आमोद-प्रमोद से भरे मेलों आदि पर काफी निबन्ध लिखे गये। इन लेखकों में अपूर्व जिन्दादिली थी। राजनीति और समाज सुधार की कटु से कटु बातें हास्य-व्यंग्य के सहारे कम से कम आपत्तिजनक और रोचक बन जाती हैं। इस युग में हास्य व्यंग्य युक्त मार्मिक ओजस्वी उक्तियों से सम्पन्न निबन्ध ही बहुधा लिखे गए। इस काल के निबन्ध लेखक अपनी अलग-अलग शैलीगत विशेषताएँ अर्जित करने में भी समर्थ हुए थे। निबन्धकारों को प्रेरणा समाज-सुधार से आई जरूर थी, किन्तु उसका उद्देश्य साहित्यिक रचना करना ही था।

(2) द्विवेदी युग—'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी-गद्य का एक दूसरा *युग* शुरू होता है। इस युग में निबन्धों ने एक दूसरे आदर्श को ग्रहण किया—उपयोगी और ज्ञान-सम्बन्धी निबन्धों की प्रचुरता रही। भारतेन्दु युग के लेखकों में भाषा और व्याकरणगत दोष प्रायः ही मिलते हैं। इस युग में गद्य की भाषा का ही संस्कार और परिष्कार हुआ, निबन्ध में भाषा की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल के लेखकों में वह जिन्दादिली न रही, जो भारतेन्दु युगीन उनके पूर्ववर्तियों में थी और न उनके निबन्धों में वैयक्तिकता की ही वैसी छाप है। इस युग के लेखकों का दृष्टिकोण नैतिक एवं सुधारात्मक था तथा ज्ञान-संचय की भावना उनमें प्रमुख थी। इस काल में कुछ ऐसे कृती लेखकों का आविर्भाव हुआ, जो आगे चलकर बहुत शक्तिशाली सिद्ध हुए। भविष्य को प्रशस्त करने की दृष्टि से इस युग का विशेष महत्त्व है।

(3) आधुनिक युग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साथ हिन्दी निबन्ध के आधुनिक युग का आरम्भ होता है। शुक्ल जी के गम्भीर चिन्तन प्रधान निबन्धों ने साहित्य को बहुमूल्य निधि दी। उनके निबन्धों में विचारों की वह गूढ़-गुम्फित परम्परा मिलती है, जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़ती है। शुक्ल जी के निबन्धों में विषयनिष्ठता, सुसम्बद्धता और तारतम्यता का निर्वाह किया गया है, किन्तु शुक्ल जी के आदर्श का आगे के सभी लेखकों ने पालन नहीं किया। मस्तिष्क के स्वच्छन्द शिथिल प्रवाह के रूप में ही निबन्ध की मान्यता को अनेक लेखकों ने ग्रहण किया और व्यक्तिपरक निबन्धों का सृजन किया। मोटेन की मान्यता निबन्धकारों को प्रेरित करती रही है, क्योंकि निबन्ध ही वह साहित्य रूप है, जिसमें लेखक अपनी रुचि, भावना और विचारों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति कर सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का योगदान—हिन्दी निबन्ध साहित्य में आचार्य शुक्ल का सर्वोपरि स्थान है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के आधार पर जो निबन्ध लिखे, वे आज भी शीर्ष स्थान पर उपस्थित हैं। शुक्ल जी के निबन्ध 'चिन्तामणि' के दो खण्डों में संगृहीत हैं। चिन्तामणि की सभी रचनाओं को समीक्षकों ने सामान्यतः निबन्ध की संज्ञा दी है और निबन्ध की विचारात्मक कोटि के अन्तर्गत उन पर विचार किया है। ग्रन्थ के नाम चिन्तामणि (भाग 1) के साथ ही (विचारात्मक निबन्ध) की विज्ञप्ति भी है। भाव या मनोविकार सम्बन्धी विवेचनों को मनोवैज्ञानिक निबन्धों और साहित्य सम्बन्धी लेखों को साहित्यिक निबन्धों की अभिधा दी गई है। व्यक्तित्व-प्रधान रचनाएँ होने के कारण मनोवैज्ञानिक निबन्धों को वैयक्तिक निबन्ध और समीक्षा से सम्बद्ध होने के कारण साहित्यिक निबन्धों को समीक्षात्मक निबन्ध भी कहा गया है। समीक्षात्मक निबन्धों के दो प्रकार किए गए हैं—सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी और व्यावहारिक सम्बन्धी। डॉ॰ रामविलास शर्मा के शब्दों में, शुक्ल जी ने अपने निबन्धों द्वारा हिन्दी काव्यशास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और

दार्शनिक आधार दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का वक्तव्य है कि उनके निबन्ध केवल हिन्दी भाषा की ही अमूल्य निधि नहीं हैं, प्रत्युत वे समूचे भारतीय साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने के अधिकारी हैं।

वास्तव में शुक्ल जी के हाथों में पड़ कर हिन्दी निबन्ध को अत्यधिक प्रौढ़ता प्राप्त हुई। उनके निबन्धों में गम्भीर चिंतन और प्रौढ़ विचार अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित हुए हैं। आचार्य शुक्ल ने कविता, कहानी, अनुवाद, निबन्ध, आलोचना, कोश-निर्माण, इतिहास-लेखन आदि अनेक क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है, परन्तु उनकी सर्वाधिक ख्याति निबन्ध लेखक और आलोचक के रूप में है। निबन्ध लेखक के रूप में आचार्य शुक्ल जी अपने मनोवैज्ञानिक और काव्यशास्त्रीय निबन्धों के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने उत्साह, श्रद्धा भक्ति करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि मनोविकारों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। काव्य में प्राकृतिक दृश्य साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद रसात्मक बोध के विविध रूप, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद आदि उनके काव्यशास्त्रीय विषयों पर लिखे गये निबन्ध हैं। डॉ विजयशंकर मल्ल ने लिखा है कि 'उनके निबन्धों में गहन विचार-वीथियों के बीच बीच में सरस भाव स्रोत मिलते हैं। लोभ और प्रीति, करुणा तथा श्रद्धा-भक्ति जैसे निबन्धों में जगह जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है। वैयक्तिकता प्रदर्शन, संस्मरणात्मक संकेत व्यंग्य विनोद के छींटे और कहीं कहीं विषयान्तर भी उनके निबन्धों मे मिलते हैं, पर प्रतिपाद्य विषय को वास्तव में व कभी भूलते नहीं। उनकी विचारधारा बराबर प्रतिपाद्य विषय से नियन्त्रित होती है।"

हिन्दी साहित्य मे आचार्य शुक्ल के निबन्ध अद्वितीय हैं। उन्होंने विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, वैयक्तिक और समीक्षात्मक निबन्ध लिखकर हिन्दी निबन्ध साहित्य मे बहुत बड़ा योग दिया है। उनके योगदान को उनके निबन्धों मे उपलब्ध विशेषताओं से समझा जा सकता है। शुक्ल जी की गम्भीरता और सरसता उनके निबन्धों का गुण है। गुण-गम्भीरता के बीच शुक्ल जी का मधुर व्यंग्य और विनोद उनके व्यक्तित्व को ऊँचा उठा देता है। बुद्धिमत्ता के साथ गम्भीरता, सहृदयता, संयम और मर्यादावादिता शुक्ल जी के निबन्धों के उल्लेखनीय गुण हैं। ये गुण उनके निबन्धों के वैशिष्ट्य और महत्त्व को स्पष्ट करते हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से भी शुक्ल जी का योगदान अविस्मरणीय रहेगा। उनके निबन्ध कला से सम्बन्धित योगदान को सद्गुरु शरण अवस्थी के शब्दों मे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—"केंद्रित प्रणाली और संकेतात्मक भाषा के कारण इन्हें हिन्दी मे वही स्थान प्राप्त है, जो अंग्रेजी मे प्रसिद्ध विद्वान् फ्रांसिस बेकन का है। यद्यपि इनके वाक्य 'बेकन' के सदृश छोटे नहीं हैं पर मनोभावों के विश्लेषण में आपने जो लेख लिखे हैं, वे अंग्रेजी मे जान स्टुअर्ट मिल निबन्धों से टक्कर लेते हैं। इनमें कारलाइल की-सी साहित्यिकता एवं बर्नार्ड शॉ की सी तेजस्विता और स्फूर्ति है।"

आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य मे एक मौन साधन और माग प्रदशक दोनो के रूप मे काय किया था। वे हिन्दी रूपी भवन के कुशल शिल्पी थे। आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—हिन्दी-ससार मे शुक्ल जी अपने ढग का एक और अद्वितीय व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए थे। आचाय शुक्ल उन महिमाशाली लेखको मे से हैं जिनकी प्रत्येक पक्ति आदर के साथ पढी जानी है। 'आचाय' शब्द ऐसे ही साहित्यकारो के योग्य हैं। प रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों मे आचाय थे। वे वैयक्तिकता को ही निबन्ध का आवश्यक गुण मानते हैं, पर उनके अनुसार वैयक्तिकता का अथ शिथिल शैली नही। कसावट और व्यवस्था उसका दूसरा गुण है। वयक्तिकता जितनी चिन्तन की महत्त्वपूर्ण होती है, उतनी वाह्य शैली की नही। विषय पर चिन्तन की अनेक दिशाएँ होती हैं। किसी एक दिशा को पकड कर दूर तक नये ढग से सोचते जाना चिन्तन की मौलिकता है। शुक्ल जी के निबन्धो म ऐसी ही वयक्तिकता मिलती है।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य मे आचाय रामचन्द्र शुक्ल का योगदान न केवल विशिष्ट है, अपितु उल्लेखनीय भी है।

हिन्दी नाटक का विकास

डॉ दशरथ ओझा ने हिन्दी नाटको की परम्परा का उदय 13वी शताब्दी के सदेश रासक से माना है और उसका प्रारम्भिक विकास मथिलीकरण नाटको के रूप मे सिद्ध करने का प्रयास किया है। हिन्दी में नाटक के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को माना जाता है किन्तु भारतेन्दु से पहले भी हिन्दी में नाटक विधा थी, जो सस्कृत से हिन्दी में अनूदित होकर आ रही थी। प्रबोधचन्द्रोदय और जन कवि बनारसीदास ने 'मोह विवेक युद्ध' नामक नाटक लिखा था। 18वी शताब्दी में नेवाज कवि ने 'शकुन्तला' नाटक प्रस्तुत किया। हिन्दी का पहला मौलिक नाटक रीवा नरेश विश्वनाथसिंह द्वारा लिखित आनन्द रघुनन्दन माना जाता है। भारतेन्दु ने पहला नाटक 'नहुष' लिखा था।

हिन्दी नाटक का विकास क्रम—हिन्दी नाटक के विकास को कई चरणो में प्रस्तुत किया जा सकता है—भारतेन्दु युगीन नाटक, भारतेन्दु के बाद प्रसाद के नाटक, प्रसादोत्तर बुद्धि प्रधान नाटक और प्रसादोत्तर आधुनिक बोध को निरूपित करने वाले नाटक। इनका क्रमिक विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

भारतेन्दु युगीन नाटक—भारतेन्दु न उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में हिन्दी गद्य का स्वरूप निश्चित किया और गद्य में विभिन्न प्रकार की रचनायें प्रारम्भ की। स्वय भारतेन्दु की रुचि नाटको में थी। भारतेन्दु ने 9 मौलिक नाटक लिखे और 8 नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। उनका प्रसिद्ध नाटक 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' है। भारतेन्दु ने अपने साथियो को भी नाटक लिखने की प्रेरणा दी। ऐसे नाटककारों में श्रीनिवास शास्त्री, राधारमण गोस्वामी, रायकृष्णदास और बालकृष्णदास भट्ट के नाम लिये जा सकते हैं। इस युग के नाटकों का प्रमुख आधार सस्कृत है। स्वय भारतेन्दु ने भी पुराने भेदो को ध्यान में रखकर रचना की है और नाटक, प्रहसन

आदि प्रस्तुत किए हैं। इतने पर भी यह सच है कि भारतेन्दु ने नाटकों के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग भी किये हैं। इस युग के नाटकों में गद्य खड़ी बोली का है और पद्य ब्रजभाषा का है। चरित्र चित्रण की ओर इस युग के नाटककारों ने प्रायः ध्यान नहीं दिया है।

प्रसादकालीन नाटक—बीसवीं सदी के आरम्भ में मौलिक नाटकों की तुलना में अनुवादित नाटकों का बाहुल्य रहा और अनुवाद के स्रोत तीन रहे—अंग्रेजी, बंगला और संस्कृत। हाँ, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पारसी रंगमंच का काफी विकास देखने को मिला। हिन्दी नाटक का द्वितीय और सही उत्थान जयशंकर प्रसाद के साथ आरम्भ हुआ। 1910 के आसपास प्रसाद ने अपने नाटकों का सूत्रपात किया। पहले उन्होंने सज्जन, प्रायश्चित, कल्याणी, परिणय नामक एकाँकी लिखे। उनका पहला प्रौढ़ नाटक 'विशाख' है। उसके बाद अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी आदि लिखे गये। 'कामना' एक प्रतीक नाटक है और 'जनमेजय का नागयज्ञ' एक पौराणिक नाटक है।

प्रसाद प्रमुखतः ऐतिहासिक नाटककार रहे हैं और उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य भारत के अतीत के सहारे वर्तमान से जोड़ा है। प्रसाद की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने हिन्दी के साहित्यिक नाटक का पुनरुद्धार किया। उन्होंने अपने नाटकों में चरित्र चित्रण भी नवीन ढंग से किया है। प्रसाद के कुछ समय बाद हरिकृष्ण प्रेमी ने ऐतिहासिक नाटक लिखे। प्रेमी जी ने मध्यकालीन राजपूत वीरों को अपने नाटकों का नायक बनाया है। गोविन्द वल्लभ पन्त ने भी कुछ ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि की है। उनके नाटकों में राजमुकुट प्रसिद्ध है। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने भी कतिपय पौराणिक नाटक लिखे हैं।

प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक—प्रसादोत्तर युग में नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मी नारायण मिश्र अधिक प्रसिद्ध हुए। उन्होंने प्रारम्भ में सामाजिक नाटक लिखे और वे उनसे अपने बुद्धिजीवी दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध हुए। उनके समस्या नाटक पश्चिमी नाटकों से प्रभावित रहे हैं। ऐसे नाटकों में राक्षस का मन्दिर और सिन्दूर की होली अधिक प्रसिद्ध हैं। मिश्र जी ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी की है और पौराणिक नाटकों की भी। ऐसे नाटकों में वत्सराज, गरुड़ध्वज और नारद की वीणा प्रसिद्ध हैं। मिश्र जी के बाद उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम आता है। अश्क जी ने सामाजिक और ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि की है। इनके नाटक पूरी तरह से रंगमंचीय नाटक हैं। इनके साथ ही उदयशंकर भट्ट अपने ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। हिन्दी में सर्वाधिक नाटक सेठ गोविन्ददास ने लिखे हैं। उनके नाटकों और एकांकियों की संख्या लगभग 100 है। विष्णुप्रभाकर ने भी अनेक नाटकों की सृष्टि करके प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य को समृद्ध किया है।

समकालीन नाटककारों में मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, रमेश सुरेन्द्र वर्मा, सर्वेश्वर सक्सेना और जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीकान्त वर्मा व अग्निहोत्री के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। समस्या प्रधान नाटककारों में

मिश्र गोविन्द प्रसाद और उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों को विशेष मान सम्मान मिला है। मोहन राकेश के आषाढ का एक दिन, लहरो के राजहंस और आधे अधूरे प्रसिद्ध है तो जगदीश चन्द्र माथुर के कोणार्क, शारदीया और पहला राजा। लक्ष्मीकान्त वर्मा का आदमी का जहर प्रसिद्ध नाटक है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आठवाँ सर्ग प्रमुख है और डॉ लक्ष्मीनारायण लाल तो नाटकों के क्षेत्र में आज सबसे आगे है। वे एक दर्जन से अधिक नाटक लिख चुके हैं।

हिन्दी के समसामयिक नाटकों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनका विकास रंगमंचीय दृष्टि से हुआ है। समकालीन नाटककारों ने जहाँ एक ओर अपने नाटकों में समसामयिक जीवन और परिवेश को प्रस्तुत किया है, वहीं नाटक में रंगमंचीय समस्याओं का विकास भी किया है। प्राय सभी ने रंगमंच को ध्यान में रखकर ही अपने नाटको की सृष्टि की है। कहने का तात्पर्य यही है कि प्रसाद के नाट्य साहित्य मे कल्पना की रंगीनी आदर्श की छाया और प्रेम का मनोरम किन्तु आदर्श रूप था, किन्तु प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य मे वचारिकता को प्रमुख स्थान मिला है। नाटकों में प्रेम, सौन्दर्य और कल्पना की जगह समसामयिक यथार्थ न ली है और आदर्श का चौखटा टूट गया है। इस तरह नाट्य साहित्य मे पर्याप्त विकास हुआ है।

प्रसाद का योगदान—डॉ रामप्रसाद मिश्र ने प्रसाद के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण अभिमत करते हुए जो लिखा है वह प्रसाद के महत्त्व और योगदान की ओर संकेत करता है— 'आधुनिक हिन्दी-नाटक का इतिहास एक शताब्दी से आगे जा रहा है। इसमे तीन बडे नाटयकार हुए है—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र। भारतेन्दु को द्विविध महत्त्व प्राप्त है, ऐतिहासिक और सृजनात्मक। ऐतिहासिक महत्त्व से अभिप्राय उनका हिन्दी नाटक का वास्तविक पिता होने से है, सृजनात्मक महत्त्व से अभिप्राय उनके मौलिक तथा अर्द्धमौलिक नाटकों के स्थायी मूल्य से है। भारतेन्दु तथा उनके युग के अधिकारी विद्वान् डाक्टर रामविलास शर्मा की आलोचना मे स्तुति-तत्त्व अधिक हो सकता है किन्तु वह बहुत मूल्यवान है। एक सृजनशील नाटयकार के रूप मे भी भारतेन्दु का स्थान उतना ही श्रेष्ठ है, जितना प्रसाद या लक्ष्मीनारायण का। भारतेन्दु की प्रशस्य आरम्भिकता में प्रसाद ने प्रशस्य मौलिकता जोडी और लक्ष्मीनारायण ने प्रशस्य आधुनिकता।'

प्रसाद अद्यावधि हिन्दी नाटक के केन्द्र पुरुष है। यदि हिन्दी का नाटक साहित्य इतना व्यापक और गम्भीर नही है कि उसमे सर्वश्रेष्ठ नाट्यकार पर ऊहापोह किया जाय, तथापि यदि कोई इस विशेषण को प्रसाद से सम्बद्ध करे तो विशेष आपत्ति नहीं उठानी चाहिए। वे आरम्भिकता की प्रतिभा भारतेन्दु और आधुनिकता की प्रतिभा लक्ष्मीनारायण के मध्य में स्थित हैं। प्रसाद के नाट्य-साहित्य की सर्वोपरि विशेषता उनकी समन्वय साधना है। समन्वय महानता का प्राण है। तुलसीदास के पश्चात् प्रसाद हिन्दी साहित्य के सर्वोपरि समन्वयवादी कहे जा सकते

है। जिस प्रकार उन्होंने प्राच्य पाश्चात्य नाट्य शलियों का समन्वय कर कुछ नाटकों में सुखान्त दुखान्त-सगम सस्थापित किया है, उसी प्रकार इतिहास और कल्पना का, पुरातन और नूतन का, गद्य और पद्य का आदर्श और यथार्थ का युगपत् रूप भी निर्मित कर दिखलाया है। डॉ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन किया है, जिसके लिए पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी ने नया साहित्य नये प्रश्न में उनकी आलोचना की है, क्योंकि प्रसाद की प्रकृति शास्त्रीय न होकर स्वच्छन्दतावादी है।

प्रसाद के नाटकों में न तो भारतीय परम्परा का पिष्ट-प्रेषण मिलता है, न पाश्चात्य परम्परा का चर्वित चर्वण। उनकी समन्वय साधना ने उनके नाटकों को पूर्ण मौलिकता से सम्पन्न कर दिया है। प्रसाद के नाट्य साहित्य की एक सुस्पष्ट, किन्तु महती विशेषता प्राचीन भारतीय इतिहास की व्यापक एव कलात्मक चित्रण क्षमता है। चरित्र चित्रण की मनोवैज्ञानिकता प्रसाद के नाट्य-साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है। अन्तर्द्वन्द्व को बिम्बित करने की दृष्टि से वे हिंदी-साहित्य के महत्तम कलाकार सिद्ध होते हैं। यह ठीक है कि उनकी भावुकता यत्र तत्र इतिहास को आच्छादित करने लगती है, किन्तु वे अधिक अनियन्त्रित नहीं होते, इतिहास को विकृत करने का विशेष प्रयत्न नहीं करते और अतिभावुकता तो विश्व के नाटक-सम्राट शेक्सपीयर में भी है। प्रसाद के अनेक नाटकों पर अनभिनयता का दोषारोपण कलयी की नारी निन्दा के सदृश, सवथा निराधार है। जब हिंदी में कोई व्यवस्थित एव व्यापक रगमच था ही नहीं, तब अनभिनयता का आरोप कैसा? महान् साहित्य वातावरण बनाता है, वातावरण उसे नहीं बना सकता। अब, जबकि प्रसाद के सारे नाटक सफलतापूवक अभिनीत किये जा चुके हैं, ध्रुवस्वामिनी की अभिनेयता एक सिद्धि के रूप में स्वीकृत की जा चुकी है अभिनेयता का बिन्दु व्यर्थ हो चुका है।

प्रसाद के नाटक सन्देश और शिल्प में आधुनिक न होकर अतीत के अधिक निकट हैं। उन पर शेक्सपीयर और भारतेन्दु का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है, इब्सन और शा का अल्प। अतिभावुकता, काव्यात्मक भाषा-शैली यत्र-तत्र गीतों की भरमार स्वगत-कथनों का बाहुल्य, निवृत्ति की ओर अपेक्षाकृत अधिक लालायित स्वच्छन्दतावादी जीवन दशन इत्यादि तत्त्व प्रसाद के नाटकों को आधुनिक काल में रचित मध्यकालीन कृतियाँ सिद्ध करने लगते हैं। यद्यपि प्राय प्रत्येक नाटक में प्रसाद आधुनिक राष्ट्रवाद तथा समाज सुधार के किसी-न किसी पक्ष से प्रभावित प्रतीत होते हैं, तथापि उनके नाटकों की आत्मा अतीत में ही रमती है।

उपयुक्त विवेचन के पश्चात् कह सकते हैं कि प्रसाद ने अतीत और वतमान का जिस रूप में अपने नाटकों में समन्वय किया है उससे परम्परा के निर्वाह के साथ ही साथ नवीन प्रयोग का भी सम्मिलन हो गया है। इसे हम परम्परा और प्रयोग का सम्मिश्रण ही कह सकते हैं। भारतवर्ष की यह परम्परा रही है कि समन्वयवादी दार्शनिक-विचारक और कलाकार को ही हम श्रेष्ठ व्यक्तित्व के रूप में बहुमान देते रहे हैं एकांगी व्यक्तियों को नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर समन्वयवादी

प्रसाद जी निश्चय ही हिन्दी नाट्यकारो मे शिरोमणि के रूप मे आज भी दीप्तिमान हैं।

हिन्दी नाट्य साहित्य मे मोहन राकेश का योगदान

हिन्दी नाट्य साहित्य न केवल अपनी विकास यात्रा मे वैविध्यपूर्ण रहा है, अपितु विकास के विभिन्न चरणो मे प्रयोग से प्रगति और प्रगति से नवलेखन तक फलता चला गया है। यही कारण है कि हिन्दी नाटक की विकास यात्रा के केन्द्र म प्रसाद स्थित हैं तो छठे दशक मे मोहन राकेश। सातवें और आठवें दशको मे भी नाटक साहित्य डॉ लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, रमेश बक्शी, विपिन अग्रवाल और लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि प्रयोगशील नाटककारो के द्वारा विकास पथ पर अग्रसर है। नाटक की विकास यात्रा मे विवेचित की जा चुकी है। ऐसी स्थिति मे यहाँ मात्र मोहन राकेश के स्थान और योगदान को ही विवेचित किया जा रहा है।

मोहन राकेश का स्थान—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटको मे मोहन राकेश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी नाटक के छठे दशक मे मोहन राकेश आषाढ का एक दिन' नाटक लेकर आये। उनका दूसरा नाटक 'लहरो के राजहस' है और तृतीय 'आधे अधूरे' नाम से प्रकाशित हुआ है। इन तीनो ही नाटको मे मोहन राकेश ने यथार्थ परिवेश को प्रस्तुत किया है। 'आषाढ का एक दिन' नाटक मे उन्होने कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा की समस्या को लेकर अपने विचारो को प्रस्तुत किया है। वास्तव मे आषाढ का एक दिन' 'लहरो के राजहस' और आधे अधूरे तीन बिन्दुओ से महत्त्वपूर्ण जीवन स्थितियो के सकेत देते हैं—प्रेम, विरक्ति और अधूरापन। ये तीनो ही नाटक अपने आप मे उपलब्धि हैं और मोहन राकेश की रचनात्मक प्रतिभा को उजागर करते हैं। इन तीन नाटको को लिखकर ही मोहन राकेश ने जो ख्याति प्राप्त की वह अन्यतम है। मोहन राकेश के योगदान के विषय मे इतना ही कहा जा सकता है कि उनके नाटक कथ्य और शिल्प के स्तर पर ही नही, अपितु रगमच की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ रीता कुमार ने लिखा है कि—

रगमचीय क्षेत्र की इसी पृष्ठभूमि ने छठे दशक मे हिन्दी नाटक के रचनात्मक धरातल को प्रोत्साहन दिया और जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल तथा ज्ञानदेव अग्निहोत्री जैसे नाम उभर कर सामने आये। हिन्दी-नाटक को युगीन चेतना से जोडने सामान्य व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व और सघर्ष को स्वर देने, नाटकीय प्रसगो को उभारने मे सक्षम भाषा और रग-तत्त्वो से समृद्ध करने की दृष्टि से माथुर, भारती और राकेश ही सक्षम नाटककार के रूप म उल्लेखनीय हैं। उनके नाटको 'कोणार्क', 'अधा-युग' और आषाढ का एक दिन' ने कथ्य व शिल्प के स्तर पर हिन्दी नाट्य साहित्य में मील स्तम्भ का काम किया। अतीत का आधार लेकर भी ये नाटक अपनी कथावस्तु में वर्तमान युग के विसगत व विघटित वातावरण में घुटते व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व, पीडा और हताश स्थिति को मूर्त करने म सफल रहे हैं। हिन्दी नाटक पहली बार व्यक्ति के आतरिक चित्रण को लेकर

बनाकर एक सशक्त दिशा की ओर अग्रसर हुआ। सवप्रमुख देन जो इन तीन नाटककारों की है, वह हिन्दी रगमच और नाटक की अन्योन्याश्रित स्थिति पर बल देने की है। पहली बार रग तत्त्वों से पूर्ण और रगमचीय अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए नाटककारों ने नाट्य रचना की।"

नाटक को युगीन, स्वाभाविक और नाटकीय प्रसगो को उभारने मे सक्षम भाषा से जोडने में भी माथुर, भारती और राकेश के नाटक उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। इनके साथ ही लक्ष्मीनारायण लाल, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, विनोद रस्तोगी और विष्णु प्रभाकर जैसे नाटककारों ने सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया। पर सामाजिक यथार्थ को ये नाटककार उतनी सशक्त अभिव्यक्ति नही दे पाये, जितनी माथुर, भारती और राकेश अपने नाटको मे ऐतिहासिक कथानको के माध्यम से परोक्ष रूप में दे सके। अपने समकालीन नाटककारो में भी राकेश अग्रगण्य हैं।

हिन्दी नाटक को युगीन जीवन से जोडने, रगमचीय सभावनाओ और नाटकीय भाषा की खोज में जिस कर्मठता, लगन और परिश्रम का परिचय राकेश ने अपनी नाट्य रचनाओ मे दिया, वह किसी अन्य नाटककार में दिखाई नहीं देता। अपने प्रारम्भिक नाटकों (आषाढ का एक दिन, लहरो के राजहस) में परम्परा के निर्वाह से प्रारम्भ कर वे मौलिक प्रयोगो द्वारा युग से प्रत्यक्ष साक्षात्कार को ओर मुड गये। हिन्दी नाटक को सशक्त भाषा और रगमचीय गुणो से समृद्ध करने के लिए ही उन्होंने अपने प्रत्येक नाटक में प्रयोग किये। 'आषाढ का एक दिन' से 'छतरियाँ' तक की नाट्य-यात्रा निरन्तर परिष्कृत होती नाट्य-सजना, यथार्थ की गहरी पकड और शोधपरक दृष्टिकोण की परिचायक है। अपने अन्तिम दिनो म वे नेहरू फैलोशिप के अन्तर्गत नाटकीय शब्द की भूमिका और प्रभाव पर शोध करने मे सलग्न थे। वस्तुत राकेश के नाटक महानता के अन्तगत नहीं आते, पर हिन्दी नाट्य साहित्य में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सही नाटक और रगमच के सजनात्मक आन्दोलन की भूमिका यही से बनी। उनके नाटको ने हिन्दी नाटक और रगमच के क्षेत्र में जो पुनरान्वेषण का वातावरण उत्पन्न किया, उस प्रारम्भ की दृष्टि से इनकी विशिष्ट भूमिका है। अपने तीन सम्पूर्ण और एक अधूरे नाटक तथा एकाकी, बीज और पार्श्व नाटकों से राकेश ने हिन्दी नाट्य साहित्य मे जो स्थान बनाया, उसका महत्त्व जानने के लिए उनके नाटकों का कथानक, शिल्प और रग-मच स्तर पर समग्र मूल्याकन आवश्यक है। सक्षेप मे, यह कह सकते हैं कि मोहन राकेश ने हिन्दी नाटक को प्रयोगात्मक प्रगति प्रदान की और रगमच से जोडकर नाटक की भाषा का विकास करते हुए समसामयिक जीवन के विविध सन्दर्भों को प्रस्तुत कर उल्लेखनीय योगदान दिया।

नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल

डॉ लक्ष्मीनारायण लाल स्वतन्त्रता के पश्चात् नाट्य लेखन मे रत सजको मे विशेष स्थान रखते हैं। उनके नाटको मे एक ओर तो भारतीय परम्परा के

कतिपय सूत्र मिलते हैं और दूसरी ओर पाश्चात्य प्रभाववश नवीनता से सम्बधित तत्त्व मिलते हैं। डॉ लाल के नाटकों में पर्याप्त गहराई है, तीखा व्यंग्य है और समकालीन जीवन की अनेक विसंगतियों मगनियों का चित्रण मिलता है। वे पूरी तरह आधुनिक बोध से जुड़े हुए हैं। व्यंग्य, सामाजिक विषमता, कलाकार के अह दाम्पत्य जीवन की ऊब और नीरसता तथा पाश्चात्य पद्धतियों का प्रभाव व तत्प्रेरित कृत्रिमता आदि अनेक सन्दर्भ डॉ लाल के नाटकों में आकर्षक शैली में व्यक्त हुए हैं। यों तो डा लाल ने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की है, लेकिन उनकी प्रमुख नाट्य रचनाओं का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

अधा कुआँ—यह नाटक लक्ष्मीनारायण लाल की प्रथम नाट्य रचना है। इस नाटक का आधार ग्रामीण परिवेश है। इसमें आर्थिक विपन्नता के कारण उत्पन्न होने वाले सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व को मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रस्तुत किया गया है।

मादा कैक्टस—यह दो अंकों का नाटक है। कलाकार अरविन्द वायवीय प्रेम का पक्षधर है और उसका यह प्रेम सामान्य स्नेह सम्बन्धों से अलग है, क्योंकि उसका प्रधान दायित्व अपने व्यक्तित्व और अपनी कला के प्रति हो जाता है। डॉ जयदेव तनेजा के शब्दों में कह सकते हैं कि 'एक ओर प्रणय, दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व तथा अपनी कला के बीच चित्रकार अरविन्द किस प्रकार अपनी पत्नी सुजाता और प्रेयसी मीनाक्षी के जीवन को नीरस बना देता है, इसी का हृदयस्पर्शी और यथार्थ चित्रण मादा कैक्टस में हुआ है।"

रातरानी—रातरानी डॉ लाल का यथार्थवादी नाटक है। सामाजिक यथार्थ पर आधारित इस नाटक में तीन अंक हैं। कुंतल और जयदेव आधुनिक दम्पत्ति हैं। कुंतल का विवाह निरंजन बाबू से नहीं हो सका, क्योंकि दहेज की राशि इसमें दीवार बन गई।

दर्पन—दर्पन डॉ लाल का एक ऐसा नाटक है जो मनोवैज्ञानिक धरातल पर लिखा गया है। इसमें लेखक ने मानव मन की 'कु' और 'सु' प्रवृत्तियों अर्थात् बुरी और अच्छी प्रवृत्तियों का चित्रण समसामयिक पात्रों को उनके वर्तमान परिवेश में रखकर यथार्थ शैली में किया है।

सूर्यमुखी—इस नाटक में पौराणिक और ऐतिहासिक आधार लेकर आधुनिक बोध को उजागर किया गया है। भारती के अंधा युग में यदि महायुद्ध की कथा और जीवन मूल्यों को आधुनिक युग के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है तो सूर्यमुखी में उन चरित्रों और उनके पारस्परिक जटिल सम्बन्धों सकुल मन स्थितियों और गहरे आन्तरिक संघर्ष का विश्लेषण किया गया है।

कलकी—डा लाल का कलकी नाटक कल्कि अवतार के हिन्दू मिथक को सहारा बनाकर लिखा गया है। यह वर्तमान युग बोध का सशक्त और व्याख्याधर्मी नाटक है। इसके पात्र और उनका देशकाल तंत्रकाल का होकर भी तंत्रकाल का नहीं हैं। इसमें तंत्र शासन व्यवस्था का, तांत्रिक प्रशासन का विभ्रम बिहार शिक्षा

अवस्था का, चेतनाहीन प्रजा और उसकी भावी शुभ की काल्पनिक आशा का प्रतीक बनकर आये हैं।

करफ्यू—सन् 1972 में प्रकाशित 'करफ्यू' नाटक 'मिस्टर अभिमन्यु' के भाग का नाटक है। इसमें गौतम के व्यक्तित्व पर करफ्यू लग गया है। राजन यदि चक्रव्यूह से बाहर निकलने की सोचता रह जाता है तो इस नाटक के सभी पात्र करफ्यू को तोड़कर इसके पिंजरे से बाहर निकल जाते हैं। उसमें चार पात्र महत्वपूर्ण हैं—गौतम, कविता, संजय और मनीषा। मनीषा गौतम के जीवन में संतुलन लाती है और कविता संजय के।

रक्तकमल—डॉ लाल के कई नाटक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आजाद भारत और पराधीन भारत के अन्तर को आँकते हुए आजाद भारत के उन कमजोर हिस्सों और उन हिस्सों की कमजोरी को उभारते हैं, जिसने भारतीय जन जीवन के विकास का अवरुद्ध कर रखा है। स्वतन्त्र भारत की बीमारियों पर प्रकाश डालते हुए एक नये भारत का स्वप्न साकार करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से इस नाटक की रचना हुई है। 'तीन आँखों वाली मछली' एवं 'रक्त कमल' में समान बात यह है कि दोनों ही विचार प्रधान नाटक हैं। डॉ लाल का यह नाटक एक व्याप्त नाट्यानुभूति पर आधारित है यद्यपि नाटक का अन्त कुछ आदर्शवादी और उपदेशात्मक सा हो गया है।

अब्दुल्ला दीवाना—आजादी के बाद के भारत और उसकी समस्याओं को उजागर करने वाले डॉ लाल की चिन्ता इस नाटक में यह नहीं कि परिवर्तन क्यों हो रहा है या कि कैसे हो रहा है? उनकी मुख्य चिन्ता यह है कि जो कुछ भी हो रहा है, वह मूल्य संक्रमण के नाम पर एक सुविधाभोगी वर्ग की साजिश है। पुराने मूल्यों की हत्या कर नये मूल्यों की स्थापना का प्रयास किया जाना इसका सबूत है। हिन्दी में सम्भवतः यह पहला नाटक है जिसमें समसामयिक स्थिति और सभी क्षेत्रों में जीवन के विघटन पर चुभता हुआ व्यंग्य किया गया है। अब्दुल्ला एक नैतिकता का प्रतीक है, जिसे मारकर उच्च वर्ग आया है। उसी वर्ग का खोखलापन, नंगापन और सत्ता तथा व्यवस्था से चन्दे के एवज में इस नये वर्ग को जो ताकत, रुतबा और हैसियत मिली है, वही इस नाटक में व्यक्त हुई है।

नरसिंह कथा—पौराणिक आख्यान को आधार बनाकर लिखे गये आधुनिक संवेदना युक्त नाटकों में यह एक विशिष्ट नाटक है। नरसिंह कथा भारत में लगी इमरजेन्सी के दौरान उभरने वाली तानाशाही ताकतों की प्रतिध्वनियों से युक्त एक सशक्त नाटक है। इस नाटक का कलेवर 4 अंकों और 13 दृश्यों में फैला हुआ है। हिरण्यकश्यप् का चरित्र एक तानाशाह का चरित्र है।

एक सत्य हरिश्चन्द्र—एक सत्य हरिश्चन्द्र जन जागरण की नई लहर का प्रवक्ता है। इसके वे पात्र जो गरीब जनता के प्रतिनिधि हैं, धर्म एवं राजनीति के खूबसूरत मुखौटा को उठा-उठाकर फेंकते हैं। नौटंकी का ढाँचा अपनाते एक सत्य हरिश्चन्द्र यथातथ्यवादी नाटकों से भिन्न कल्पनाप्रधान ना...

हरिश्चन्द्र की कथा का दुहरा प्रयोग हुआ है—एक मूल नाटक की योजना में और दूसरा नाटक के भीतर होने वाले नाटक की योजना में। शिल्प की दृष्टि से यह बड़ी गठी हुई रचना है।

साठोत्तर प्रयोगशील नाटक

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य में यथार्थवाद के बाद पाश्चात्य नाट्य साहित्य के एब्सड नाट्य शिल्प (असगत नाट्य शिल्प) का प्रभाव बहुत अधिक दिखाई देता है। वस्तुत पाश्चात्य साहित्य में इस शिल्प का प्रयोग द्वितीय महायुद्ध के भीषण परिणामो से उद्भूत परिस्थितियो के कारण आरम्भ हुआ, पर हिन्दी साहित्य मे इसका प्रयोग सन् 1955 के बाद दिखता है, जब राजनीतिक और सामाजिक विसगतियो ने जीवन मूल्यो को तोडकर मनुष्य का मानसिक विघटन किया। एब्सड नाटक मे कथानक या चरित्र का महत्व नहीं होता। नाटककार का लक्ष्य समाज में व्याप्त विसगतियो को उनकी पूरी भयानकता के साथ मूर्त करने पर होता है। अत असगत सवादों के प्रयोग और शब्दों की पुनरावृत्ति के द्वारा स्थिति के खोखलेपन और विसगति को अभिव्यक्ति दी जाती है।

वर्तमान राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था के भ्रष्ट व क्रूर रूप पर प्रतीक के माध्यम से व्यग्य करने के प्रयोग भी हिन्दी नाटको में सफलता से किये जा रहे है। इस क्षेत्र मे सवप्रथम ज्ञानदेव अग्निहोत्री का शुतुरमुर्ग सामने आता है नाटककार ने प्रतीकात्मक और व्यग का आश्रय लेकर स्वातन्त्र्योत्तर भारत की स्थिति को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत किया है। डॉ इन्द्रनाथ मदान के अनुसार इस नाटक म "आधुनिकता का बोध नगर बोध से जुडा हुआ है, खोखली शतुर नगरी से।" यह आधुनिक बोध व्यग्य और विसगति के रूप मे नाटक के सवादो स्थितियो और स्वय पात्रो के नामकरण में स्पष्ट है।

अमृतराय हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य मे मार्क्सवादी मूल्यो द्वारा जनता मे नयी चेतना जगाने वाले लेखको मे अग्रगण्य हैं। 1973 मे प्रकाशित उनका 'आज अभी (तीन नाटको का सग्रह) सामयिक सन्दर्भ को लेकर चलने वाले नाटको मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह नाट्य-सग्रह लेखक की युगबोध और युग प्रतिबद्ध दृष्टि का परिचायक है। कथ्य की दृष्टि से तीनो नाटक प्रभावशाली और सामयिक सन्दर्भों से पूर्ण हैं। सवाद अवश्य कहीं-कहीं बहुत विस्तार ले लेते हैं जो नाटक मे ऊब उत्पन्न कर सकता है। शिल्प की दृष्टि से तीनों नाटक यथार्थवादी मच पर आधृत हैं। नाटककार को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति की गहरी पहचान है। प्रयोगशील कविता के क्षेत्र मे प्रसिद्ध सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का प्रथम प्रकाशित 'बकरी' (1974) हिन्दी के क्षेत्र में एक नयी स्वस्थ परम्परा को प्रतिष्ठित करता है। बकरी' समय के साथ गहरी होती स्वाधीनता की तलछट और लगातार कठोर होते हुए सामाजिक और राजनीतिक अन्याय के विरुद्ध एक साधारण आदमी की असाधारण खीझ, गुस्से और प्रतिरोध का दस्तावेज है। यह

नाटक पूरी व्यवस्था के विरुद्ध कटाक्ष के साथ साथ एक रचनात्मक विद्रोह की आहट भी सजाये हुए है।

हिन्दी नाटक में प्रयोगशीलता लाने वाले प्राचीन पीढ़ी के लेखकों में लक्ष्मीकान्त वर्मा भी गणनीय हैं। वर्मा जी नयी कविता के सशक्त कवि और समीक्षक के रूप मे प्रसिद्ध हैं, किन्तु आधुनिक हिन्दी लेखन की प्रत्येक विधा में उन्होंने रचनात्मक सहयोग दिया है, जो उनकी निरन्तर सृजनशीलता का प्रमाण है। नाटक के क्षेत्र मे सवप्रथम 1968 मे रचित 'अपना-अपना जूता' नामक लघु नाटक द्वारा एक नया प्रयोग दिया—जिसमे कोई कथा नहीं, विशिष्ट चरित्र योजना नहीं, केवल बेतुके सवाद हैं और गीत हैं। इन सबसे महत्वपूर्ण हैं तीव्रता से बदलती घटनाऐं, जो सवादो और गीतों के साथ मिलकर हमारे ह्रासोन्मुख समाज का विशाल चित्र सामने ले आती हैं—औद्योगिक विकास ने मनुष्य को महानगरो की भीड़ मे ला पटका है, जहाँ केवल रोशनी का खण्डहर है, पूर्ण रोशनी नहीं। सन् 1974 मे प्रकाशित 'रोशनी एक नदी है' नाटक वर्मा जी की एक नयी, प्रयोगशील और साथक तलाश है। कुल मिलाकर प्रयोगशील नाट्य की परम्परा का प्रथम चरण अपने रचनात्मक और मचीय दोनो ही स्तरो पर उल्लेखनीय है।

हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास

हिन्दी गद्य साहित्य का जितना विकास आधुनिक युग में हुआ है उतना अन्य किसी युग में नहीं। गद्य साहित्य का अनेक विधाओं में जैसे निबन्ध, कहानी, संस्मरण एकाकी, नाटक, गद्य काव्य आदि का प्रादुर्भाव आधुनिक युग में हुआ है। इस प्रकार उपन्यास साहित्य को आधुनिक युग की देन माना जाता है।

हिन्दी उपन्यास का विकास

1 प्राचीन विकास 2 यूरोपीय प्रभाव

3 हिन्दी उपन्यास की कुछ विकासकालीन अवस्थाऐं—

(क) प्रथम अवस्था (1850 से 1900 तक)

(ख) द्वितीय अवस्था (1900 से 1915 तक)

(ग) तृतीय अवस्था (1915 से 1936 तक)

(घ) चतुर्थ अवस्था या आधुनिक काल (1936 से आज तक)

प्राचीन विकास—कुछ विद्वान उपन्यास साहित्य को आधुनिक युग की देन न मान कर इसका सम्बन्ध प्राचीन संस्कृत ग्रन्थो से स्थापित करते हैं। वे प्राचीन काल मे लिखे गए 'दशकुमार चरित' तथा 'कादम्बरी' आदि संस्कृत ग्रन्थो को ही उपन्यास मानते हैं। कतिपय आलोचक सूफी साहित्य के प्रेमाख्यानक ग्रन्थो को ही उपन्यास की सज्ञा देते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि उक्त ग्रन्थो मे उपन्यास के प्रमुख तत्वो का नितान्त अभाव है। हिन्दी साहित्य मे उपन्यासो के उद्भव तथा विकास पर पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यद्यपि परम्परावादी विद्वान आलोचक इस तथ्य को मानने को तत्पर नहीं हैं तथापि सत्य को छिपाया नहीं जा सकता। हम यह मानकर चलते हैं कि हमारे उपन्यासकारों को

आदि संस्कृत के ग्रन्थों से कुछ सहायता मिली हो किन्तु भारत में उपन्यासों की प्रेरणा का स्रोत पाश्चात्य अंग्रेजी साहित्य ही है।

यूरोपीय प्रभाव—हिन्दी साहित्य की सभी विधाएँ यूरोपीय प्रभाव से प्रभावित हुई हैं। उपन्यास साहित्य में बंगला साहित्य से प्रभावित होकर अनेक साहित्यकारों पर यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। आंग्ल साहित्यकारों ने बंगला में उपन्यासों का सृजन किया है। बंगला उपन्यासों को पढ़कर हिन्दी के कुछ साहित्यकारों को अपनी भाषा में उपन्यास लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। फलस्वरूप अनेक उपन्यासकारों की नवीन ढंग की रचनाओं ने हिन्दी साहित्य की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाया।

प्रारम्भ में लिखे हुए उपन्यासों में और आधुनिक युग में लिखे उपन्यासों में हम पर्याप्त भेद मिलता है। कोई पौधा तुरन्त ही परिपक्वता को प्राप्त नहीं कर लेता, उसका क्रमशः विकास होता है। उपन्यास साहित्य की भी धीरे-धीरे विकास कालीन अवस्थाओं को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं—

1 *प्रथम अवस्था (1850 से 1900 तक)*
2 *द्वितीय अवस्था (1900 से 1915 तक)*
3 *तृतीय अवस्था (1915 से 1936 तक)*
4 *आधुनिक काल (1936 से 1947 तक)*
5 *आधुनिक काल (उत्तरार्द्ध 1947 से अब तक)*

1 विकास की प्रथम अवस्था (1850 से 1900 तक)—हिन्दी गद्य के आविर्भाव के साथ साथ उपन्यासों का उद्भव भी हुआ। श्री लल्लूलाल जी, मुंशी सदासुख लाल, सदल मिश्र और इंशा अल्ला खाँ हिन्दी गद्यकारों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। इनके ग्रन्थों में कथा कहानियों की प्रचुरता है। कुछ लोग इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं किन्तु उपन्यास के प्रमुख तत्वों एवं लक्षणों के अभाव के कारण इसको उपन्यास नहीं माना जा सकता। उक्त गद्यकारों की परम्परा को लेकर हिन्दी में अनेक कहानियाँ लिखी गयीं और लोगों की रुचि कहानियों की ओर लीन होती गई। इसी समय एक अद्भुत प्रतिभा का हिन्दी जगत में प्रादुर्भाव हुआ जिसने अनेक पुरानी परम्पराओं को बदलकर, साहित्य में एक नए मूल्य की स्थापना की। ये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र थे, जिन्होंने विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों को हिन्दी में अनुदित किया और अन्य साहित्यकारों को भी इस पवित्र काम में लगाकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया। आपने 'हम्मीरहठ' नामक एक उपन्यास भी लिखा किन्तु मृत्यु के कारण वह पूरा न हो सका। भारतेन्दु जी ने एक युग को जन्म दिया। उनके पश्चात् लाला श्रीनिवास ने 'परीक्षा गुरु' नामक एक उपन्यास लिखा जिसमें आधुनिक उपन्यास के कुछ लक्षण मिलते हैं। भारतेन्दु कालीन लेखक बालकृष्ण भट्ट ने भी कुछ उपन्यास लिखे। भट्टजी के उपन्यासों में हास्य एवं व्यंग्य का भी पुट मिलता है। इनके उपन्यासों में 'सौ [illegible] और एक सुजान' [illegible]। इनमें

बीच मे बाबू राधाकृष्ण ने 'निस्सहाय हिन्दू' नामक उपन्यास की रचना की। वस्तुत भारतेन्दु युग म उपन्यासो की अपेक्षा नाटको की अधिक रचना हुई। उपन्यासो का यह बाल्यकाल था।

भारतेन्दु युग म अनुवादो की परम्परा बहुत प्रचलित हुई। मौलिक उपन्यासो का लिखने की अपेक्षा बगला और अग्रेजी उपन्यासो के हिन्दी मे अनुवाद किए गए। स्वय भारतेन्दु जी न कतिपय बगला उपन्यासो का हिन्दी मे अनुवाद किया था। भारतेन्दु जी से प्रेरित होकर गजाधरसिंह, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी प्रतापनारायण मिश्र आदि अनेक उपन्यासकारो न बगला से हिन्दी म अनुवाद किए और अनुवादों से ही मौलिक उपन्यास लिखने की उपन्यासकारो का प्रेरणा प्राप्त हुई है।

2 द्वितीय अवस्था (1900 से 1915)—यह काल उपन्यासो की विविधता और आधिक्य के लिए प्रसिद्ध है। इस काल मे अनेक बगला और आंग्ल उपन्यासो को अनुवादित किया गया, साथ ही कुछ मौलिक रचनाएँ भी लिखी गयी। इन उपन्यासों मे ऐतिहासिक, सामाजिक तथा भावप्रधान रचनाएँ भी थी किन्तु जन जीवन की वे समस्याएँ न थीं जो आधुनिक उपन्यासो मे मिलती है। यह काल उपन्यास के विकास का काल माना जा सकता है यद्यपि इन उपन्यासो म गभीरता का नितान्त अभाव है, किन्तु उपन्यास के विकास मे इन रचनाओ के योग को एव महत्व को भुलाया नही जा सकता।

जिन साहित्यकारो ने अन्य भाषा के उपन्यासो का हिन्दी मे अनुवाद किया उनम राधाकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री, गोपालदास गहमरी राधाचरण गोस्वामी हरिकृष्ण जौहर आदि मुख्य हैं। राधाकृष्ण वर्मा ने 'अकबर', ठगवृतान्त, 'माला, 'अबला', 'चित्तौड चातकी' का, गोपालराम ने 'भानुमति', चतुर चचलता, बडे भाई का, कार्तिकप्रसाद ने 'इला और 'प्रमिला' का हिन्दी मे अनुवाद किया। रामचन्द्र वर्मा ने छत्रसाल', राधाचरण गोस्वामी ने 'तारा तथा उदितनारायण न 'दीप निर्माण' आदि उपन्यासो का बगला स हिन्दी मे अनुवाद किया। अग्रेजी स हिन्दी मे किए गए अनुवादो मे 'रामकाका की कुटिया', लन्दन', और रहस्य उल्लेखनीय हैं। उर्दू भाषा में भी कुछ अनुवाद हुए। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने बेनिस का बाँका' गगाप्रसाद गुप्त ने पूना में हलचल' नामक उपन्यासो को अनुदित किया।

इस युग मे कतिपय मौलिक उपन्यास भी लिखे गए। देवकीनन्दन खत्री इस युग के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार थे। इनके 'चन्द्रकान्ता तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यासो से युग प्रवतन हुआ। खत्री जी के उक्त उपन्यासो को पढने के लिए अनेक अन्य भाषा-भाषियो ने हिन्दी सीखी। जनता ने इन उपन्यासो का हृदय से स्वागत किया। ये एयारी और जासूसी से भरपूर घटना वचित्र्य के अतिरिक्त और अधिक कुछ नही हैं। चरित्र चित्रण का तथा रस सचार का नितान्त अभाव है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल न इन उपन्यासो को साहित्य की कोटि में नही

माना है, किन्तु जो कौतूहल और घटना वैचित्र्य इन उपन्यासों में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है। उपन्यास साहित्य के विकास में इन उपन्यासों का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व है। हमारी समझ में बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों को पढ़कर अनेक पाठक उपन्यासकार बन गए। जासूसी उपन्यासों से प्रभावित होकर गोपालराम गहमरी और हरिकृष्ण जौहर ने कुछ उपन्यास लिखे।

इस काल में कुछ सामाजिक उपन्यास भी लिखे गए। साथ ही कतिपय ऐतिहासिक तथा जासूसी मौलिक उपन्यासों की भी रचना हुई। प. किशोरी लाल गोस्वामी ने 'तारा', 'चपला' तथा 'रजिया बेगम' आदि अनेक मौलिक उपन्यासों की रचना की। इसी युग में हरिऔध ने भी बहुत कुछ मौलिक उपन्यास लिखे। उनके 'ठेठ' हिन्दी का 'ठाठ' तथा 'अधखिला फूल' ऐसे उपन्यास हैं जिनसे खड़ी बोली के विकास में पर्याप्त सहायता मिली।

3 तृतीय अवस्था (1915 से 1936 तक)—यह काल उपन्यास के पूर्ण विकास का काल माना जाता है। वैसे तो उपन्यास के विकास की द्वितीय अवस्था में ही कतिपय सामाजिक उपन्यास लिखे जाने लगे थे, किन्तु इस काल में मुख्यतया सामाजिक उपन्यासों की रचना हुई। समाज की अनेक समस्याओं पर विचार एवं उनका समाधान इस काल के उपन्यासों का विषय रहा है। समाज की मान्यताओं में अनेक परिवर्तन आए और साथ ही साथ उपन्यास कला भी इन परिवर्तनों से स्वयं को न बचा सकी। जासूसी, तिलस्मी एवं ऐयारी उपन्यासों की परम्परा प्रायः नष्ट होती गयी और उपन्यासों में समाज की व्याख्या को स्थान मिलता गया।

इस युग के प्रमुख उपन्यासकार प्रेमचन्द हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में यथार्थ और आदर्श का वह चित्रण किया है जो एक ओर हमें उच्च आदर्शों की ओर प्रेरित करता है और दूसरी ओर वास्तविकता से भी दूर नहीं जाने देता। प्रेमचन्द के उपन्यासों की विशेषता यह है कि उनमें घटना के साथ-साथ चरित्र चित्रण को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है। उन्होंने मध्यवर्ग का यथार्थ एवं सजीव चित्रण किया है, उनके उपन्यासों में कहीं-कहीं राष्ट्रीयता की भावना भी मिलती है। उन्होंने समाज को देखा था, गाँव को देखा था और वहाँ की दुर्बलताओं को भली भाँति परखा था, वे समाज के मजदूर एवं कृषक वर्ग से भली भाँति परिचित थे। अतः उनके उपन्यास हिन्दी साहित्य का सम्मान बन गए। उन्होंने अपने घटना चरित्र सापेक्ष उपन्यासों में समाज की बुराइयों का यथार्थ चित्रण किया किन्तु उनमें कहीं भी अश्लीलता नहीं आने दी। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में 'सेवा सदन', 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि' तथा 'गोदान' उल्लेखनीय हैं।

इस युग में प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य उपन्यासकारों की रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। इस काल में प्रसाद ने 'तितली' तथा 'कंकाल' नामक यथार्थवादी उपन्यास लिखे। कौशिक ने 'भिखारी' तथा 'माँ', चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की प्यास', बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में' आदि

महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे। इसी काल मे भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढकुण्डार', 'संगम', 'लगन' राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने 'सरदार', 'टूटा तारा' आदि उपन्यास लिखे हैं।

4 आधुनिक काल (1936 से 1947)—सन् 1936 से प्रेमचन्द की मृत्यु के पश्चात् उपन्यास साहित्य का भविष्य कुछ निराशाजनक प्रतीत होने लगा, किन्तु उस समय तक कुछ प्रतिभाशाली नवयुवक हिन्दी साहित्य मे उपन्यास के क्षेत्र में चरण बढा रहे थे। प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यासकार दो प्रमुख धाराओ मे बँट गए। एक थी मनोवैज्ञानिक विचारधारा और दूसरी प्रगतिवादी विचारधारा।

मनोवैज्ञानिक विचारधारा से प्रभावित उपन्यासकार जनेन्द्र, अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा, इलाचन्द जोशी आदि हैं। यह धारा मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव मे कुण्ठित, अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति करती है। जनेन्द्र जी के 'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता', त्यागपत्र', 'कल्याणी' आदि मनोवैज्ञानिक धारा से प्रभावित उपन्यास हैं। फ्रायड आदि यौन सम्बन्धी विचारको से प्रभावित होकर इलाचन्द जोशी ने 'प्रेत और छाया', 'पर्दे की रानी', 'घृणामयी' आदि उपन्यासो की रचना की है।

दोनो ने उन्हें अतिवादी दृष्टियो से देखा वस्तुत जनेन्द्र के पात्रो मे मनोवैज्ञानिक ढग से परिस्थितियो का परिज्ञान करने की क्षमता है जिससे वे असामान्य परिस्थितियो म भी अपना सन्तुलन नही खोते और एक दार्शनिक की मन स्थिति ग्रहण कर लेते हैं। उनके उपन्यासो मे सैक्स उभरता है, किन्तु उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया जाता है जिस पर चलकर वह औदार्य, सहिष्णुता और अध्यात्म की मधुर भावभूमि में परिणित हो जाता है। उनके उपन्यास 'विवर्त', 'सुखदा', सुनीता' उक्त तथ्य निरूपण के सुन्दर निदर्शन हैं। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास नतिकता और मनोविज्ञान के समन्वित रूप हैं। वर्माजी ने अपने चित्रलेखा नामक उपन्यास मे पाप, पुण्य आदि प्रवृत्ति सम्बन्धी सघर्षों की परम्परित परिभाषाओ को जो अभिनव सदर्भ दिए हैं, उनसे उनकी सबल लेखनी एव प्रतिभा का परिचय मिलता है। टेढे-मेढ रास्ते, तीन वर्ष आखिरी दाव और भूले बिसरे चित्र इनके प्रमुख उपन्यास हैं। भगवती प्रसाद वाजपेयी के मनोवज्ञानिक उपन्यासो मे वर्णन तथा यौन कुण्ठाओं का वातावरण मुखर है। इनके प्रसिद्ध उपन्यासो मे मीठी चुटकी, अनाथ पत्नी, प्रेम पथ, लालिमा, पिपासा, तीन बहिनें, पतिता की साधना, और गुप्तधन आदि हैं।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास—इस क्षेत्र के उपन्यासकारो मे अज्ञेय जी का व्यक्तित्व अधिक विवादास्पद है। कही वे यथार्थ का प्रतिरूप ग्रहण करते हैं तो कहीं अस्तित्व का और कही अह का सवत्र प्राधान्य है। कहीं-कही यथार्थ के आग्रह के कारण उनमे चित्रण मे नग्नता भी आई है। 'शेखर एक जीवनी' 'नदी के द्वीप', 'अपने अपने अजनबी आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इलाचन्द्र [illegible] अज्ञेय जी की अपेक्षा अधिक मनोवज्ञानिक हैं। इनके उपन्यास [illegible] के प्रयोग जसे मालूम होते हैं। वे अनुभूति सकुल हैं जिनमे प्रेम,

के दम्य मनोविज्ञान से सपृक्त हैं। जोशी ने 'संन्यासी', 'घृणामयी', 'प्रेत और छाया' 'परदे की रानी', 'जहाज का पंछी' आदि उपन्यासों की रचना की है।

यथार्थवादी उपन्यास—प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासो मे मध्यम वर्ग का चित्रण किया है। यथार्थवाद की दृष्टि निम्न वर्ग के चित्रण पर आधारित रहती है। उपेन्द्र नाथ अश्क के उपन्यास इसी कोटि के हैं। उनमें घुटन कुण्ठा एव वर्जनाओ का वातावरण है। यशपाल नागार्जुन और रांगेय राघव सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। यशपाल के 'पार्टी कामरेड', 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', दिव्या और 'मनुष्य के रूप मार्क्सवाद से प्रभावित प्रतीत होते हैं किन्तु वस्तुत वे फ्रायडवाद तथा सवर्स के रगो मे अनुरजित हैं। रांगेय राघव के उपन्यासो म अन्त क्षोभ की अपेक्षा बुद्धि विलास अधिक है। विषाद मठ, सीधा सादा रास्ता, पथ का पाप, मुर्दों का टीला, चीवर पक्षी, अँधेरे के जुगनू आदि इनके मुख्य उपन्यास हैं।

आंचलिक उपन्यास—रांगेय राघव न आंचलिक उपन्यास लिखे हैं—'कब तक पुकारू" और 'धरती मेरा घर उनके इसी कोटि के उपन्यास हैं। फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मला आँचल', 'परती परिकथा' आदि उपन्यासो का सृजन किया है। नागार्जुन के बाबा बटेसरनाथ, 'रतिनाथ की चाची, 'नई पौध', 'वरुण के बेटे' आदि उपन्यासो मे सामान्यीकृत जीवन के चित्र हैं। इन उपन्यासों में अचल विशेष के जीवन को समग्र भावभूमि के साथ अकित किया गया है। अमृतलाल नागर ने 'बूद और समुद्र, उदयशकर भटट ने 'सागर, लहरें और मनुष्य', देवेन्द्र सत्यार्थी न 'ब्रह्मपुत्र, भरतप्रसाद गुप्त ने गगा मया का चौरा' और लक्ष्मीनारायण लाल ने 'बया का घोसला' आदि आंचलिक उपन्यासो का प्रणयन किया है। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ', 'पानी के प्राचीर' और सूखता हुआ तालाब' आदि महत्त्वपूर्ण आंचलिक उपन्यास हैं।

प्रगतिवादी विचारधारा—आधुनिक युग पर प्रगतिवाद की गहरी छाया है। इस युग के नेता यशपाल हैं। ये मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिवादी लेखक हैं। दादा कामरेड, देशद्रोही, मनुष्य के रूप और दिव्या उनके प्रमुख उपन्यास हैं। प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित अन्य उपन्यासकारो मे रांगेय राघव, भगवतशरण उपाध्याय, नागार्जुन आदि प्रमुख हैं। राहुल सांकृत्यायन ने भी अपने कुछ उपन्यासा में वर्ग सघर्ष का चित्रण किया है।

रांगेय राघव ने ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक समाजवादी है। उनके उपन्यासा मे यह दृष्टिकोण पूरी तरह स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त निराला जी ने भी 'अप्सरा', 'अलका आदि उपन्यास लिखे हैं। वर्णनात्मक शली म लिखे गोविन्द वल्लभ पन्त के 'बरमाला', 'मदारी आदि उपन्यास सुन्दर हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी अनूपलाल मण्डल और सर्वदानन्द वर्मा ने भी कुछ सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। अश्क मोहनलाल महतो एव पहाडी के नाम भी आधुनिक उपन्यासकारों मे मुख्य हैं। स्त्री उपन्यास लेखिकाओं में उपा

देवी मिश्रा का नाम अग्रगण्य है। इस प्रकार इस युग मे अनेक उपन्यास लिखे गए। 1947 म देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् उपन्यासकारो मे और भी अधिक प्रेरणा की लहर दौड गई और आज भी अनेक उपन्यासकार अपनी रचनाओं द्वारा उपन्यास साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं।

नवोदित प्रतिभाएँ—नवोदित प्रतिभाओ मे अमृतराय, धर्मवीर भारती और रघुवीरशरण मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय है। अमृतराय ने 'बीज और नागफनी', का देशो म मार्वाकन किया है। राजेन्द्र यादव ने 'उखडे हुए लोग' उपन्यास की रचना की है। धर्मवीर भारती ने 'गुनाहो का देवता' मे नवीन शिल्प का विकास किया है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जाल', लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'खाली कुर्सी की आत्मकथा' सभी व्यक्ति यथार्थ के प्रति जागरूक प्रयास है। श्री रघुवीर शरण मिश्र ने 'आग और पानी' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है। नवोदित प्रतिभाओ मे उषा प्रियवदा, अमरकान्त और कमलेश्वर आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

साठोत्तर वर्षों मे अनेक नए उपन्यासकार सामने आए हैं। इन उपन्यासकारो में रमेश बक्षी, गिरिराज किशोर, मणि मधुकर, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', कृष्णबलदेव वद, महिला उपन्यासकारो मे सूर्यबाला, मालती जोशी, कृष्णा सोबती, निरूपम सवती, शिवानी, प्रभा सक्सेना आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन सभी के उपन्यासो से ऐसा जीवत ससार अभिव्यक्त हुआ है जो हमारा जाना पहचाना ससार है। कुछ ऐसे उपन्यासकार और भी हुए हैं जिन्होंने इस दिशा म बहुत काम किया है। ऐसे उपन्यासकारो मे डॉ रामशरण मिश्र का नाम विशेषोल्लेख्य है। इनके 'पानी के प्राचीर', 'बीच का समय', 'सूखता हुआ जल' और 'टूटता हुआ जल' इसी प्रकार के प्रसिद्ध उपन्यास हैं। राही मासूम रजा के 'दिल एक सादा कागज', कटरा बी आरजू और सीस नामक उपन्यासो मे शैली की नवीनता देखने को मिलती है। इन्होने आधा गाँव नामक उपन्यास लिखकर विशेष ख्याति प्राप्त की है। भीष्म साहनी के तमस और बसन्ती नामक उपन्यास भी यथार्थवादी शैली में लिखे गए प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'रागदरबारी' श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य प्रधान उपन्यास है। इसमें राजनीति, समाज व्यवस्था और अनेक रीति रिवाजो पर व्यंग्य किया गया है।

प्रयोगशील उपन्यास—प्रयोगशील उपन्यासों मे 'सूरज का सातवाँ घोडा', 'बड़ी-बड़ी आँखें', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'शतरज के मोहरे', 'शह और मात', 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' आदि को लिया जा सकता है। उपन्यास के क्षेत्र मे महिला उपन्यासकारों ने पर्याप्त योगदान दिया है। मन्नू भण्डारी ने 'आपका बण्टी' म तलाकशुदा पत्नी एव पति के प्रश्न को बच्चे की समस्या के बिन्दु से उठाया है, यह एक नया प्रश्न है। लेखक ने बच्चे, पत्नी और पति तीनों की मानसिकता चित्रित करते हुए बच्चे के जीवन की अनिश्चितता और उसकी ट्रेजेडी का अहसास उभारा है किन्तु यह अनुभव का ही प्रभाव है कि नैमित्तिक केन्द्र में बच्चे के होने के

बावजूद पत्नी के दर्द को अधिक सक्रान्त और प्रामाणिक रूप से उभार सकी है। उषा और मन्नू में एक समानता है कि वे दोनों ही भावुक हैं। दोनों की भाषा में भी तरलता ही लक्षित होती है। तरलता तो कृष्णा सोबती में भी है, किन्तु वह तरलता निरन्तर नारी की बेबसी के बीच से ही उसकी ऊर्जा और यौन साहसिकता का भी स्पर्श करती गई है। नई लेखिकाएँ अत्यधिक उन्मुक्त और यथार्थ का तेज मिजाज उन्मुक्तता और मिजाजी लेकर आ रही हैं जिसका संकेत ममता कालिया के 'बेघर' में मिलता है किन्तु इनकी उन्मुक्तता और मिजाजों की पहचान यौन प्रसंगों में अधिक की जा सकती है। कृष्णा सोबती के 'यारों के यार' में उन्मुक्त रूप से यौन अवयवों का प्रयोग और 'सूरजमुखी अँधेरे' में उन्मुक्त भोग की अवतारणा देखी जा सकती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास ने अपनी विकास यात्रा में पर्याप्त प्रगति की है। प्रेमचन्द के हाथों उपन्यास को सही विकास प्राप्त हुआ तो प्रेमचन्द के बाद उपन्यास नयी दिशाओं की ओर बढ़े और धीरे धीरे आज मनोविज्ञान, राजनीति, दर्शन, यथार्थ अस्तित्ववाद एवं व्यंग्य आदि के क्षेत्र में भी उपन्यासों ने अपना स्थान बना लिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि यही स्थिति चलती रही तो उपन्यास गद्य की सभी विधाओं में लोकप्रिय, महत्त्वपूर्ण एवं बहुपठित माना जाएगा।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ

प्रेमचन्द के बाद जो उपन्यास सामने आए, वे नई दिशा और विचारधारा लेकर आए। इनमें विद्रोह का स्वर था, जीवन को उसकी सम्पूर्णता में भोग लेने की प्रवृत्ति थी। इसका कारण यह था कि स्वाधीनता ने मानव को जो नए ढंग प्रदान किए थे वे बन्धनविहीन और स्वच्छन्द थे। जर्जरित दासता के जीवन से निकलकर स्वतन्त्र राष्ट्र के स्तर, मनोबल, स्वाभिमान, दृढ़ता और संकल्प को अर्जित करने के लिए राष्ट्र और उसके निवासियों को काफी कुछ अन्तर-बाह्य परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ा था। बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष के साथ-साथ उसे अपने अन्दर के संस्कारों से परम्पराग्रस्त विचारों और मनोभावों से भी संघर्ष करना था। स्वतन्त्रता से पहले हिन्दी उपन्यास का वस्तु क्षेत्र परम्पराओं के प्रति विद्रोह आदर्श के नवीनीकरण और रूढ़ियों से मुक्ति के लिए छटपटा रहा था। देश की आजादी की हवा उपन्यास को भी लगी और वह खुलकर नए रंग में सामने आने लगा। तत्कालीन उपन्यास का जो मूल स्वर था वह विदेशी दासता से मुक्ति के साथ सरकारी और अन्धविश्वासों से मुक्ति का था। वह युग था जब देश का बुद्धिजीवी वर्ग विश्व के विकासशील देशों के विचारों से प्रभाव ग्रहण कर देश की परिस्थितियों के सन्दर्भ में देशी विदेशी, प्राचीन-नवीन विचारधाराओं के दोहन मंथन से नए विचार, आदर्श मान्यताओं और जीवन की नैतिकता के निर्माण में संलग्न था। परिणामतः यही और इससे सम्बन्धित समस्याएँ और जीवन के प्रति प्रश्न

(3) मानवतावाद—प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में गाँधीवादी विचारों से प्रेरित सुसंस्कृत मानवतावाद को अपनाया गया है। इसी आधार पर सम्पूर्ण धर्म, दर्शन में निहित मानवीय प्रेम, करुणा, शान्ति, कल्याण, आदि सद्गुणों का सार समेट लिया गया है। इसके प्रवर्तक जैनेन्द्र कहे जाते हैं जिन्होंने गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को उपन्यास में प्रदर्शित किया है। प्रेम से उद्भूत आत्मपीड़न ही जैनेन्द्र के उपन्यासों की मूल प्रवृत्ति है। भगवतीचरण वर्मा का आग्रह परिस्थितियों पर है। उनके अनुसार मनुष्य न पाप करता है, न पुण्य करता है बल्कि वह वही करता है जो उसे करना पड़ता है। अज्ञेय मानवतावादी सीमा में रहकर भी बौद्धिकता के प्रति विशेष सजग है। यही कारण है कि उनका शेखर प्रेम, अहिंसा तथा सुख के साथ ही लोक कल्याण के लिए घृणा, हिंसा और दुख का भी उचित मात्रा में प्रयोग मानता है।

इलाचन्द्र जोशी मनोविश्लेषण की ओर झुके हुए हैं। वे यह मानते हैं कि मनुष्य के आचरण के लिए अवचेतन मन ही उत्तरदायी है। इनके विपरीत अश्क का दृष्टिकोण भौतिक अधिक है। अश्क के 'गिरती दीवारें' उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय जीवन की दम घोटने वाली परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण है। नागार्जुन ईश्वरीय न्याय के प्रति अन्ध श्रद्धा स्वीकार नहीं करते। उनके 'बलचनमा' की ये पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य हैं—"चार परानी का परिवार छोड़ कर मेरा बाप मर गया यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और माँ आम की गुठलियों का गूदा निकाल कर फाँकती थीं यह भी भगवान ठीक ही करते हैं और सरकार आप के बजीर और तुलसी फूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल परवल की तरकारी घी, दही चटनी खाते हैं सो यह भी भगवान की ही लीला है।"

इसमें जो बात स्पष्ट होती है वह यही है कि आज का उपन्यासकार मानवीय कुंठा और कटु अनुभूतियों को चित्रित करना अभीष्ट समझता है। उसकी दृष्टि में मनुष्य के आचरण का उतना मूल्य नहीं है जितना कि उस आचरण की पृष्ठभूमि में निहित परिस्थितियों, प्रेरक शक्तियों और मनोग्रन्थियों का है।

(4) आन्तरिक विश्लेषण—प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में जहाँ आन्तरिक चित्रण ही नगण्य थे, विश्लेषण की बात तो दूर रही, किन्तु परवर्ती उपन्यासों में अन्तरिक विश्लेषण की प्रवृत्ति प्रधान है। मनोविश्लेषण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रचलित सिद्धान्त मनोग्रन्थियों का है जो कुण्ठाओं से सम्बन्ध रखता है। इसके अनुसार "हमारी भावनाएँ या वासनाएँ ग्रन्थि बन जाती हैं और अवचेतन मानस में जाकर बैठ जाती हैं और पराभूत हमारे स्वभाव, चरित्र और आचरण को प्रभावित करती हैं। ये ग्रन्थियाँ किस रूप में कब उत्पात मचा सकती हैं कहा नहीं जा सकता है।" जैनेन्द्र के 'परख', 'सुनीता' में हम इसी विशेषता को पाते हैं। जैनेन्द्र ने सुनीता और हरि प्रसन्न की यौनजन्य कुण्ठाओं का नाटकीय अंकरण में प्रस्तुत करके इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है।

इस सिद्धांत को आधार बनाकर इलाचंद्र जोशी ने अपने उपन्यासों की सृष्टि की। उन्होंने विभिन्न प्रकार की कुण्ठाओं से युक्त, व्यक्तियों की अहम्मन्यता, आत्मरति, आत्मपीडन, निरुद्देश्य दौड़ धूप, बौद्धिक यन्त्रणा, मानसिक विकृति, संशय, संदेह सन्ताप, ईर्ष्या, मतिभ्रम आदि का अपने उपन्यासों में वर्णन करके मनोविश्लेषण के सिद्धान्त को ही प्रश्रय दिया है। अज्ञेय के शेखर के चेतना प्रवाह में तरंग पर तरंग उठती जाती है जिसमें उसका सम्पूर्ण अतीत जीवन सूक्ष्मतम ब्यौरा के साथ प्रतिबिम्बित हो उठता है। शेखर और नदी के द्वीप उपन्यासों में आत्मनिष्ठा का परम गम्भीर रूप देखने को मिलता है। यशपाल एक ऐसे कलाकार निकले जिन्होंने अपना एक पैर मार्क्स की पटरी पर और दूसरा फ्रायड की पटरी पर रखा। इसका परिणाम यह निकला कि उनकी कृतियों में यौन कुण्ठाएँ और आर्थिक वैषम्यजन्य कुण्ठाओं के चित्र हैं। अश्कजी के पात्रों में भी आर्थिक और यौन सम्बन्धी कुण्ठाएँ मिलती हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में कुण्ठाओं के चित्र हैं और मनोविश्लेषण की पद्धति पर उन्हें हल किया गया है या समझाया गया है।

(5) **सामाजिक यथार्थवाद**—"समाज में एक ओर तो स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष धूर्तता, मलीनता, कामुकता, अनतिकता, पापाचरण, मानसिक कुण्ठाएँ, आर्थिक विपन्नता दयनीय जीवन स्थितियाँ दुर्दम्य पाशविक प्रवृत्तियाँ, सामाजिक आर्थिक वैषम्य, भ्रष्टाचार, कुरीतियाँ, पीड़न आदि हैं तो दूसरी ओर स्नेह सहानुभूति, करुणा, परोपकार, स्वार्थ त्याग, प्रफुल्लता आदि के सद्गुण भी हैं।" इन सबका यथातथ्य चित्रण करने का बीड़ा प्रेमचंद परवर्ती उपन्यासकारों ने उठाया। गोदान के पूर्व तक जितने भी उपन्यास लिखे गये हैं उनमें आदर्श का रंग कुछ गहरा है किन्तु परवर्ती उपन्यासों में यथार्थ के यथातथ्य चित्र हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द परवर्ती उपन्यास साहित्य आदर्श के रंग में रंगा न होकर यथार्थ के रंगों से चमकील और वास्तविक दिखलायी देता है।

सामाजिक यथार्थ के चित्रण के लिए लेखकों ने नवीन शैलियों की खोज की है। भले ही इस खोज में यूरोपीय साहित्य प्रेरणास्पद बना हो। मार्क्स से प्रभावित लेखकों ने आर्थिक विषमता की विषम चोट से पीड़ित होने के कारण मध्यहारा वर्ग की दयनीय जीवन स्थितियों का चित्रण तो है ही, साथ ही साथ उन्होंने श्रेणी संघर्ष की उदीयमान चेतना को ही सामाजिक यथार्थ का चित्र समझा है। इस वर्ग में आने वाले उपन्यासकारों में यशपाल, नागार्जुन और अमृतराय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हुए जिन्होंने यह स्वीकार किया कि मानव गुण दोषों का पुतला है। वह कांस का सोना नहीं अष्टधातु का मिश्रण है। "वस्तुतः जीवन सागर की विशालता और उसकी गगनचुम्बी महिमा के साथ ऐसे स्थल हैं जहाँ सागर का पानी आकर रुक गया है और सड़ रहा है। जीवन कूड़े-करकट धुएँ, धुन्ध, गर्द, गुबार और कीचड़-दलदल से अटा पटा है और चूँकि जीवन में इन्हीं का आधिक्य है अतएव इन्हीं का चित्रण अभिप्रेत भी है।

नवीन मनोविज्ञान के प्रकाश में इन कलाकारों ने यह भी अनुभव किया कि मनुष्य के बाहर ही उलझनों का अपरिमित विस्तार नहीं, उसके अन्तर में भी बेगिनती स्तर हैं जिनके नीचे ऐसी अंधेरी कन्दराएँ हैं जिनकी झाँकी मात्र कँपा देने के लिए पर्याप्त है। राजेन्द्र यादव विष्णु प्रभाकर, रांगेय राघव आदि की दृष्टि इस प्रकार के चित्रणों की ओर अधिक रही है।

(6) काम भावना—प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में तो यौन विषयक चर्चा नहीं हुई किन्तु परवर्ती उपन्यासों में यह खुल कर सामने आयी है। यौन सम्बन्धों का लेकर अनेक प्रश्न और समस्याएँ उठाई गयी और उनका समाधान किया गया। यौन विषयक नैतिकता के बारे में इन कलाकारों में एक नवीन किन्तु उदार दृष्टिकोण दिखलाई देता है। इनकी मान्यता रही है कि भूख के समान प्रेम भी एक ऐसी शक्ति है जिसे रोका नहीं जा सकता। भूख से बाद भोग की लालसा स्वाभाविक वृत्ति का परिचय देती है। समाज में प्राय जो अनेक यौनाचार और पापाचार दिखलाई देते हैं, उनका विश्लेषण विवेक और मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। प्रबल प्रवृत्तिजन्य मानवीय भूख की परितृप्ति प्रेरित यौन स्खलन को इस रूप में चित्रित करने का प्रयास हुआ कि स्खलित व्यक्ति के प्रति घृणा की अपेक्षा प्यार उमडे। दूसरी ओर पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए व्यभिचार की बाध्यता को भी अत्यन्त निर्लिप्त भाव से चित्रित किया गया कि यदि मन निर्मल है तो इस नश्वर शरीर के व्यभिचार से महिला घट नहीं सकती। तात्पर्य यह है कि समाज से किंचित अलग करके प्रेम तथा यौन समस्या को देखने का प्रयत्न हुआ और प्रवृत्ति और परिस्थिति का ऐसी अनिवार्यता में चित्रण किया जाने लगा कि यौन दुर्बलताओं एवं स्खलन के प्रति घृणा के स्थान पर हमारी सहानुभूति ही मिले।

नारी पुरुष की समस्या का ही एकमात्र आधार बनाकर उपन्यास लिखने वाला में जैनेन्द्र का नाम विशेषोल्लेख्य है। सुनीता और कल्याणी, परख और तपोभूमि में यह बात देखने को मिलती है। सुनीता उपन्यास यदि नारी-पुरुष के सम्बन्ध को दार्शनिक आधार देकर प्रस्तुत किया गया है तो तपोभूमि की धारीणी अबध यौन सम्बन्धों की शिकार है जिससे वह गर्भवती हो जाती है। बाद में वह वेश्या बन कर भी जल में कमल के समान निर्मल है। त्यागपत्र की नारी 'मृणाल परिस्थितियों के जाल में फँसकर अनेक पुरुषों की काम क्रीडा का शिकार बनती है लेकिन इतना होने पर भी वह महिमावती है क्योंकि शरीर की अपवित्रता मन की पवित्रता से बढ कर नहीं है। उसका मन पवित्र है। व्यथित उपन्यास में अनीता अपने निष्फल प्रेमी के जीवन को व्यवस्थित करने की चिन्ता में पागल हो जाती है— 'कहती हूँ मैं यह सामने हूँ। मुझको तुम ले सकते हो। समूची को जिस विधि से चाहो ले सकते हो।'

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में आर्थिक विषमताओं से ग्रस्त नारी के शरीरविक्रय का अच्छा चित्रण किया गया है। चमेली रामेश्वर को अत्यधिक प्यार करती

है किन्तु रामेश्वर की रक्षा ही में उसे बाध्य होकर अपना तन देना पड़ता है। धन के आगे यौन नैतिकता नगण्य है।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास भी इसी तरह के चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनके उपन्यास प्रायः नारी-पुरुष के अवैध सम्बन्धों की कथा कहते हैं। इतना ही क्यों, नारी की प्रवंचना भी बड़े मार्मिक शब्दों में बताई गयी है। संन्यासी उपन्यास का नन्दकिशोर बिना विवाह के ही शान्ति के साथ गृहस्थी जमाने की प्रक्रिया करता है। पर्दे की रानी में इन्दुमोहन रेलगाड़ी में निरंजना के कौमार्य को भंग करता है तथा 'प्रेत और छाया' में पारसनाथ मंजरी को गर्भवती बना कर छोड़ देता है।

यशपाल के उपन्यासों में भी नारी रूप का आकर्षण और काम प्रवृत्ति विद्यमान है। दादा कामरेड का हरीश अपने मन में एक विचित्र साध लिए हुए है—"मैं कुछ भी न करूँगा, मैं केवल जानना चाहता हूँ कि स्त्री कितनी सुन्दर होती है? मैं स्त्री के आकर्षण का पूर्ण रूप से अनुभव करूँगा।' इसके लिए शैलबाला तत्पर हो जाती है और कहती है—"मृत्यु के मुख में फँसा हुआ यह लड़का जो कहता है उसकी उपेक्षा कैसे की जाए'—और नितान्त नग्न होकर खड़ी हो जाती है।

अज्ञेय के शेखर को उसकी मुँह बोली बहन शशि सम्पूर्णता के साथ प्यार करती है तथा विवाहोपरान्त भी इसे निभाने का प्रयास करती है। नदी के द्वीप का भुवन रेखा के प्रति शुद्ध कामभाव रखता है। सामाजिक और नैतिक मान्यताओं से परे हटकर काम कुण्ठाओं, यौन विकृतियों का चित्रण अज्ञेय ने पूरी उदारता से इस उपन्यास में किया है। अमृतराय और अश्क के उपन्यासों में भी यौन विषयक चित्र मिलते हैं। 'डूबते मस्तूल' की रचना अनेक व्यक्तियों से यौन सम्बन्धी रखती है तथा 'बीच' की राजू अनमेल विवाह के कारण महेन्द्र द्वारा छली जाती है। यही स्थिति भगवतीचरण की 'रत्ना' की है। वह भी प्रोफेसर प्रभाशंकर को तन मन से प्यार करती है। वे उसकी दृष्टि में वरेण्य हैं, देवता हैं, आराध्य हैं किन्तु शरीर शक्ति के प्रवाह में भटकती हुई वह भी निरंजन, हेमन्द्र आदि अनेक पुरुषों से अपनी प्यास बुझाती फिरती है। भूख के समान भोग भी एक ऐसी ही शक्ति है, जो मानव को परेशान करती है।

भूख से मन और शरीर की तृप्ति होती है ठीक वैसे ही भोग से भी तृप्ति मिलती है। जब तक वह तृप्ति नहीं मिल जाती है, तब तक उसके मन में घुटन चलती है और संघर्ष चला करता है। अतः प्रेमचन्द परवर्ती उपन्यासों में इसे भी जीवन का आवश्यक तत्त्व बताया गया है और चित्रण की कसौटी पर कस कर अनिवार्य और दुर्निवार शक्ति ठहरा दिया गया है। वस्तुतः यह वह शक्ति है जो नारी को पुरुष की ओर तथा पुरुष को नारी की ओर आकर्षित करती है।

(7) विचार मूलकता—नए उपन्यासों में विचारमूलकता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। डॉ॰ रामरतन भटनागर का कथन है "हेनरी जेम्स के समय से ही उपन्यास विचारों का वाहक बना हुआ है, परन्तु आज यह विचारमूलकता जीवन

दृष्टि बनी हुई है। टालस्टाय ग्नद्रेजीद मात्र सब कथा को जीवन सम्बन्धी उहापोह का साधन बताते हैं। जहाँ जीवन प्रवाह को पकड़ने की चेष्टा है, वहाँ भी जीवन दृष्टि की नवीनता ही ग्रभिप्रेय है। इस प्रकार नया उपन्यास जीवन का चितेरा नहीं, जीवन का समीक्षक है। वह मूल्य देता है—औपन्यासिक रस, चारित्रिकता, ग्रतमन की उपलब्धि ये उसके लिए ग्राज महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।"

सामूहिक और वैयक्तिक जीवन मे मेल कराने की चेष्टा भी नए उपन्यासो म मिलती है। डा रामरतन भटनागर के शब्दो मे 'रूसी उपन्यासो का तो यह विषय है क्योकि रूस मे सामूहिक जीवन के विकास का प्रयत्न हो रहा है और नए समाजवादी यथार्थ मे मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना नही, उसकी समाजगत चेतना ही ग्रकित है। परन्तु पश्चिमी यूरोप के उपन्यासकार भी एक दूसरे ढग से इसी प्रश्न को लेकर चल रहे है। उपन्यास ही क्यो, काव्य और नाटक भी मूल रूप से इसी समस्या को लेकर चलते हैं।"

(8) **चरित्र प्रधानता**—प्रेमचदोत्तर हिन्दी उपन्यासो मे चरित्र प्रधानता की प्रवृत्ति भी मिलती है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डा देवराज, मोहन राकेश, मन्नू भण्डारी आदि उपन्यासकारो म इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। मनोविज्ञान के प्रवेश के कारण इन उपन्यासो म यह प्रवृत्ति विशेष रूप से उभर कर सामने आयी है। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र', 'परख' 'सुनीता', 'सुखदा', 'विवर्त' और जोशी जी के 'सन्यासी' 'प्रेत और छाया' डॉ देवराज के 'अजय की डायरी', नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' और मन्नू भण्डारी के 'ग्रापका बटी' म इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।

(9) व्यग्यपरकता—प्रेमचदोत्तर हिन्दी उपन्यासो मे व्यग्यपरकता का सर्वाधिक प्रयोग श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' 'मकान', 'बूँद व समुद्र' जिसके लेखक अमृतलाल नागर हैं मे इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।

(10) **ऐतिहासिक चेतना**—ऐतिहासिक चेतना की प्रवृत्ति वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, चतुरसेन शास्त्री रागेय राघव जैसे उपन्यासकारो मे आसानी से मिल जाती है।

(11) **आंचलिकता की प्रवृत्ति**—प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास के अन्तगत आंचलिकता की प्रवृत्ति भी विकसित हुई है। इस प्रवृत्ति के लेखकों मे फणीश्वर नाथ रेणु नागार्जुन, बलभद्र ठाकुर, शिवप्रसाद सिंह अमृतलाल नागर, उदयशकर भट्ट, शलेश मटियानी, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि का नाम प्रमुख है। इस वग मे उपन्यासो मे भौगोलिक विशेषताओं प्रादेशिक रग, लोक सस्कृति, ग्रामीण जीवन की समस्याओ, अशिक्षित वग के अन्धविश्वासो, रूढियो, अभावो आदि की अभिव्यक्ति मार्मिकता से हुई है। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' उपन्यास के अन्तगत भी इस प्रवृत्ति को आसानी से देखा जा सकता है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक उपन्यास अनेक दृष्टियों से पूर्ववर्ती उपन्यास से अलग महत्त्व रखता है। उसमे युग के अनुरूप नवीन प्रवृत्तियो का विकास हुआ है, चिंतन के नए आयाम स्पष्ट हुए हैं और यथार्थ मानवीय सघर्षों

का निरूपण हुआ है। यह स्थिति इस बात की सूचक है कि आधुनिक उपन्यास पूर्ववर्ती उपन्यासो से पर्याप्त अलग है। उसमे मनोविज्ञान, अस्तित्ववादी चेतना, समसामयिकता तथा बहुत-सी ऐसी अन्य विशेषताएँ अभिव्यक्त हुई हैं या हो रही हैं जो उसे विकास और प्रौढता के चरम शिखरो की ओर ले जाने में सक्षम हैं। आधुनिक उपन्यास प्रवृत्तियो के धरातल पर नही शिल्प मे सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता के साथ-साथ नयी नयी प्रयोगात्मक शलियो के साथ सामने आ रहा है।

हिन्दी एकाकी का विकास-क्रम

आज हिन्दी साहित्य में एकाकी का विकास चरम सीमा पर पहुँच गया है। अनेक प्रकार के एकाकियो की रचना विभिन्न शैलियो मे हो रही है। आधुनिक हिन्दी एकाकियों को रूपक के भेदो मे वीथी और प्रहसन आदि का विकसित रूप मान सकते हैं। इसमे भी कोई सन्देह नही कि एकाकी लेखन की प्रेरणा अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क मे आने से ही भारत को प्राप्त हुई है। हिन्दी एकाकिया के विकास क्रम को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है–(1) भारतेन्दुकालीन प्राचीन ढग के एकाकी, (2) द्विवेदीकालीन अपरिपक्व एकांकी, (3) प्रसादकालीन एकाकी प्रवृत्तियाँ और (4) प्रसादोत्तरकालीन कलात्मक एकांकी।

भारतेन्दुकालीन एकाकी—भारतेन्दुजी ने एकांकी के क्षेत्र मे भी सराहनीय कार्य किया था। उन्होंने ओपेरा, व्यग्य, गीतिरूपक, नाट्य रासक, भाण आदि अनेक प्रकार के एकांकी रचे थे। उनके अनुवादित एकाकियो मे 'भारत जननी' एक सफल ओपेरा है। इसमे एक अक ही नही, एक ही दृश्य भी है। इनका धनजय विजय' कचन कवि रचित एक व्यायोग के आधार पर लिखा हुआ सुन्दर एकाकी है। भारतेन्दु जी के मौलिक एकांकियो मे प्रेमयोगिनी', भारत-दुर्दशा, नीलदवी, प्रेमजोगनी, माधुरी आदि उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु-मण्डल के अन्य प्रसिद्ध एकाकीकार और उनके एकांकी इस प्रकार हैं—

(1) लाल श्री निवासदास रचित 'प्रह्लाद चरित', (2) बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' रचित 'प्रयास रामागमन' (3) राधाचरण गोस्वामी रचित भारत मे यवन लोग' 'श्रीदामा' इत्यादि (4) बालकृष्ण भट्ट रचित 'कलिराज की सभा 'रेल का टिकट', 'बाल विवाह' (5) प्रतापनारायण मिश्र रचित 'कलिकौतुक, (6) काशीनाथ खत्री रचित 'सिंध देश की राजकुमारी', 'गुनौर की रानी इत्यादि (7) राधाकृष्ण रचित 'दुखनी बाला,' 'धर्मालाप', (8) अम्बिकादत्त व्यास रचित 'कलियुग और घी, (9) अयोध्यासिंह उपाध्याय रचित 'प्रद्युम्न विजय और (10) किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'चौपट चपेट।

एव प्रकार और भी एकांकीकारा ने विविध एकांकियो की रचना की। ये सब थे एकांकी ही, परन्तु इनमे नवीन कला विकसित नहीं हो पाई। इसलिए इन्हे प्राचीन ढग के एकांकी कहने के पक्ष मे हूँ। मैं उन विद्वानो से भी सहमत नहीं

हैं जो इन्हें एकांकी नहीं मानते। साथ ही उनसे भी मतक्य नहीं रखता जो इन्हें शुद्ध एकांकी मानने के पक्ष में हैं।

द्विवेदी युग के अपरिपक्व एकांकी—यद्यपि द्विवेदीजी ने मुख्य पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व ने रस धारा बहाने वाले नाटकों के विकास की धारा अवरुद्ध कर दी थी किन्तु मुख्य कवि लोग पाश्चात्य एकांकियों से थोड़ा बहुत प्रभावित होकर एकांकी लिखते चले जा रहे थे। डा गोविन्द त्रिगुणायत ने लिखा है कि "पाश्चात्य एकांकियों से थोड़ा प्रभावित होते हुए भी इनके एकांकियों में कला रूप का गाढ़ विकास नहीं दीख पड़ता था।" अतः इस युग के एकांकियों को मैं अपरिपक्व एकांकी कहने के पक्ष में हूँ। इस युग के प्रमुख एकांकी और एकांकीकार हैं—

(1) सुदर्शन रचित 'राजपूत की हार', 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'आनरेरी मजिस्ट्रेट'।
(2) रामनरेश त्रिपाठी रचित 'स्वप्नों के चित्र', दिमागी अय्याशी'।
(3) बदरीनाथ रचित 'लबड़ धों धों।
(4) उग्र रचित 'चार बेचारे', 'अफजल बध'।

द्विवेदी युग के एकांकियों में हम नवीन कला का बीजारोपण मिलता है। उसका विकास हम प्रसाद युग में दिखाई पड़ता है।

प्रसादयुगीन एकांकी—प्रसाद का 'एक घूँट' नवीन एकांकियों का पहला अंकुर था। डॉ जगन्नाथ ने इस एकांकी रूपक ही माना है। डॉ नगेन्द्र तो यहाँ तक कहते हैं कि "एकांकी की आधुनिक टक्नीक का इस नाटक में सफल निवाह है। मेरी अपनी धारणा है कि एक घूँट आधुनिक एकांकी के पल्लवित पादप का पहला अंकुर था, जिसमें उसकी कला के सभी लक्षण दिखलाई देते हैं। किन्तु वह था अंकुर ही पल्लव नहीं। एक घूँट के सभी अंकुर फिर दिन प्रतिदिन पल्लवित होते गये।" प्रसाद युग के प्रमुख एकांकी कलाकार और उनके एकांकी इस प्रकार हैं—

(1) असहयोग और स्वराज्य	उदयशंकर भट्ट
(2) एक ही कब्र	उदयशंकर भट्ट
(3) दुर्गा	उदयशंकर भट्ट
(4) वर निर्वाचन	उदयशंकर भट्ट
(5) श्यामा	भुवनेश्वर प्रसाद
(6) एक साधु दीन साम्यवादी	भुवनेश्वर प्रसाद
(7) सवा आठ बजे	भुवनेश्वर प्रसाद
(8) स्ट्राइक	भुवनेश्वर प्रसाद
(9) पृथ्वीराज की आँखें	डॉ रामकुमार वर्मा
(10) मेरी बाँसुरी	जगदीशचन्द्र माथुर
(11) भोर का तारा	जगदीशचन्द्र माथुर
(12) कलिंग विजय	जगदीशचन्द्र माथुर
(13) पापी	उपेन्द्रनाथ अश्क
(14) लक्ष्मी का स्वागत	उपेन्द्रनाथ अश्क
(15) अधिकार का रक्षक	उपेन्द्रनाथ अश्क

ये हुए प्रसाद युग के प्रमुख एकांकीकारों के प्रसिद्ध एकांकी नाटक। इनके अतिरिक्त और भी अनेक एकांकी एकांकीकार लिखकर साहित्य का विकास कर रहे थे।

प्रसादोत्तरकालीन एकांकी—प्रसाद के पश्चात् कुछ दिनों तक एकांकियों के विकास की गति किन्हीं राजनीतिक और सामाजिक कारणों से मन्थर पड़ने लगी, किन्तु डॉ. रामकुमार वर्मा, प. सद्गुरुशरण अवस्थी और विष्णु प्रभाकर के प्रयत्नों से उसको पुनः बल मिला। कलात्मक एकांकियों का विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इस युग के प्रसिद्ध एकांकीकार और उनके एकांकी इस प्रकार हैं—

भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र—उनकी कला का विकास प्रसाद-युग में ही हो चुका था। इन्होंने अनेक एकांकी लिखे हैं। इनका 'कारवां' नामक एकांकी संग्रह सुन्दर है। इनके एकांकी अधिकतर दो प्रकार के हैं—(1) वे जो विदेशी प्रभाव से प्रभावित हैं और (2) वे जो प्रतीकात्मक हैं। पहली कोटि के एकांकियों में 'कठपुतलियाँ' विशेष प्रसिद्ध है। दूसरी कोटि का 'तांबे के कीड़े' नामक एकांकी है। भुवनेश्वर के एकांकियों की एक विशेषता है। उन्होंने एकांकी निर्देशों की तरफ विशेष ध्यान रखा है। उनकी कला ने एकांकियों को यथाशक्ति रंगमंच के अनुकूल बनाने का प्रयास किया था।

डॉ. रामकुमार वर्मा—यद्यपि वर्माजी ने एकांकी लिखना लगभग प्रसाद युग में ही प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उनकी कला का विकास प्रसादोत्तरयुग में हुआ। मैं तो प्रसादोत्तर एकांकी काल को डा. रामकुमार वर्मा युग कहने का पक्षपाती हूँ। इसका कारण यह है कि उनकी कला ने सम्पूर्ण युग को चमत्कृत कर रखा है और अनेक एकांकीकार उनकी कला का अनुकरण करने में अपना गौरव समझते हैं। उनके एकांकियों में ही सबसे पहले एकांकी कला का चरम विकास दिखाई पड़ा, इसलिए आलोचक उनके 'बादल की मृत्यु' नामक एकांकी को हिन्दी का प्रथम एकांकी मानते हैं। मेरी भी अपनी धारणा यही है कि कलात्मक एकांकी रचना का श्रीगणेश इसी नाटक से हुआ। डा. वर्मा के एकांकी दो कोटि में बाँटे जा सकते हैं—(1) रंगमंचीय एकांकी और (2) रेडियो एकांकी।

(1) डॉ. वर्मा के रंगमंचीय एकांकियों में 'पृथ्वीराज की आँखें', 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा', 'विभूति' आदि एकांकी संग्रहों को विशेष ख्याति है। 'पृथ्वीराज की आँखें' शीर्षक संग्रहों में 'चम्पक', 'एक्ट्रेस', 'मिट्टी का रहस्य', 'बादल का रहस्य', 'दस मिनट' और 'पृथ्वीराज की आँखें' एकांकी संग्रहीत हैं। 'रेशमी टाई' में पाँच एकांकी संग्रहीत हैं। इनमें 'परीक्षा' की अच्छी ख्याति है। इसके अतिरिक्त इसमें 'रूप की बीमारी', '18 जुलाई की शाम', 'एक तोले अफीम की कीमत' और 'रेशमी टाई' नामक अन्य चार एकांकी संग्रहीत हैं। 'चारुमित्रा' में चार नाटक हैं—'चारुमित्रा' 'उत्सर्ग' 'रात और अंधकार'। 'विभूति' नामक संग्रह में शिवाजी, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि पर लिखे गये एकांकी हैं।

(2) डा. वर्मा के दूसरे नाटक रेडियो नाटक के रूप में लिखे गये हैं।

इनमें सप्तकिरण, रूपरंग, कौमुदी महोत्सव और रजत रश्मि नामक एकांकी संग्रहों को विशेष ख्याति प्राप्त है।

डॉ॰ गोविन्द त्रिगुणायत ने लिखा है कि कला की "दृष्टि से डॉ॰ रामकुमार वर्मा के एकांकी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ नाटक कहे जायेंगे। उनमें भावगत एवं कथागत रमणीयता के साथ साथ रंगमंचीय सफलता और वैधानिक पूर्णता भी मिलती है जो किसी भी नाटककार को नाटक क्षेत्र मे सर्वोच्च स्थान सरलता से दिला सकती है। निश्चय ही वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ एकांकी लेखक हैं।"

सेठ गोविन्ददास—इनके कई एकांकी संग्रह प्रसिद्ध हैं जैसे 'स्पर्द्धा, एकादशी' 'पंचभूत', 'अष्टदल' आदि है। इनमें लगभग 40 एकांकी संग्रहीत है। आपके एकांकी राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयों पर है। उनके एकांकियों में रंजन तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। कला की दृष्टि से वे रामकुमार वर्मा की बराबरी नहीं कर सकते हैं।

उदयशंकर भट्ट—इनके अभिनय एकांकियो मे स्त्री का हृदय, समस्या का अन्त कालिदास धूमशिखा नामक एकांकी संग्रह बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें कालिदास के एकांकियों को डा॰ सत्येन्द्र ने एकांकी मानने से इन्कार कर दिया है। इसका कारण यह है कि उनके एकांकियो में गीतमयता की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त इनके नाटक विस्तार की दृष्टि से एकांकी की सीमा का अतिक्रमण कर जाते है। मैं इन्हे एकांकियों का नया प्रयोग मानता हूँ जिनमें भट्टजी को सफलता नही मिली। भट्टजी प्रगतिवादी नाटककार है। वैधानिक दृष्टि से उनके एकांकी बहुत सफल एकांकी है। मैं डा॰ नगेन्द्र के इस कथन से पूर्णतः सहमत हूँ, 'भट्टजी के एकांकी टेकनीक की दृष्टि से उनके बड़े गद्य नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल हैं। उनकी इन छोटी सी रचनाओं में कथा संकोच एवं एकाग्रता के कारण का विकास कम और नाटकीय संवेदना का स्पंदन अधिक स्पष्ट हो गया है।"

उपेन्द्रनाथ अश्क—आधुनिक एकांकीकारों में अश्कजी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने एकांकी क्षेत्र में ठोस यथार्थवाद को अवतरित करने का प्रयास किया है। इन्होंने अनेक एकांकियों की रचना की है। इनके कुछ प्रसिद्ध एकांकी इस प्रकार है—पापी लक्ष्मी का स्वागत अंधी गली पहेली, अधिकार का रक्षक विवाह के दिन तूफान से पहले, चरवाहे, चिलमन, खिड़की, मुन्ना चमत्कार, देवताओं की छाया में सूखी डाली पर्दा, आदिम मार्ग आदि आदि। ये एकांकी अधिकतर तीन कोटि के है—सामाजिक, सांकेतिक और मनोवैज्ञानिक। अश्कजी ने एकांकी के क्षेत्र मे दो नयी देनें दी हैं—यथार्थवादिता और अभिनेयता। ये दो गुण इस नाटककार में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गए है। इन दोनों दृष्टियों में कोई दूसरा लेखक उनके एकांकी की बराबरी नहीं कर सकता।

विष्णु प्रभाकर—डॉ॰ गोविन्द त्रिगुणायत का मत है कि जितने एकांकी इन्होंने लिखे हैं उतने किसी दूसरे एकांकीकार ने नहीं लिखे है। उनके नाटक सामाजिक, राजनीतिक सांस्कृतिक आदि विविध विषयों पर है। उनके एकांकी

सही मानी म अपन युग की मस्कृति क प्रतिनिधि है। उनकी कला और अभिव्यक्ति रेडियो टेकनीक की आश्रित अधिक है।

रामवृक्ष बेनीपुरी—आपक लिखे हुए 'अमर ज्योति', 'नया समाज', 'नेत्र दान', 'सघमित्रा', 'सिंघल विजय', 'सीता की माँ' शीर्षक एकांकी सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके एकांकी अधिकतर सामाजिक कोटि के हैं। इनमे वातावरण निर्माण और चरित्र निर्माण को विशेष महत्व दिया गया है। आपके लिखे हुए दो एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। उनके नाम क्रमश हैं कवि और 'सृष्टि की साँझ' और अन्य काव्य नाटक है। इनकी कला का स्वरूप धीरे धीरे निखर रहा है। इनम मानसिकता कम और भावुकता अधिक है।

सुमित्रानन्दन पन्त—सुकुमार कवि पन्त ने कई एकांकी लिखे हैं। व ज्योत्सना, रजत शिखर, शिल्पी नाम से प्रकाशित हुए हैं। इनमे से कुछ तो गीति नाट्य हैं और कुछ एकांकी की सीमा म आते हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री—इनके भी कई एकांकी सग्रह प्रकाशित हो चुके है। उनमे अष्टमगल, गांडीव-दाह, शमा, राधा कृष्ण, स्त्रियो का ओज, सीताराम आदि सग्रह विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके एकांकी अधिकतर पौराणिक कोटि के है। इनमे चरित्र-चित्रण का ही महत्व दिया गया है। इनकी आदर्शप्रियता और काव्यात्मकता इनके एकांकियो म झाँका करती है।

जगदीश चन्द्र माथुर—इनके रेडियो एकांकी अधिक प्रसिद्ध हैं। रेडियो रूपको की कला मे प्राण फूकने का श्रेय इन्ही का दिया जाता है। इन्होने कुछ साम एकांकी भी लिखे हैं। इनमे 'भोर का तारा' शीर्षक सग्रह अधिक प्रसिद्ध है।

सद्गुरुशरण अवस्थी—श्रीयुत अवस्थी जी एकांकी नाटक बहुत पहले स लिखते आ रहे हैं। आपने दो प्रकार के एकांकी लिखे है—एक प्रतीकात्मक और दूसरे पौराणिक। प्रतीकात्मक एकांकियो मे 'मुद्रिका' का विशेष महत्व है। इसके पात्र ही इसकी प्रतीकात्मकता के द्योतक हैं। पात्रो के नाम हैं—शकुक, आकार, साहु, ईशमूल, योगिराज आदि आदि। पौराणिक एकांकियो मे अहिल्या शम्बूक, एकलव्य, महाभिनिष्क्रमण विशेष प्रसिद्ध हैं। अवस्थी जी के नाटको म मानव चिंतन को सुलझाने की सामग्री अधिक है। उनके नाटक प्रसाद के ढग के साहित्यिक अधिक है, अभिनेय कम। साहित्यिकता और गम्भीरता की दृष्टि मे इनका स्थान अत्यन्त उच्च है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र—अवस्थीजी के सदृश मिश्रजी ने भी बहुत एकांकी लिखे हैं। उनके एकांकियो मे 'एक दिन', 'कावेरी मे', कमल नारी का रग' और 'स्वर्ग मे विप्लव' प्रसिद्ध हैं। इन्होने भारतीय सस्कृति से लेकर आधुनिक समस्याओ तक को अपने एकांकियो का विषय बनाया है। समस्या एकांकीकारो मे आपका स्थान बहुत प्रतिष्ठित है। इनके नाटको म भी हमे चिन्तन को उकसाने वाली सामग्री बहुत अधिक मात्रा मे मिलती है।

हरिकृष्ण प्रेमी—आपने नाटकों के साथ साथ कई एकांकी भी लिखे हैं। ये एकांकी 'बादलों के पार', 'मन्दिर', 'स्वर्ण विहान' आदि शीर्षकों से प्रकाशित हो चुके हैं। इनके एकांकी अधिकतर इनके नाटकों के समान सामाजिक और पौराणिक हैं। इनमें आदर्शवाद की अच्छी झाँकी दिखलाई देती है।

रामनरेश त्रिपाठी—पथिक और मिलन से यशस्वी लेखक त्रिपाठी जी ने कुछ एकांकी भी लिखे हैं। लेखक के ये एकांकी 'बापू' और 'बा' शीर्षकों में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रधान है।

वृन्दावनलाल वर्मा—युग के श्रेष्ठ उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा एक सफल एकांकीकार भी हैं। उनके अब तक चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'जहाँदारशाह', 'पीलगाँव', 'लगुन' और 'ना भाई पचा ना'।

भगवतीचरण वर्मा—हिन्दी के सिद्धहस्त कवि और उपन्यासकार वर्माजी एकांकी लिखने में भी सफल हुए हैं। उनके 'बुझता दीपक' और 'त्रिपथगा' शीर्षक संग्रहों की अच्छी ख्याति है।

डा० सुधीन्द्र—डॉ० सुधीन्द्र हिन्दी के उदयमान कलाकार थे। बेचारे को अकाल में ही कराल काल ने कवलित कर लिया। उन्होंने कई एकांकी लिखे थे जो दो संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं। उनके नाम हैं 'राम रहमान' और 'संगम'।

अज्ञेय—प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय कवि, उपन्यासकार, नाटककार सभी कुछ हैं। उनका 'जय एकांकी' नाम से एक एकांकी संग्रह प्रकाशित हुआ है। आपने एकांकी के क्षेत्र में नवीन प्रयोग करने की चेष्टा की है। उनका जो रूप हमें दिखाई देता है वह सर्वथा नवीन है।

नए एकांकी लेखक—इनके अतिरिक्त हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में कुछ और कलाकारों ने अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैलाने का प्रयास किया है। इनमें लक्ष्मीनारायण लाल, सत्येन्द्र शरत, विश्वम्भर मानव, विनोद रस्तोगी, अरुण, विमला लूथरा, सत्येन्द्र, एस० पी० खत्री, केदारनाथ मिश्र, जयनाथ नलिन, हंसकुमार तिवारी आदि के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

एकांकी नाटक लघुकाय होते हैं एवं नवीन विधा होने के कारण ये वर्तमान युग में अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं। प्रभाव और लक्ष्य की दृष्टि से भी एकांकी नाटक अतिशय महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। नए युग के परिप्रेक्ष्य में एकांकी नाटक न केवल अपनी नई शैली, बल्कि नए टक्नीक के लिए भी पर्याप्त आकर्षक बन पड़े हैं। रंगमंच की दृष्टि से एकांकी सफल है। आज का युग विज्ञान का युग है, जहाँ मनुष्य मनोरंजन के लिए अधिक समय नहीं निकाल पाता है। एकांकी नाटक ने इस विज्ञान युग को पर्याप्त सुविधा दी है। नये एकांकीकारों में धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायणलाल, आरसीप्रसादसिंह, गिरिजा कुमार माथुर, सिद्धनाथ कुमार, आदि के नाम कीर्तनीय हैं।

आज के एकांकियों में हम कथा-तत्त्व, रूप विधान, भावाभिव्यंजना, शैली और अभिनय कला का विकास देखते हैं। उसके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि

वह कहाँ तक भारतेन्दुकालीन एकांकी नाट्य कला का विकसित रूप है और कहाँ तक पश्चिम के नाटककार बर्नार्ड शॉ, इब्सन आदि के प्रभाव का परिणाम है। आज ऐतिहासिक सामाजिक पौराणिक, काल्पनिक आदि कई प्रकार के कथानक को लेकर सुन्दर एकांकी लिखे जा रहे हैं अतः हम कह सकते हैं कि हमारे आज के एकांकियों की कथावस्तु में हरिश्चन्द्र कालीन परम्परा का विकसित रूप देखा जा सकता है और अभिनीत कला तो सर्वथा हमारी ही है पर भावाभिव्यंजना और शैली पर हम स्पष्ट रूप से पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव देखते हैं। अब कुछ एकांकी तो पूर्णरूपेण पाश्चात्य नाटककारों के अनुकरण पर ही लिखे जा रहे हैं और पाश्चात्य स्वरूप द्रुत गति से बढ़ता जा रहा है।

हिन्दी आलोचना का क्रमिक विकास

हिन्दी आलोचना का जन्म भी भारतेन्दु युग में ही हुआ। प्रारम्भ में पुस्तकों पर विचारात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं, जैसे आनन्द कादम्बिनी में लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा और उसी में बंगविजेता की समीक्षा। एक प्रकार से इन समीक्षाओं में हिन्दी आलोचना जन्म ले रही थी, जिसका विकास आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हुआ। इधर आधुनिक युग में आकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र का नाम हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आदर से लिया जाता है। नयी-नयी भावनाओं, विचारों और पाश्चात्य दृष्टिकोण के प्रभाव में इधर नवीन समीक्षा पद्धतियों का विकास भी होने लगा। इस प्रकार भारतेन्दु से लेकर अब तक की हिन्दी आलोचना को सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में रखकर अध्ययन किया जा सकता है—

(1) भारतेन्दु कालीन हिन्दी आलोचना

(2) द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना,

(3) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनकी समसामयिक हिन्दी आलोचना,

(4) आधुनिक शुक्लोत्तरकालीन आलोचना।

भारतेन्दुकालीन हिन्दी आलोचना—भारतेन्दु युग को हिन्दी आलोचना का प्रारम्भिक काल या निर्माण काल कहा जाता है। जैसे पहले कहा जा चुका है यह युग गद्य के निर्माण का युग था और इसमें आलोचना की सूक्ष्मता की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। आलोचना यहाँ परिचयात्मक थी, समीक्षात्मक नहीं। इस युग में आनन्द-कादम्बिनी में समय समय पर अच्छी समीक्षाएँ प्रकाशित हुई, जिनमें 'संयोगिता स्वयंवर' 'बंग विजेता' आदि की आलोचनाएँ महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। कुछ अंशों तक कवि शिक्षा के रूप में भी आलोचना हो रही थी और आलोचक कवि के लिए एक उपदेशक का काम कर रहा था। बदरीनारायण चौधरी का नाम इस युग में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी बंग विजेता की समीक्षा गुण और परिष्कृत तथा सुसंयत बन पड़ी है।

इस युग में कवियों के आलोचनात्मक परिचय भी प्रकाशित हुए। आलोचना में यह परिचय प्रवृत्ति और उपदेशात्मकता—ये दो विशेषताएँ इस युग में सबसे

अधिक देखने को मिलती हैं। दूसरी बात यह है कि इस युग में जो भी आलोचनाएँ हुई, वे पत्र-पत्रिकाओं में फुटकर लेखों के रूप में हुई पुस्तकों के रूप में नहीं। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि आलोचकों का ध्यान विषय वस्तु पर ही विशेष रूप से था। कवि के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना इस युग के आलोचकों का लक्ष्य नहीं था।

द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व एक आचार्य का व्यक्तित्व था। उन्होंने सुधारवादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की और विषय तथा कवि के व्यक्तित्व पर समान रूप से ध्यान दिया। द्विवेदी जी केवल एक व्यक्ति नहीं अपितु अपने में एक युग थे। उनसे पूर्व हिन्दी गद्य साहित्य अपना कोई निश्चित स्वरूप स्थिर नहीं कर सका था। सबसे पहले द्विवेदी जी ने ही प्रौढ़ रचना शैली और आलोचना-पद्धति का परिचय दिया। द्विवेदीजी का व्यक्तित्व दो प्रकार का था—एक उनका अपना साहित्यिक व्यक्तित्व, दूसरा उनका अमिट प्रभाव, जिससे न जाने कितने नए आलोचकों ने जन्म लिया।

आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदीजी ने हिन्दी 'कालिदास' की समालोचना सैद्धान्तिक समालोचना, कालिदास की निरंकुशता, रसज्ञ-रंजन, कालिदास और उनकी कविता, सुकवि संकीर्तन, साहित्य सन्दर्भ, साहित्य सीकर, आलोचनांजलि समालोचना समुच्चय तथा लेखांजलि आदि रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने इन रचनाओं में एक ओर सैद्धान्तिक विवेचन का मार्ग प्रस्तुत किया, दूसरी ओर व्याख्यात्मक आलोचना का विकास किया। द्विवेदीजी की आलोचना पद्धति में परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों के साथ नवीनता का भी समावेश है। आलोचना में वे लेखक के दृष्टिकोण को महत्त्व देते हैं और कृति में विषय की नवीनता की आवश्यकता बताते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य या साहित्य का बाह्य रूप अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। द्विवेदी युग के आलोचकों में पं॰ बालकृष्ण भट्ट, मिश्र बन्धुओं तथा पं॰ पद्मसिंह शर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

शुक्लयुगीन आलोचना—जिस प्रकार हिन्दी आलोचना के निर्माण में आचार्य पं॰ महावीर प्रसाद द्विवेदी का एक युग है, उसी प्रकार हिन्दी आलोचना के सम्पूर्ण विकास और उत्कर्ष में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक युग का निर्माण करते हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल में ही सर्वग्राही मौलिक प्रतिभा और प्रौढ़तया सन्तुलित तथा पूर्णत: परिष्कृत आलोचना पद्धति के दर्शन होते हैं। वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचकों की श्रेणी में आते हैं और आज भी उनके आलोचना सिद्धान्तों और आलोचनात्मक निष्कर्षों का उतना ही मूल्य और महत्त्व है जितना उनके सृजन के समय था। आचार्य शुक्ल ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं का आदर्श रूप प्रस्तुत किया। वे भारतीय परम्परा और रसवाद के समर्थक थे और काव्य में लोकहित के समावेश या लोक कल्याण की भावना पर विशेष बल देते थे। इसीलिए तुलसी उनके आदर्श थे। उनमें भारतीय समीक्षा पद्धति के साथ ही पाश्चात्य समीक्षा पद्धति का भी सुन्दर सामंजस्य देखने को मिलता है।

गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, काव्य मे रहस्यवाद, काव्य और अभिव्यंजनावाद, चिंतामणि के आलोचनात्मक निबंध, रस मीमांसा और हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास कवियो के परिचयात्मक विवरण के साथ साथ उन पर आलोचनात्मक टिप्पणियो का सुन्दर भण्डार है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समसामयिक आलोचको मे डॉ श्यामसुन्दरदास का नाम उल्लेखनीय है।

शुक्लोत्तर युग और आलोचना—शुक्लोत्तर युग की हिन्दी समीक्षा की दो मुख्य पद्धतियाँ शुक्लजी द्वारा स्थापित व्याख्यात्मक समीक्षा पद्धति और मार्क्सवादी या प्रगतिवादी पद्धतियाँ हैं। इन दो मुख्य प्रवृत्तियो के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक समीक्षा का भी विकास हुआ, यद्यपि उसका विकास अल्पकालीन रहा। स्वतन्त्रता के बाद नई समीक्षा का विकास हुआ है। स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी मे शोधकार्य का विकास भी बहुत बडी मात्रा मे हुआ है। शुक्लजी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओ के द्वारा जिस समीक्षा-पद्धति का विकास किया था, वह समीक्षा पद्धति आज विश्वविद्यालयो की मान्य समीक्षा पद्धति हो गई है। हिन्दी के अधिकांश प्राध्यापक तथा शास्त्रीय विद्वान् इस समीक्षा का प्रयोग करते हैं। शुक्लजी के बाद श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आदि ने इसी समीक्षा पद्धति को अपनाया है। इस पद्धति का आधार रस सिद्धान्त है। इसके मूल्यांकन पर शास्त्रीय मान्यताओ का भी गहरा प्रभाव रहता है। हिन्दी मे शोध कार्य के लिए भी प्राय इसी सिद्धान्त का सहारा लिया जाता है।

इधर हिन्दी मे इतनी विभिन्न आलोचना-पद्धतियो का विकास हुआ है कि उनकी दृष्टि से संक्षिप्त विवेचना करना ही यहाँ अधिक उपयुक्त होगा। इनमे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रसवादी समीक्षा पद्धति का पालन आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बडी सुन्दरता से किया है। अन्य नवीन पद्धतियो मे दो की चर्चा की जानी आवश्यक है—एक प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति, दूसरी मनोविश्लेषणवादी समीक्षा पद्धति।

प्रगतिवादी आलोचना पद्धति मार्क्स के सिद्धान्तो से प्रभावित है और जनवादी भावनाओ को महत्त्व देती है। प्रगतिवादी आलोचना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-वैषम्य के आधार पर साहित्यकार के जीवन और साहित्य की क्रियात्मकता और गतिशीलता को उभारना चाहती है और उसी दिशा मे प्रयत्नशील होती है। प्रगतिवादी आलोचको में डॉ रामविलास शर्मा शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि के नाम प्रमुख हैं। मनोविश्लेषणवादी समीक्षा पद्धति रचना के पात्रो की मनःस्थितियो एव अन्तःप्रेरणाओ का मनोविश्लेषण करती है। इसमे रचना प्रक्रिया के नैतिक दृष्टिकोण पर भी विचार किया गया है। इस समीक्षा पद्धति के आलोचको मे श्री इलाचन्द्र जोशी का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी आलोचना की परम्परावादी प्राचीन धारा में बाबू गुलाबराय का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होने

सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप, नवरस आदि सैद्धान्तिक आलोचना की अच्छी पुस्तकें लिखी हैं।

आज की हिन्दी आलोचना मे ऊपर विवेचित इन विभिन्न प्रवृत्तियों का समावेश मिलता है। पुस्तकीय समालोचना का इधर विशेष विकास हुआ है। दूसरी ओर शोध और अनुसधानकर्त्ताओ ने आलोचना में अनुसधान की प्रवृत्तियो का अन्तर्भाव भी किया है। इतना अवश्य कहना होगा कि आज बहुत सी आलोचना पुस्तकें या तो पिष्ट पेषण हैं या साहित्यिक चारी। मौलिकता की ओर कम दृष्टि दिखाई दे रही है। विशेषकर अनुसधान के रूप में जो आलोचना आ रही है, वह विषय और अभिव्यक्ति दोनो की दृष्टि से हिन्दी का गौरव नही बन पा रही है। हाँ, आलोचना पुस्तकों की सख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हो रही है।

आधुनिक हिन्दी आलोचना को रामचन्द्र शुक्ल की देन—हिन्दी आलोचना और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल दोनो एक दूसरे के पर्याय हैं। आज जब शुक्लजी नही रहे, तब भी जब कभी हिन्दी आलोचना का जिक्र होता है तो आचार्य शुक्ल का नाम अवश्य लिया जाता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी आलोचना को न केवल चलना सिखाया, अपितु उसे प्रौढ़ता और परिष्कार के शिखरो तक ले जाने का काम भी किया। इसी से शुक्ल के युग मे और शुक्लोत्तर युग में आचार्य शुक्ल का नाम बराबर लिया जाता है। शुक्लजी की हिन्दी आलोचना को देन अभूतपूर्व है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी समीक्षा मे अवतरण एक अभूतपूर्व एव ऐतिहासिक घटना थी। शुक्लजी से पूर्व हिन्दी समीक्षको के सामने न तो कोई आदर्श था और न कोई ठोस सिद्धान्त ही थे। शुक्लजी ने हिन्दी समीक्षा को सुनिश्चित मानदण्ड दिए और एक विकसित आलोचना पद्धति प्रदान की। उन्होंने साहित्य का सूक्ष्म शक्ति व भावो के उद्वेलन की शक्ति की समीक्षा की कसौटी पर रखा। उन्होंने सामाजिकता को भी साहित्य का एक तत्त्व माना और काव्य मे लोकमगल की भावना की स्थापना की। उन्होंने काव्य के भावपक्ष और कला पक्ष दोनो पर समान रूप से विचार किया।

रामचन्द्र शुक्ल न ही 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्तो का अपूर्व सामजस्य प्रस्तुत किया। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने अपनी लोकमगलवादी और रसवादी जीवन दृष्टि को अपनाया और सन्तुलित मान मूल्यो की स्थापना की। शुक्लजी ही प्रथम आलोचक थे जिन्होंने पहले पहल कवियो की आन्तरिक विशेषताओ पर प्रकाश डाला और पहली बार प्राचीन रस-पद्धति और पाश्चात्य समालोचना पद्धति का समन्वय किया। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "शुक्लजी ने रस और अलकार शास्त्र को नई मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हे उच्च मानसिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया।" दूसरे शब्दों मे शुक्लजी ने समीक्षा के भारतीय सचि को बने रहने दिया। उन्होंने उच्चतर जीवन मूल्यो को जीवन-सौन्दर्य का पर्याय बनाकर रस अलकार पद्धति का व्यवहार किया। जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक आलोचना का प्रश्न है, उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे

उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्य की व्याख्या में असाधारण अलकार का विन्यास करके रस पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया। हिंदी आलोचना में आचार्य शुक्ल का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं—

(1) शुक्लजी ने प्रणेता की व्यक्तिगत मन स्थिति और युग की निर्माणकारी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर आलोचना की। इसी से शुक्लजी युग प्रवर्तक आलोचक कहलाए।

(2) आचार्य शुक्ल ने हिंदी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

(3) व्यावहारिक समीक्षा के साथ साथ सिद्धान्त प्रतिपादन का कार्य भी आचार्य शुक्ल ने ही किया।

(4) गवेषणात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना को बढ़ावा देकर हिन्दी साहित्य का इतिहास भी शुक्ल जी ने ही लिखा।

(5) व्यापक समीक्षादर्श का निरूपण आचार्य शुक्ल ही कर सके। अत उनका स्थान सर्वोच्च है।

(6) आचार्य शुक्ल ने प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का समन्वय करके अपनी गूढ प्रतिभा के सहारे हिन्दी समालोचना का पथ प्रशस्त किया।

(7) आचार्य शुक्लजी की समीक्षा पद्धति में भाव-पक्ष और कला पक्ष की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना की प्रवृत्ति, कवि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों की व्याख्या करने की प्रवृत्ति, निर्णय प्रवृत्ति, तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचना क्षमता के साथ साथ हृदय और बुद्धि का समान योग दिखाई देता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का योगदान— हिंदी आलोचना को आचार्य शुक्लजी की भाँति ही हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का भी विशेष योगदान प्राप्त हुआ। वास्तव में द्विवेदीजी दूसरे आलोचक हैं जिनकी आलोचनात्मक उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण और सग्रहणीय हैं। द्विवेदीजी ने अपनी पहली पुस्तक में ही आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति को प्रतिष्ठित कर दिया था। द्विवेदीजी में बोध और पाण्डित्य का अद्भुत सम्मिश्रण है। नवीन मानवतावाद और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण उनका पाण्डित्य लचीला और बोध आधुनिक बन जाता है। हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के सम्बन्ध में डॉ. बच्चनसिंह की यह उक्ति महत्त्व रखती है—

"द्विवेदीजी भी मुख्यत शुक्ल सस्थान के ही आलोचक हैं फिर भी वे अपने मानवतावादी दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक पद्धति के कारण शुक्लजी से अलग हो जाते हैं। द्विवेदीजी से पहले मनुष्य की महिमा और मानवीय मूल्यों में इतनी गहन आस्था किसी आलोचक ने व्यक्त नहीं की। आचार्य शुक्ल भी मनुष्य के उदात्त भावों के प्रति आस्थावान रहे हैं किन्तु उनकी आस्थाएँ वर्णाश्रम धर्म की चौहद्दी में बहुत कुछ सीमित थी।' 'वस्तुत उनका ठीक ठीक मूल्यांकन व्यावहारिक ब्रिटिकन

आइडियाज हैं, उनका महत्त्व साहित्य के मूल्यों के बदलने तथा उन्हें नवीन मानवतावादी मूल्यों से जोड़ने में है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का पुनर्मूल्यांकन करना कबीर के विवेचन में परम्परा मुक्त काव्य सम्बन्धी स्थिर मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाना बिहारी की रीतिबद्धता या रीतिसिद्धता सिद्ध करना आदि उपलब्धियाँ हैं जो उन्हें उन समीक्षकों की कोटि में रखती हैं जो समय-समय पर युगानुरूप नए मूल्यांकन पर जोर देते हैं।"

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी नई उदार और वैज्ञानिक दृष्टि लेकर अवतीर्ण हुए हैं। वास्तव में हिन्दी समीक्षा को उनकी सबसे बड़ी देन ही उदारता, सहिष्णुता और वैज्ञानिकता से परिपूर्ण ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि है। द्विवेदीजी के पूर्व यही मानवतावादी नवीनता और उदारता हम पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल में देखने को मिली थी किन्तु उनके पास वह मानवतावादी और उदार प्रवृत्ति नहीं थी जो परम्परा और शास्त्र की विवेचना और निष्कर्षों को वर्तमान जीवन में सयोजित करती और इस प्रकार आलोचक को साहित्य का ही नहीं मानव जीवन का भी पथ प्रदर्शक बनाता है। द्विवेदीजी ने अपने विशाल भारतीय वाङ्मय के अध्ययन मनन, वर्तमान विश्व समाज की समस्याओं और प्रश्नों के चिन्तन मनन तथा शान्तिनिकेतन के वातावरण और रवि बाबू तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन जैसे मनीषियों के सम्पर्क से निर्मित व्यापक दृष्टिकोण से साहित्य की परीक्षा की। हिन्दी समीक्षा को यही उनकी देन है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के इतिहास का निर्माण किया था पर वे उसकी भूमिका की उपेक्षा कर गए थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा किया है। उनकी सभी समीक्षा कृतियाँ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' 'नाथ सम्प्रदाय' 'मध्यकालीन धर्म साधना', 'सूर साहित्य' आदि में उनकी यही देन देखने को मिलती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा पद्धति को और अधिक स्पष्टता और गहराई से समझने के लिए हमें उनके महत्त्वपूर्ण तत्त्वों, उपादानों और विशेषताओं पर विचार करना चाहिए। ये तत्त्व, उपादान या विशेषताएँ इस प्रकार विवेचित की जा सकती हैं—

(1) नई उदार और तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टि—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी साहित्य को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने हिन्दी समीक्षा को एक नई उदार तटस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि दी। आचार्य शुक्ल की सीमा यह थी कि वे अपने वैष्णव संस्कारों और दार्शनिक विचारधारा तथा लोकमंगलवादी और रसवादी साहित्य दृष्टि के कारण विभिन्न कवियों के मूल्यांकन में तटस्थता नहीं बरत सके थे।

(2) मानवतावाद—द्विवेदी जी के मानवतावादी जीवन-दृष्टिकोण उनके समीक्षा साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सर्वत्र अभिव्यक्त हुए हैं। वे साहित्य को सामान्य जनता के जीवन से विच्छिन्न कोई अलग वस्तु नहीं मानते। मनुष्य

को जीवन के केन्द्र म प्रतिष्ठित करके ही उन्होंने समूचे साहित्य को देखने का प्रयत्न किया।

(3) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की महत्ता—साहित्य के अध्ययन म सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को द्विवेदी जी ने विशेष महत्त्वपूर्ण स्थल दिया है। उनकी समीक्षा पद्धति साहित्य को अपने आप म स्वतन्त्र मानकर नही चलती, उसे संस्कृति की जीवनधारा का एक महत्त्वपूर्ण अग मानकर चलती है।

(4) ऐतिहासिक व्याख्या—द्विवेदी जी का दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। उनके अनुसार हिन्दी साहित्य के अध्येता के लिए उन तमाम स्रोतों का अध्ययन करना आवश्यक है जिनके द्वारा पिछले हजार वर्षों मे हिन्दी भाषा भाषी जनता की चेतना का निर्माण और विकास हुआ। द्विवेदी जी ने अपने विशाल अध्ययन के द्वारा यह काय सुगम कर दिया है।

(5) इतिहास के सम्बन्ध मे सन्तुलित सत्यान्वेषी दृष्टि—द्विवेदी जी ने जो कुछ लिखा है, उसे ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आधार पर प्रमाणो और उदाहरणो से पुष्ट किया है और इस काय मे उनकी दृष्टि सर्वत्र सन्तुलित और सत्यान्वेषी है।

(6) गवेषणात्मक अनुसन्धान की प्रमुखता—द्विवेदी जी की समीक्षा पद्धति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है गवेषणात्मकता या अनुसन्धान की प्रमुखता। हिन्दी साहित्य के आदिकाल और मध्यकाल के मूल्यांकन मे उन्होंने ऐसी अनेक विचार धाराओ और कवियो की विशेषताओ का उद्घाटन किया है।

(7) ज्ञान विज्ञान के विविध स्वरूपो का समीक्षा मे उपयोग—द्विवेदी जी ने अपनी समीक्षाओ मे ज्ञान विज्ञान के विविध स्वरूपो का उपयोग किया है। 'साहित्य का मम' जसे विशुद्ध आलोचनात्मक लेखो म भी उन्होंने ज्ञान विज्ञान के विविध स्वरूपो के उद्घाटन के माध्यम से अपनी बातें कही हैं।

(8) सामजस्यपूर्ण और सहिष्णु क्रान्तिकारी विचारधारा—द्विवेदी जी की सामाजिक चेतना विद्रोह और आक्रोश पर आधारित है पर यह विद्रोह मानव मात्र का सहज विद्रोह है। उनकी विचारधारा इसीलिए क्रान्तिकारी होते हुए भी उदार, सहिष्णु और सामजस्यपूर्ण है।

(9) लोकमगल और उपयोगितावाद—मानवतावादी सिद्धान्त लोकमगल और उपयोगितावाद पर ही आधारित है। द्विवेदी जी ने साहित्य म लोकमगल की भावना को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वे कहते है—'साहित्य लोकमगल का विधायक है।"

गद्य की विविध विधाएँ

मानव जीवन के निर्माण मे रागात्मक प्रवृत्ति निरन्तर काय करती रही है। जब अन्य प्राणियो की अपेक्षा मानव ने शीघ्रता से अपना विकास किया तो उसमें संवेदनशीलता की प्रतिष्ठा हुई। प्रारम्भ की रागात्मकता वृत्ति जब मनोरागो। ।

से संयुक्त हुई, तो मानवता में हृदय तत्त्व की प्रधानता हो गई। शताब्दियों से मानव इसी हृदय पक्ष से अनुशासित होता रहा और आत्मरक्षा के साथ ही साथ अपने वंश की वृद्धि लौकिक जीवन की सुविधाओं में खोजता रहा है। भाषा विज्ञान के इतिहास से ज्ञात होता है कि आरम्भ में सम्भवतः यह भाषा केवल अनुभावों में सीमित रही और मनुष्य ने अपनी इच्छाओं का प्रदर्शन केवल अंग संचालन अथवा संकेतों, ध्वनियों अथवा प्रतीकों के द्वारा किया। धीरे धीरे प्राकृतिक वस्तुओं की ध्वनियों का अनुकरण उसके अनन्तर उन ध्वनियों के आधार पर शब्द धातुओं का निर्धारण, तदनन्तर छन्द और क्रियाओं के निर्माण से भाषा का स्वरूप निर्धारित हुआ। यही भाषा आगे चलकर समाज में मनुष्य के विनिमय और आत्मप्रदर्शन का साधन बनी। धीरे धीरे कार्यों का विस्तार, उनकी व्यवस्था तथा श्रम विस्तार में भाषा और उसके अन्तर्गत गद्य का स्वरूप निश्चित होता गया।

इस प्रकार गद्य के विकास की कड़ियों में मानव की संवेदना, आत्माभिव्यक्ति, समाज की कल्पना, पारस्परिक विचार विनिमय और उसके अन्तर्गत हृदयगत भावों की व्याख्या और श्रम विस्तार का स्थान, यही हमारे समस्त गद्य के निर्माण की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर गद्य का साहित्य में पदार्पण हुआ और व्यावहारिकता के विकास ने उसे समाज के लिए आवश्यक बना दिया। पद्य उद्गारों की मौलिक भाषा है। जहाँ तक एकांगिता का सम्बन्ध है, पद्य उपयुक्त रहता है। परिस्थितियों की विभिन्नता से प्रवृत्तियाँ बदलती रहती हैं और समाज सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य जीवन जटिल और संघर्षमय हो जाता है। जहाँ पद पद पर संघर्ष होता है, संघर्षमय जीवन के चिन्तन और तर्क की प्रवृत्ति बढ़ती है और सामाजिकता के विकास के साथ बोलचाल की भाषा शक्ति ग्रहण करती है और गद्य व्यवहार के लिए स्वाभाविक भाषा का रूप ले लेता है। आधुनिक काल के जटिल और संघर्षमय जीवन, लौकिक चिन्तन, तर्क तथा सामाजिकता के प्राधान्य के साथ कल्याण के मनोभाव ने भी गद्य-साहित्य को महत्त्व दिया।

आधुनिक गद्य पर्याप्त विकसित है। आज अनेक विधाएँ सामने आ गई हैं। प्रमुख गद्य विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र रिपोर्ताज, जीवनी, आत्मकथा, इन्टरव्यू डायरी, पत्र-लेखन, फीचर, गीति नाट्य भाव-नाट्य और यात्रा-साहित्य आदि का नाम लिया जा सकता है। इन सभी गद्य विधाओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

संस्मरण

हिन्दी गद्य में निबन्ध की भाँति ही संस्मरण का भी विशेष प्रचलन हो रहा है। किसी व्यक्ति के जीवन की चारित्रिक विशेषताओं को व्यक्त करने के लिए अपने वैयक्तिक सम्पर्क के आधार पर जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है, वही संस्मरण कहलाता है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने लिखा है कि "भावुक कलाकार जब अतीत की अनन्त स्मृतियों में से कुछ रमणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल

कल्पना से अनुरंजित कर व्यंजनामूलक संकेत शैली मे अपने व्यक्तित्व की विशेषताओ को विशिष्ट बनाकर रोचक ढग से यथार्थ रूप मे प्रस्तुत करता है, तब उसे संस्मरण कहते हैं।" डॉ विश्वनाथप्रसाद तिवारी के अनुसार "संस्मरणो मे लेखक का अनुभूत जीवन विविध सन्दर्भों मे उद्घाटित होता है। वे आत्मीयता से युक्त होते हैं। वास्तविक जीवन मे घटित होने पर ही कोई घटना संस्मरण का रूप ले सकती है।" साहित्य कोष भाग एक मे संस्मरण के सम्बन्ध मे ये विचार प्रकट किए गए हैं—"संस्मरण मे लेखक अपने समय के इतिहास को लिखना चाहता है। वह जो भी स्वय देखता है, जिसका वह स्वय अनुभव करता है उसी का वर्णन करता है। उसके वर्णन मे उसकी अपनी अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ भी रहती हैं। वह वास्तव में अपने चतुर्दिक जीवन का सृजन करता है सम्पूर्ण भावना और जीवन के साथ।"

संस्मरण के सम्बन्ध मे संस्मरण के स्वरूप को समझने के लिए महादेवी वर्मा का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—"संस्मरण मे हम अपनी स्मृति के आधारो पर वे समय की धूल पोंछ कर उन्हे अपने मनोजगत के निभृत कक्ष मे बठाकर उनके साथ जीवित रहते हैं और अपने आत्मीय सम्बन्धो को पुन जीवित करते हैं। इस स्मृति मिलन मे मानो हमारा मन बार बार दोहराता है, हमे आज भी तुम्हारा अभाव है।" इस कथन के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि जब कोई लेखक किसी मनोरम दृश्य, अविस्मरणीय घटना या सम्पर्क मे आए हुए व्यक्तियो के सम्बन्ध मे अपनी अनुभूतियो एव संवेदनाओ के संस्पर्श के सजीव चित्र अंकित करता है तो उसे संस्मरण कहते हैं। यो संस्मरण का विशेष उद्देश्य पात्र विशेष की उस विशेषता का अंकन करना होता है जिसकी छवि हमारे मानस पटल पर अमिट है। संस्मरण मे वर्ण्य व्यक्ति प्रमुख होता है और लेखक अपना परिचय उसी के सहारे देता चला जाता है।

डा शंकरदेव अवतरे की मान्यता है कि "संस्मरण मे आत्म संस्मरण एव पर-संस्मरण दोनों रहते है। ये आत्मकथा और जीवनी के उसी प्रकार संक्षिप्त रूप हैं जिस प्रकार उपन्यास का कहानी और नाटक का एकांकी या महाकाव्य का खण्ड काव्य।" इसी प्रसग म एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि संस्मरण और रेखाचित्र दोनो सहोदर हैं। इस विषय म पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी की यह टिप्पणी ठीक ही है कि "ये दोनो एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। कई बार यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि एक सीमा दूसरे से कहाँ तक मिलती है और कहाँ अलग हो जाती है।" इनके सम्बन्ध म प्रकाश डालने का सराहनीय कार्य डा पद्मसिंह शर्मा कमलेश ने भी किया है। वे लिखते है कि "वसे न तो कोई संस्मरण बिना रेखाचित्र के पूरा होता है और न कोई रेखाचित्र बिना संस्मरण के। आनुपातिक दृष्टि से ही वैयक्तिकता एव तटस्थता को देखकर यह निर्णय किया जा सकता है कि कोई रचना रेखाचित्र है या संस्मरण। एक और भी कारण है

जिसको दृष्टिगत रखकर विश्लेषण किया जा सकता है। प्राय प्रत्येक संस्मरण लेखक रेखाचित्र लेखक भी है और रेखाचित्र लेखक संस्मरण लेखक भी।"

संस्मरण लेखक सजग, कल्पनाशील, भावुक, ज्ञानी, गतिशील एव उदार व्यक्ति होता है। वह किसी के प्रति पूर्वाग्रह से आक्रान्त नहीं रहता बल्कि सदैव सब प्रकार के स्तरीय लोगों से सम्पर्क रखता है। सबके आत्मीय रूप म निकटस्थ बना रहता है। संस्मरण लेखक जब तक किसी का निकटतम आत्मीय नहीं बन पाएगा, जीवन्त एव स्वाभाविक संस्मरण नहीं लिख पाएगा। संस्मरण लेखक को इतना प्रबुद्ध होना चाहिए कि वह किसी के गम्भीर व्यक्तित्व की गहराई मे प्रवेश कर उसके गुणो का उद्घाटन प्रकाशन, सही-सही कर सके। बाबू गुलाबराय ने संस्मरण और रेखाचित्र दोनो के अन्तर को स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि 'संस्मरण भी रेखाचित्र की भाँति ही व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं। संस्मरण जीवनी साहित्य के अतर्गत आते हैं। वे प्राय घटनात्मक होते हैं किन्तु वे घटनाएँ सत्य होती हैं और साथ ही चरित्र की परिचायक भी। उनमे थोडा चटपटेपन का भी आकर्षण रहता है। संस्मरण चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालते हैं किन्तु रेखाचित्र व्यक्ति के व्यापक व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं। उनमे व्यक्ति का भीतरी और बाहरी आपा या स्वरूपता कुछ स्पष्ट रेखाओं म व्यक्त हो जाती है। उसमे कुछ-कुछ व्यग्यकार चित्रकार की सी प्रवृत्ति होती है। उसमें व्यक्ति की प्रवृत्तिगत विशेषताएँ कुछ बढ चढकर दिखाई जाती हैं जिससे वे सहज में आकर्षण का विषय बन सकें। रेखाचित्र जितना सत्य के निकट हो उतना ही अच्छा होता है। उसमे थोडी अतिरजना विनोद की सामग्री अवश्य उपस्थित कर देती है, किन्तु विनोद चुटीला नही होना चाहिए। रेखाचित्र में भी 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का आदर्श पालन करना पडता है।"

संस्मरण लेखक का क्षेत्र त्रिकोणात्मक होता है। एक तो वह अपनी स्मृति मे बस हुए व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित करता है दूसरे उससे अपना गहन सम्पर्क साधता है और तीसरे पाठक का ध्यान आकर्षित करता है। इन तीनो में से यदि एक भी लक्ष्य उपेक्षित हो जाता है तो संस्मरण की मूल भावना समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में यही कह सकते हैं कि संस्मरण स्मृति के आधार पर लिखा गया एक कलात्मक गद्य रूप है जिसमे लेखक किसी व्यक्ति या उससे सम्बन्धित प्रसग को पूरी ईमानदारी से प्रस्तुत कर देता है।

हिन्दी का संस्मरण-साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। अनेक उच्च कोटि के लेखको ने संस्मरण लिखकर इस विधा को समृद्ध और सशक्त किया है। संस्मरण लेखको मे रघुवीरसिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवपूजन सहाय, काका कालेलकर, हरीभाऊ उपाध्याय देवेन्द्र सत्यार्थी, दिनकर, निराला, महादेवी, मोहनलाल, महतो वियोगी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संस्मरण साहित्य जहाँ महापुरुषो की जीवनगत विशेषताओं का उल्लेख करता है वहाँ कुण्ठित मानवता को प्राणवत्ता एव नूतन आशा ज्योति भी प्रदान करता है। संस्मरणात्मक साहित्य का विकास प्रगति

पर है और आशा है कि साहित्य का यह विशेष अंग और भी परिपुष्ट, समृद्ध एवं विकासशील होगा।

संस्मरण साहित्य को अलंकृत करने वाले कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, हरिवंशराय बच्चन, दिनकर व अज्ञेय के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। बच्चन कृत 'नए पुराने झरोखे' इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास है। राजेन्द्रलाल हांडा, श्रीनिधि विद्यालंकार और अयोध्या प्रसाद गोयलीय ने भी रोचक, प्रभावी और सरल संस्मरणों की रचना की है। हांडा के 'दिल्ली में दस वर्ष', विद्यानगर के 'शिवालिक की घाटियों में' नाम कृतियाँ प्रमुख रूप में उल्लेखनीय हैं। स्पष्ट है कि हिन्दी की इस विधा का अब तो पर्याप्त विकास हो चुका है। धर्मयुग में 1970 में विविध संस्मरण माला प्रकाशित हुई, इन सभी कारणों से इस विधा के भावी रूप के प्रति आशा बनती है। गद्य की विविध विधाओं में संस्मरण का महत्त्व रेखाचित्र से कम नहीं है।

रेखाचित्र

रेखाचित्र का अंग्रेजी पर्याय 'स्केच' है। स्केच का अर्थ चित्रकला है। चित्रकला में स्केच उन चित्रों को कहा जाता है जिनमें केवल रेखाओं के सहारे किसी व्यक्ति या वस्तु का चित्रांकन किया जाता है। रेखाओं से बने ये चित्र रंगहीन और वातावरण या पृष्ठभूमि से रहित होते हैं। यहाँ तो केवल सरल और संक्षिप्त रेखाओं में ऐसे भाव-भीने और आकर्षक चित्र उतारे जाते हैं जिन्हें देखकर पाठक प्रभावाभिभूत हो जाता है। इस प्रकार के चित्रों में संक्षिप्तता और सरलता होती है। इसी चित्र कला या शब्दों के सीधे और संक्षिप्त चित्रों को हिन्दी में रेखाचित्र कहते हैं। साहित्य में इसी प्रकार के चित्र आकर रेखाचित्र बन जाते हैं। साहित्य में इस प्रकार के चित्र उतारने की क्षमता जिन व्यक्तियों में होती है वे ही सच्चे और साहित्यिक रेखाचित्रों का निर्माण कर सकते हैं। संक्षेप में, रेखाचित्र व्यक्ति, वस्तु अथवा घटना का शब्दों द्वारा विनिर्मित वह मर्मस्पर्शी और भावमय रूप विधान है जिसमें कलाकार का संवेदनशील हृदय और सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि अपना निजीपन उँडेलकर प्राणप्रतिष्ठा कर देती है।

रेखाचित्र हिन्दी साहित्य की नवीन विधा है। प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि इसका स्वरूप पहले देखने को नहीं मिलता। पाश्चात्य साहित्य में इस विधा का पर्याप्त विकास हुआ है। आज हमारे रेखाचित्र लेखक उसी प्रभाव को परोक्ष और अपरोक्ष रूप में ग्रहण कर रहे हैं। अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि रेखाचित्रों के लेखन में पाश्चात्य रेखाचित्र साहित्य ही प्रेरक बनकर हिन्दी के लेखकों के सामने आया है।

रेखाचित्र की परिभाषा—रेखाचित्र वस्तुतः एक शब्दचित्र है। रेखाचित्रकार साहित्यकार के साथ ही साथ चित्रकार भी होता है। अतः रेखाचित्र में हमें साहित्यिकता और कलात्मकता का अनुपम संयोग देखने को मिलता है। डॉ॰ नगेन्द्र ने रेखाचित्र की परिभाषा में लिखा है कि "जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य में

आया तो इसकी परिभाषा भी स्वत इसके साथ आई, अर्थात् रेखाचित्र एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमे रेखाएँ हो, पर मूत रूप नही, अर्थात् पूरे उतार-चढाव के साथ। दूसरे शब्दो मे, कथानक का उतार-चढाव आदि उसमे हो तथ्य का उद्घाटन मात्र नहीं।"

डॉ भागीरथ मिश्र की मान्यता है कि "अपने सम्पर्क मे आए किसी विलक्षण व्यक्तित्व अथवा सवेदन को जगाने वाली, सामान्य विशेषताओ से युक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र के मर्मस्पर्शी को देखी सुनी या सकलित घटनाओ की पृष्ठभूमि म इस प्रकार उभारकर रखना कि उसका हमारे हृदय मे एक निश्चित प्रभाव अकित हो जाए, रेखाचित्र या शब्दचित्र कहलाता है।"

इसके अतिरिक्त डॉ बच्चनसिह ने मुख्यतया बाह्य रेखाओ पर आधारित रहने के कारण लक्षित चित्रो को रेखाचित्र की अभिधा दी है। इन परिभाषाओ के आधार पर निष्कर्ष रूप मे रेखाचित्र की परिभाषा इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है—"रेखाचित्र एक ऐसा साहित्यिक चित्र है, जिसम किसी व्यक्ति के मर्मान्तक चरित्र की अभिव्यक्ति सक्षिप्तता और सादगी से निर्मित कलम का जादू पाठका पर अपना रग जमा लेता है। रेखाचित्र के साथ ही साथ शब्दचित्र को भी अपनाया जा सकता है।"

प्रमुख विशेषताएँ—रेखाचित्र म कुछ विशेषताएँ होती हैं जो साहित्य की अन्य विधाओ जैसे सस्मरण, कहानी आदि मे भी पायी जाती हैं। कुछ लोग भ्रमवश सस्मरण और रेखाचित्र को एक समझ बठे हैं। महादेवी कृत 'अतीत के चलचित्र' मे जो कुछ है, उसे कुछ सस्मरण और कुछ रेखाचित्र मानते है।

रेखाचित्र के तत्वो मे दो तत्वों को बडी आतुरता से ग्रहण किया जा सकता है—एक तो यह कि रेखाचित्र काल्पनिक न होकर वास्तविक होते हैं और दूसरे, रेखाचित्र का निर्माण किसी व्यक्ति या वस्तु को लेकर होता है। इसके साथ ही साथ रेखाचित्र मे रागात्मकता और एकात्मकता भी पायी जाती है। शली की दृष्टि से रेखाचित्र की विशेषताओ म चित्रात्मकता, भावात्मकता, साकेतिकता और प्रभावोत्पादकता होती है। निष्कषत, रेखाचित्र के प्रमुख तत्त्व निम्न है—

(क) चित्रण की यथातथ्यता।
(ख) एकात्मकता—इसमे लेखक का ध्यान एक ही ओर केंद्रित रहता है।
(ग) पात्र अथवा वस्तु की विशेषताओं को उभारना।
(घ) वर्णन म कल्पना का ऐसा मोहक रग जिससे यथातथ्य वणन खिल उठे।
(ङ) चित्रात्मक भावात्मक और साकेतिक शली।

रेखाचित्र और सस्मरण में अन्तर—अभी कहा गया था कि साहित्य की कुछ विधाएँ ऐसी होती हैं जो रेखाचित्र से निकट का सम्बन्ध रखती है। इनमे निकटतम सम्बन्ध रखने वाली सबसे पहली विधा सस्मरण है। सस्मरण सामान्यतया किसी साधारण या विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्बन्धित किसी सवेदनशील स्मृति के प्रत्यक्षीकरण

को कहा जा सकता है। रेखाचित्र भी प्राय इसी प्रकार के व्यक्ति का वर्णन प्रस्तुत करता है। रेखाचित्र साधारण से साधारण व्यक्ति का भी हो सकता है जबकि संस्मरण प्राय महान् विभूतियो से ही सम्बन्ध रखता है। स्पष्ट रूप से जो बात कही जा सकती है वह यह है कि ऊपरी दृष्टि से इन दोनो विधाओ मे समानता-सी लगती है किन्तु ऐसा है नही। इन दोनो मे जो अन्तर है, उसे हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

(1) संस्मरण प्राय प्रसिद्ध व्यक्तियो के ही लिखे जाते हैं और इनके लेखक भी प्राय प्रसिद्ध व्यक्ति ही होते हैं। उदाहरणार्थ हिंदी मे बनारसीदास चतुर्वेदी रामानन्द चटर्जी आदि। रेखाचित्र के लिए इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं होता है। इनके प्रधान से प्रधान पात्र भी साधारण से होते हैं।

(2) संस्मरण और रेखाचित्र का एक अन्तर यह है कि संस्मरण का सम्बन्ध देश, काल एव पात्र तीनो से होता है और तीनो का ही वर्णन भी होता है। रेखाचित्र का सम्बन्ध देश और काल से नही होता है।

(3) संस्मरण और रेखाचित्र मे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि संस्मरण मे रेखाचित्र की तुलना म आत्म निष्टता अधिक होती है। तात्पर्य यह है कि संस्मरण लेखक बहुत कुछ अपने सम्बन्ध म भी कहता चलता है या यो कहिये कि अपने विषय मे बिना कुछ कहे उसका काम नही चल सकता है। रेखाचित्र मे ऐसी स्थिति नही है। रेखा चित्रकार की लेखनी अपने विषय मे मौन रहती है।

(4) संस्मरण लेखक की कोई निश्चित शैली नही होती। वह किसी भी शैली को अपना सकता है। रेखा चित्रकार को शैली सम्बन्धी स्वतन्त्रता नही है, उसे सदैव चित्रात्मक शैली ही अपनानी पडती है। चित्रात्मक शैली के अभाव म रेखाचित्रों का सृजन सम्भव नही हो सकता।

उपर्युक्त बातो के आधार पर रेखाचित्र और संस्मरण का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अत जो विद्वान् इन दोनो विधाओ को एक मान बैठे है, उनका भ्रम दूर हो जाना चाहिए। इतना ही क्यो कुछ विद्वानो ने रेखाचित्र और रिपोर्ताज की तुलना करने मे भी कमी नही रखी है। रेखाचित्र का यदि कुछ गहरा सम्बन्ध किसी से जुडता है तो वह संस्मरण से ही जोडा जा सकता है। इससे हटकर उसका सम्बन्ध थोडा-सा कहानी से है। रेखाचित्र की लेखिका महादेवी वर्मा ने इस सम्बन्ध मे लिखा है—"इन स्मृति चित्रो को हम अपने प्रकाश की धुधली या उजली परिधि मे लाकर ही देख पाते हैं उसके बाहर तो वे अनन्त अन्धकार के अश हैं। मेरे जीवन की परिधि के भीतर खडे होकर चरित्र जसे परिचय दे पाते हैं, वह बाहर रूपान्तरित हो जाएगा। जिस परिचय के लिए कहानीकार अपने कल्पित पात्रो को वास्तविकता से सजाकर निकट लाता है, उसी परिचय के लिये मैं अपने पथ के साथियो को कल्पना का परिधान पहनाकर दूरी की सृष्टि क्यो करती? परन्तु मेरा निकटवर्ती जनित आत्म विज्ञापन उस राख से अधिक महत्त्व नही रखता, जो आग

का बहुत समय तक सजीव रखने के लिए प्रयासों को प्रेरणा देती है। जो स्मरण पार नहीं कर सकता, वह इन विधा के हृदय तक नहीं पहुँच सकता।'

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज शब्द मूलतः फ्रांसीसी भाषा से अन्य शब्दों की भाँति ही हिन्दी में आया है। इसका सम्बन्ध रिपोर्ट से है। रिपोर्ताज का निर्माण विशुद्ध साहित्यिक वातावरण में होता है। सामान्य रूप से किसी भी घटना का यथातथ्य एवं वर्णन जो पाठक को प्रभावित करने की क्षमता रखता हो, रिपोर्ताज कहा जा सकता है। कल्पना के अभाव में इसकी सृष्टि सम्भव नहीं है। रिपोर्ताज आधुनिक पत्रकार कला के अधिक निकट है। जिस प्रकार समाचार पत्रों में कोई भी उपन्यास एक ही दिन में नहीं छप सकता है, उसी प्रकार किसी घटना पर आधारित कार्ड भी विस्तृत रिपोर्ट एक साथ नहीं स्थापित हो सकती है। इस रिपोर्ताज अभिव्यक्तिकरण का ही हम साहित्यिक भाषा में रिपोर्ताज कहते हैं। इस दृष्टिकोण से रिपोर्ताज हिन्दी की कहानी तथा निबन्ध के ही अधिक निकट है। रिपोर्ताज अपने संक्षिप्त साहित्यिक रूप में देश में दिन प्रतिदिन घटने वाली किसी भी घटना या चित्रण को पाठकों के समक्ष रख देता है। रिपोर्ताज का लिखने में लेखक का उत्तरदायित्वपूर्ण पद के साथ में अनुरूप ही शब्द, भाव तथा पृष्ठभूमि का निर्माण करना होता है।

रिपोर्ताज के लेखक को तीन बातों का ध्यान रखना पड़ता है--प्रथम तो उस वर्ण्य घटना या वस्तु के वास्तविक इतिहास का जानना आवश्यक है। इसके बिना रिपोर्ताज की सफल सृष्टि सम्भव नहीं है। दूसरे, घटना से सम्बन्धित पात्रों का चाहे वे कल्पित ही क्यों न हों, यथोचित प्रस्तुत कर देना आवश्यक है। तीसरे, रिपोर्ताज लेखक को बड़ी सजगता के साथ घटना के मर्म और पात्रों की मन स्थिति का चित्रण करना चाहिए। सच्चे कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सांसारिक स्वार्थों की सतह को लाँघकर उस विशाल सतह पर जाकर रिपोर्ताज की रचना करे जहाँ निरपेक्ष भाव से घटनाओं को सजाया जा सके। रिपोर्ताज का निखार इसी निरपेक्ष चित्रण पर निर्भर है।

डा. गोविन्द त्रिगुणायत इसे नाट्य रूपक का भेद मानते हैं और कहते हैं कि अभिनय गुण के अभाव में किसी भी नाट्य भेद की कल्पना करना कल्पना है जो समीचीन नहीं है। हिन्दी में रिपोर्ताज का प्रचलन पिछले कुछ वर्षों से ही हुआ है। आजकल हिन्दी के रिपोर्ताज लेखकों में सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे तथा हँसराज रहबर इत्यादि का प्रमुख स्थान प्राप्त है। हिन्दी के कलाकारों ने कला जीवन के लिए वाले सिद्धान्त को अपनाकर वर्गभेद की विभाजन समस्या आदि को रिपोर्ताज के रूप में प्रस्तुत किया है।

जीवनी

साहित्य की आधुनिक विधाओं में जीवनी विधा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पश्चिमी विद्वान लिटन स्ट्रेची ने तो जीवनी का लेखन कला का सबसे सुखमय

सहानुभूतिपूर्ण स्वरूप' माना है। जॉनसन ने जीवनी की परिभाषा इस प्रकार दी है— 'जीवनीकार का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रियाकलापों का रजक वर्णन होता है जो व्यक्ति विशेष की बड़ी से बड़ी महानता से लेकर छोटी से छोटी घरेलू बातों तक सम्बन्धित होती हैं।" अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'टेक्निकल टर्म्स ऑफ लिटरेचर' में शिप्ले ने जीवनी के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है, 'जीवनी किसी व्यक्ति विशेष की जीवन घटनाओं का विवरण है। अपने आदर्श रूप में यह प्रयत्नपूर्वक लिखा गया इतिहास है जिसमें व्यक्ति विशेष के सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी अंश से सम्बन्धित बातों का विवरण मिलता है। ये आवश्यकताएँ उस एक साहित्यिक विधा का रूप प्रदान करती हैं।" जीवन के स्वरूप की व्याख्या करते हुए पश्चिमी विद्वान् वाइपियन डी सोला ने लिखा है "इतिहास की दृष्टि से जीवनी आलोचनात्मक, अज्ञाततटस्थ, उत्सुकता विवरणों के औचित्यपूर्ण विश्लेषण और चयन पर बल देती है। इतिहास और साहित्य के अतिरिक्त जीवनी व्यक्ति विशेष का अध्ययन भी है। उसकी अभिव्यक्ति इस ढंग से की जानी चाहिए कि उससे यह प्रतीत हो कि उस व्यक्ति विशेष से लेखक का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जीवनी की अभिव्यक्ति बहुत स्वाभाविक और सहज गति से अथवा बतकल्लुफी से ही की जानी चाहिए।"

जीवनी और संस्मरण—जीवनी और संस्मरण दोनों विधाओं को ऊपर से देखने पर काफी अभेद प्रतीत होता है, किन्तु दोनों में मौलिक अन्तर है—

(1) जीवनीकार किसी व्यक्ति विशेष के जीवन की घटनाओं का लेखन इतिहास अथवा गाथा के रूप में करता है जबकि संस्मरण में लेखक केवल कुछ घटनाओं का ही चित्रण करता है जो उसे विशेष रूप से प्रभावित करती हैं।

(2) जीवनी तो किसी व्यक्ति के जीवन की चरित्रगत विशेषताओं को पढ़कर भी लिखी जा सकती है किन्तु संस्मरण का लेखन तभी सम्भव है जबकि लेखक का व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रहा हो।

जीवनी और रेखाचित्र—जीवनी रेखाचित्र से भी भिन्न विधा है—

(1) रेखाचित्र में लेखक कल्पना के रंग भरता है तथा चित्र को मनोरंजक बनाता है जबकि जीवनी में केवल तथ्यात्मक घटनाओं का ही चित्रण सम्भव है।

(2) रेखाचित्र शुद्ध काल्पनिक भी हो सकता है जबकि जीवनी किसी सांसारिक व्यक्ति की ही होती है।

जीवनी की विशेषताएँ—यदि हम किसी के जीवन का परखना हो तो उसमें हम निम्नलिखित विशेषताएँ देख सकते हैं—

(1) किसी व्यक्ति विशेष की जीवन गाथा उसमें हो।

(2) व्यक्ति के जीवन की घटनाओं का वर्णन ऐतिहासिक क्रम में हो।

(3) लेखक जीवनी लिखते समय अनौपचारिकता तथा बेतकल्लुफी के साथ व्यक्ति विशेष के जीवन की घटनाओं का चित्रण करता है।

(4) जीवनी की अभिव्यक्ति सहज गति से युक्त होती है।

इन्टरव्यू

इन्टरव्यू का प्रचार पाश्चात्य देशों में बड़ी तत्परता से हुआ और विशेष महत्व भी प्रदान किया गया तथा अनेक व्यक्तियों ने इन्टरव्यू लिखकर साहित्य को गौरवान्वित किया। इन्टरव्यू को साहित्य में विधा के रूप में अपनाने का कार्य भारतीय साहित्यकारों ने भी किया और आज इन्टरव्यू का साहित्य की विधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इन्टरव्यू का अर्थ है—साक्षात्कार। हाँ साहित्य में इसका अर्थ होता है—जब कोई व्यक्ति किसी से प्रथम बार मिलता है तो बातचीत के दौरान में उस पर जो प्रभाव पड़ता है, उसकी जो प्रतिक्रिया होती है, उसे साहित्य के रूप में लिपिबद्ध कर लेना। अपनी प्रतिक्रियाओं और प्रभावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए जिस भाषा और शैली का प्रयोग किया जाता है, वह बड़ी मधुर, प्रभावोत्पादक, किन्तु सीधी सादी होती है। शैली में अधिकांशतः प्रश्नोत्तर और वार्तालाप शैली का प्रयोग किया जाता है।

संस्मरण और इन्टरव्यू में जो साम्य है वह इसी आधार पर है कि दोनों में व्यक्ति के सम्पर्क से पड़े प्रभावों की चर्चा रंगीन शैली में की जाती है। इन दोनों विधाओं में अन्तर केवल इस आधार पर किया जा सकता है कि संस्मरण व्यक्ति वस्तु और घटना सबका होता है। उससे लेखक का व्यक्तिगत सम्बन्ध आवश्यक शर्त नहीं है किन्तु इन्टरव्यू बिना व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किए सम्भव नहीं है। इन्टरव्यू में अभिप्सित व्यक्ति के सम्बन्ध के साथ साथ बातचीत भी आवश्यक होती है।

अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण पर हिन्दी में भी इन्टरव्यू पद्धति को प्रोत्साहन दिया गया है। किन्तु यह साहित्य इतना कम है कि इसमें केवल दो चार व्यक्तियों के अतिरिक्त और कोई नाम ही ऐसा नहीं जिसका सम्बन्ध इन्टरव्यू विधा से हो। सर्वप्रथम इस क्षेत्र में हम पद्मसिंह शर्मा कमलेश का नाम ले सकते हैं। कमलेश जी हिन्दी के सफल इन्टरव्यू लेखक हैं। इनका इन्टरव्यू साहित्य 'मैं इनसे मिला' शीर्षक दो भागों में छपा है। इनमें डॉ० रामचरण महेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, लक्ष्मी नारायण शर्मा, मनोहर श्याम जोशी, सतीश कुमार, निर्मल वर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

डायरी

हिन्दी साहित्य में जिस प्रकार पाश्चात्य साहित्य का अनुकरण करके इन्टरव्यू पद्धति को अपनाया गया है, उसी प्रकार डायरी पद्धति को भी। कुछ विद्वान् इसे शुद्ध साहित्यिक विधा नहीं मानते हैं। यह ठीक है कि इसमें साहित्य का अंश कम होता है किन्तु इसी आधार पर इसे साहित्य से बहिष्कृत कर देने की कोई तुक नहीं प्रतीत होती है। डायरी लेखक को संक्षेप में, किन्तु बड़ी सफाई से अपनी बात को स्पष्ट करना पड़ता है। इसकी विशेषताएँ प्रमुख रूप से तीन हैं—व्यंजना, व्यंग्य और वर्णन सजीवता। डायरी लेखक डायरी लेखन की प्रक्रिया में अनेक बातों व परिस्थितियों का विश्लेषण करता चलता है। इस विश्लेषण में उसका आत्म विश्लेषण भी हो जाता है। डायरी दो प्रकार की हो सकती है—*साहित्यिक डायरी* एतिहासिक डायरी।

हिन्दी में जीवनी साहित्य—हिन्दी में आनन्द प्रकाश जैन लिखित 'महात्मा गांधी', 'पं० जवाहरलाल नेहरू', 'डा० राजेन्द्र प्रसाद', 'डॉ० राधाकृष्णन' आदि, मुखदेवसिंह लिखित 'लोकमान्य तिलक', 'लाला लाजपतराय', 'बाल गंगाधर', राहुल सांकृत्यायन लिखित 'स्तालिन', 'लेनिन', अमृतराय लिखित 'प्रेमचन्द', 'कलम का सिपाही', मदनगोपाल लिखित 'प्रेमचन्द', 'कलम का मजदूर', रामविलास शर्मा द्वारा रचित 'निराला की साहित्य साधना' आदि जीवनियाँ प्रसिद्ध हैं।

आत्म-कथा

आत्मकथा एक संस्मरणात्मक विधा है जिसमें लेखक स्वयं अपने जीवन के विषय में निरपेक्ष होकर लिखता है। आत्मकथा वह साहित्यिक विधा है जिसमें लेखक अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं का सन्तुलित एवं व्यवस्थित चित्रण करता है। आत्मकथा व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निष्पक्ष उद्घाटन में समर्थ होती है। आलोचक शिप्ले ने आत्मकथा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है, "यद्यपि आत्मकथा और संस्मरण दोनों में देखने पर समानता लगती है किन्तु दोनों में अन्तर है। यह अन्तर बल सम्बन्धी है। एक में चरित्र पर बल दिया जाता है तो दूसरे में बाह्य घटनाओं और वस्तु आदि के वर्णनों पर ही लेखक की दृष्टि रहती है। संस्मरण में लेखक अपने से भिन्न उन व्यक्तियों, वस्तुओं, क्रिया-कलापों आदि के विषय में संस्मरणात्मक चित्रण करता है जिनका उसे अपने जीवन में समय-समय पर साक्षात्कार हो चुका होता है। आत्मकथा को लेखक के जीवन का एक शृंखलाबद्ध विवरण कह सकते हैं जिनमें वह अपनी विशाल जीवन सामग्री की पृष्ठभूमि में से कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को लेकर उनको व्यवस्थित ढंग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है या फिर अपनी अन्तर्दृष्टि से उनको संस्मरण रूप में प्रस्तुत करता है।"

इस परिभाषा के आधार पर आत्म कथा की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं—

(1) आत्म कथा में व्यक्ति या लेखक स्वयं अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन करता है।

(2) यह विवरण एक क्रमबद्ध शृंखला में प्रस्तुत किया जाता है।

(3) व्यक्ति अपने जीवन की सभी छोटी बड़ी घटनाओं का चित्रण करता है। वह अपने गुण-अवगुणों का तटस्थ होकर चित्रण करता है।

(4) वह अपने से सम्बद्ध परिवेश को आत्मकथा में उभारता है।

(5) आत्मकथा संस्मरणात्मक ढंग से लिखी जाती है।

हिन्दी में आत्म कथा साहित्य—हिन्दी में वियोगी हरि की 'मेरा जीवन प्रवाह', हरिभाऊ उपाध्याय की 'साधना के पथ पर', महात्मा गांधी की 'आत्म-कथा', नेहरू की 'मेरी कहानी', राजेन्द्र प्रसाद की 'मेरी आत्म कथा', बेचन शर्मा उग्र की 'अपनी खबर', बाबू गुलाबराय की 'हमारे जीवन की असफलताएँ', देवेन्द्र सत्यार्थी की 'चांद सूरज के बीरन', बच्चन की 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' तथा 'नीड़ का निर्माण फिर फिर' आदि आत्म कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

इंटरव्यू

इंटरव्यू का प्रचार पाश्चात्य देशों में बड़ी तत्परता से हुआ और विशेष महत्व भी प्रदान किया गया तथा अनेक लेखकों ने इंटरव्यू लिखकर साहित्य को गौरवान्वित किया। इंटरव्यू को साहित्य में विधा के रूप में अपनाने का काय भारतीय साहित्यकारों ने भी किया और आज इंटरव्यू को साहित्य की विधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इंटरव्यू का अर्थ है—साक्षात्कार। हाँ साहित्य में इसका अर्थ होता है—जब कोई व्यक्ति किसी से प्रथम बार मिलता है तो बातचीत के दौरान में उस पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी जो प्रतिक्रिया होती है, उस साहित्य के रूप में लिपिबद्ध कर लेना। अपनी प्रतिक्रियाओं और प्रभावों की अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए जिस भाषा और शैली का प्रयोग किया जाता है वह बड़ी मधुर, प्रभावोत्पादक, किन्तु सीधी सादी होती है। शैली में अधिकांशतः प्रश्नोत्तर और वार्तालाप शैली का प्रयोग किया जाता है।

संस्मरण और इंटरव्यू में जो साम्य है वह इसी आधार पर है कि दोनों में व्यक्ति के सम्पर्क से पड़े प्रभावों की चर्चा रंगीन शैली में की जाती है। इन दोनों विधाओं में अन्तर केवल इस आधार पर किया जा सकता है कि संस्मरण व्यक्ति, वस्तु और घटना सबका होता है। उसमें लेखक का व्यक्तिगत सम्बन्ध आवश्यक शर्त नहीं है किन्तु इंटरव्यू बिना व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किए सम्भव नहीं है। इंटरव्यू में अभिप्सित व्यक्ति के सम्बन्ध के साथ साथ बातचीत भी आवश्यक होती है।

अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण पर हिन्दी में भी इंटरव्यू पद्धति को प्रोत्साहन दिया गया है। किन्तु यह साहित्य इतना कम है कि इसमें केवल दो चार व्यक्तियों के अतिरिक्त और कोई नाम ही ऐसा नहीं जिसका सम्बन्ध इंटरव्यू विधा से हो। सर्वप्रथम इस क्षेत्र में हम पद्मसिंह शर्मा कमलेश का नाम ले सकते हैं। कमलेश जी हिन्दी के सफल इंटरव्यू लेखक हैं। इनका इंटरव्यू साहित्य 'मैं इनसे मिला' शीर्षक दो भागों में छपा है। इनमें डा० रामचरण महेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, लक्ष्मी नारायण शर्मा, मनोहर श्याम जोशी, सतीश कुमार, निर्मल वर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

डायरी

हिन्दी साहित्य में जिस प्रकार पाश्चात्य साहित्य का अनुकरण करके इंटरव्यू पद्धति को अपनाया गया है, उसी प्रकार डायरी पद्धति का भी। कुछ विद्वान् इसे शुद्ध साहित्यिक विधा नहीं मानते हैं। यह ठीक है कि इसमें साहित्य का अंश कम होता है किन्तु इसी आधार पर इसे साहित्य से बहिष्कृत कर देने की कोई तुक नहीं प्रतीत होती है। डायरी लेखन को संक्षेप में, किन्तु बड़ी सफाई से अपनी बात को स्पष्ट करना पड़ता है। इसकी विशेषताएँ प्रमुख रूप से तीन हैं—व्यंजना, व्यंग्य और वर्णन सजीवता। डायरी लेखक डायरी लेखन की प्रक्रिया में अनेक बातों व परिस्थितियों का विश्लेषण करता चलता है। इस विश्लेषण में उसका आत्म-विश्लेषण भी हो जाता है। डायरी दो प्रकार की हो सकती है—साहित्यिक डायरी एतिहासिक डायरी।

साहित्यिक डायरी में डायरी लेखक का व्यक्तित्व झलका करता है और ऐतिहासिक डायरी में घटनाओं की यथार्थता भी प्रतिबिम्बित होती है। लेखक के व्यक्तित्व का समावेश होने के कारण साहित्यिक डायरी सरस रोचक और मधुर हो जाती है।

हिन्दी में लिखा डायरी साहित्य – हिन्दी में डायरी लेखन की कला का जन्म 1930 के आस पास हुआ। नरदेव शास्त्री को इसका प्रथम लेखक माना जाता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इससे पहले टालस्टाय की डायरी का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका था। डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने हिन्दी में डायरी लेखन को उसी अनुवाद से प्रेरित माना है।

1 नरदेव शास्त्री— इनकी डायरी का प्रकाशन वेदतीर्थ की 'जेल डायरी' के नाम से हुआ। इस डायरी में घटनाओं का वर्णन अत्यन्त भावुकता के पुट में किया गया है।

2 घनश्याम बिड़ला—बिड़ला साहब ने 1931 की गोलमेज कॉन्फ्रेंस का वर्णन अपनी 'डायरी के पन्ने' कृति में किया है। शैली विचारात्मक और विस्तृत घटनाओं को संक्षिप्त करके कहने की प्रवृत्ति है।

3 रावी—रावी वर्तमान लेखकों में ख्याति प्राप्त लेखक माने जाते हैं। उन्होंने कविताओं से हटकर डायरियाँ भी लिखी हैं। इनकी 'बुकसेलर की डायरी' प्रसिद्ध और रोचक है। एक व्यक्ति के जीवन के उत्थान पतन की इतनी रोचक कहानी और कहीं शायद ही सम्भव हो। रोचकता, यथार्थता और शैली की संक्षिप्तता इनकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

4 महादेव देसाई—देसाई उच्च कोटि के लेखक हैं। गाँधीजी के ये अच्छे परिचित मित्रों में से थे। इनकी डायरी 'गाँधी विचारधारा' से प्रभावित है।

5 सज्जनसिंह—इन्होंने लद्दाख की यात्रा के अनेक अनुभव और वर्णन अपनी डायरी में संगृहीत किए हैं। इनकी यह डायरी 'लद्दाख की यात्रा' के नाम से छपी है। इसमें मीठे, कड़वे सभी अनुभवों की सच्ची अभिव्यक्ति है।

6 विनोबाभावे—भूदान यज्ञ के रचयिता को लेकर भी अनेक डायरियाँ लिखी गई हैं। इनके सहयोगियों ने अपने यज्ञ से सम्बन्धित संस्मरणों को डायरी के रूप में प्रकाशित कराया। इस क्षेत्र में कार्य करने वालों में निर्मला पाण्डे और दामोदरन मूदड़ा के नाम प्रसिद्ध हैं। निर्मला की डायरी का नाम 'सर्वोदय पद-यात्रा' और मूदड़ा जी की रचना का शीर्षक 'विनोबा के साथ' है।

7 इलाचन्द्र जोशी—इन्होंने भी अपनी 'नीरस डायरी' के पृष्ठ लिख कर पाठकों को बड़ी सरस सामग्री प्रदान की है।

अन्य डायरी लेखकों में कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर धर्मवीर भारती और जगदीश गुप्त का नाम लिया जा सकता है।

पत्र लेखन

यों तो पत्र व्यवहार जीवन का एक आवश्यक अंग है किन्तु कुछ पत्र तो ऐसे हैं जो किसी भाषा के साहित्य की निधि होते हैं क्योंकि ऐसे पत्रों में पत्र-लेखकों का

हृदय उभर आता है। पाश्चात्य विचारकों ने साहित्य के क्षेत्र मे पत्रो का महत्व स्वीकार किया है। पत्र अनुसंधान के काय मे बहुत सहायता पहुँचाते हैं। डॉ जॉनसन ने शिष्या को लिखा था, "पत्र लेखक के हृदय का दर्पण होते हैं।' इसी तरह रिचर्ड्स ने भी लिखा था कि "पत्र पत्र-लेखक के जीवन का अध्ययन करने के प्रामाणिक आधार होते हैं।' आत्मीयता तथा व्यक्तित्व का प्रतिबिम्बन पत्र की प्रमुख विशेषताएँ होती हैं।

हिन्दी मे इस विधा के विकास की ओर लेखकों का ध्यान गया है। अनेक पत्रिकाओं मे लेखको के महत्त्वपूर्ण पत्र प्रकाशित होते रहते हैं। कई पत्रिकाओं के 'आपका पत्र मिला' स्तम्भ बहुत ही महत्त्व के होते हैं। बजनाथसिंह विनोद ने द्विवेदी पत्रावली' के नाम से द्विवेदी जी के पत्रो का संग्रह प्रकाशित किया था। हरिशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित पदमसिंह शर्मा के पत्र संग्रह भी इस क्षेत्र म उल्लेखनीय हैं। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के पत्र साहित्य पत्रो का कोष हैं जिनम से कुछ का सम्पादन 'बनारसीदास के पत्र' पुस्तक मे बाबू वृन्दावनलाल ने किया है। हिन्दी के अनुसंधानकर्ताओं को चाहिए कि वे हिन्दी के सभी महान् लेखको के पत्रो को प्रकाश मे लाएँ। इससे न केवल लेखको की प्रामाणिक जीवनिया लिखने मे सहायता मिलेगी प्रत्युत् साहित्य का इतिहास लिखने म भी सहायता मिलेगी।

फीचर

फीचर भी एक प्रकार का रेडियो रूपक ही है। इसके अन्तगत काव्य, उपन्यास, कहानियो आदि का अभिनयात्मक पद्धति से रूपान्तरण किया जाता है। सुहमेकनीस ने लिखा है कि "फीचर वास्तविकता का नाटकीकृत रूप है। फीचर मे कलाकार को उसी प्रकार सजग रहना पडता है जिस प्रकार रेडियो एकाकी मे। लम्बी चौडी कथावस्तु को खण्डश इस प्रकार सजाया जाता है कि सम्पूर्ण वस्तु की झाँकी प्रस्तुत की जा सके।" फीचर मे उपन्यास, कहानी आदि को इस प्रकार कटे छँटे रूप म प्रस्तुत किया जाता है कि उसका मार्मिक प्रभाव पडे और आनन्द की सृष्टि भी हो जाये। इसमे 25-30 मिनट से अधिक समय नही लगाना चाहिए। इसमे ऐसे व्याख्याकार की आवश्यकता होती है जो सफलतापूवक मध्य की कथा को रोचकता व प्रभाव के साथ व्यक्त करता चले। इसकी सफलता का श्रेय अभिनेता और व्याख्याकार दोनो पर आश्रित है।

भेद—फीचर के दो भेद होते हैं—एक तो स्वतन्त्र अथवा मौलिक और दूसरा रूपान्तरित। रूपान्तरित फीचर के उदाहरणो के लिए हम अनेक कहानियो और नाटको को रख सकते हैं—

1 प्रेमचन्द की कहानियो के रूपान्तर—
 (क) शतरज के खिलाडी, (ख) सूरदास, (ग) भक्ति (घ) मनोवृत्ति।
2 रवीन्द्रनाथ की निम्न कहानियो के रूपान्तरित फीचर ये हैं—
 (क) काबुलीवाला, (ख) छुट्टी।
3 प्रसाद साहित्य के रूपान्तरित फीचर—
 (क) देवरथ और दासी, (ख) इरावती।
4 कुछ अन्य रूपान्तरित फीचर के नाम पर—
 (क) मगरास—लेखक अनन्त गोपाल शेवडे।
 (ख) मृगनयनी—लेखक वृन्दावनलाल वर्मा।

5 संस्कृत रूपान्तरित फीचर में -

(क) स्वप्नवासवदत्ता विशेष उल्लेखनीय है।

6 इनके अतिरिक्त कुछ रूपान्तर विदेशी साहित्य से सम्बन्धित होकर भी सामने आए हैं, जैसे समाज के स्तम्भ —लेखक इब्सन।

प्राइड एण्ड प्रीजूडिस और 'रॉबिन्सन क्रूसो' इस क्षेत्र में विशेष प्रसिद्ध हैं। इसके साथ ही और भी अनेक फीचर रूपान्तरित होकर सामने आए हैं। रेडियो ने इस विधा की प्रसिद्धि में बड़ा सराहनीय योगदान दिया है। ललितकुमार, भृंग तुपकरी का योगदान भी इस क्षेत्र में सराहनीय है। स्वतन्त्र रूप में लिखे गए फीचर्स कम ही हैं। इनमें केवल सर्वोदय और वन महोत्सव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गीति-नाट्य

गीति नाट्य को न तो काव्य नाट्य कह सकते हैं और न नाट्य काव्य। यह तो एक ऐसा रूपक है जिसमें अभिनेय के साथ-साथ पद्य को भी अपनाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गीति नाट्य में अच्छी कविता होती है लेकिन इसमें यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि गीति नाट्य कविता के अतिरिक्त कुछ होता ही नहीं। गीति नाट्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(1) वैयक्तिकता—अंग्रेजी विद्वानों ने गीति नाट्य की प्रमुख विशेषता वैयक्तिकता को बताया है। गीति नाट्य में नाटककार को अपने व्यक्तित्व को समाज से अलग कर जीवन की पृष्ठभूमि में रखना पड़ता है। वैयक्तिकता का निर्धारण आन्तरिक प्रेरणाओं से होता है।

(2) भावातिरेक—वैयक्तिकता के साथ-साथ गीति नाट्य में भावातिरेक भी होना आवश्यक है। भावात्मक क्षणों के चित्रण के लिए इस विधा का विकास हुआ था। भावनाओं के विविध रूपों को विविध छायाओं में चित्रित करना गीति नाट्य का प्रमुख लक्ष्य है।

(3) मानसिक यथार्थ—गीति नाट्य में मानसिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता होने पर भी बाह्य संघर्षों की योजना होती है। किन्तु इसके लिए अवकाश कम होता है। नाटक का सौन्दर्य तो अन्तर्द्वन्द्व में है।

(4) अभिव्यक्ति में नाटकीयता—इस विधा में प्रत्येक कथन में चाहे वह स्वगत कथन हो या वार्तालाप, नाटकीयता का होना आवश्यक है। इतना ही नहीं इसका प्रारम्भ, मध्य और अन्त नाटकीय कौशल से युक्त होना चाहिए। उदयशंकर भट्ट के गीति नाट्य इसके उदाहरणस्वरूप रखे जा सकते हैं।

(5) चित्रोपमता - प्रत्यक्ष चित्रों के साथ ऐन्द्रिक चित्रों की योजना भी गीति-नाट्य में होनी चाहिए। भारती का अन्धायुग इसके उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है।

(6) अभिनेयता —नाट्यरूपक होने के कारण अभिनेयता परम आवश्यक है। इसमें एक ही अंक नहीं बल्कि कई अंक हो सकते हैं। पाँच अंकों में लिखा गया 'अन्धा युग' इसका उदाहरण है। सफल कलाकार का कर्तव्य है कि वह ध्वनि प्रभाव, सैटिंग और विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार योजना करता चले।

(7) छन्द, लय और भाषा—गीति नाट्य की छन्द योजना भावानुकूल होनी चाहिए। छन्द तुकान्त, अतुकान्त और मुक्त सभी प्रकार के हो सकते हैं। लय का आधार ध्वन्यात्मक प्रवाह होता है। इस प्रवाह में परिवर्तन करने से लय में परिवर्तन आ जाते हैं। लय सम्बन्धी यह परिवर्तन इस विधा का प्राणभूत तत्त्व है। गीति-नाट्य की भाषा में प्रेषणीयता का होना आवश्यक है।

(8) काव्यत्व —जैसा कि पहले कह दिया गया है गीति नाट्य मुख्यत भावनामय होते हैं। अत इनमें काव्यत्व होना ही चाहिए। छोटे गीति नाटयो मे तो काव्यत्व की प्रधानता रहती ही है। हाँ, लम्बे गीति-नाटय मे यह कठिनाई आ सकती है। लम्बे गीति-नाटय मे रसात्मकता के साथ-साथ इतिवृत्तात्मक स्थल भी आ सकते हैं।

हिन्दी म इस प्रकार के गीति-नाट्य लिखने का श्रेय सवप्रथम प्रसाद का है। 'करुणायतन' इनका प्रथम गीति-नाटय है। इसकी कथा का आधार वदिक साहित्य है। 'भावमूलक रोचकता और ममस्पर्शिता की दृष्टि से यह रचना अद्वितीय है।'

इसके पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' भी गीति-नाट्य की श्रेणी मे रखा होने का अधिकारी है। इसका रूप शिल्प गीति-नाट्य का है, किन्तु आत्मा सवादात्मक काव्य की है। 'मुझे है इष्ट जन सेवा' से अनुप्राणित यह गीति नाट्य गांधीवादी जीवन दशन के स्थूल आदर्शों से आगे बढकर आन्तरिक सघर्षों के सूक्ष्म स्तरों पर नहीं उतर पाया है। सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' और हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्ण विहान' 'अनघ' की परम्परा मे हैं।

भगवतीचरण वर्मा के 'तारा' नाटय गीति की समस्या भी वही है जो उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' की है। मूल तत्त्व अन्तद्वन्द्व इसमे आद्यान्त व्याप्त है। उदयशकर भट्ट के मेघदूत', 'विक्रमोर्वशीय' और शकुन्तला', 'राधा का स्थान' निश्चित ही महत्त्वपूर्ण गीति-नाटयो मे हैं। नाटक की अपेक्षा इनमे कविता अधिक है। गिरिजाकुमार माथुर ने भी कई गीति-नाट्यो की रचना की है। इसमे 'इन्दुमति नामक रचना महत्त्वपूर्ण है। सिद्धकुमार ने भी 'कवि' नामक गीति नाटय रचा है। इनकी कला यथाथवादी है। सेठ गोविन्ददास के गीति नाटयो मे स्वग' और स्नेह' प्रसिद्ध हैं।

आरसीप्रसाद सिंह ने केवल दो गीति नाट्यो की रचना की है और उनमे कोमल और मधुरभावनाओं की रगीनी है। 'मदनिका' और 'धूपछांह' इनके गीति-नाटय हैं। दिनकर का 'मगध महिमा', केदारनाथ मिश्र के 'कालदहन सवत', 'स्वर्णोदय' आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त पत ने भी रजत शिखर' और 'शिल्पी' की रचना की है। भारती का 'अधा युग' भी इसी विधा के अन्तगत आता है। हसकुमार तिवारी, प्रफुल्लचन्द ओझा, गौरीशकर मिश्र और उषा देवी मिश्रा आदि ने भी इस नवीन विधा पर अपनी लेखनी चलाई है। ऐसा कहा जाता है कि भारती के 'अन्धा युग' गीति नाटय मे पहली बार एकांकी पद्धति का परित्याग किया गया है।

यह नई विधा पर्याप्त विकसित हो रही है। अनेक नवीन और पुराने साहित्यकारो ने गीति-नाटय को समृद्ध बनाया है।

भाव नाट्य

भाव नाट्य का अग्रेजी अनुवाद फैन्टेसी है। नाटको की यह विधा भी अपने हल्के रूप म आज हिन्दी जगत् के सामने है। भाव नाट्य म कल्पना का अतिरेक होता है और साथ ही मधुरता व कोमलता से युक्त भावो को इस विधा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। डॉ गोविन्द त्रिगुणायत ने इसकी निम्नांकित विशेषताएँ बतलाई हैं—

(1) ये प्राय प्रणय चित्रो स युक्त होते हैं।
(2) इनमे भावना और कल्पना की अतिरजना होती है।
(3) भाव नाट्य म पात्र स्वप्न या अर्द्धविम्प्नावस्था मे अपनी अनुभूतियो को व्यक्त करते हैं।

5 संस्कृत रूपान्तरित फीचर में -
(क) स्वप्नवासवदत्ता विशेष उल्लेखनीय है।
6 इनके अतिरिक्त कुछ रूपान्तर विदेशी साहित्य से सम्बन्धित होकर भी सामने आए हैं, जैसे समाज के स्तम्भ'—लेखक इब्सन।

'प्राइड एण्ड प्रीजूडिस' और 'राबिंसन क्रूसो' इस क्षेत्र में विशेष प्रसिद्ध हैं। इसके साथ ही और भी अनेक फीचर रूपान्तरित होकर सामने आए हैं। रेडियो ने इस विधा की प्रसिद्धि में बड़ा सराहनीय योगदान दिया है। अनिलकुमार, मृणाल पुन्दरी का योगदान भी इस क्षेत्र में सराहनीय है। स्वतन्त्र रूप से लिखे गए फीचर्स कम ही हैं। इनमें केवल सर्वोदय और वन महोत्सव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गीति-नाट्य

गीति नाट्य को न तो काव्य नाटय कह सकते हैं और न नाटय-काव्य। यह तो एक ऐसा रूपक है जिसमें अभिनेय के साथ-साथ पद्य को भी अपनाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गीति-नाटय में अच्छी कविता होती है, लेकिन इसमें यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि गीति नाट्य कविता के अतिरिक्त कुछ होता ही नहीं। गीति नाट्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

(1) वैयक्तिकता—अंग्रेजी विद्वानों ने गीति नाट्य की प्रमुख विशेषता वैयक्तिकता को बताया है। गीति नाटय में नाटककार को अपने व्यक्तित्व को समाज से अलग कर जीवन की पृष्ठभूमि में रखना पड़ता है। वैयक्तिकता का नियन्त्रण आन्तरिक प्रेरणाओं से होता है।

(2) भावातिरेक—वैयक्तिकता के साथ-साथ गीति नाटय में भावातिरेक भी होना आवश्यक है। भावात्मक प्रेरणा के चित्रण के लिए इस विधा का विकास हुआ था। भावनाओं के विविध रूपों को विविध छायाओं में चित्रित करना गीति-नाटय का प्रमुख लक्ष्य है।

(3) मानसिक यथार्थ—गीति-नाटय में मानसिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता होने पर भी बाह्य संघर्षों की योजना होती है। किन्तु इसके लिए अवकाश कम होता है। नाटक का सौंदर्य तो अन्तर्द्वन्द्व में है।

(4) अभिव्यक्ति में नाटकीयता—इस विधा में प्रत्येक कथन में चाहे वह स्वगत कथन हो या वार्तालाप, नाटकीयता का होना आवश्यक है। इतना ही नहीं इसका प्रारम्भ मध्य और अन्त नाटकीय कौशल से युक्त होना चाहिए। उदयशंकर भट्ट के गीति नाट्य इसके उदाहरणस्वरूप रखे जा सकते हैं।

(5) चित्रोपमता प्रत्यक्ष चित्रों के साथ ऐन्द्रिक चित्रों की योजना भी गीति-नाट्य में होनी चाहिए। भारती का 'अन्धायुग' इसके उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है।

(6) अभिनेयता—नाटयरूपक होने के कारण अभिनेयता परम आवश्यक है। इसमें एक ही अंक नहीं बल्कि कई अंक हो सकते हैं। पाँच अंकों में लिखा गया 'अन्धा युग' इसका उदाहरण है। सफल कलाकार का कर्तव्य है कि वह ध्वनि अभिनय सैटिंग और विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार योजना करता चले।

(7) छन्द लय और भाषा—गीति नाटय की छन्द योजना भावानुकूल होनी चाहिए। छन्द तुकान्त अतुकान्त और मुक्त सभी प्रकार के हो सकते हैं। लय का आधार संगीतात्मक प्रवाह होता है। इस प्रवाह में परिवर्तन करने से लय में परिवर्तन आ जाता है। लय सम्बन्धी यह परिवर्तन इस विधा का प्राणभूत तत्त्व है। गीति नाट्य की भाषा में प्रेषणीयता का होना आवश्यक है।

(8) काव्यत्व—जैसा कि पहले कह दिया गया है, गीति-नाट्य मुख्यत भावनामय होते हैं। अत इनमे काव्यत्व होना ही चाहिए। छोटे गीति-नाट्यो मे तो काव्यत्व की प्रधानता रहती ही है। हाँ, लम्बे गीति-नाटय मे यह कठिनाई आ सकती है। लम्बे गीति-नाट्य मे रसात्मकता के साथ-साथ इतिवृत्तात्मक स्थल भी आ सकते हैं।

हिन्दी मे इस प्रकार के गीति-नाट्य लिखने का श्रेय सर्वप्रथम प्रसाद को है। 'करुणालय' इनका प्रथम गीति-नाटय है। इसकी कथा का आधार वैदिक साहित्य है। "भावमूलक रोचकता और मर्मस्पर्शिता की दृष्टि से यह रचना अद्वितीय है।'

इसके पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' भी गीति-नाट्य की श्रेणी मे खडा होने का अधिकारी है। इसका रूप शिल्प गीति-नाटय का है, किन्तु आत्मा संवादात्मक काव्य की है। 'मुझे है इष्ट जन सेवा' से अनुप्राणित यह गीति नाट्य गाँधीवादी जीवन दर्शन के स्थूल आदर्शों से आगे बढकर आन्तरिक संघर्षों के सूक्ष्म स्तरो पर नही उतर पाया है। सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' और हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्ण विहान' 'अनघ' की परम्परा म हैं।

भगवतीचरण वर्मा के 'तारा' नाटय गीति की समस्या भी वही है जो उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' की है। मूल तत्त्व अन्तर्द्वन्द्व इसमे आद्यान्त व्याप्त है। उदयशंकर भट्ट के 'मेघदूत', 'विक्रमोर्वशीय' और शकुन्तला', 'राधा का स्थान' निश्चित ही महत्त्वपूर्ण गीति-नाट्यो मे हैं। नाटक की अपेक्षा इनमे कविता अधिक है। गिरिजाकुमार माथुर ने भी कई गीति-नाट्यो की रचना की है। इसमे 'इन्दुमति' नामक रचना महत्त्वपूर्ण है। सिद्धकुमार ने भी 'कवि' नामक गीति नाट्य रचा है। इनकी कला यथार्थवादी है। सेठ गोविन्ददास के गीति नाटयो मे 'स्वर्ग' और स्नेह' प्रसिद्ध हैं।

आरसीप्रसाद सिंह ने केवल दो गीति नाट्यो की रचना की है और उनमे कोमल और मधुरभावनाओ की रंगीनी है। 'मदनिका' और 'धूपछाँह' इनके गीति नाटय है। दिनकर का 'मगध महिमा', केदारनाथ मिश्र के 'कालदहन मथत', 'स्वर्णोदय' आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त पत ने भी 'रजत शिखर' और 'शिल्पी' की रचना की है। भारती का 'अन्धा युग' भी इसी विधा के अन्तर्गत आता है। हंसकुमार तिवारी, प्रफुल्लचन्द ओझा, गौरीशंकर मिश्र और उषा देवी मिश्रा आदि ने भी इस नवीन विधा पर अपनी लेखनी चलाई है। ऐसा कहा जाता है कि भारती के 'अन्धा युग' गीति-नाटय मे पहली बार एकांकी पद्धति का परित्याग किया गया है।

यह नई विधा पर्याप्त विकसित हो रही है। अनेक नवीन और पुराने साहित्यकारो ने गीति-नाटय को समृद्ध बनाया है।

भाव-नाट्य

भाव नाटय का अंग्रेजी अनुवाद फैंटेसी है। नाटको की यह विधा भी अपने हक के रूप म आज हिन्दी जगत् के सामने है। भाव नाट्य म कल्पना का अतिरेक होता है और साथ ही मधुरता व कोमलता से युक्त भावो को इस विधा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। डा गोविन्द त्रिगुणायत ने इसकी निम्नांकित विशेषताएँ बतलाई हैं—

(1) ये प्राय प्रणय चित्रो से युक्त होते हैं।
(2) इनमे भावना और कल्पना की अतिरंजना होती है।
(3) भाव नाटय म पात्र स्वप्न या अर्द्धविक्षिप्तावस्था मे अपनी अनुभूतियाँ को व्यक्त करते हैं।

(4) इसमें घटनाओं और परिस्थितियों आदि का चित्रण भावों के रूप से किया जाता है।

(5) अभिनय में भावातिरेक और विविध हाव भावों की सयोजना रहती है।

(6) भाव नाट्य में अन्तर्द्वन्द्व का अकन विशेष रूप से किया जाता है। इसके प्रभाव में भाव नाट्य की सफलता सन्दिग्ध है।

भाव नाट्य प्रायः दो प्रकार के होते हैं—(1) रेडियो भाव नाट्य और (2) रगमची भाव नाट्य। रेडियो भाव नाट्य के प्रणेता के रूप में विष्णु प्रभाकर का नाम उल्लेखनीय है। इनके भाव नाटयों में 'अर्द्धनारीश्वर' प्रमुख और ख्याति के नाम प्रसिद्ध हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क का 'छटा बेटा' भी भाव नाट्य के अन्तर्गत आता है। रगमचीय भाव नाटयों में उदयशंकर भट्ट के विश्वामित्र और मत्स्य गन्धा प्रसिद्ध हैं।

यात्रा-साहित्य

यात्रा विवरण लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन है। 'मेघदूत' तथा 'रघुवंश' जैसे ग्रन्थों में इसकी झलक मिल जाती है। ह्वेनसाग, इब्नबतूता, टेवरनियर, फाह्यान आदि यात्रियों ने अनेक देशों की यात्राएँ की तथा अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया, किन्तु इन लेखकों के विवरण तथ्यात्मक अधिक हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन यात्रा वर्णनों का बहुत अधिक मूल्य है।

यात्रा वर्णन आज अलग साहित्यिक विधा के रूप में अपना अस्तित्व प्रमाणित कर चुका है। यात्रा वर्णन के साहित्यिक रूप में लेखक अपनी यात्रा के दौरान प्रकृति सौन्दर्य तथा क्षेत्र-सौन्दर्य का चित्रण बेलाग होकर करता है। इन यात्रा वर्णनों में फक्कड़ता, मस्ती उल्लास का पुट रहता है जिससे ये वर्णन आत्म विभोर करने वाले होते हैं। ये यात्रा वर्णन तभी सम्भव हैं जबकि लेखक बहुत संवेदनशील हो तथा यात्रा के दौरान होने वाले अनुभवों की प्रतिक्रिया उसके मानस पर बड़ी तीव्रता से होती हो। यात्रा-लेखन की विशेषता यह भी है कि जिस भी दृश्य का वर्णन लेखक करता है या कर रहा होता है उसके साथ उसका रागात्मक तादात्म्य हो जाता है। इसलिए यात्रा वर्णन इतना प्रभावशाली बन जाता है कि पढ़ने वाला स्वयं यात्रा का रस लेने लगता है। राहुलजी ने अपने यात्रा वर्णनों के प्रभाव के विषय में लिखा है कि "मेरी यात्राओं को पढ़कर कितने ही माता पिताओं को अपने सपूतों से वंचित होना पड़ा है।" अतः आनन्द तथा मस्ती भरा उल्लास यात्रा वर्णन के आवश्यक अंग हैं।

यद्यपि हिन्दी में साहित्य की यात्रा बहुत विपुल नहीं है तथापि राहुल सांकृत्यायन (किन्नर प्रदेश में, हिमालय परिचय), सेठ गोविन्ददास (पृथ्वी परिक्रमा), देवेन्द्र सत्यार्थी (धरती गाती है), रांगेय राघव (तूफानों के बीच) रामवृक्ष बेनीपुरी (परों में पंख बाँधकर), अज्ञेय (एक बूँद सहसा उछली), मोहन राकेश (आखिरी चट्टान तक), निर्मल वर्मा, सतीश कुमार आदि ने पर्याप्त तथा उच्चकोटि की यात्रा साहित्य लिखा है।

स्पष्ट है कि हिन्दी गद्य की विधाएँ आज पर्याप्त विक... क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हो रहा है। गद्य की विधाओं के रूप में ... विकसित रूप सामने आ रहा है जो हिन्दी गद्य साहित्य के वैभव ... सक्षम है। आशा की जा सकती है कि भविष्य में गद्य की और भी अधिक ... को विकास पाने का अवसर मिलेगा।